आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के समयसार कलश पर आचार्य शुभचन्द्रजी की संस्कृत टीका

परमाध्यात्म तरंगिणी

का

पं० प्रवर जयचन्दजी छाबड़ा की ढूंढारी भाषा की टीका का हिन्दी अनुवाद :

हिन्दी अनुवादक : पं० कमलकुमार जी शास्त्री

एवम्

बारस अणुवेक्खा

[आचार्य कुन्दकुन्दकृत]

हिन्दी टीकाकार : नाथूराम प्रेमी

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

परमाध्यात्म तरङ्गिणी

एवम्

बारस अणुवेक्खा

प्रथमावृत्ति—११००

मूल्य—स्वाध्याय

सौजन्य :
दरियागंज शास्त्र स्वाध्याय सभा

प्राप्ति स्थान :
वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाबूलाल जैन
२/१०, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेन्सी
न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रकाशकीय

धर्म बन्धुओ,

यह सर्वमान्य सत्य है कि साहित्य मनीषी स्व० पं० श्री जुगल किशोर मुख्तार द्वारा संस्थापित वीर सेवा मन्दिर का जन्म, बिसरे हुए गौरवपूर्ण-जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के अनुसन्धान तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशनों व प्रचार-प्रसार द्वारा, समाज में धार्मिक और चारित्रिक जागृति उत्पन्न करने के लिए हुआ। अतीत में यहाँ से अनेकों उपयोगी प्रकाशन हुए हैं। यहाँ से संचालित 'अनेकान्त' पत्रिका अपनी ठोस-शोधपूर्ण सामग्री से विद्वत्समाज में आज भी सम्मानित स्थान बनाए हुए है।

हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि संस्था आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी वर्ष के पुनीत अवसर पर एक बार पुन: आचार्यवर के पुनीत मन्तव्यों को प्रकाशित कर आचार्यश्री के प्रति सक्रिय श्रद्धा-सुमन अर्पित करने का अवसर प्राप्त कर सकी है।

प्रस्तुत कृति "परमाध्यात्मतरंगिणी" श्री अमृतचन्द्र आचार्य के अमृतकलशों की संस्कृत व्याख्या में निबद्ध है। संस्कृत व्याख्या का श्रेय श्री शुभचन्द्राचार्य को है। उक्त टीका का अक्षरश: खड़ी हिन्दी बोली का अनुवाद आज तक दुर्लभ था। पं० श्री कमलकुमार शास्त्री कलकत्ता वालों ने इस कार्य को सम्पन्न किया।

ग्रन्थ का कलेवर कैसा और क्या है? इसका अवलोकन मनीषी करेंगे। हाँ, आचार्य मूल-वाक्य आगम हैं, उनके भाषा-विस्तार करने में कहीं चूक हो तो तत्त्वज्ञ और भाषाविद् हमें संकेत दें, ताकि आगामी संस्करण में उस चूक का परिमार्जन किया जा सके। ग्रन्थ उपयोगी होगा, इस भावना के साथ—

विनीत :
सुभाष जैन
महासचिव,
वीर सेवा मन्दिर

नई दिल्ली-२
दि० १५-१-९०

अपनी बात

राजस्थान का प्रधान नगर जयपुर वर्तमान राजधानी चोटी के जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वानों का जन्म स्थान रहा है। उनमें आचार्य कल्प पूज्य पण्डित प्रवर श्री पं० टोडरमल जी विद्वानों के सरताज रहे हैं। उनकी परम्परा में श्रद्धेय विद्वद्वर पं० जी श्री जयचन्द जी छावड़ा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये अपने समय के प्रतिभाशाली असाधारण विद्वान रहे हैं। ये न्याय शास्त्र के ही नहीं बल्कि जैन सिद्धान्त के पारगामी विद्वान थे। इन्होंने न्याय ग्रन्थों के अतिरिक्त सिद्धान्त ग्रन्थों को ढूंढारी भाषा में विस्तृत वचनिकायें लिखी हैं जिनका समूचे जैन समाज में बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ स्वाध्याय, मनन, चिन्तन एवं शास्त्र सभाओं में प्रचार होता चला आ रहा है।

उन्होंने "परम अध्यात्म तरंगिणी" की देशभाषा-ढूंढारी में विस्तार के साथ जनसाधारण के लाभार्थ टीका लिखी। भारतीय ज्ञानपीठ ने उक्त ग्रन्थ का आधुनिक हिन्दी भाषा में अनुवाद कराने का सुदृढ़ निश्चय किया। मैं उस समय उक्त संस्था में प्रमुख रूप से संशोधन आदि के लिए नियुक्त हुआ था। श्री लक्ष्मीचन्द्र जी ने उक्त ग्रन्थ के भाषान्तर का भार मुझे सौंपा। मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उक्त ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर तैयार किया। श्रीमान मन्त्री जी ने कहा कि इतने विस्तार के साथ लिखे गए ग्रन्थ का प्रकाशन इस समय इस संस्था से सम्भव नहीं है। हाँ यदि अनुवादक इसको एक-चौथाई कर दे तो प्रकाशन सम्भव हो सकता है। मन्त्री जी ने मुझे बुलाकर कहा कि आप इसे संक्षिप्त रूप दे दें तो संस्था की ओर से छपाना सम्भावित होगा। मैंने एक ही जवाब दिया कि "अगर कोई मनुष्य अपने घर के सामने विष वृक्ष को भी बढ़ा ले तो भी कोई तटस्थ व्यक्ति उसे छोटा करने के लिए तैयार नहीं होगा।" फिर यह तो अमृतमयी रचना है इसका संक्षेप करना मेरी अपनी बुद्धि में नहीं जँचता इत्यादि। नतीजा यह हुआ कि उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन उक्त संस्था से नहीं हो सका अस्तु वह ग्रन्थ मेरे पास ही रह गया।

२५ पच्चीस वर्ष का लम्बा समय बीतने के बाद अचानक भाई बाबूलाल जी जैन ने मुझसे पूछा—क्या आपके पास कोई ऐसा ग्रन्थ है जिसको आपने भारतीय ज्ञानपीठ में बैठकर सम्पादित, अनुवादित एवं संशोधित किया हो। मैंने निश्छल भाव से उन्हें उक्त ग्रन्थ के अनुवादित होने की बात कही। उन्होंने कहा कि आप उक्त ग्रन्थ को देखने के लिए दे सकते हैं क्या? मैंने कहा हाँ जरूर दूंगा यदि आपको ठीक जँचे तो आप उसका भरपूर उपयोग कर सकते हैं। आप चाहें तो अपनी इच्छानुसार उसे घटा-बढ़ा भी सकते हैं।

वे उक्त ग्रन्थ को दिल्ली ले गये। यथा समय उसे देखते रहे। देखने के बाद उनका विचार उसे काट-छाँटकर छपाने का हुआ। उन्होंने उक्त काट-छाँट की बात मेरे को लिखित पत्र द्वारा सुझाई। मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उन्होंने उसे छपवाने का अपना निर्णय बहाल रखा। मेरी स्वीकृति के बाद ही उन्होंने उसे छपाना प्रारम्भ कर दिया।

अब वह तत्त्व जिज्ञासुओं के हाथों में पहुंचने वाला है। इन्होंने इसकी विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

ओं शान्तिः। ओं शान्तिः। ओं शान्तिः

विनम्र

कमल कुमार जैन, कलकत्ता

१-१२-८६

दो शब्द

इस ग्रन्थ के कलश श्री अमृतचन्द स्वामी के समयसार कलश के नाम से प्रसिद्ध है। उन पर संस्कृत टीका शुभचन्द्र आचार्य ने "परमाध्यात्मतरंगिणी" के नाम से की है। जिसकी हिन्दी टीका अभी तक नहीं प्रकाशित हुई थी। श्री शुभचन्द्र आचार्य की संस्कृत टीका परमाध्यत्मतरंगिणी का प्रकाशन हुआ परन्तु संस्कृत टीका की हिन्दी नहीं हुई। समयसार कलशों पर जो समयसार ग्रन्थ में पं० श्री जयचन्द जी की ढूंढारी भाषा में टीका थी वही हिन्दी अर्थ की जगह छापी गई। अतः श्री शुभचन्द्र आचार्य की संस्कृत टीका का अभी तक हिन्दी अनुवाद हुआ ही नहीं।

पं० जयचन्द जी छाबड़ा जयपुर निवासी ने इसकी ढूंढारी भाषा में टीका की है इस बारे में पं० कमल कुमारजी शास्त्री ने अपने पत्र में लिखा है जो "अपनी बात" शीर्षक से छपा है, जिससे जानकारी हुई।

श्री अमृतचन्द स्वामी के कलश तो अमृत से भरे हुए हैं ही उस पर भी शुभचन्द्र जी ने संस्कृत टीका रचकर और पं० श्री जयचन्द जी ने ढूंढारी भाषा में टीका करके उस अमृत को सब लोगों के पान करने के लिए सुलभ कर दिया। यह ग्रंथ यथानाम अध्यात्म से ओत-प्रोत है। पढ़ना शुरू करने पर छोड़ने के भाव ही नहीं होते। जैसे-जैसे पढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे अमृतपान की तृष्णा बढ़ती जाती है लगता है पीते ही जावें। जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं अहम् मरता जाता है। तालाब की सीढ़ियाँ उतरते जाते हैं कब सीढ़ियाँ खत्म हो जाती हैं पता ही नहीं लगता और आत्मानन्द में डुबकी लग जाती है। बाहर आता है तो पाता है कि मैं ग्रन्थ नहीं पढ़ रहा था कहीं खो गया था।

इस ग्रन्थराज को छपाने के लिए दरियागंज शास्त्र सभा में बैठने वाले भाई-बहनों ने प्रेरणा करी और उनकी प्रेरणा से और आर्थिक सहयोग से यह ग्रंथ छप रहा है उनका मैं बहुत आभारी हूँ। खासकर पं० पदमचन्द जी शास्त्री का जिन्होंने प्रेरणा ही नहीं करी परन्तु सारे प्रूफों को लगातार छः महीने तक दो बार संशोधन किया—उन्होंने इतनी चेष्टा न की होती तो मात्र मेरे द्वारा यह काम सम्पन्न होना असम्भव था। अतः उनका बहुत-बहुत धन्यवाद है।

इस ग्रंथ का प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर से हो रहा है उनका भी बहुत आभार है।

श्री सत्यनारायण शुल्ल, गीता प्रिंटिंग एजेंसी, जिन्होंने इस ग्रंथ को छापा है उनका सहयोग प्रशंसनीय रहा अतः उनका भी आभार है।

जब मैं कलकत्ता रहता था तब एक बार पं० कमल कुमार जी से मालूम हुआ कि वे "परमाध्यात्म-तरंगिणी" की हिन्दी टीका कर रहे हैं यह बात करीब २४-२५ वर्ष पहले की है। इस ग्रंथ की हिन्दी टीका हो जाये यह भावना बहुत दिनों से थी। १९८८ में जब मैं कलकत्ता गया तब पं० कमल कुमार जी मंदिर जी में मिले। मैंने कहा कि "पंडित जी क्या वह टीका आप अपने साथ ही ले जायेंगे अगर आप देवें तो छपाने का उपाय करें।" पंडित जी ने वह टीका दूसरे दिन जो ४०२ पृष्ठों में हाथ से लिखी हुई थी मुझे दे दी। मेरी समझ में यही था कि यह पंडित जी का ही भाषानुवाद है। टीका में कलश पर अन्वयार्थ फिर भावार्थ था फिर संस्कृत टीका का अन्वयार्थ था फिर भावार्थ था याने एक ही कलश पर दो भावार्थ थे। किसी-किसी कलशों पर भावार्थ नहीं था। अतः मैंने समझा की दो भावार्थ न

देकर जो ज्यादा उपयुक्त हो वह एक ही भावार्थ दिया जावे। दूसरे आजकल जैन समाज में बहुत से प्रश्न निमित्त उपादान के, आत्मानुभव के बारे में चल रहे हैं उन विषयों को और जोड़ दें तो ग्रंथ ज्यादा उपयोगी हो जायेगा। इसलिए पंडित जी से स्वीकृति लेकर यह उपयुक्त कार्य किया गया। मेरे को यह बात पीछे पंडित जी के १-१२-८६ के पत्र से मालूम हुई जो पत्र इस ग्रंथ में छपा है कि इस ग्रंथ की टीका पंडित प्रवर जयचन्द जी की ढूंढारी भाषा में थी जिसका खड़ी हिन्दी में पंडित कमल कुमार जी ने अनुवाद किया है। १-१२-८६ का पत्र मिला तब तक करीब-करीब यह ग्रंथ छप चुका था। अन्यथा पहले मालूम होता तो पं० जयचन्द जी की टीका के भावार्थ में कुछ भी जोड़ने का प्रश्न नहीं होता। उनकी टीका में कुछ भी रद्दोबदल करने की न तो मेरे में योग्यता है न अधिकार है।

कहीं-कहीं पर भावार्थ नहीं था वह लिखा गया जैसा ऊपर लिखा है। दो भावार्थों में जो ज्यादा उपयुक्त जँचा वह लिया गया। कहीं पर दोनों भावार्थ को मिलाकर रखा गया है। जहाँ पर विषय खोलने का स्थल मिला वहाँ पर अलग से विषय खोला गया। कलश के अन्वयार्थ और संस्कृत टीका का अन्वयार्थ जैसा का तैसा ही है। मेरा सब लोगों से खासकर स्वाध्याय प्रेमियों से अनुरोध है एक बार स्वाध्याय जरूर करें।

गाथा सूची जिनका भावार्थ अलग से लिखा गया है—गाथा नं०, पेज।

पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ	गाथा
१६	८	११५	५२	२१९	१७
२०	९	१३२	१२	२३२	९
२१	१०	१३५	१३	२३८	२
२३	११	१४०	४	२४३	६
३२	१९	१३८	३	२४४	७
३४	२०	१५६	७	२५२	१२ आधा भावार्थ
३८	२३	१६४	५	२५४	१३ आधा भावार्थ
५५	३५	१६७	७	२७६	२७
६३	४२	१६८	८	२८४	३१
८६	१३	१७३	१०	२९८	४६
८९	१५	१७५	११	३००	४७
९६	२१	१७७	१३	३०४	४९
१०६	४४-४५	१८२	१८	३०६	५१
१०७	४६ दूसरा पैरा	१९८	३०	३१०	५४
१०८	४७	२०५	४	३४३	७४
१११	४८ दूसरा पैरा	२०८	७	३५५	८१
११३	५०	२१५	१४		

बाबूलाल जैन
सन्मति विहार,
२/१० दरियागंज, नई दिल्ली-२

हिन्दी टीकाकार पं० कमल कुमार जी का
संक्षिप्त परिचय

पं० कमल कुमार जी जैन गोइल्ल सिद्धान्त शास्त्री, व्याकरण तीर्थं, न्याय तीर्थ, काव्य तीर्थ, साहित्य शास्त्री हैं। समाज के द्वारा उनको और बहुत सी उपाधियां प्रदत्त की हुई हैं। सन् १९५५ से आप कलकत्ता रह रहे हैं। भारतीय ज्ञानपीठ कार्यालय में अनेक ग्रंथों का संशोधन किया है। स्वतंत्र हिन्दी रचनाओं की संख्या १३ है जिनमें जैन धर्मसार संग्रह २४०० दोहे में प्रमुख है। अन्य रचनाओं की संख्या लगभग १००० छन्द और १००० श्लोकों में है। आप १९६७ से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं शुद्ध सात्विक भोजन करते हैं। आपका जीवन सादा एवं सरल है। हमेशा धर्म कार्यों में दत्तचित्त होकर लगे रहते हैं। आपने जो **हिन्दी रूपान्तर परमाध्यात्म तरंगिणी** का किया है जिसको फूलस्केप ४०२ पन्नों को हाथ से लिख कर तैयार किया इसके लिए हम आपके बहुत आभारी हैं। आपके ही प्रयत्न से यह महान ग्रंथ छपकर तैयार हुआ है और सबके पढ़ने के लिए सुलभ हुआ है।

विषय-सूची

प्रस्तावना

परमात्मा होना जीव का जन्मसिद्ध अधिकार है

१

जीव : बीजभूत परमात्मा है :

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरे अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की शक्ति है अथवा जो अनुभव कर सकते हैं, सुख-दुःख का वेदन कर सकते हैं। इनके विपरीत, अचेतन या जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की, अनुभव करने की शक्ति नहीं है, सुख-दुख का वेदन नहीं कर सकते। चेतन जाति के अन्तर्गत समस्त जीव आ जाते हैं, शेष सब पदार्थ अचेतन जाति के अन्तर्गत आते हैं। जीव द्रव्य सब अलग-अलग हैं—प्रत्येक जीव की एक स्वतंत्र सत्ता है। उन सबका सुख-दुःख, जीवन-मरण, अनुभव और वेदना अलग-अलग हैं; जाति की अपेक्षा एक होते हुए भी व्यक्तित्व की अपेक्षा सब अलग-अलग हैं। पेड़-पौधों से लेकर चींटी-मकोड़े, मच्छर-मक्खी, पशु-पक्षी, कछुआ-मछली, और मनुष्य—नभ-जल-थल के सभी जीव—चेतना शक्ति को लिए हुए हैं, इन सभी में जानने की शक्ति है। यहाँ तक कि सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टिरिया, वाइरस, इत्यादि), जो सब जगह पाए जाते हैं, उनमें भी यह चेतना शक्ति मौजूद है। जाति की अपेक्षा यद्यपि ये सभी जीव चेतन जाति के हैं, मूलभूत गुणों की अपेक्षा यद्यपि सबमें समानता है, तथापि उस चेतना शक्ति की अथवा उन गुणों की अभिव्यक्ति सबमें समान नहीं हैं—बस यही इनमें पारस्परिक अन्तर है। मनुष्य में उस शक्ति की अभिव्यक्ति ज्यादा है, पशु-पक्षियों में उससे कम है, चींटी, मक्खी आदि में और भी कम है, पेड़-पौधों में उससे भी कम है, और जीवाणुओं में तो बहुत ही कम है—इतनी कम है कि वे अपनी चेतना शक्ति को महसूस भी नहीं कर सकते। एक ओर, जीव की शक्तियाँ कम होते-होते जहाँ इस चरम सीमा तक कम हो सकती हैं, वहीं दूसरी ओर, बढ़ते-बढ़ते वे मानव में—जब वह मानवता के चरम उत्कर्ष को, महामानव अर्थात् परमात्म अवस्था को प्राप्त करता है—परिपूर्णता के शिखर पर पहुंच सकती है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा होने की सम्भावना विद्यमान है और जीवाणु आदि की तरह लगभग जड़वत् रह जाने की सम्भावना भी। जीव की परमात्म अवस्था की ओर उन्नति अथवा जीवाणु अवस्था की ओर अवनति दोनों ही इसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करती हैं; यह उन्नति का मार्ग चुने या अवनति का, यह निर्णय इसकी अपनी स्वतंत्रता है। इतना अवश्य जान लेना जरूरी है कि मनुष्य अवस्था ही वह पड़ाव है जहाँ

से इस जीव को आत्मोन्नति की यात्रा पर निकल पड़ने की सुविधा है। यद्यपि संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था से ही पुरुषार्थ चालू हो सकता है—यह जीव बीजभूत परमात्मा है बट के बीजों की तरह् बट वृक्ष बनने की शक्ति की तरह् परमात्मा बनने की शक्ति इसमें है जिसको अपने पुरुषार्थ से इसे व्यक्त करना है।

जीव दुःखी है :

वर्तमान में हम पाते हैं कि जीव दुःखी है। यद्यपि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख-प्राप्ति के लिए ही होता भी है, परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। जीव का दुःख कैसे दूर हो इसके लिए जिस विज्ञान का आविष्कार हुआ, उसी का नाम धर्म है। जीव दुःखी है, यह बात तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वह दुःखी क्यों है, और उस दुःख को दूर करने का क्या उपाय है, इन बातों पर विचार करना है।

दुःख का कारण :

प्रत्येक जीव में क्रोध-मान-माया-लोभ अथवा राग-द्वेष पाये जाते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिस व्यक्ति में क्रोध-मान-माया-लोभ की अधिकता होती है वह स्वयं भी दुःखी रहता है और दूसरे लोगों को भी वह अच्छा नहीं लगता। क्रोधी बाप से तो उसका बेटा भी बचना चाहता है। जिस आदमी में क्रोध ज्यादा है वह किसी की हत्या तक भी कर सकता है; जिसमें मान ज्यादा है वह अपने सामने किसी दूसरे को कुछ नहीं समझता; माया की अधिकता में बेटा अपने माँ-बाप को ही ठग लेता है; लोभ के आधिक्य में मनुष्य क्या-क्या अनाचार नहीं करता ? इस सबसे मालूम होता है कि जिनके पास राग-द्वेष ज्यादा मात्रा में हैं वे दुखी ही हैं और इन राग-द्वेष की मौजूदगी में उनके जो भी कार्य होते हैं वे सब पाप-रूप ही होते हैं।

सुख की दिशा : राग-द्वेष का अभाव :

जिस किसी व्यक्ति के राग-द्वेष की कुछ कमी हो जाती है उसे हम भला आदमी कहते हैं; वह गलत कामों में नहीं जाता और दूसरों के लिए उपयोगी/कार्यसाधक ही सिद्ध होता है, बाधक नहीं। यदि किसी व्यक्ति के इनकी कमी कुछ ज्यादा मात्रा में हुई तो लोग उसे सज्जन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्यायपूर्वक आचरण करता है, सत्य बोलता है, दूसरों की रक्षा, सहायता, सेवा आदि करता है, और शान्तपरिणामी होता है; उसके जीवन से सुगन्ध आती है। और जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की कमी और भी ज्यादा होती है वह साधु कहलाता है। मात्र साधु के वेश से कोई साधु नहीं हो जाता—वेश तो बाहर की बात है। अंतरंग में राग-द्वेष के आंशिक अभाव में उसकी आत्मा साधु हो जाती है। ऐसी आत्मा की शान्ति का क्या कहना ! उसका जीवन फूल की तरह होता है—न केवल स्वयं में सुगंधित होता है अपितु दूसरों को भी सुगंधित कर देता है। और जिस आत्मा में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता

है उसकी शान्ति, उसका आनन्द, समस्त सीमाएँ तोड़कर अपरिसीम-अनन्त हो जाता है, वह आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा हो जाता है।

राग-द्वेष का पूरी तरह अभाव हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि जब ये राग-द्वेष किसी के ज्यादा हैं, किसी के कम हैं, किसी के और भी कम हैं तो कोई ऐसा भी हो सकता है जिसके ये बिल्कुल न हों। दूसरे शब्दों में, जब ये अधिक से न्यून, न्यूनतर हो सकते हैं तो इनकी न्यूनतमता या इनका सर्वथा अभाव भी अवश्य हो सकता है।

राग-द्वेष की मात्रा और दु:ख, इन दोनों में सीधा सम्बन्ध है। जिनके राग-द्वेष ज्यादा हैं वे अपने आप में सदा दु:खी हैं; बाहरी सामग्री अनुकूल होने पर भी वे महादु:खी ही हैं। और जिनके इनकी कमी होने लगती है वे बाहरी अनुकूलताओं के बिना भी सुखी रहते हैं। साधु के पास कुछ भी बाह्य सामग्री न रहते हुए भी वह महासुखी है। क्यों ? इसलिए कि उसमें राग-द्वेष की कमी हुई और उनका स्थान सत्य क्षमा, विनय, सरलता, निर्लोभ, संतोष, ब्रह्मचर्य आदि स्वाभाविक गुणों ने लिया। फलतः साधु बाहरी अनुकूलता के बिना भी सुखी हो जाता है। इससे पता चलता है कि जीव अपने राग-द्वेष की वजह से दु:खी है, न कि बाहरी स्थितियों की वजह से। **हमने आज तक सुख की प्राप्ति के लिए बाहरी अनुकूलताओं को प्राप्त करने के उपाय तो निरंतर किये, परन्तु राग-द्वेष के त्याग का, नाश का उपाय कभी नहीं किया।** इसलिए कदाचित् बाहरी अनुकूलताएँ भी हमें मिलीं, तो भी हम सुखी नहीं हो सके, क्योंकि सुख-प्राप्ति का सच्चा उपाय तो हमने कभी जाना नहीं। और, जब उपाय ही नहीं जाना तो सही प्रयत्न करने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। यदि सच्चा उपाय जानकर तदनुकूल प्रयत्न करते —राग-द्वेष के अभाव का पुरुषार्थ करते—तो जितने-जितने अंशों में इनका अभाव कर पाते, उतने-उतने अंशों में यह आत्मा सुखी होने लगता।

इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि राग-द्वेष ही दु:ख है, इनका अभाव ही सुख है, और इनका सर्वथा अभाव परम सुख है। अथवा, कहना चाहिए कि :—

जीवात्मा— राग-द्वेष=परमात्मा,
या, जीवात्मा—विषयकषाय=परमात्मा

धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप :

राग-द्वेष के अभाव का उपाय धर्म-मार्ग है, राग-द्वेष का अभाव जितने अंशों में हो उतना धर्म है और इनका पूर्णतया अभाव हो जाना ही धर्म की पूर्णता है। राग-द्वेष का होना अधर्म है, और उसके दो भेद हैं—एक पाप और दूसरा पुण्य। द्वेष तो तीव्र हो या मंद, सब तरह से अशुभ या पाप ही है; राग की तीव्रता पाप है और मंदता शुभ अथवा पुण्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो राग-द्वेष का अभिप्राय रखकर कुछ भी करना पाप-कार्य है, जबकि राग-द्वेष के अभाव के अभिप्राय से की गई प्रवृत्ति पुण्य-कार्य है।

राग-द्वेष की तीव्रता में जो भी काम होते हैं वे सब पाप-रूप होते हैं, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आसक्ति, अन्याय, अभक्ष्य-सेवन आदि। राग-द्वेष की मंदता में जो कार्य होते हैं, वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, न्यायपूर्वक प्रवृत्ति आदि। और राग-द्वेष के अभाव में तो जीव के दोनों ही प्रकार के कार्य न होकर यह मात्र वीतराग ही रहता है।

राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण :

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है, वे क्यों पैदा होते हैं ? राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल आधार है जीव की अनादिकालीन मिथ्या मान्यता कि 'मैं शरीर हूँ।' यह जीव निजमें चैतन्य होते हुए आप ही जानने वाला होते हुए भी स्वयं को चैतन्य-रूप न जान कर शरीर-रूप जान रहा है। शरीर और स्वयं में एकपना देखता है तो शरीर से सम्बन्धित सभी चीजों में इसके अपनापना आ जाता है। शरीर के अनुकूल सामग्री में राग होता है और प्रतिकूल सामग्री से द्वेष। शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों में अपनत्व के अलावा इसके जो शुभ-अशुभ विकारी भाव हो रहे हैं उनको भी अपने-रूप देखता है जिससे उन सबमें अहंकार पैदा होता है। अहंकार को ठेस लगने पर क्रोध होता है। अहंकार की पुष्टि के लिए 'पर' का—दूसरे जड़ व चेतन पदार्थों का—संग्रह करना चाहता है तो लोभ पैदा होता है, और उपाय न बनने पर मायाचार रूप प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार राग-द्वेष का मूल कारण शरीर को अपना मानना है, कर्मजनित अवस्था में अपनापना मानना है। यह मिथ्या मान्यता तभी मिट सकती है जब यह जीव अपने को पहचाने और जाने कि मैं शरीर नहीं, शुभ-अशुभ भाव अर्थात् राग-द्वेष भी मैं नहीं, मैं तो इन सबसे भिन्न ज्ञान का मालिक, एक अकेला चैतन्य तत्त्व हूँ।

अपना अपने-रूप अनुभव :

जब हम अपने को शरीर-रूप अनुभव करते हैं तो समस्त प्रकार की आकुलताएँ हमें घेर लेती हैं, नाना प्रकार के विकल्प आ खड़े होते हैं—इतनी बात तो हम सभी के द्वारा अनुभूत है क्योंकि स्वयं को शरीर-रूप तो हम सदा से देखते चले आ रहे हैं। इसके विपरीत, जब हम अपने को अपने-रूप, चैतन्य-रूप अनुभव करते हैं तो कोई आकुलता नहीं रहती क्योंकि जो ज्ञान-स्वभावी चैतन्य है उसका न तो कोई जन्म है और न ही कोई मरण; उसके अनन्त गुणों में से न तो कोई कम होने वाला है और न ही कहीं बाहर से आकर कुछ उसमें मिलने वाला है। अतः न तो कुछ बिगड़ने का अथवा चले जाने का भय हो सकता है, और न ही कुछ आने का या मिलने का लोभ। चूंकि सभी आत्माएँ इसी प्रकार ज्ञान-स्वभावी हैं इसलिए उनमें न तो पारिस्परिक तुलना का ही कोई प्रश्न उठ सकता है और न ही किसी प्रकार की ईर्ष्या या अभिमान के पैदा होने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने पर किसी प्रकार की कषाय पैदा होने का, राग-द्वेष होने का, कोई कारण ही नहीं रह जाता।

दुख के मौलिक कारण राग-द्वेष शरीर में अर्थात् 'पर' में अपनापना मानने से पैदा होते हैं और निज आत्मा को निजरूप अनुभव करने से मिटते हैं। यह नियम गणित के "दो जमा दो बराबर चार" के नियम की तरह सुस्पष्ट है, इसमें संशय अथवा रहस्य की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

अब तक की चर्चा का सारांश निकलता है कि दो बातें जाननी जरूरी हैं--एक तो यह कि दुख **राग-द्वेष की वजह से है, पर-पदार्थों की वजह से नहीं। और दूसरी यह कि अपने चैतन्य को पहचाने बिना शरीर में अपनापन नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापन मिटे बिना राग-द्वेष नहीं मिट सकता, और राग-द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता।** इस जीव को एक ही रोग "राग और द्वेष" और सभी जीवों के लिए—चाहे वे किसी को भी मानने वाले क्यों न हों— दवा भी एक ही है सरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्य रूप अनुभव करना जिससे राग-द्वेष का अभाव हो। सही दवा को न पाकर और अन्यथा क्रिया-कलापों को दवा मानकर इस जीव ने अपना रोग बढ़ाया ही है। राग-द्वेष का अभाव ही एक मात्र धर्म है। राग-द्वेष का अभाव कैसे हो ? क्योंकि लौकिक में देखा जाता है कि जिन लोगों को अथवा जिन चीजों को हम अपनी नहीं देखते हैं—जानते हैं उनके हानि-लाभ और मरण जीवन को जानने पर भी हमें कोई सुख-दुःख नहीं होता। क्योंकि हमें अपनी चीज की पहचान है अतः वे पर रूप दिखाई देती है अपनी नहीं। इसी प्रकार से अगर शरीरादि से भिन्न निज आत्मा का ज्ञान उसी ढंग का हो जाता तो शरीरादि भी पररूप दिखाई देने लगते तब उनमें भी सुख-दुख राग-द्वेष नहीं होता। जब शरीरादि ही पररूप दिखाई देते हैं तब शरीर से सम्बन्धित अन्य स्त्री पुत्रादि अथवा धनादिक तो अपने आपही पर हो जाते हैं तब उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद न होता यह बात प्रत्यक्ष है। राग-द्वेष का अभाव कैसे हो ? उनके अभाव के हेतु निज चैतन्य को किस प्रकार पहचाना जाये ? अतः अब इस बारे में विस्तार से विचार करना है।

२

आत्म-विज्ञान :

यदि नकारात्मक ढंग से कहें तो राग-द्वेष का अभाव और सकारात्मक ढंग से कहें तो परम सुख की उपलब्धि, यही साक्षात् धर्म है। साधन की दृष्टि से राग-द्वेष के अभाव के उपाय रूप विज्ञान को भी धर्म कहा जाता है। **भगवान महावीर** ने निजमें राग-द्वेष का समूल नाश करके परम सुख को प्राप्त किया और इस आत्म-विज्ञान को संसार के समस्त जीवों के हितार्थ बतलाया। संसारी जीव अशुद्ध है और राग-द्वेष ही उसकी अशुद्धता है। वह कब से अशुद्ध है ? यदि पहले शुद्ध था तो अशुद्ध क्यों और कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का समाधान है कि जैसे खान से निकाला गया सोना कीट-कालिमा से मिला हुआ ही निकलता है, पहले कभी शुद्ध रहा हो और फिर अशुद्ध हो गया हो, ऐसा नहीं है, बल्कि ऐसा है कि वह सदा से अशुद्ध था,

शुद्ध होने की योग्यता भी उसमें सदा से छिपी थी, और अब धातु-विज्ञान की एक विशिष्ट विधि द्वारा शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति संसारी जीव की भी है। वह भी अनादिकाल से अशुद्ध है, और शुद्ध होने की योग्यता भी उसमें सदा से अन्तर्हित है। इसके अशुद्धिकरण के लिए भी एक विशिष्ट उपाय है, उसे ही ऊपर आत्म-विज्ञान कहा गया है। परन्तु, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में जहाँ इतनी समानता है, वहीं इनमें एक गम्भीर अन्तर भी है क्योंकि दृष्टान्त सदा आंशिक रूप से ही दार्ष्टान्त में घटित हुआ करता है, पूर्ण रूप से नहीं। उस अन्तर को समझ लेना भी आवश्यक है। खनिज स्वर्ण तो एक जड़ पदार्थ है, उसको शुद्ध करने के लिए तो कोई दूसरा, कोई धातुकर्मी चाहिए। परन्तु जीव तो चेतन है, स्वयं सामर्थ्यवान है; अपनी अशुद्धता का सही कारण समझकर और उसके अभाव का सही उपाय करते हुए इसे तो स्वयं ही अपने को शुद्ध करना है। न तो उसको शुद्ध करने का दायित्व किसी दूसरे को है और न ही किसी दूसरे में इसको शुद्ध करने की सामर्थ्य है। जो आत्माएँ अशुद्धता के रोग से स्वयं को मुक्त कर सकीं वे इस जीव को उस मार्ग की, उस विज्ञानकी केवल जानकारी दे सकती हैं, पुरुषार्थ तो इसे स्वयं ही करना पड़ेगा। भगवान् महावीर ने स्वयं को शुद्ध करके जीव मात्र को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे जीवों, तुम भी मेरी भाँति स्वयं को शुद्धात्मा बना सकते हो।

जीव का कर्म व शरीर से सम्बन्ध, और पुनर्जन्म :

यद्यपि यह जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है, तथापि अशुद्ध अवस्था में इसके साथ कर्मों का संबंध है। उस कर्म-सम्बन्ध की वजह से इसको बहिरंग में तो शरीर की प्राप्ति है और अंतरंग में राग-द्वेष रूप विकारी भावों की प्राप्ति है। यह स्वयं को न जानकर—मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, इत्यादि की जानकारी से बेखबर—इन शरीर-मन-वचन को ही आत्मा मान रहा है, क्रोधादि भावों को ही अपने भाव मान रहा है। जिस शरीर को प्राप्त करता है, उसी शरीर-रूप अपने को मान लेता है। शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति, शरीर के नाश से अपना नाश, शरीर में रोग होने से स्वयं को रोगी, और शरीर के स्वस्थ होने से स्वयं को स्वस्थ मानता है, जबकि वस्तुस्वरूप इसके विपरीत है—जीवात्मा का अस्तित्व अलग है,—शरीर का अस्तित्व अलग; शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

जीवात्मा का पुनर्जन्म है। प्रत्येक आत्मा जिस-जिस प्रकार के परिणाम या भाव करता है, उन्हीं के अनुसार अच्छी-बुरी गति को प्राप्त होता है। जिन जीवों के परिणाम सरल हैं, माया और पाखण्ड से रहित हैं, वे देवगति को प्राप्त करते हैं। जिनके मायायुक्त परिणाम हैं—सोचते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं—वे पशु-पक्षी आदि हो जाते हैं। जो अल्प-आरंभी और अपेक्षाकृत संतोषी जीव हैं, वे मनुष्य होते हैं। और, जिनके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह की लालसा होती है, वे नारकी होते हैं। गति के समान ही वातावरण आदि की प्राप्ति भी जीव को पूर्वकृत परिणामों के अनुसार ही होती है। कोई धनिक परिवार में पैदा होता है तो कोई गरीब के घर। कोई गरीब के घर पैदा होकर भी धनिक परि-

वार में चला जाता है। किसी को किंचित् परिश्रम मात्र से सब साधन-सामग्री सुलभ हो जाती है और किसी को बहुत चेष्टा करने पर भी प्राप्त नहीं होती। इन सब बातों से कर्म की विचित्रता मालूम होती है। जीव जिस प्रकार के अच्छे-बुरे परिणाम करता है, उसके अनुसार ही उसके कर्म-सम्बन्ध होता है। और, कर्म के माध्यम से वैसा ही फल कालान्तर में उसको मिलता है। दोष कर्म का नहीं, हमारा ही है। कर्म तो मात्र एक माध्यम है। यह जीव जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल इसको प्राप्त होता है।

यद्यपि इस जीव की कर्म के संयोग से उपरोक्त प्रकार की विभिन्न व विचित्र अवस्थाएँ हो रही हैं, तथापि इसका मूल स्वभाव, इन सब परिवर्तनों-विकारों से अछूता बना हुआ है। उस चैतन्य को, अपने मौलिक स्वभाव को हम कैसे पहचाने ? इसके लिए हमें वस्तुस्वरूप को तनिक गहराई से समझना होगा।

वस्तु : सामान्य विशेषात्मक :

प्रत्येक वस्तु, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, सामान्यविशेषात्मक है। 'सामान्य' और 'विशेष' ये दोनों ही वस्तु के गुणधर्म हैं, अथवा कह सकते हैं कि :—

वस्तु = सामान्य + विशेष।

'सामान्य' वस्तु की वह मौलिकता है जो कभी नहीं बदलती जबकि वस्तु की जिस समय जो अवस्था है वही उसका 'विशेष' है। वस्तु की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। मान लीजिए कि सोने का एक मुकुट था, फिर उसको तुड़वा कर हार बनवा लिया गया, कालान्तर में हार को तुड़वा कर कंगन बनवा लिया गया—अवस्थाएँ तो बदलीं, परन्तु सोना सोनेरूप से कायम रहा। इस उदाहरण में मुकुट, हार, कंगन आदि तो विशेष हैं जबकि स्वर्णत्व सामान्य है। अवस्थाएँ तो नाशवान हैं परन्तु वस्तु की मौलिकता या वस्तुस्वभाव अविनाशी है, शाश्वत है, ध्रुव है। इसी प्रकार एक बालक किशोर-अवस्था को प्राप्त होता है, फिर कालक्रमानुसार किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़, और प्रौढ़ से वृद्ध होता है। बालक, किशोर आदि अवस्थाएँ तो बदल रही हैं, परन्तु मनुष्य मनुष्यरूप से कायम है। अवस्थाओं या विशेषों के परिवर्तित होते हुए भी उन सब विशेषों में मनुष्यत्व सामान्य ज्यों का त्यों है। यही बात पौद्गलिक वस्तुओं के सम्बन्ध में है—जैसे दूध को जमा कर दही बनाया गया, दही को बिलोकर मक्खन, और मक्खन को गर्म करके घी बनाया गया। यहाँ दूध, दही आदि सब अवस्थाओं में गोरसपना एक रूप से विद्यमान है। अथवा, जैसे पुद्गल की वृक्ष-स्कंध रूप एक अवस्था थी, वह काट डाला गया तो लकड़ी रूप अवस्था में परिणत हुआ; फिर वह लकड़ी जलकर कोयला हो गई और फिर वह कोयला भी धीरे-धीरे राख में बदल गया, परन्तु पुद्गल पदार्थ पुद्गल रूप से अभी भी कायम है। अब चेतन पदार्थ का एक और उदाहरण देते हैं। एक मनुष्य मर कर देव हो गया, वह देव संक्लेशभाव से मरा तो पशु हो गया, पशु से पुनः मनुष्य पर्याय प्राप्त की। अवस्थाएँ तो बदलीं परन्तु जीवात्मा वही-की-वही है।

इसी प्रकार किसी आत्मा के द्वेष-रूप भाव हुए, फिर द्वेष का अभाव होकर राग-रूप भाव हो गए, फिर राग का भी अभाव होकर वीतरागता रूप परिणति हुई। इन सब परिवर्तनों-परिणतियों के बावजूद आत्मा अपने आत्म रूप से ही कायम है। वस्तुओं में ऐसा परिवर्तन लगातार होता रहता है। हरेक पौद्‌गलिक चीज नई से पुरानी होती रहती है, और यह बदलाव उसमें प्रतिक्षण होता रहता है। एक किताब जिसके पन्ने तीस-चालीस साल में पीले पड़ जाते हैं, कागज कमजोर हो जाता है, तो ऐसा नहीं है कि वह बदलाव उसमें चालीस बरस बाद आया है। वह कागज तो प्रतिक्षण पीला हुआ है, कमजोर हुआ है। एक बालक अचानक युवा नहीं हो जाता या एक युवा अचानक वृद्ध नहीं हो जाता अपितु वह प्रतिक्षण वृद्ध हो रहा होता है। परन्तु सूक्ष्म परिवर्तन, प्रतिसमय होने वाला बदलाव हमारी पकड़ में नहीं आता। जब काफी वक्त गुजर जाता है तब हमारी पकड़ में आता है, स्थूल परिवर्तन को ही हमारी बुद्धि पकड़ पाती है। पुद्‌गल का पुद्‌गल रूप ही परिणमन होगा, चेतन का चेतन रूप ही परिणमन होगा। चेतना का परिणमन कभी चेतन-स्वभाव का अतिक्रमण नहीं रह सकता, और पुद्‌गल का परिणमन कभी पुद्‌गलत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता, और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता।

'सामान्य' और 'विशेष' एक ही वस्तु के स्वभाव होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। 'सामान्य' एक है और 'विशेष' अनेकानेक, 'सामान्य' अपरिवर्तनीय-अविनाशी है जबकि 'विशेष' परिवर्तनशील या नाशवान। सामान्य और विशेष में यद्यपि भेद है फिर भी वे अभिन्न हैं—उनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अथवा यूं कह सकते हैं कि सिर्फ सामान्य या सिर्फ विशेष का होना असम्भव है। वस्तुतः एक के बाद एक होने वाले विभिन्न विशेषों में जो सातत्य, एकता या समानता का भाव है वही सामान्य है। वस्तु का 'सामान्य' मोतियों के हार के डोरे की तरह सर्व विशेषों में निरंतर विद्यमान एक भाव है। मिट्टीपना सामान्य है और मृतिका-पिण्ड, घड़ा, ठीकरा आदि उसके विशेष हैं—सभी विशेषों में सामान्य एक रूप से व्याप्त है। विशेष बदल रहे हैं, सामान्य एक रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा चैतन्य रूप से कायम है, परन्तु उसकी अवस्थाएँ बहिरंग और अंतरंग—दो प्रकार से—बदल रही हैं। बहिरंग में तो यह आत्मा शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी रूप से परिणमन करता है, और मनुष्यादि पर्यायों में पुनः—जैसा कि ऊपर जिक्र कर चुके हैं—बालक, युवा, वृद्ध आदि रूप बदलता रहता है। दूसरी ओर, अन्तरंग की अपेक्षा इस आत्मा में कभी क्रोध होता है तो कभी मान, कभी माया रूप परिणाम होते हैं तो कभी लोभ रूप, और कभी इन कषाय-परिणामों के अभाव रूप वीतराग, शुद्ध परिणाम होते हैं, परन्तु इन सभी परिणतियों में चैतन्य तो चैतन्य रूप से सदा कायम है। वह तो अविनाशी है, सदाकाल एक-सा रहने वाला है।

चैतन्य-सामान्य को पहचाने बिना धर्म की शुरुआत सम्भव नहीं, यह निश्चित है। परन्तु विशेषों में ही उलझे रहने के कारण, उन्हीं में अपनत्व-बुद्धि होने के कारण हम संसारी जीवों के लिए उस

चैतन्य को पकड़ पाना मुश्किल लग रहा है। ऊपर दिये गये पुद्गल-सम्बन्धी उदाहरणों में स्वर्णपना, गोरसपना, मिट्टीपना आदि सामान्यों को पकड़ पाना तो आसान है, परन्तु देव-मनुष्य आदि बाह्य पर्यायों और क्रोधादिक अंतरंग परिणामों के परे, उनसे विलक्षण उस चेतना-सामान्य तक पहुँच पाना हमारे लिए कठिन हो रहा है। अपनी वर्तमान स्थिति में हम 'विशेषों' के तो नजदीक खड़े हैं और 'सामान्य' हमसे दूर, बहुत दूर है। अतः यह अनुचित नहीं होगा कि हम विशेषों को 'यह' और सामान्य को 'वह' द्वारा अभिव्यक्त करें, और तब इस प्रतीकात्मक शैली में पूर्ण वस्तु की अभिव्यक्ति होगी 'यह + वह' द्वारा।

सामान्य-विशेष को समझाने की : प्रतीकात्मक शैली :

जो उंगली से दिखाया जा सके, जिसकी ओर इशारा किया जा सके, वह तो 'यह' है। और जो देखा तो न जा सके परन्तु जिसकी सत्ता हो, जो जाना न जा सके परन्तु जिसका अस्तित्व हो, जो विद्यमान हो, वह 'वह' है। विज्ञान जिसे जान सकता है वह 'यह' है, जिसे विज्ञान नहीं जान सकता वह 'वह' है। विज्ञान का सम्बन्ध 'इस' से है और धर्म का सम्बन्ध 'उस' से है। इसी वजह से विज्ञान और धर्म का कोई भी मिलान नहीं है। 'यह' 'वह' नहीं हो सकता और 'वह' 'यह' नहीं हो सकता, फिर भी वे दोनों अलग नहीं हैं। 'यह' बहुत निकट है, 'वह' बहुत दूर है। 'यह' बुद्धि के द्वारा, मन के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है। 'वह' अनुभव में आता है, परन्तु व्यक्त करते हो, शब्दों का जामा पहनाये जाते ही 'यह' हो जाता है। यहाँ तक कि उसको कोई नाम देते ही वह 'यह' हो जाता है। ज्ञान की सीमा होती है परन्तु अनुभव निस्सीम होता है। 'वह' निकटतम भी है और सबसे दूर भी है। पूर्ण वस्तु यदि एक वृत्त है, सर्कल है तो 'वह' है केन्द्र और 'यह' है परिधि। केन्द्र एक बिन्दु रूप है और परिधि है एक अन्तहीन चक्कर।

धर्म कहता है कि तुम 'वह' ही हो। कोई यात्रा की दरकार नहीं है। तुम यहीं और अभी 'उसे' पा सकते हो। अगर 'इस' का अतिक्रमण करो तो 'उस' में होंगे। केन्द्र पर जाने के लिए परिधि का अतिक्रमण करना होगा। केन्द्र परिधि नहीं है, यदि परिधि होती तो अब तक पहुंच जाते। परन्तु परिधि पर दौड़ो तो भी केन्द्र पर नहीं पहुंच सकते। उसके लिए तो केन्द्र की ओर मुंह करके छलांग लगानी पड़ेगी।

जिसका कोई नाम है वह 'यह' है। जैसे आप पुरुष हैं, स्त्री हैं—ये भी नाम हैं। लेबल लगाना मात्र परिधि है। कोई केन्द्र है जो बिना नाम का है। पुरुष-स्त्री होना, युवा-वृद्ध होना, स्वस्थ-अस्वस्थ होना, सुंदर-कुरूप होना—ये सब 'यह' के हिस्से हैं। इन सबके परे कुछ है; यदि उसको अनुभव किया तो 'वह' का स्पर्श होता है।

हम एक मृत संसार में रहते हैं। वह मृत संसार ही 'यह' है; जो मरण से रहित है वह 'वह' है। उसको परमात्मा कहना भी उस पर लेबल लगाना है। यदि हम निर्विकल्प अवस्था में हैं तो 'वह' हैं,

और यदि विचार में हैं तो 'यह' हैं। जब विचार में हैं तो अपनी आत्मा में नहीं हैं। जितने गहरे विचार में जाते हैं उतने ही 'वह' से दूर हो जाते हैं।

समाज हमारे 'वह' में रस नहीं लेता, संसार तो 'यह' में रस लेता है। 'यह' हमारे अहंकार से मिला हुआ है—अपने नाम से, अपने माँ-बाप और परिवार से, अपनी शिक्षा से, अपने पद से, अपने सम्प्रदाय से, अपनी भाषा से, अपने देश से जुड़ा हुआ है। ये सब हमारे 'यह' के हिस्से हैं न कि 'वह' के। 'वह' किसी से जुड़ा हुआ नहीं है, 'वह' किसी से सम्बन्धित नहीं है, 'वह' तो एक अकेला है। 'वह' तो अपने आप में परिपूर्ण है। जब एक बार 'वह' अनुभव में आ जाएगा तो 'यह' ऊपरी दिखावा मात्र हो जाएगा। फिर सब जगह वह' ही 'वह' दिखाई देगा। तब 'यह' दूर हो जाएगा और 'वह' नजदीक हो जाएगा।

अगर कोई व्यक्ति नाटक में पार्ट कर रहा है तो वहाँ पर जो पार्ट है, वह 'यह' है। और जो पार्ट करने वाला व्यक्ति है वह 'वह' है। रोल अदा करते हुए भी उसे वह कौन है इसका ज्ञान है। 'यह' की लाभ-हानि, यश-अपयश, जीव-मरण होते हुए भी उसे कोई सुख-दुःख नहीं, क्योंकि उसने 'वह' में अपने को स्थापित कर रखा है। उसके लिए 'वह' नजदीक है और 'यह' दूर है। इसी प्रकार घड़ा 'यह' है और माटी 'वह' है। दोनों साथ-साथ हैं, परन्तु घड़े के न रहने पर भी माटी का अभाव नहीं है। घड़े के फूटने पर भी माटी 'वही' रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा की स्थिति है। आत्मा का चेतनपना 'वह' है और क्रोधादि अवस्थाएँ 'यह' हैं। यदि हमने शरीर को और क्रोधादि को ही अपना मान रखा है, चैतन्य को अपना नहीं माना है, तो हमने 'वह' को न जानकर, 'यह' को ही 'वह' माना है। 'यह' नाशवान है, अतः 'यह' के नाश से 'वह' का नाश मान रहे हैं। सही ज्ञान होने के लिए 'यह+वह' का ज्ञान होना जरूरी है। सिर्फ 'वह' को ही मानें तो सही ज्ञान नहीं है, सिर्फ 'यह' को ही मानें तो भी सही ज्ञान नहीं है। 'वह' को यह' मानें, या 'यह' को 'वह' मानें, या 'वह' को अलग और 'यह' को अलग माने, तब भी वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं है। 'यह' और 'वह' एक साथ एक समय में होते हुए अलग भी हैं और 'वह' के बिना यह नहीं, 'यह' के बिना 'वह' नहीं है। परन्तु, 'वह' 'यह' नहीं है और 'यह' 'वह' नहीं है। जो 'वह' को नहीं जानता, उसके 'यह' में ही 'वह' पना आ जाता है। अतः उसको 'यह' में 'वह' छुड़ाने के लिए 'वह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है। और जो लोग 'यह' को नहीं मानते, उसे मिथ्या, भ्रम, माया आदि कहते हैं उन्हें 'यह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि दोनों ही प्रकार के लोग 'यह+वह' का ज्ञान कर लें, सही ज्ञान प्राप्त हो जायें।

विशेषों का संसार : नाटकवत् वा स्वप्नवत् :

मान लीजिये कि कोई अभिनेता अभिनय करते हुए अपने असली रूप को भूल जाता है, नाटक या फिल्म में अपने पार्ट या रोल को ही वास्तविकता मान लेता है, और फलस्वरूप दुखी-सुखी होने लगता

है। तो फिर उसका वह दुख कैसे दूर हो ? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजरूप का—जिसे वह अभिनय के दौरान भुला बैठा है—फिर से अहसास करा दिया जाये, तो उसका रोल वास्तविक न रह कर केवल नाटकीय रह जायेगा और अभिनय करते हुए भी उसका भीतर में दुखी-सुखी होना मिट जायेगा। यही सही उपाय है उसका दुख दूर करने के लिए। रोल को बदलना सही उपाय नहीं है क्योंकि रोलस तो अमीर का, गरीब का, निर्बल का कर्माधीन मिलते ही रहेंगे। परन्तु यदि अपना खुद का अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी रोल हो उसको अदा करते हुए भी दुखी नहीं होगा।

बिल्कुल इसी प्रकार इस जीव की स्थिति है। **आत्म-विज्ञान के सर्वप्रथम और मौलिकतम सूत्र के रूप में भगवान् महावीर ने बतलाया कि अपने उस चैतन्य सामान्य का आश्रय लेकर ही यह जीव अन्ततः राग-द्वेष का अभाव कर सकता है।** मनुष्य, पशु आदि शरीरों का सम्बन्ध और क्रोध-मानादि विकारों का होना तो मात्र उस चेतन-वस्तु के विशेष हैं, आत्मोन्नति का मार्ग तो इन अनित्य-नाशवान अवस्थाओं से भिन्न चैतन्य सामान्य में तादात्म्य, अपनापना स्थापित करना है। इसने भी स्वयं को न पहचान कर, कर्मजनित रोल को ही वास्तविक मान लिया है, इसलिए दुखी-सुखी हो रहा है। दुख से बचने के लिए इसने समय-समय पर उन रोल्स को बदलने की चेष्टा तो की, और कर्म के उदय के अनुसार कदाचित् इसका रोल बदल गया तो इसने स्वयं को सुखी मान लिया, परन्तु इन रोल्स से भिन्न जो अपना स्वरूप है उसे जानने की चेष्टा नहीं की। यदि करता तो रोल में असलियत का भ्रम मिट कर वह मात्र नाटक रह जाता। फिर इसे चाहे जो भी रोल्स मिलते इसका उनमें दुखी होना असंभव था।

जीव की इस विडम्बना को देखकर भगवान् महावीर ने बतलाया कि तू यदि कर्मकृत रोल में असलियत मानेगा तो नये-नये रोल्स करने के लिए कर्मों का संचय करता रहेगा, उन कर्मों के अनुसार तुझे रोल करने पड़ेंगे। पुनः यदि उनमें अपनापना मानेगा तो फिर नये रोल्स के कारणभूत कर्मों का संचय होगा। तेरी यही दशा अनन्त काल से चली आ रही है। यदि तू स्वयं को पहचान कर कर्मजनित रोल को मात्र रोल समझ ले, तो फिर न तो तू ही उस रोल की वजह से दुखी-सुखी होगा और न ही तुझको नये रोल्स करने के लिए कर्म का संचय होगा। और इस प्रकार अन्त में जब पूर्वसंचित कर्मों के द्वारा रचा हुआ तेरा अन्तिम रोल भी समाप्त हो जायेगा तो फिर इन कर्मजनित रोल्स से सर्वथा रहित जैसा तू निज में है वैसा ही रह जायेगा।

इस बात को तनिक विस्तार से समझना ठीक होगा। यह जीव निरन्तर कर्म के अनुसार मनुष्य-देव-पशु-नारकी का रोल कर रहा है। चूंकि अपने को नहीं जानता कि मैं चैतन्य हूँ, अतः उस रोल को ही अपना स्वरूप मानता है और दुखी-सुखी होकर नवीन कर्मों का संचय करता है। इन कर्मों के फल-स्वरूप फिर नया रोल मिलता है। यदि अच्छे कर्मों का संचय किया तो धनवान का, राजा-महाराजा का, नीरोग-स्वस्थ-सुन्दर-बुद्धिमान व्यक्ति का, इन्द्र-देवेन्द्र आदि का रोल मिल जाता है। यदि बुरे कर्मों का संचय किया तो गरीब-दरिद्र का, रोगी-अपंग-कुरूप-मूर्ख व्यक्ति का, पशु-पक्षी आदि का रोल

मिल जाता है। जो भी अच्छा-बुरा रोल मिलता है वह इस जीव की इच्छा के आधीन नहीं मिलता, अपितु इसके पूर्वकृत कर्मों के आधीन ही मिलता है। चूंकि यह जीव स्वयं को, निजरूप को नहीं जानता, अतः उस कर्मकृत शरीर को मान लेता है कि 'यही मैं हूँ' और उसी के साथ समूचे परिवार में, समूची बाह्य सामग्री में भी अपनापना मान लेता है। अपनी इस मान्यता के वशीभूत हुआ यह जीव जब इनके वियोग को प्राप्त होता है तो 'मेरा अमुक मर गया', 'मैं मर गया', 'मेरी अमुक चीज चली गयी', 'मैं लुट गया' इत्यादिक प्रकार से रोता है, दुखी होता है। अथवा किसी व्यक्ति-वस्तु का वियोग इसे न भी हुआ हो तो 'अमुक की प्राप्ति नहीं हुई' इस प्रकार किसी न किसी पदार्थ का अभाव इसको खटकता रहता है, जैसे कि स्वास्थ्य, धन, पद, प्रतिष्ठा का अभाव या स्त्री, संतान आदि का अभाव। इस प्रकार जब यह दुखो होता है तो वर्तमान अवस्था को दुख का कारण मानकर दूसरी अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैसे कि गरीबी को दुख का कारण मानता है तो धनवान बनना चाहता है। परन्तु यह नहीं समझता कि इन अवस्थाओं में बदलाव होना भी पूर्वसंचित कर्मों के आधीन ही है। अतः यदि संयोगवश कर्मों का अनुकूल उदय हुआ और इसकी कोई एक मनचाही बात कुछ समय के लिये हो गई तो फिर 'मेरे करने से ही यह हुआ' ऐसा मानकर अहंकार करता है और यदि इच्छा के अनुकूल उदय का संयोग नहीं बना और इसका मनचाहा नहीं हुआ तो फिर यह विषाद करता है। इस प्रकार अपने ही अहंकार और विषादयुक्त परिणामों के द्वारा पुनः नवीन कर्मों का संचय कर लेता है, जिनके फलस्वरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति होती है और यह चक्कर बराबर चलता रहता है।

इस चक्कार को तोड़ने का उपाय इस जीव ने न तो कभी समझा और न कभी किया। इसने कभी भी यह चेष्टा नहीं की कि मैं निजरूप को जानूं। यदि यह स्वयं को जान ले तो फिर कैसा भी कर्मजनित पार्ट क्यों न करना पड़े, उसमें अहंकार-ममकार होगा ही नहीं। चाहे जैसी भी बाह्य अवस्था हो वह इसको दुखी नहीं बना सकती। जब पार्ट ही करना है तो चाहे जिसका पार्ट करना पड़े, क्या फर्क पड़ता है? फिर भिखारी का पार्ट इसको दुखी नहीं कर सकता और धनिक का पार्ट इसके अहंकार की वजह नहीं बन सकता। जब यह स्वयं को जान लेता है तो पूर्वकृत कर्मों के फल शरीरादिक में अपनापना न रह कर 'ये स्वाँग मात्र हैं' ऐसा भाव रह जाता है। तब न तो दुख-सुख हैं, न राग द्वेष हैं, और न ही नवीन कर्मों का बंध है। पुराना कर्म जितना है, उतना अपना फल देकर चला जायेगा और तब यह कर्म से रहित, राग-द्वेष से रहित, जैसा इसका स्वरूप है वैसा ही रह जायेगा। इसलिए सुखी होने का, राग-द्वेष रहित होने का उपाय अवस्थाओं को बदली करना नहीं है अपने को जानना है। अपने को जानने के बाद भी संसार अवस्था तब तक चलती है जब तक पूर्व संस्कार यह अपने पुरुषार्थ के बल पर नष्ट नहीं कर देता।

जीव की कर्मजनित अवस्थाओं की तुलना जिस प्रकार नाटक में होने वाले विभिन्न रोल्स से की गई है, उसी प्रकार उनकी समानता स्वप्न से भी की जा सकती हैं। संसारी जीव की कर्मजनित, परि-

वर्तनशील और नाशवान अवस्थाएँ स्वप्न की भाँति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब तक स्वप्न देखता रहता है, तभी तक स्वप्न उसके लिए वास्तविक रहता है। परन्तु जैसे ही वह जगता है, वह स्वप्न वास्तविकता से विहीन मात्र एक स्वप्न रह जाता है। स्वप्न में उसकी जो भी अवस्थाएँ हुई थीं वे दुख-सुख का कारण नहीं रह जातीं। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव में तो सो रहा है और संसार के कार्यों में जग रहा है। यदि यह अपने चैतन्य-स्वभाव में जग जाये तो संसार के समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं। इसलिए दुख दूर करने का उपाय सुखद स्वप्न लेना नहीं बल्कि स्वप्न से जागना है।

२

आत्मा का राग-द्वेष से सम्बन्ध :

अर्थहीन परिवर्तनों से व्याप्त इस मनुष्य जीवन में यदि कोई सार्थक उपलब्धि सम्भव है तो वह है अपने चैतन्य सामान्य का, अपने स्वभाव का अनुभव। वह अनुभव कैसे हो? अनुभव कर पाने से पहले उस निज स्वभाव को बुद्धि के स्तर पर ठीक से, विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। स्वभाव वह होता है जो वस्तु की अवस्था बदलने पर भी न बदले, हमेशा कायम रहे। जैसे चीनी का स्वभाव है मीठापना; चीनी को मिट्टी में मिला दें, पानी में घोल दें, गर्म कर दें, परन्तु उसका मीठापना बराबर कायम रहेगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है जाननपना। यद्यपि ज्ञान कम ज्यादा होता रहता है, तथापि जाननपना हर हालत में कायम रहता है। यदि ज्ञातापना जीव का स्वभाव है तो राग-द्वेष का उससे क्या संबंध है; क्या राग-द्वेष भी जीव के स्वभाव हैं? इन प्रश्नों के समाधान के लिए एक उदाहरण लेते हैं। यदि चीनी को गर्म कर दें तो चीनी में एक साथ दो बातें पाई जाती हैं, मीठापना और गर्मपना। मीठापना और गर्मपना एक साथ होते हुए भी मीठापना तो चीनी का है जबकि गर्मपना अग्नि के सम्बन्ध से आया है। यद्यपि गर्म तो चीनी ही हुई है, तथापि गर्मपना चीनी का अपना नहीं, अग्नि का है। और फिर, गर्मपने के अभाव में चीनी का अभाव भी नहीं होता। अतः गर्मपना चीनी का स्वभाव नहीं हो सकता। इस उदाहरण की भाँति ही आत्मा में भी जाननपना और राग-द्वेष (शुभ-अशुभ भाव) एक साथ होते हुए भी जाननपना स्वयं चेतन का है जबकि राग-द्वेष कर्म के सम्बन्ध से आ रहे हैं। राग-द्वेष के अभाव में भी आत्मा का अभाव नहीं होता इसलिए राग-द्वेष आत्मा में होते हुए भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हो सकते। आत्मा का स्वभाव तो जाननपना मात्र है जो आत्मा में सदाकाल विद्यमान रहता है। जाननपना या ज्ञायकपना ही स्वयं को तथा पर को जानने वाला है। परन्तु अनादिकाल से वह ज्ञायक स्वयं को ज्ञानरूप अनुभव न करके राग-द्वेषरूप अनुभव कर रहा है। आचार्य करुणावश उसी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू स्वयं को चैतन्यरूप अनुभव न करके राग-द्वेषरूप क्यों अनुभव कर रहा है? ये राग-द्वेष तो परकृत

कार्य हैं, तेरे स्वभाव तो हैं नहीं। फिर तू इनसे भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव का अनुभव क्यों नहीं करता ?

आत्मा का शरीर से सम्बन्ध :

राग-द्वेषरूपी विकारों से भिन्न होने के साथ ही यह आत्मा शरीर से भी भिन्न है। शरीर और आत्मा का एक साथ संयोग होते हुए भी वे दोनों कभी भी एक नहीं होते। दोनों के लक्षण अलग-अलग हैं। आत्मा का लक्षण जाननपना है जबकि शरीर पौद्गलिक है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों वाला है, अचेतन है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति का दुर्घटनावश एक हाथ कट जाता है और वह उसके सामने पड़ा है। वह हाथ तो जानने की शक्ति से रहित है परन्तु जानने वाला उसको जान रहा है। हम यह प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मुर्दा पड़ा रह जाता है जबकि जानने वाला पदार्थ निकल कर चला जाता है। आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि शरीर के साथ कपड़े का है। जिस प्रकार कपड़े के मैला होने से शरीर मैला नहीं होता, कपड़े के फटने से शरीर नहीं फटता, और कपड़े के नाश से शरीर का नाश नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के मैला होने से आत्मा मैली नहीं होती, शरीर के कटने-फटने से आत्मा छिन्न-भिन्न नहीं होती, और शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर अचेतन है, उसमें जानने की शक्ति नहीं होती, परन्तु जानने की शक्ति वाला चैतन्य पदार्थ शरीर के माध्यम से—आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा के माध्यम से—बाह्य पदार्थों को जानता है। जानने वाली आँखें नहीं, बल्कि जैसे "चश्मे के माध्यम से आँखें देखती हैं" ऐसा लोक में माना जाता है, वैसे वस्तुत: आँखों के माध्यम से आत्मा जानती है। जानने वाला तो वह चैतन्य ही है, शरीर नहीं। शरीर तो केवल एक माध्यम है और वह माध्यम भी मात्र बाह्य पदार्थों, परपदार्थों के जानने में ही है। जब यह चैतन्य स्वयं को जानने में प्रयुक्त होता है तो उस माध्यम का भी कोई कार्य नहीं रह जाता।

ज्ञानशक्ति का ह्रास :

आत्मा में जानने की अनन्त शक्ति अन्तर्हित है। शुद्धात्मा में जब वह शक्ति प्रकट होती है, व्यक्त होती है तो वह बिना किसी पदार्थ की सहायता के त्रिलोक व त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। परन्तु वर्तमान अवस्था में, अशुद्ध अवस्था में उसकी शक्ति इतनी घटी हुई है कि वह आँख-कान आदि इन्द्रियों के माध्यम से तथा प्रकाश आदि बाह्य साधनों की सहायता से किंचित् मात्र पदार्थों को जान पा रहा है। जाननशक्ति में कमी का कारण यह है कि जीव ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है—उसे स्वयं में, निज स्वभाव में न लगा कर कर्म और कर्मफल (राग-द्वेष, शरीर और शरीर सम्बन्धी पदार्थों) में लगाया है। इसके विपरीत, यदि यह जीव अपनी जाननशक्ति को अपने ज्ञाता स्वभाव में लगाये तो वही शक्ति बढ़ते-बढ़ते अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर केवलज्ञान-रूप हो सकती है। परन्तु, बड़े खेद की बात है कि जितनी शक्ति इसके पास वर्तमान में है उसको भी यह विषय-कषाय में ही लगा रहा है, जिसके फलस्वरूप इसकी जाननशक्ति ह्रास की दिशा में ही अग्रसर है। यदि इसका दुरुपयोग

इसी प्रकार चलता रहा तो यह घटते-घटते एक दिन अपने चरम अपकर्ष पर पहुंच जायेगी, अक्षरज्ञान के अनंतवें भाग मात्र रह जायेगी। हमारा ज्ञान जो इन्द्रियों के आधीन हुआ है उसका कारण हम स्वयं ही हैं —हमने उसको सही जगह नहीं लगाया। सही जगह तो केवल अपना स्वभाव ही है, यदि अनभ्यास के वश उसमें न लगा सकें तो जिन साधनों के द्वारा अपने स्वभाव की पुष्टि होती है उनमें लगाना पड़ता है। इनके अतिरिक्त अन्य जगह लगाना तो ज्ञान का दुरुपयोग ही है जिसका फल कर्म की बढ़वारी और ज्ञान का ह्रास है। धर्म या आत्म-विज्ञान का सम्बन्ध तो इतना ही है कि जो शक्ति हमारे पास है, हम उसका स्वरूप जानें और उसका सदुपयोग करें जिससे कि वह वृद्धि की ओर अग्रसर हो। जानन-शक्ति और राग-द्वेषादि विकार, इनका परस्पर में उल्टा सम्बन्ध है—जब विकार बढ़ते हैं तो सम्यक ज्ञानशक्ति घटती जाती है, और जब सम्यक ज्ञानशक्ति बढ़ती है तो विकार घटते जाते हैं। अतः ज्ञान-शक्ति को स्वभाव में लगाने पर उसका विकास और विकारों का ह्रास एक साथ होता है। इस प्रकार जब विकारों का सर्वथा अभाव घटित होता है तब विकसित होती हुई ज्ञानशक्ति पूर्णताके सन्मुख होती है। अतः कषाय का अभाव, ज्ञानशक्ति की पूर्णता ही साक्षात् धर्म है।

अभी हमारी ज्ञानशक्ति पर में लगी हुई है, बाहर की ओर केन्द्रित है; उसको वहाँ से हटाना है। परन्तु यदि इतनी ही बात कही या समझी जाती है तो पूरी बात नहीं है, क्योंकि हटाने से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे कहाँ लगाना है। बाहर से हटाकर यदि सही जगह नहीं लगाया, निजस्वभाव में नहीं लगाया तो धर्म की सम्भावना नहीं हो सकती। अज्ञानी जाननशक्ति को पर से यदि हटाता भी है तो भीतर किस ओर लगाए यह नहीं जानता। ज्यादा से ज्यादा अशुभ से हटाकर शुभ में लगा लेता है परन्तु वह भी पर ही है। अन्धकार को दूर करने का जो उपदेश दिया जाता है उसका अभिप्राय अन्धकार को भगाने का नहीं बल्कि प्रकाश को लाने का होता है। अन्धकार को दूर करने का मतलब ही प्रकाश को लाना है। प्रकाश लाया जायेगा अन्धकार स्वतः दूर हो जायेगा। जो व्यक्ति इस प्रकार सही अर्थ को नहीं समझता उसके सम्भवतः उपदेश-ग्रहण की पात्रता नहीं है। जब इसे रत्नों की पहचान होगी और फलतः उनके ग्रहण की रुचि होगी तो फिर यह नहीं पूछेगा कि जो पत्थर मेरे पास पड़े हैं उनका मैं क्या करूँ। परन्तु, वे पत्थर कहाँ छूट गये इसका इसे पता भी नहीं चलेगा। यही बात वर्तमान संदर्भ में है—यदि इस जीव से संसार-शरीर-भोग छुड़ाने हैं तो इसको इस अर्थहीन, परिवर्तनशील, नाशवान वस्तुओं से विपरीत लक्षण वाले सार्थक, अपरिवर्तनीय, शाश्वत निज स्वभाव की पहचान करनी होगी, सूचित करना होगा कि यह तुझको मिला हुआ ही है, कि यही वह स्थल है जहाँ पूर्ण शान्ति और आनन्द है। और यदि इसको निज स्वभाव की पहचान हो गयी, श्रद्धा हो गयी तो यह जहाँ खड़ा है—संसार, शरीर, भोगों के बीच—वहाँ से स्वयमेव हट जायेगा।

अध्यात्म और चरणानुयोग : ग्रहण और त्याग की एकता :

आज तक जो उपदेश हुआ वह त्याग का उपदेश तो हुआ परन्तु साथ में ग्रहण का नहीं हुआ।

केवल त्याग का उपदेश देना आधी बात है, जब साथ में ग्रहण का भी उपदेश दिया जाता है तभी बात पूरी होती है। त्याग और ग्रहण ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं—यही चरणानुयोग और अध्यात्म की मित्रता है, एकता है। इन दोनों की एकता मानो एक रस्सी है जिसका एक सिरा यदि चरणानुयोग है तो दूसरा सिरा अध्यात्म है। रस्सी का एक सिरा दूसरे के बिना नहीं हो सकता—ग्रहण त्याग की अपेक्षा रखता है और त्याग ग्रहण की। 'पर' से हटे बिना 'स्व' में आना सम्भव नहीं है, और यदि 'पर' से हटने मात्र पर ही दृष्टि रही 'स्व' में पहुंचने की बात उसमें गर्भित न हुई तो वहाँ ज्यादा से ज्यादा इतना ही होगा कि एक 'पर' से हटकर दूसरे 'पर' में अटकाव हो जायेगा। यदि हम दोनों अनुयोगों की मैत्रीरूपी इस रस्सी को काटकर दो कर देते हैं तब न तो अकेला अध्यात्म कार्यकारी है और न ही अकेला चरणानुयोग। रस्सी को काट देने से दोनों ही एकान्तवाद बन जाते हैं। और यदि एक-दूसरे के सापेक्ष इनके सही स्वरूप को माना जाये तो रस्सी का कोई भी एक सिरा पकड़ कर यदि चला जायेगा तो दूसरे सिरे पर पहुँचना हो जायेगा। किस सिरे से शुरू करना है यह चलने वाले पर निर्भर करता है।

असल में सच्चा मार्ग अध्यात्म और बाहरी आचरण की एकता से ही बनता है जैसे-जैसे आत्मस्वभाव के सन्मुख होता है वैसे-वैसे कर्म हल्के होते जाते हैं वैसे-वैसे आचरण बदली होता जाता है यह मिलान है अगर बाहरी आचरण सही नहीं है तो कर्म भी हलके नहीं हुए और स्वभाव की प्राप्ति भी नहीं हुई ऐसा नियम है। कोई व्यक्ति बाहरी आचरण की तरफ से चलता है और स्वरूप के प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है जब स्वरूप प्राप्त हो जाता है तब वही बाहरी आचरण सच्चा व्यवहार बन जाता है, सच्चाई आ जाती है।

आत्मा-अनुभव जीव का अपना चुनाव :

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, इस जीव की जाननशक्ति निरन्तर पर में लगी हुई है—शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों की ओर केन्द्रित है। यह जीव अपने को शरीर-रूप देखता है, शरीर के स्तर पर खड़ा होता है तो पाता है कि स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि, शैक्षिक, उपाधि, धन, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्रादिक, परिजन, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र आदि ये सब मेरे हैं, ये ही मैं हूँ। इनके अभाव में अपना अभाव व इनके होने में अपना होना मानता है। फल यह होता है कि इन पदार्थों से सम्बन्धित हजारों प्रकार के विकल्प और हजारों प्रकार की आकुलताएँ उठ खड़ी होती हैं, और इन विकल्पों-आकुलताओं में फँसकर यह जीव दुःखी होता रहता है। कदाचित् कोई एक आकुलता कुछ समय के लिए मिटती भी है तो अन्य हजारों उस समय भी मौजूद रहती हैं। और जो मिटी है वह भी कुछ समय बाद फिर आ जाती है। एक-दो आकुलताएँ कम होने से यह जीव स्वयं को सुखी मान लेता है, परन्तु वास्तविक सुख यहाँ नहीं है। जिसे यह सुख मान लेता है वह सुखाभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। और जब यह शरीर के स्तर पर न होकर चेतना के स्तर पर खड़ा होता है, स्वयं को चैतन्य-रूप देखता है तो इसे आकुलता पैदा होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। आत्मा के स्तर पर न कोई रोग है और न किसी

का मरण, न कुछ आना है और न कुछ जाना है; जो अपना है वह हमेशा अपना है, जो पर है वह हमेशा पर है। ऐसा अनुभव आने पर सभी प्रकार की आकुलताएँ और विकल्प करने का कारण समाप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने बतलाया कि हे जीव ! तू स्वयं को शरीर-रूप – जैसा तू नहीं है—न देखकर चेतना-रूप देख जैसा कि तू अनादिकाल से है और सदाकाल बना रहेगा। स्वयं को चैतन्यरूप देखना ही तेरी ज्ञानशक्ति को बढ़ाकर पूर्ण कर देगा और राग-द्वेषजनित विकल्पों को हटाकर तुझे शुद्ध कर देगा। ऐसा तू वर्तमान में कर सकता है; यह तेरा अपना चुनाव है कि चाहे स्वयं को तू शरीर-रूप देखे, चाहे चैतन्य-रूप। शरीर-रूप देखने का फल तो चौरासी लाख योनियों में अनादिकाल से तू निरंतर भोगता आ रहा है। जिन्होंने स्वयं को चैतन्यरूप देखा वे परम आनन्द को प्राप्त हो गये। यदि तुझे भी वैसा आनन्द प्राप्त करना है तो तू भी स्वयं को चैतन्यरूप देख और उसी रूप ठहर जा। कहीं बाहर नहीं जाना है, मात्र स्वयं में ही रह जाना है, बस परमानन्द को प्राप्त हो जायेगा। आचार्य और आगे कहते हैं कि हम उसी परमानन्द का भोग कर रहे हैं; एक बार हमारी बात केवल एक घड़ी के लिए मानकर समस्त पदार्थों से अलग अपने स्वरूप को, चैतन्यरूप को—जैसा कि तू वस्तुतः है—देख ले तो तेरा अनन्तकाल का दुःख समाप्त हो जायेगा। जैसा कि तू स्वयं को आज तक देखता आ रहा है—शरीररूप और राग-द्वेषरूप—वैसा तू न कभी था, न है और न ही कभी हो सकेगा। यह शरीर तो जड़ पदार्थ है, इसकी कोई भी, कैसी भी अवस्था तुझ चैतन्य को प्रभावित नहीं कर सकती, इसके नाश से भी तेरा नाश नहीं हो सकता। इसका तो महत्त्व भी तभी तक है जब तक तू इसमें ठहरा हुआ है, अन्यथा लोग इसको छुएँगे भी नहीं, इसे जला देंगे। इसका कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व तो तेरा है, तुझ चैतन्य तत्त्व का है।

आत्मा को जानने का उपाय :

प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिसमय तीन क्रियायें एक साथ हो रही हैं—एक तो शरीर की क्रिया, दूसरी शुभ या अशुभ विकारी परिणामरूप मन की क्रिया, तथा तीसरी जानने रूप क्रिया। शरीर की कैसी भी स्थिति हो उसका जानना हो रहा है। यदि शरीर रोगी है तो वहाँ एक तो रोग का होना और दूसरे रोग का जानना दोनों बातें एक साथ हो रही हैं। दो काम एक साथ हो रहे हैं—हाथ का उठना और उसका जानना, रोग का होना और रोगी अवस्था का जानना, नीरोग होना और नीरोगता का जानना। यहाँ पर यह निर्णय करना है कि जिसमें रोगादिक हुए हैं वह मैं हूँ या उसको जानने वाला ? शरीर की अवस्था बदल रही है, जानने वाला इसे जानता है। शरीर बूढ़ा हो रहा है उसको भी जान रहा है, मर रहा है तो उसको भी जान रहा है, परन्तु जो जानने वाला है वह न तो बूढ़ा हो रहा है और न मर

रहा है। यहां पर यह निर्णय करना है कि मैं तो जानने वाला हूँ जबकि अवस्था बदलनें का सम्बन्ध शरीर के साथ है।

जिस प्रकार शरीर की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अवस्था को जानने वाला उसी समय जानता जा रहा है, उसी प्रकार परिणामों की भी चाहे कोई अवस्था हो उसका जानना भी उसी समय साथ साथ होता जा रहा है, जैसे क्रोध का होना और उसका जानना। क्रोधादिक कम-ज्यादा हो रहे हैं—क्रोध से मान, मान से माया, माया से लोभ-रूप परिणाम हो जाते हैं—परन्तु जानने वाला सतत, एकरूप से जो कुछ भी परिणमन हो रहा है उस सबको जान रहा है, जानता जा रहा है। वह क्रोध को भी जान रहा है और क्रोध के अभाव को भी जान रहा है; क्रोध के अभाव में उसका अभाव नहीं हो रहा है। उसका काम तो मात्र जानना है।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि तीन काम एक साथ हो रहे हैं—शरीर-आश्रित क्रिया, विकारी परिणाम और जाननक्रिया। इनमें से पहले दो काम तो नाशवान हैं जबकि जाननपना त्रिकाल रहने वाला है। स्वप्न आने पर भी जानने वाला उसी समय जान रहा है, तभी तो सवेरे उठकर वह अपने स्वप्न को कह सकता है। आज बड़ी अच्छी नींद आई, इसको भी जानने वाले ने जाना; एक नींद ले रहा था और दूसरा उसको भी जान रहा था।

ये तीनों क्रियायें एक साथ हो रही हैं इस बात का आज तक हमें ज्ञान ही नहीं था। चूंकि जानने की क्रिया हमारी पकड़ में नहीं आई, केवल शरीर व मन की क्रियायें ही पकड़ में आ रही हैं, इसलिए शरीर की क्रिया और राग-द्वेषरूप परिणामों को ही हमने अपना होना, अपना अस्तित्व समझा। स्वयं को इन्हीं का कर्त्ता माना। इनके अतिरिक्त कोई जाननक्रिया भी हो रही है और उसका स्तर इनके स्तर से भिन्न है, यह बात कभी समझ में नहीं आई। फल यह हुआ कि धर्म के लिए हमने एक ओर तो परिणामों को बदलने की चेष्टा की—अशुभ से शुभरूप बदलने का प्रयत्न किया, और दूसरी ओर शरीराश्रित क्रिया को अशुभ से शुभरूप बदलना चाहा। यदि शरीर और मन की ये क्रियायें बदल गईं तो हमने इस बदलाव को ही धर्म मान लिया और अहंकार किया कि मैंने ऐसा कर दिया। इस बात को तनिक भी न समझा कि ये दोनों ही पर—आश्रित क्रियायें हैं, आत्मा की अपनी स्वाभविक क्रिया नहीं है, अतः इन पराश्रित क्रियाओं के बदलने मात्र से धर्म होना कदापि सम्भव नहीं, धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, उसका सम्बन्ध तो उस तीसरी, स्वाभाविक क्रिया से है, जाननक्रिया से है। यह नासमझी, यह गलती उस जाननेवाले की ही है कि उसने अपनी स्वाभाविक क्रिया को न पहचान कर, विकारी परिणामों और शरीराश्रित क्रियाओं में ही अपनापना मान रखा है, यही अहंकार है, यही मिथ्यात्व है, यही संसार है जो तब तक नहीं मिट सकेगा जब तक यह अपनी स्वाभाविक क्रिया को नहीं जानेगा।

जाननक्रिया : जीव की स्वयं की अपनी :

धर्म के मार्ग पर शुरुआत के लिए जरूरी है कि हम यह निर्णय करें कि जाननक्रिया तो मेरे ज्ञाता

स्वभाव से उठ रही है, वह मेरी स्वयं की क्रिया है जबकि दो क्रियायें कर्म के सम्बन्ध से हो रही हैं—उसी प्रकार जैसे कि पहले दिये गये चीनी के उदाहरण में चीनी का गर्मपना पर के, अग्नि के, सम्बन्ध से था। अभी तक तो इन कर्मकृत दो प्रकार की क्रियाओं में ही अपनापना माना था, अपना होना मान रखा था, परन्तु अब हमारा अपनापना उस जानने वाले में आना चाहिए। जैसा अपनापना, जैसा एकत्व शरीराश्रित क्रिया और विकारी परिणामों में है वैसा अपनापना वैसा एकत्व उनके बजाय जाननक्रिया में आना चाहिए। जिस किसी के ऐसा घटित हो जाता है उसे वास्तव में ऐसा अनुभव होता है कि चलते हुए भी मैं चलने वाला नहीं, चलने की क्रिया का सिर्फ जानने वाला हूँ; बोलते हुए भी मैं बोलने वाला नहीं, बल्कि बोलने वाले को मात्र जानने वाला हूँ; मरते हुए भी मैं मरने वाला नहीं, अपितु मरण को केवल जानने वाला हूँ। इसी प्रकार, क्रोध होते हुए भी मैं क्रोधरूप नहीं; बल्कि उसका मात्र जानने वाला हूँ; लोभादिक होते हुए भी लोभादि का करने वाला नहीं, मात्र जानने वाला हूँ; दया-करुणा आदि परिणाम होते हुए भी मैं न तो उन-रूप हूँ, न उनका करने वाला हूँ, अपितु उनका जानने वाला हूँ। मैं तो जानने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता। इस प्रकार इस जीव के 'स्व' और 'पर' के बीच भेद-ज्ञान पैदा होगा तब यह शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो जाएगा, संसार में रहते हुए भी संसार उसके भीतर नहीं रहेगा।

जाननक्रिया को कैसे पकड़ें ? :

पहले इन तीनों क्रियाओं को एक-दूसरे से भिन्न जानना और फिर मात्र जाननपने में अपनापना-एकत्व-तादात्म्य स्थापित करना जरूरी है। जाननपने में भी जो जानने का कार्य हो रहा है वह कार्य कर्म सापेक्ष क्षयोपशम ज्ञान है जो ज्यादा कम होता है इन्द्रियों की, मन की सहायता की जिसमें जरूरत है वह विशेष ज्ञान है उसको नहीं पकड़कर उसके माध्यम से उसको पकड़ना है जहाँ से वह उठ रहा है जो सामान्य ज्ञान है जो ज्ञान पिण्ड है जिससे यह जानने की लहर उठी है। उसमें एकत्वपना स्थापित करना है। इन क्रियाओं को अलग-अलग जानना तो अपेक्षाकृत आसान है, परन्तु उस जाननपने में, ज्ञातापने में अपनापना स्थापित करना मुश्किल है। फिर भी इसके लिए उपाय है—पाँच-सात मिनट के लिए अलग बैठकर हम यह निश्चित करें कि शरीर की जो भी क्रिया होगी वह मेरी जानकारी में होगी, आँखों की टिमकार भी मेरी जानकारी में होगी, बेहोशी में नहीं। शरीर की क्रिया का कर्त्ता न बनकर उसका मात्र जानने वाला बने रहना है। और यदि दो मिनट भी जानने वाले पर जोर देते हुए शरीर की क्रिया को मात्र देखने लगेंगे तो पायेंगे कि जानने वाला शरीर से अलग है। इसी प्रकार पाँच-सात मिनट के लिए बैठकर मन में उठने वाले विकल्पों का कर्त्ता न बनकर मात्र जानने वाला, मात्र ज्ञाता बने रहें। मन में जो कुछ भी भाव चल रहे हों, जो कुछ भी विचार उठ रहे हों, उनको देखते जायें, देखते जायें—चाहे शुभ विचार हो या अशुभ, उनका कोई भी विरोध न करें कि ऐसा क्यों उठा और ऐसा क्यों नहीं उठा।

हमारा काम है मात्र जानना, उस जानने वाले पर जोर देते जायें। हम उन विचारों के न तो करने वाले हैं, न रोकने वाले, हम तो उन्हें मात्र जानने वाले हैं, बस अपना काम करते जायें। हम मन नहीं, हम देह नहीं, जरा भीतर सरक जायें और देखते रहें। मन को कहें -'जहाँ जाना हो जा, जो विचार-विकल्प उठाने हों उठा, हम तो बैठकर तुझे देखेंगे। लोग कहते हैं कि मन हमारे वश में नहीं है, परन्तु यदि हम केवल दो मिनट के लिए मन को न रोकें - जहाँ वह जाये उसे जाने दें: बस इतना ध्यान रहे कि उसका कहीं भी जाना हमारी जानकारी में हो, बेहोशी में नहीं—तो हम पायेंगे कि यह मन कहीं भी नहीं जा रहा है, यह तो अब सरकता ही नहीं।'

यदि हमने धैर्यपूर्वक अभ्यास चालू रखा, देखने-जानने वाले पर जोर देते गये, तो पायेंगे कि कभी-कभी कुछ होने लगता है, मानो बरसात की फुहार का एक झोंका-सा आया हो-- एक क्षण के लिए सब शून्य हो जाता है, निर्विचार हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, एक अभूतपूर्व शान्ति छा जाती है। यदि ऐसा हुआ तो चाभी मिल गई कि विकल्प-रहित हुआ जा सकता है। और, जो एक क्षण के लिए हो सकता है वह एक मिनट के लिए, एक घण्टे के लिए, एक दिन के लिए व हमेशा के लिए क्यों नहीं? पहले बूंद-बूंद बरसेगा, फिर एक दिन तूफान आ जाएगा, बाढ़ आ जाएगी। तब वह घटित होगा जो आज तक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर कोई जागा हुआ है; बाहर में सोये हुए भी वह जागा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला प्रतीत होगा। बाहर में सारी क्रियायें होंगी परन्तु 'उसमें' कुछ भी होता न मालूम होगा। जैसे ही हम जगे, सावधान हुए, मात्र जानने वाला बने, वैसे ही पायेंगे कि मन गया और शान्ति आई। हमारा संसार हमारे मन में है। जब तक मन के विचारों में हमें रस आ रहा है, उनमें हमने अपनापना मान रखा है, तब तक ही उन्हें बल मिल रहा है। जैसे ही हम विचारों को स्वयं से भिन्न देखेंगे, वैसे हो हम उस ज्ञाताके, आत्मा के सम्मुख हो जायेंगे, सारे विचार-विकल्प गायब हो जायेंगे, सब शून्य हो जाएगा और मात्र एक जानने वाला, ज्ञाता रह जाएगा—तभी अपना दर्शन, आत्म-दर्शन होगा, तभी राग-द्वेष और शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव का अनुभव होगा।

स्वानुभव :

निचली भूमिका में स्थित साधक के आत्म-अनुभव के दौरान स्वभाव का स्पर्श मात्र ही हो पाता है। परन्तु, स्पर्श होते ही जो बात बनती है वह हमारी पकड़ में आती है—सब जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, किन्तु फिर भी चैतन्य का दीपक भीतर जगता रहता है। शरीर आपको सामने पड़ा हुआ अलग दिखाई देगा। अभ्यासी साधक के कभी-कभी ऐसा अनुभव अपने प्रयास के बिना भी घटित हो जाता है, अचानक हम शरीर से अलग हो जाते हैं-- शरीर अलग दिखाई देने लगता है। न कोई विकल्प रह जाता है, न कोई चिन्ता। ऐसा लगता है कि अब यह चेतना शरीर से

अलग ही रहेगी। ऐसी घटना समाप्त होने पर भी दिन भर उसका असर बना रहता है। ऐसी विरक्ति बनती है जैसी पहले कभी नहीं हुई। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नहीं रहता, और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु रह जाती है; मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष जो देख लिया है—जो मृत्यु में घटता है वह आज साक्षात् हो गया है। यह दशा ज्यादा देर नहीं रहती। यदि जल्दी-जल्दी अनुभव होता रहे तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनों तक न हो तो पुरानी याद के तुल्य ही रह जाती है।

आगमज्ञान और आत्मज्ञान :

आत्मा के बारे में आज तक इसने जो जाना था, वह आगम के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा जान था — दूसरे से जाना था। परन्तु अब इसने स्वयं चख कर जाना है, अपने अनुभव से जाना है। जीवन-धारा में बदलाव मात्र शास्त्रों के द्वारा जानकारी प्राप्त कर लेने से कभी सम्भव नहीं है। शास्त्र से जानने वाले तो लाखों होते हैं परन्तु उनके जीवन में बदलाव नहीं आता, हाँ वे कोशिश करके बाहरी बदलाव अवश्य ला सकते हैं। परन्तु प्रयासपूर्वक लाया हुआ बदलाव नकली होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविकता तो तभी आती है जब वह परिवर्तन निज के आस्वादन से उद्भूत हो, स्वतः आए।

आत्म-अनुभव होने पर ही इसे वस्तुतः समझ में आता है कि मैं तो जानने वाला हूँ, सिर्फ अपनी जाननक्रिया का मालिक हूँ—शुभ भावों को भी मात्र जानता हूँ, अशुभ भावों को भी मात्र जानता हूँ; इन दोनों का ही मैं करने वाला नहीं हूँ, ये तो कर्म-जनित हैं। जैसे कि एक त्रिकोण है जिसमें ऊपरी सिरे पर, शीर्ष पर, ज्ञान है, तथा निचले दो सिरों में से एक पर शुभ भाव और दूसरे पर अशुभ भाव हैं। ज्ञान अथवा ज्ञाता शुभ-अशुभ दोनों भावों से भिन्न स्तर पर है, ऊपर का स्तर 'स्व' का है और निचले स्तर 'पर' के हैं। ज्ञान उन शुभ व अशुभ भावों को देखता तो है, परन्तु उनसे भिन्न भी है और उनका कर्त्ता भी नहीं है। जब यह इस प्रकार देखता है तो शुभ-अशुभ भावों के होते रहने पर भी उनका अहंकार नहीं रह जाता; चाहे दया के या सत्यभाषण के परिणाम हों अथवा असत्यभाषण आदि के, परन्तु उनमें अपनापना, अहम्पना नहीं रहता—अहम् मर जाता है, और जिसका अहम् चला गया उसका संसार ही चला जाता है। संसार में जो रस है वह अहम्पने का और मेरेपने का ही तो है, जिसका अहम्पना और मेरापना चला गया उसके लिए संसार में कोई रस रहा ही नहीं। इसी प्रकार शरीर में भी इसके कोई अहम्पना नहीं रहता; यह भलीभाँति समझता है कि शरीर की नाना प्रकार जो अवस्थायें हो रही हैं वे सब कर्मजनित हैं, मैं तो उनका मात्र जानने वाला हूँ, उन-रूप नहीं। जिस प्रकार किसी दूसरे के शरीर को मैं जानता हूँ, उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, उसी प्रकार जिस शरीर में मैं बैठा हूँ, उसे भी पर-रूप से ही जान रहा हूँ, उसका भी कर्त्ता या भोक्ता मैं नहीं। इस शरीर और दूसरे शरीर, दोनों के परपने में कोई अन्तर नहीं है।

जब आत्मा इस प्रकार शुभ-अशुभ भावों अर्थात् राग-द्वेष तथा शरीर से भिन्न स्वयं को ज्ञानरूप देखता है तो इसके जीवन में सहज-स्वाभाविकरूप से परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इतना जरूर है कि किसी के जीवन में वह परिवर्तन अपेक्षाकृत तेजी से आए जबकि किसी दूसरे के जीवन में धीमे-धीमे आए। परिवर्तन की गति व्यक्ति विशेष पर निर्भर कर सकती है परन्तु परिवर्तन अवश्य आएगा।

आत्मज्ञान होने के बाद राग-द्वेष की स्थिति :

आत्म-अनुभव होने पर भी, ज्ञान-स्वभाव में अपनापना स्थापित होने पर भी, अभी आत्मबल की इतनी कमी है कि उस ज्ञान-स्वभाव में ठहरना चाह कर भी ठहर नहीं पाता है। इस स्थिति का कारण क्या है ? यह कैसी विवशता है ? इसे आत्मबल की कमी कह सकते हैं, राग की तीव्रता कह सकते हैं, अथवा पूर्व संस्कारों का, कर्मों का जोर कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा में सही वस्तु-तत्त्व आ गया है, तथापि कार्यरूप परिणति नहीं हो पा रही है। शरीर में अपनापना तो नहीं रहा परन्तु शरीर में स्थिति है; राग-द्वेष में अपनापना तो नहीं रहा, परन्तु राग-द्वेषरूप भाव अभी भी हैं। कुम्हार ने चाक से डंडा तो हटा लिया परन्तु अभी तक चाक चल रहा है। पेड़ को काट डाला परन्तु पत्ते अभी हरे हैं।

चूंकि पूर्व संस्कार उसे स्वभाव में नहीं ठहरने दे रहे हैं इसलिए उन्हें तोड़ने के लिए वह नये संस्कार पैदा करता है। अभी तक शरीर से प्रति समय एकत्व की भावना भा करके इसने जो संस्कार इकट्ठे किये थे वे शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना के बल से ही मिट सकते हैं, अत: अब यह उसी का उपाय करता है। अब तक रागादि और शरीरादि का कर्त्ता बनता था, अब उनके रहते हुए भी उनका ज्ञाता हो गया है— कर्तृत्व अथवा अहंपना समाप्त हो गया है। कल तक शरीर के स्तर पर रहते हुए मानता था कि :—

"मैं सुख-दु:खी मैं रंक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपनो नाश मान॥"

(छहढाला)

परन्तु आज आत्मा के स्तर पर रहकर वह पाता है कि मैं एक अकेला, अनन्त गुणों का पिण्ड, चैतन्य तत्त्व हूँ, मेरा न तो जन्म है और न मरण, न मैं मनुष्य-तिर्यंच-देव-नारकी हूँ और न ही स्त्री-पुरुष-नपुंसक, न मैं धनिक-निर्धन, मूर्ख-बुद्धिमान आदि हूँ और न परपदार्थों के संयोग-वियोग मुझे सुखी-दु:खी कर सकते हैं।

आत्मदर्शन के साथ होने वाली सम्यक् धारणाएं :

जब इस प्रकार अपने चैतन्य स्वभाव का अनुभवन करता है तब—

(१) अहंकार पैदा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि अहंकार का तो आधार ही शरीरादि शुभ-

अशुभ भाव और पुण्य-पाप का फलरूप परपदार्थों में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। तब 'मैं गृहस्थ हूँ अथवा मुनि हूँ, इस प्रकार की पर्याय में अहंबुद्धि कैसे हो सकती है ?

(२) चेतना के स्तर पर यह ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकता। तब फिर पर को सुखी-दु:खी करने के कर्त्ता होने का मिथ्या अहंकार कहाँ से हो सकता है ?

(३) शरीर के स्तर पर तो कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट। परन्तु चेतना के स्तर पर न कोई इष्ट है, न अनिष्ट। अत: राग-द्वेष करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता क्योंकि इष्ट-अनिष्ट वस्तु नहीं है। इष्ट-अनिष्टपना दिखाई देना यह हमारा दृष्टिदोष है।

(४) सुख-दु:ख या तो दूसरों के कारण से होता है या पुण्य-पाप से होता है, पहले तो ऐसा मानता था। अब समझ में आया कि दु:ख तो अपनी कषाय से होता है और सुख कषाय के अभाव से, अत: सुखी होने के लिए कषाय के अभाव का उपाय करता है।

(५) पहले मानता था कि कषाय दूसरों की वजह से होती है या कर्मोदय के कारण होती है। अब समझ में आया कि कषाय होने में समूची जिम्मेदारी मेरी अपनी है। कोई निमित्त कषाय नही कराता, और न ही निमित्त की वजह से कषाय होती है, बल्कि जब पर को निमित्त बना कर मैं स्वयं ही कषायरूप परिणमन करता हूँ तो उपचार से ऐसा कह दिया जाता है कि पर ने कषाय कराई। परन्तु ऐसा कथन मात्र उपचार है और वस्तुतः असत्य है। निमित्त न तो कोई कार्य करता है, न कार्य कराता है, अपितु हम ही निमित्त का अवलम्बन लेकर अपना कार्य करते हैं।

(६) राग से बंध होता है अशुभ भावों से पाप का और शुभ भावों से पुण्य का तथा शुद्ध भावों से कर्मों का नाश होता है इस प्रकार की सम्यक् मान्यता रखता है।

(७) ऐसा मानता है कि व्यवहार-धर्म बंध-मार्ग है, परन्तु बंध-मार्ग होने के साथ-ही साथ वह आत्मोन्नति के मार्ग में निचली भूमिका में प्रयोजनभूत भी है।

(८) नरक के डर से अथवा स्वर्ग के लोभ से होने वाला कार्य धर्म-कार्य नहीं हो सकता। आत्म-स्वभाव में लग जाने/ठहर जाने की भावना से प्रेरित कार्य को ही व्यवहार धर्म-कार्य कहा जा ता है।

(९) कषाय के नाश का उपाय अपने ज्ञान-स्वभाव का अनुभवन करना है। जितना कषाय का अभाव होता है उतना परमात्मपने के नजदीक होता जाता है। और जब कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। यही धर्म है, यही वस्तुस्वभाव है।

(१०) मेरे में परमात्मा होने की शक्ति है अपने सही पुरुषार्थ से उस शक्ति को व्यक्त किया जा सकता है।

(११) भगवान किसी का कुछ कर्त्ता नहीं है। वह वीतराग और सर्वज्ञ है—न किसी को सुखी कर सकता है न दु:खी कर सकता है। वह तो अपने स्वभाव में लीन है उनको देखकर हम भी अपने स्वभाव

को याद कर लें और उनके बताये मार्ग पर चलकर निज में परमात्मा बननें का उपाय कर सकते हैं।

यह सब निर्णय जो ऊपर में बताया है वह चौथे गुण स्थान में होता है जिसका वर्णन आगे किया है।

५

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, धर्म के लिये—निज ज्ञान-आनन्द-स्वभाव की प्राप्ति के लिये—कषाय का नाश करना जरूरी है। कषाय/राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण अपनी अज्ञानता है, शरीर और कर्मफल में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। अपने स्वरूप को यह जीव जाने तो इसका शरीरादि में अपनापना छूटे, शरीरादि में अपनापना छूटे तो कषाय पैदा होने का कारण दूर हो, और कषाय पैदा होने का मूल कारण दूर हो तो उसके बाद, राग-द्वेष के जो पूर्व संस्कार शेष रह गए हैं उनके क्रमशः अभाव का उपाय बने, और इस प्रकार जितना-जितना कषाय-राग-द्वेष घटता जाये उतनी-उतनी शुद्धता आती जाये।

चौदह गुणस्थान :

कषाय के माप के लिए चौदह गुणस्थानों का निरूपण आगम में किया गया है। जैसे थर्मामीटर के द्वारा बुखार का माप किया जाता है, वैसे ही गुणस्थानों के द्वारा मोहरूपी बुखार का माप होता है। जैसे-जैसे कषाय में कमी होती है, बाह्य में परावलम्बन घटता है और अंतरंग में स्वरूप से निकटता बढ़ती है—आत्मा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती है।

पहला गुणस्थान :

जब तक यह जीव कर्म और कर्मफल में-शरीर तथा राग-द्वेष में अपनापना स्थापित किये हुए है तब तक यह पहले गुणस्थान में ही स्थित है। यहाँ से आगे की ओर यात्रा की शुरुआत तभी सम्भव है जब वस्तुस्वरूप का, स्व-पर के भेद का निर्णय करने की दिशा में उद्यम करता है, यह निश्चय करता है कि कषाय का अभाव करना है, निज स्वभाव को प्राप्त करना है और इनके हेतु खोज करना है कि स्वभाव को प्राप्त करने वाला और कषाय का नाश करने वाला कौन है ? अब उसके लिये वही परमात्मा-देव है जो कषाय से रहित है और स्वभाव को प्राप्त किया है, वही पूजने योग्य है, वही साध्य है। वही शास्त्र है जो कषाय के नाश और स्वभाव की प्राप्ति का उपदेश दे, और वे ही गुरु हैं जो इस कार्य में लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त किन्हीं ऐसे तथाकथित देव, शास्त्र, गुरु की संगति, पूजा आदि नहीं करता जिनसे कषाय की पुष्टि होती हो। इस प्रकार सही देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करता है और उनके अवलम्बन

से अपनें स्वरूप को जानने का उद्यम करता है यह पुरुषार्थ कोई भी व्यक्ति, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, जवान यहाँ तक कि पशु-पक्षी जो मन सहित है, कर सकता है।

चौथा गुणस्थान :

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने स्वरूप को स्पर्श करने का पुरुषार्थ करते हुए जब यह जीव निर्णय करता है कि मैं शरीर से भिन्न एक अकेला चेतन हूँ, और मेरी पर्याय में होने वाले रागादि भाव, जिनके कारण मैं दुःखी हूँ, मेरे स्वभाव नहीं अपितु विकारी भाव हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं—जब यह शरीर और रागादि से भिन्न अपने ज्ञाता-स्वरूप को देख पाता है—तो पहले से चौथे, अविरत सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान में आता है। रागादि से भिन्न अपनी सत्ता का अब यद्यपि निर्णय हो गया है तथापि राग-द्वेष का नाश नहीं कर पा रहा है।

अब शरीर है, परन्तु उसमें अपनापना नहीं है; रागादि भाव है परन्तु उनको कर्मजनित, विकारी भाव जानकर उनके नाश करने का उपाय करता है। पहले समझता था कि इनके होने में मेरा कोई दोष नहीं, ये तो कर्म की वजह से हुए हैं अथवा किसी दूसरे ने करवा दिये हैं। परन्तु अब समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की कमी से हो रहे हैं, इसलिये मेरी वजह से हुए हैं, और पुरुषार्थ बढ़ाकर ही मैं इनका नाश कर सकता हूँ। बाहरी सामग्री का संयोग-वियोग, पुण्य-पाप के उदय से हो रहा है, उसमें मैं जितना जुड़ूँगा उतना ही राग होगा; वे संयोगादिक सुख-दुःख के कारण नहीं हैं बल्कि मेरा उनमें जुड़ना सुख-दुःख का कारण है। बल्कि इस प्रकार स्वयं में विकार होने की जिम्मेदारी अपनी समझता है, और विकार के नाश के लिये बार-बार अपने स्वभाव का अवलम्बन लेता है, स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने की चेष्टा करता है। जितना स्वयं को चैतन्य-रूप देखता है उतना शरीरादि के प्रति राग कम होता जाता है। फलतः कषाय बढ़ने के साधनों से हटता है। कषाय-वृद्धि के साधनों जैसे मांस, मदिरा, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि व्यसनों के नजदीक भी नहीं जाता। इसी प्रकार और भी किसी प्रकार के व्यसन में नहीं जाता—कोई और लत भी नहीं पालता—जैसे कि पान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, नशीले पदार्थ, चाय आदि की लत, क्योंकि व्यसन है ही ऐसी आदत जो आत्मा को पराधीन कर डालती है।

अभी तक कर्म के बहाव के साथ बह रहा था, जैसा कर्म का उदय आया वैसा ही परिणमन कर रहा था। अब समझ में आया कि यदि मैं अपने स्वभाव की ओर झुकाव करूँ तो कर्म का कार्य मिट सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई आदमी हमारा हाथ पकड़ कर खींच रहा है। अब यदि हम स्वयं भी उधर ही जाने की चेष्टा करते हैं तो खींचने वाले का बल और हमारा बल दोनों मिलकर एक ही दिशा में कार्य करते है, जिसके फलस्वरूप हम उसी दिशा में बिना किसी विरोध के, बल्कि स्वेच्छा से, खिंचे चले जाते हैं। परन्तु यदि यह समझ में आये कि मैं अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा

में भी लगा सकता हूँ, यह मेरी अपनी स्वतन्त्रता है, तो हमारा बल तो यद्यपि उतना ही है, परन्तु अब उस आदमी ने अपनी तरफ खींचा तो मान लीजिए कि हमने अपनी ताकत उसके विपरीत दिशा में लगा दी। इस चेष्टा का नतीजा यह हुआ कि इस बार जो थोड़ा-बहुत खिचाव आया भी तो वह उस आदमी की ताकत में से हमारी ताकत को घटाने पर जो थोड़ी-बहुत ताकत शेष बची उसके फलस्वरूप आया। यही बात कर्मोदय के सम्बन्ध में है। यदि हम कर्म के बहाव में स्वेच्छा से बहने के बजाय अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा में अर्थात् आत्म-स्वभाव में रत होने में लगायें तो कर्म का फल उतना न होकर बहुत कम होगा, पहले की अपेक्षा नगण्य होगा।

चूंकि समस्त कषाय को मिटाने में अभी स्वयं को असमर्थ पाता है, अतः तीव्र कषाय को--और उसके बाह्य आधारों, जैसे कि ऊपर कहे गए सप्त व्यसनादि, और अन्याय, अभक्ष्य आदि को--छोड़ते हुए मंद कषाय में रहकर उसको भी मिटाने की चेष्टा करता है। वहाँ वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र और उसी मार्ग पर चल रहे गुरु--जो मानो जीवन्त शास्त्र ही है--इनको माध्यम बनाकर निज स्वभाव की पुष्टि करता रहता है।

सम्यग्दर्शन के साथ पाये जाने वाले गुण :

अब चूंकि शरीर के स्तर से चेतना के स्तर पर आ गया है, इसलिए इसे सात प्रकार का भय भी नहीं होता। मेरा अभाव हो जायेगा ऐसा भय कदापि नहीं होता, कर्मोदय-जनित (नोकषाय-जनित) भय यदि आत्मबल की कमी से होता भी है तो उसका स्वामी नहीं बनता। कर्मफल की वांछा भी इसके नहीं रहती, क्योंकि यह निर्णय हो चुका है कि पुण्य और पाप दोनों के फल से भिन्न मैं तो मात्र चेतना हूँ। अतः न तो पुण्य-फल की अभिलाषा है और न पाप के फल से ग्लानि है, चाहे अपने पाप का फल हो या दूसरे के। कौन मेरे लिए ध्येय है, मार्गदर्शक है, इस विषय में कोई मूढ़ता तो अब रह ही नहीं गई है। ध्येय के स्वरूप को समझकर उनका अवलम्बन ले रहा है, देखा-देखी की बात अब नहीं रही। निरन्तर आत्मगुणों को बढ़ाने की चेष्टा करता है, और स्वयं को पर से हटाकर अपने गुणों में स्थिर रखने का उपाय करता है। आत्म-उत्थान के प्रति तीव्र रुचि, अत्यन्त प्रेम रखता है। आत्मोत्थान की दिशा में बढ़ने का उपाय करता है। संसार-शरीर-भोगों से विरक्ती और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति बढ़ती है। जीव मात्र को अपने समान चैतन्यरूप देखता है अतः उनके प्रति अनुकम्पा का भाव पैदा होता है। जीवों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग और पानी छानकर पीने आदि की पद्धति अपनाता है।

इस भूमिका में रहते हुए कम-से-कम छह महीने में एक बार आत्मानुभव अवश्य होता है, अन्यथा चौथा गुणस्थान नहीं रहता। यहाँ साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो देश संयमरूप परिणामों की विरोधी जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय है वह मंद होने लगती

है। जब यह पन्द्रह दिन में एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बना लेता है तो वह **पांचवें गुणस्थान** में पहुंचता है। वहाँ अन्तरंग में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होता है, त्याग के भाव होते हैं और बहिरंग में अणुव्रतादिक बारह व्रतों को धारता है, तथा ग्यारह प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण क्रम से शुरू होता है। दूसरा-तीसरा गुणस्थान चौथे से गिरने की अवस्था में होते हैं।

(१) **दर्शन प्रतिमा** : अब सप्त व्यसन का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता है। जो भी कषाय बढ़ने के साधन हैं उनका त्याग करता है। जीव-रक्षा के हेतु ऐसे कारोबार से हटता है जिसमें जीव हिंसा अधिक होती हो। रात्रि भोजन का त्याग और खाने-पीनेकी चीजों को जीव हिंसा से बचने के लिये देख—शोधकर ग्रहण करता है।

(२) **व्रत प्रतिमा** : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों का पालन इस प्रतिमा से शुरू होता है। यद्यपि साधक की दृष्टि समस्त कषाय का अभाव करने की है तथापि आत्मबल उतना न होने के कारण जितना आत्मबल है उसी के अनुसार त्याग मार्ग को अपनाता है, और जितनी कषाय शेष रह गई हैं उसे अपनी गलती समझता है। उसके भी अभाव के लिए अपने आत्मबल को बढ़ाने की चेष्टा करता है, और और आत्मबल की वृद्धि चूंकि आत्मानुभव के द्वारा ही सम्भव है, अतः उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। जितना-जितना स्वावलम्बन बढ़ता है उतना-उतना परावलम्बन घटता जाता है। बहिरंग में परावलम्बन को घटाने की चेष्टा भी वस्तुतः स्वावलम्बन को बढ़ाने के लिये ही की जाती है। जैसे कि चलने के लिये कमजोर आदमी द्वारा पहले लाठी का सहारा लिया जाता है, फिर उसके सहारे से जैसे-जैसे वह चलता है, वैसे-वैसे सहारा छूटता जाता है। आत्मा को यद्यपि किसी सहारे की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं में परिपूर्ण है, तथापि आत्मबल की कमी है। जितना पर का अवलम्बन है उतनी ही पराधीनता है, कमी है। अतः आत्मबल को बढ़ाता है तो पराधीनता घटती जाती है।

पहले अन्याय, अनाचार, अभक्ष्य तक की पराधीनता थी, अब घटकर न्यायरूप प्रवृत्ति, हिंसा-रहित भक्ष्य पदार्थों तक सीमित हो जाती है। पहले व्यापार आदि में झूठ, चोरी आदि की असीमित प्रवृत्ति थी, अब वह प्रवृत्ति झूठ और चोरी से रहित हो जाती है। पहले परिग्रह में असीम लालसा थी, अब उसको सीमित करता है। इसी प्रकार अपनी अभिलाषा, लालसा और इच्छाओं की सीमा निर्धारित करता है।

जिस प्रकार जब कोई मोटर-गाड़ी पहाड़ पर चढ़ती है तो ब्रेक के द्वारा तो गाड़ी को नीचे की ओर जाने से रोका जाता है और एक्सीलेटर के द्वारा गाड़ी को आगे बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञा-रूप त्याग के द्वारा तो साधक अपनी परिणति को नीचे की ओर जाने से रोकता है, और आत्मानुभव के

द्वारा आगे बढ़ाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि त्याग और आत्मानुभव दोनों का कार्य उसी प्रकार भिन्न-भिन्न है जिस प्रकार परहेज और दवाई का; जबकि दवाई तो रोग को मिटाती है, परहेज रोग को बढ़ने नहीं देता। नीरोगावस्था तभी प्राप्त होती है जब दवाई भी ली जाये और परहेज भी किया जाए—आत्मा का उत्थान भी तभी सम्भव है जब बहिरंग में त्याग और अन्तरंग में आत्मस्वरूप का अनुभव हो। इस बात की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं—अध्यात्म और चरणानुयोग की एकता के अन्तर्गत।

अब बारह व्रतों के स्वरूप पर विचार करते हैं :—

(१) **अहिंसाणुव्रत** : दूसरे जीवों को अपने समान समझता है। जानता है कि जिस सुई के चुभने से मुझे जैसी पीड़ा होती है तो दूसरे को भी वैसी ही पीड़ा होती है। अत: मन-वचन-काय से दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार नहीं करता जैसा यदि दूसरा अपने प्रति करे तो अपने को कष्ट हो। जब सभी जीव अपने समान हैं तो दूसरे को दु:खी करना वास्तव में अपने को ही दु:खी करना है। अहिंसा अणुव्रत में निम्नलिखित बातें गर्भित हैं :—

(क) संकल्पपूर्वक किसी जीव को नहीं मारता।

(ख) वचन का ऐसा प्रयोग नहीं करता जिससे दूसरे को कष्ट हो।

(ग) मन से भी किसी का बुरा नहीं सोचता।

(घ) आत्महत्या का भाव नहीं करता।

(ङ) किसी के गर्भपातादि कराने को हिंसा समझता है।

(च) किसी ऐसी सभा-सोसायटी अथवा आदमियों की संगति नहीं करता जिनका लक्ष्य हिंसा है।

(छ) किसी के प्रति अमानुषिक व्यवहार नहीं करता।

(ज) मजदूर, रिक्शा-चालक आदि पर लोभ के वशीभूत होकर उनकी शक्ति से ज्यादा वजन नहीं लादता।

(झ) नौकर, मजदूर आदि को समय पर भोजनादि मिले इसका ध्यान रखता है।

(ञ) बैल, घोड़ा आदि जानवरों पर उनकी शक्ति से अधिक वजन नहीं लादता। इन जानवरों को समय पर भोजनादि देता है। मांसाहारी पशुओं को नहीं पालता।

(ट) रास्ते पर चलते हुए नीचे देखकर चलता है कि किसी जीव की विराधना न हो।

(ठ) कोई भी चीज रखता-उठाता है तो देख-भालकर ये क्रियायें करता है।

(ड) खान-पान बनाता है अथवा खाता है तो देख-शोधकर ही बनाता-खाता है। मर्यादा के भीतर की वस्तुएँ ही काम में लेता है।

(ढ) अचार, मुरब्बा, बहुत दिनों का पापड़ आदि वस्तुएँ काम में नहीं लेता क्योंकि इन चीजों में जीवों की उत्पत्ति होती है।

(ण) रेशमी, ऊनी वस्त्र, और चमड़े की बनी वस्तुएँ, कपड़े, जूते आदि को काम में नहीं लेता क्योंकि ये सब जीव हिंसा से उत्पन्न होते हैं। ऐसे प्रसाधन भी काम में नहीं लाता जिनके निर्माण में जीवों की हिंसा होती है।

(२) **सत्याणुव्रत** : झूठ नहीं बोलता है यद्यपि अभी पूर्ण सत्य का पालन नहीं कर पा रहा है, तथापि ऐसा झूठ नहीं बोलता जिससे दूसरे का नुकसान हो जाये, बुरा हो जाये। सत्य अणुव्रत में निम्न-लिखित बातें गर्भित हैं :—

(क) व्यापार में किसी को नकली चीज या मिलावटी नहीं देता।

(ख) किसी को ठगता नहीं है।

(ग) झूठ बोलकर ज्यादा दाम नहीं लेता।

(घ) नाप-तोल के साधन नकली नहीं रखता।

(ङ) अन्याय स्वरूप इंसाफ नहीं करता।

(च) किसी के विरुद्ध झूठा मुकदमा दायर नहीं करता।

(छ) झूठी गवाही नहीं देता।

(ज) किसी की गुप्त बात को ईर्ष्या अथवा स्वार्थवश प्रकट नहीं करता।

(झ) किसी से कोई चीज अथवा धन आदि लेकर बाद में मुकरता नहीं।

(ञ) किसी से विश्वासघात नहीं करता।

(ट) किसी को झूठी अथवा खोटी सलाह नहीं देता।

(ठ) झूठ विभिन्न कारणों से बोला जाता है—क्रोध में, लोभ से, डर से, हँसी में और निन्दा में। अतः इन कारणों से बचता है।

(३) **अचौर्याणुव्रत** : इस अणुव्रत द्वारा चोरी का त्याग करता है। इसमें ये बातें गर्भित हैं :—

(क) किसी की चीज चोरी के अभिप्राय से नहीं लेता।

(ख) किसी को चोरी करने में सहायता नहीं करता। न किसी को चोरी का उपाय बताता है।

(ग) चोरी का सामान खरीदता-बेचता नहीं।

(घ) कानून में जिसकी मनाही हो, वह व्यापार नहीं करता।

(च) बही-खाता, लेखा-पत्रादिक गलत नहीं बनाता। टैक्स की चोरी नहीं करता।

(छ) ज्यादा दाम की चीज में कम दाम की चीज को मिलाकर नहीं बेचता।

(ज) घूस न तो लेता और न ही देता है।

(झ) किसी ट्रस्ट अथवा संस्था की सम्पत्ति को न तो अपने काम में लेता है और न उसे गलत जगह लगाता है।

(४) **ब्रह्मचर्याणुव्रत** : इस अणुव्रत का दूसरा नाम है स्वस्त्री-संतोष। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के प्रति माँ, बहन अथवा बेटी का व्यवहार रखता है। इस अणुव्रत में निम्नलिखित बातें गर्भित हैं :—

(क) परस्त्री और वेश्या के संसर्ग का त्याग।

(ख) भोगों की तीव्र लालसा नहीं रखता।

(ग) भोगों के अप्राकृतिक उपाय नहीं करता।

(घ) दुष्चरित्र स्त्रियों के साथ व्यवहार नहीं रखता।

(ङ) तलाक नहीं करता।

(च) स्त्रियों को रागभाव से नहीं देखता; गान, इत्यादि नहीं देखता।

(छ) उनके मनोहर अंगों को नहीं देखता। इसके लिए सिनेमा, टेलीविजन आदि पर रागवर्द्धक दृश्यों को नहीं देखता।

(ज) पहले भोगे गए भोगों को याद नहीं करता।

(झ) कामोद्दीपक, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करता।

(ञ) अपने शरीर का बनाव-शृंगार नहीं करता।

(ट) अपने पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त अन्य का विवाह कराने के लिए बीच में नहीं पड़ता।

(५) **परिग्रह-परिमाणाणुव्रत** : तीव्र लोभ को मिटाने के लिए इस अणुव्रत के द्वारा परिग्रह की सीमा निर्धारित करता है। इसमें ये बातें र्भभित हैं :—

(क) गेहूँ, चावल आदि अन्नादिक पदार्थ आवश्यकता के अनुसार ही रखता है, ज्यादा इकट्ठी नहीं करता।

(ख) उपहार आदि नहीं लेता। दहेज नहीं लेता।

(ग) शादी-विवाह की दलाली का काम नहीं करता।

(घ) यदि वह डाक्टर या वैद्य है तो किसी बीमार के इलाज को नहीं बढ़ाता।

(ङ) इसी प्रकार यदि वह वकील है तो अपने मुवक्किल को झूठी सलाह नहीं देता, उसके केस को लम्बा नहीं करता।

(च) इस प्रकार वह जिस व्यवसाय में भी है, उसमें या दैनिक व्यवहार में तीव्र लोभ के वशीभूत होकर कोई प्रवृत्ति नहीं करता।

(छ) धन, मकान, वस्त्र-आभूषण, वाहन-गाड़ी, नौकर-चाकर आदि उपभोग्य पदार्थों और भोजन, पेय, फल-वनस्पिति आदि भोग्य पदार्थों की सीमा निर्धारित करता है और सीमा के भीतर ही भोग-उपभोग करता है, अधिक नहीं।

इस प्रकार इन पाँच अणुव्रतों के माध्यम से अपनी लालसा, कामना और इच्छाओं को—जिनकी अभी तक कोई सीमा नहीं थी—अब सीमा बनाता है। पंचाणुव्रतों के अतिरिक्त तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है।

(१) **दिग्व्रत** : व्यापार-व्यवसाय के लिए मैं यहाँ-यहाँ तक आऊँ-जाऊँगा, इस प्रकार क्षेत्र की सीमा बनाता है और उस सीमा के बाहर के क्षेत्र से कोई प्रयोजन नहीं रखता।

(२) **देशव्रत** : दिग्व्रत द्वारा निर्धानित किए गए क्षेत्र के भीतर भी सप्ताह-दो-सप्ताह के लिए अथवा प्रति दिन एक अस्थायी सीमा बनाता है। इन दोनों व्रतों के माध्यम से निर्धारित क्षेत्र के बाहर जो जीव-अजीव पदार्थ हैं, उन-सम्बन्धी विकल्पों से बचा जाता है।

(३) **अनर्थदण्ड-व्रत** : बिना प्रयोजन के न तो शरीर की कोई क्रिया करता है, न फालतू बकवास करता है, न फालतू के विचार-विकल्प करता है। दूसरों को जीव हिंसादि के साधनादिक भी नहीं देता। इस प्रकार सब निरर्थक बातों से बचता है।

इन तीन गुणव्रतों के साथ-ही-साथ चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है :--

(१) **सामायिक व्रत** : अपना समय आत्म-चिंतवन में लगाने के लिए दिन में कम-से-कम दो बार, सुबह और शाम को आत्मध्यान करता है।

(२) **प्रोषधोपवास व्रत** : सप्ताह में एक दिन उपवास करता है और उस दिन अपना सारा समय स्वाध्याय और आत्म-चिंतवन में लगाता है, जिससे वैराग्य भाव की पुष्टि होती है।

(३) **भोगोपभोग-परिमाण व्रत** : प्रति दिन कुछ-न-कुछ भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का त्याग करता है। अपने रोजाना के कार्यों का भी हर रोज परिमाण करता है।

(४) **अतिथिसंविभाग व्रत** : निरंतर यह भावना करता है कि कोई धार्मिक व्यक्ति आये तो उसे भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं भोजन ग्रहण करूँ। इसके अतिरिक्त, करुणाबुद्धि के वश दीन-दुःखियों की जरूरतों को पूरी करने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत मिलाकर कुल बारह (५+३+४=१२) व्रत हैं जिनका प्रारम्भ दूसरी प्रतिमा से होता है। जैसे-जैसे अन्तरंग में वैराग्य भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसी के अनुरूप आगे-आगे की प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण होता जाता है। अब तीसरी प्रतिमा से शुरू करके शेष प्रतिमाओं का क्या स्वरूप है यह जानने का प्रयत्न करते हैं।

(३) **सामायिक प्रतिमा** : यहाँ पराधीनता और कम होती है तथा आत्मचिंतवन की रुचि बढ़ती है। अतः अब प्रतिदिन तीन बार—सवेरे, दोपहर और सन्ध्या के समय—आत्मध्यान करता है और ध्यान का समय भी कम-से-कम एक मुहूर्त या ४८ मिनट होता है।

(४) **प्रोषधोपवास प्रतिमा** : अब सप्ताह में एक दिन नियम से उपवास करता है। उस दिन घर-गृहस्थी

का, व्यापार-व्यवसायादि का समस्त कार्य त्याग कर निरंतर आत्म-चिंतवन और स्वाध्याय करता है। यह उपवास सोलह, बारह और आठ प्रहर की अवधि के क्रम से तीन प्रकार का होता है।

(५) **सचित्तत्याग प्रतिमा :** जीवों की रक्षा के लिए गर्म अथवा प्रासुक जल लेता है। भोजन-पान की प्रत्येक वस्तु प्रासुक करके ही काम में लेता है जिससे कि उस पदार्थ में कालान्तर में भी जीवों की उत्पत्ति न हो।

(६) **रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा :** रात्रि भोजन का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब मन-वचन-काय तीनों से इस व्रत को निरतिचार पालता है। स्वयं तो रात को भोजन करता ही नहीं, दूसरों को भी न तो रात्रि को भोजन कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा :** परस्त्री के संसर्ग का त्याग तो पहले हो कर दिया था, अब स्वस्त्री से भी भोगों का त्याग करता है। स्वावलम्बन की भावना चूंकि बढ़ रही है अतः स्वस्त्री का अवलम्बन भी अब नहीं रहा।

(८) **आरंभत्याग प्रतिमा :** पहले न्याययुक्त व्यापार, व्यवसाय करता था, अब व्यापारादिक का भी त्याग कर देता है। अपने खाने-पीने का प्रबन्ध पहले स्वयं कर लेता था, अब अपना खाना बनाना आदि आरम्भरूप क्रियायें भी छोड़ देता है। कोई घर का सदस्य अथवा बाहर का कोई व्यक्ति खाने के लिए बुलाने आ जाता है तो जाकर भोजन ग्रहण कर लेता है।

(९) **परिग्रह-त्याग प्रतिमा :** परिग्रह का परिमाण तो पहले कर लिया था, अब उसे घटा कर अत्यन्त कम कर देता है। धन, सम्पत्ति, जायदाद आदि से भी सम्बन्ध नहीं रखता।

(१०) **अनुमति-त्याग प्रतिमा :** पहले संतान को व्यापारादि सांसारिक कार्यों की सलाह दे देता था, अब वह भी नहीं देता। यह अन्तिम प्रतिमा है यहाँ तक व्रतों का धारक घर में रह सकता है।

(११) **उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा :** इस प्रतिमा का धारक घर का त्याग कर देता है और साधु-संघ में रहता है। स्वावलम्बन बढ़ गया है, अतः घर का परावलम्बन भी नहीं रहा। वस्त्रों में केवल एक लंगोटी और एक खण्ड-वस्त्र रखता है। भिक्षा से भोजन करता है। सिर और दाढ़ी-मूंछ के बालों का या तो लोंच करता है अथवा उस्तरे आदि के द्वारा भी कतरवा लेता है। जीव रक्षा के लिए मयूर-पंखों की पीछी और शौचादि के लिए कमण्डलु रखता है। इस प्रकार के साधक को क्षुल्लक कहा जाता है। परिणामों की विशुद्धि और भी बढ़ जाने पर साधक खण्ड-वस्त्र भी छोड़ देता है और मात्र एक लंगोटी रखता है। यह ऐलक की अवस्था है। यह साधक दिन-भर मन्दिर या किसी सूने स्थान में अथवा किसी मुनि-संघ में रहकर आत्म-चिंतवन, स्वाध्याय आदि में ही अपना समय लगाता है। पांच समितियों का पालन करता है। यातायात के किसी साधन, किसी सवारी

का उपयोग नहीं करता। इस प्रकार सभी प्रकार की आकुलता-पराधीनता से रहित होता जाता है, और आत्मबल बढ़ता जाता है। यहाँ तक पाँचवाँ गुणस्थान है।

छठा-सातवाँ गुणस्थान :

जब साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय बढ़ाता है, अन्तराल कम करता जाता है, और ऊपर किये गये निरूपण के अनुसार परावलम्बन छोड़ता जाता है, तो आत्मबल की वृद्धि के फल-स्वरूप अन्तर्मुहूर्त में एक बार आत्मानुभवन की सामर्थ्य हो जाती है और सकल संयम की विरोधी जो प्रत्याख्यानावरण कषाय होती है उसका मंद होते-होते अन्ततः अभाव हो जाता है। मात्र संज्वलन नाम की कषाय ही शेष रहती है। तब साधक समस्त परिग्रह के त्याग-पूर्वक मुनिव्रत धारण करता है। अब तक अहिंसा आदि व्रतों का आंशिक पालन अणुव्रतों के रूप में करता था, अब उन्हें पूर्णरूप से, महाव्रतों के रूप में धारण करता है। पांच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय-जय, छह आवश्यक आदि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता है। अब इन्हीं के स्वरूप का विचार करते हैं :—

(१) **अहिंसा महाव्रत :** बहिरंग में तो त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से और कृतकारित-अनुमोदना द्वारा त्याग होता है और अंतरंग में कषाय की अनन्तानुबंधी, अप्रत्या-ख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन जातियों का अभाव होता है। चूंकि राग-द्वेष होना ही हिंसा है और उनका अभाव अहिंसा है, अतः मुनि के कषाय की उक्त तीन जातियों के अभाव-रूप भाव-अहिंसा फलित होती है

(२) **सत्य महाव्रत :** असत्य वचन बोलने का विकल्प ही नहीं होता है।

(३) **अचौर्य महाव्रत :** बाह्य में बिना दिया गया कुछ भी ग्रहण न करना, और अंतरंग में परपदार्थ के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता है।

(४) **ब्रह्मचर्य महाव्रत :** स्त्री मात्र की इच्छा का अथवा काम के भाव का मन-वचन-काय से त्याग और निज आत्मा में रमण।

(५) **अपरिग्रह महाव्रत :** बहिरंग में समस्त वस्तुओं का त्याग, और अंतरंग में मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया-लोभादि रूप चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग।

(६) **ईर्या समिति :** चार हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए सूर्य के प्रकाश में चलना।

(७) **भाषा समिति :** हित-मित-प्रिय वचन बोलना।

(८) **एषणा समिति :** छियालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करना।

(९) **आदान-निक्षेपण समिति :** पुस्तक, कमण्डलु आदि को देख कर रखना-उठाना।

(१०) **प्रतिष्ठापन समिति :** मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मल को जीव रहित स्थान देखकर त्यागना।

(११-१५) पंचेन्द्रियों का जीतना अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के तनिक भी आधीन न होना।

(१६) समता-सामायिक-आत्मध्यान करना।

(१७) वीतराग-सर्वज्ञदेव की वंदना करना।

(१८) वीतराग-सर्वज्ञदेव की स्तुति करना।

(१९) स्वाध्याय-आत्मचिंतवन करना।

(२०) प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषों का निषेध करना।

(२१) कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व छोड़ना, शरीर से भिन्नता का अनुभवन करना।

(२२) अर्धरात्रि के बाद, भूमि पर एक करवट से सोना।

(२३) दाँतुन, मंजन नहीं करना।

(२४) स्नान नहीं करना।

(२५) नग्न रहना।

(२६) दिन में एक बार भोजन करना।

(२७) खड़े रह कर भोजन करना।

(२८) केशलोंच करना।

इस प्रकार मुनि के अट्ठाईस मूल गुण होते हैं, इनका निरतिचार पालन करना व्यवहार आचरण है। परमार्थ चारित्र तो अपने आत्म-स्वभाव में लीन रहना ही है। जब साधु आत्म-स्वभाव से हटता है तो उसका आचरण इन २८ मूल गुणों की लक्ष्मण-रेखा के बाहर नहीं जाता। मुनि-अवस्था में साधक पूर्ण रूप से स्वावलम्बी होता है; खाने-पीने का अथवा गर्मी-सर्दी आदि का भी कोई विकल्प नहीं रहता। जब ध्यान-अध्ययन में शिथिलता महसूस होती है, तब यदि आगमानुकूल विधि से प्रासुक आहार मिल जाता है तो ग्रहण कर लेता है। साधु का मुख्य प्रयोजन तो ध्यान-अध्ययन का है अतः आहार लेते हुए न तो स्वाद देखता है, और न इस बात का कोई भेद करता है कि दाता गरीब है या अमीर। आहार ग्रहण करते हुए आधा पेट ही आहार लेता है, भरपेट नहीं, और आहार-दाता पर किसी प्रकार का बोझ नहीं बनता।

अन्य समस्त जीवों को अपने समान समझता है। अब कोई मेरा-पराया नहीं रहा, अथवा किसी जीव में भेद नहीं रहा, इसलिए किसी जीव के प्रति किंचित् भी बुरा करने का भाव ही नहीं रहा। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा दिखाई देता है, अतः असत्यरूप भाव ही नहीं होता। अपने निज स्वभाव में अपनापना आ गया। अतः समस्त संयोग पर-रूप दिखाई देते हैं। फलतः पर के ग्रहण करने का कोई भाव ही नहीं होता। ब्रह्म नाम आत्मा का है जिसमें निरन्तर रहता है—निज स्वभाव में रमण करता है,

अतः पर के भोग की चाह ही नहीं रही। आत्मनिष्ठ हो गया, अतः परनिष्ठा नहीं रही। परनिष्ठा तो तभी तक थी जब पर से सुख मानता था। अब अनुभव में आ रहा है कि जो आनन्द आत्म-रमणता में है, वह अन्य कहीं हो ही नहीं सकता। इसलिए परनिष्ठा खत्म हो गई और पर का ग्रहण अब होता ही नहीं। इस प्रकार साधु के पंच-महाव्रतों का पालन स्वयमेव होता है।

निज स्वभाव का स्वाद आया तो शेष सब स्वाद नीरस हो गये, बेस्वाद हो गये। निज-स्वभाव के समक्ष पर-स्पर्श की इच्छा ही नहीं रही। स्वभाव को देखा तो अन्य कुछ देखने योग्य ही नहीं रहा। निज-स्वभाव के अनहद नाद को सुना तो अन्य कुछ सुनने को नहीं रहा। निज-गंध में रम गया तो कुछ सूंघने को नहीं रहा। इस प्रकार अपने स्वभाव का अवलम्बन लिया तो पाँचों इन्द्रियों का निरोध स्वतः ही हो गया।

राग की इतनी कमी हो गई कि किसी कार्य के प्रति आसक्ति ही नहीं रही। फल यह हुआ कि अब कोई भी कार्य—चलना, उठना, बैठना, आदि—यत्नाचार के बिना नहीं होता। बिना देखे-शोधे आहार लेने का भाव नहीं होता, क्योंकि न तो शरीर से राग है और न भोजन से। आहार मिल गया तो हर्ष नहीं, और न मिला तो विषाद नहीं। अन्तर्मुहूर्त के भीतर एक बार निज-स्वभाव का स्वाद ले ही लेता है—निज-स्वभाव की सम्हाल कर लेता है। स्वभाव से छूटता है तो अध्ययन-चिंतवन में लग जाता है, पुनः निज-स्वभाव में लग जाता है। इस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा जब संज्वलन कषाय मंद पड़ने लगती है, तब साधु आत्मानुभवन में लगने पर पुनः विकल्पों में वापिस नहीं आता, बल्कि आत्म-स्वभाव के अनुभव की गहराइयों में उतरता जाता है। उस समय सातवें गुण स्थान से आगे की ओर उन्नति होती है—आठवां, नवां और दसवां आदि गुणस्थान होते हैं।

सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है, उसके चार भेद निरूपित किये गये हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये भेद इस बात के सूचक हैं कि साधक ने स्वभाव-सलिल में किस घाट से डुबकी लगाई, उन घाटों के ही ये चार प्रकार हैं। किसी घाट पर जल का स्तर छिछला है, डुबकी लगाने के लिए दूर तक जाना पड़ता है। कोई घाट ऐसा है कि उससे उतरते ही डुबकी लग जाती है। यहाँ डुबकी की समयावधि तो बहुत कम है, जबकि घाट में उतरने में ज्यादा समय लग जाता है। वहाँ पहले संसार-शरीर-भोगों से उपयोग हटाने के लिए भेद-विज्ञान की भावना की जाती है, तथा साधक शरीर के स्वरूप के माध्यम से, णमोकार मन्त्र के माध्यम से, अथवा अरहंत-सिद्ध के स्वरूप के माध्यम द्वारा बाहर से उपयोग हटा कर निज स्वभाव में लगाता है। यहाँ माध्यम के अवलम्बन में समय ज्यादा लग जाता है, स्वभाव में कम समय लगता है।

परन्तु जब सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ता है—शुक्लध्यान में प्रवेश करता है—तो माध्यम का

अवलम्बन नहीं रहता। केवल कुछ अबुद्धिपूर्वक विकल्प उठते हैं जिनके होनेसे उपयोगका द्रव्य से द्रव्यांतरण अथवा पर्याय से पर्यायांतरण होता है। ये विकल्प रागजन्य हैं, जितना राग शेष है, उतना विकल्प उठता है। यहां कोई संसार-शरीर-भोगों का राग नहीं है। बल्कि कहना चाहिए कि रागरूपी ईंधन तो लगभग सब जल चुका, केवल मुट्ठी भर राख शेष रही है, सो भी आत्मध्यान की आँधी में उड़कर समाप्तप्राय हो रही है। राग का अभाव हो रहा है और स्वभाव में स्थिरता बढ़ती जा रही है। उस स्थिरता के फलस्वरूप कर्म-प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग क्षीण होते जा रहे हैं। स्वभाव में गहराई बढ़ती जाती है, कर्म मिटते जाते हैं। इस प्रकार साधक शुक्लध्यान के पहले चरण द्वारा मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश करते हुए कषाय रहित बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। वहाँ शुक्लध्यान के दूसरे चरण में आता है, मन-वचन-काय योग में से किसी एक का ही अवलम्बन होता है, आत्म-स्वभाव में गहराई और बढ़ती है। फलस्वरूप, शेष तीन घातिया कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय— का भी नाश हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त आत्मशक्ति आत्मा के ये स्वाभाविक गुण प्राप्त हो जाते हैं। जो शक्तियाँ संसार-अवस्था में किंचित् मात्र ही व्यक्त हो पा रही थी वे अब पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती हैं। यही अर्हन्त अवस्था है। यहाँ ज्ञान स्वयं में, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है, स्वरूप के आनन्द में मग्न है। अनन्त शक्ति के साथ अनन्त आनन्द का भोग हो रहा है। अघातिया कर्म अभी शेष हैं जिनके सद्भाव में समवशरण की रचना आदि होती है और बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के सहज-स्वाभाविक रूप से वाणी खिरती है— प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, दुःख से छूटने का और परमात्मा बनने का मार्ग मिलता है। जब आयुकर्म की स्थिति लगभग समाप्त होने वाली होती है तो सूक्ष्म काय-योग में रहने वाले वे सयोगी-जिन शुक्लध्यान के तीसरे चरण द्वारा योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान—अयोगी-जिन अवस्था—में पहुंचते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के चौथे चरण द्वारा वे अयोगी-जिन चार अघातिया कर्मों—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु— का नाश करके तथा तीन शरीरों—औदारिक, तैजस और कार्माण —से सम्बन्ध-विच्छेद करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर से रहित, जन्म-मरण से रहित, पूर्ण शुद्ध अवस्था, यही परमात्म अवस्था है जिसका चिंतवन-मनन-ध्यान करके संसारी जीव उन जैसा होने का पुरुषार्थ करता है।

कैसा है इस शुद्धात्मा का, सिद्धात्मा का स्वरूप ? न कोई राग है न द्वेष। ज्ञानादि गुण सब पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं। अब कुछ भी करना शेष नहीं है—आत्मा कृतकृत्य हो गया है। अब कुछ भी होना शेष नहीं है, स्वभाव की पूर्णता होने के बाद कुछ होना बाकी ही नहीं रहता। जिसे अभी तक प्राप्त नहीं किया था, ऐसे उस निज-स्वभाव को आज प्राप्त कर लिया है, जिस पर को ग्रहण किया हुआ था वह सब न जाने कहाँ छूट गया। अब न कुछ ग्रहण करने को शेष है, न छोड़ने को। यह आत्मा परमात्मा,

सच्चिदानन्द, चैतन्य-प्रभु हो गया है। यही मोक्ष है, यही निर्वाण है, यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है : 'इक देखिए, इक जानिए रमि रहिये इक ठौर।'

× × × × ×

यह प्रस्तावना इसी ग्रन्थ की विषयवस्तु के आधार से लिखी गई है। इस ग्रन्थ में राग-द्वेष के होने का, उनके अभाव का, और उस अभाव में मूल कारण जो स्व-पर भेद-विज्ञान है, उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। उस विस्तृत निरूपण के सार-संक्षेप को इस प्रस्तावना में शास्त्रीय-शब्दों का यथा-सम्भव कम-से-कम उपयोग करते हुए, सरल भाषा में इस प्रकार दिया गया है कि जैन तथा जैनेतर सभी पाठक इस अध्यात्म तत्त्व को समझ सकें और इस ग्रंथ का अध्ययन सुगमता से कर सकें।

सन्मति विहार
२/१०, अंसारी रोड,
दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
टेली० ३२६३४५३

—बाबूलाल जैन

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	कलश	अशुद्ध	शुद्ध
६	४	रुच्यै	रूच्चै
२६	१४	छवल	छलन
अन्वयार्थ	१४	”	”
३४	२१	विकारा	विकारा:
११३	५१	वस्तु	यस्तु
१२५	६	यदेज्तद्	यदेतद्
१४७	१२	विभात्	विगमात्
१५३	४	तास्मिन्	तस्मिम्
१५८	१	वतो	यतो
१६८	६	गाथा नं० ६	गाथा नं० ८
१६२	२६	सहज	सहजं
१६४	२८	ज्ञानिन	ज्ञानिनो
२३०	८	नियतमय	नियतमयम
२५०	१२	तधिया	तधियां
२७५	२७	सर्पत्यं	सर्पत्य
२८२	३०	महमो	महसो

प्रस्तावना

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	११	रह	कर

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१९	५	प्रणाण	प्रमाण
३५	२४	पद पदार्थो	पर पदर्थो
८६	२	ज्ञान	अज्ञान
८८	१४	व्यवहार के	व्यवहार की भी
९५	६	ज्ञानावरणआदि	ज्ञानावरणादि
१०५	अंतिम	ज्ञानर्शन	ज्ञानदर्शन
१०७	६	लगाना	लगना
११७	११	होती है	होता है
१३३	१९	धारणजो-करतेहै	धारण-करतेहैं
१५९	७	सम्यग्दृग्टि	सम्यक्दृष्टि
१६१	११	विराग	विरागता
१७५	१९	अचिन्य	अचिन्त्य
१८२	अंतिम	पर भोगने को	पर भोग भोगने को
२१७	२०	जात्म	आत्म
२१९	१५	भाव	भाषा
२२२	४	गिरता है	गिरती है
२५५	३	नेटने	मेटने
२५८	६	अपिचित	अपरिचित
२६६	१४	वस्तु को	वस्तु की
२७३	१	क्षयोपशन	क्षयोपशम से
२७९	१७	स्हृष्ट	स्पष्ट
२९४	२५	हृदार्थों	पदार्थों
२९५	२८	करना है	करना
३११	२	जिससे	जिसके
३१२	५	पर्यायदृष्टे	द्रव्यदृष्टि
३३०	२	समहः	समुहः
३४३	३	प्रकाशते	प्रकाशने
३४५	२२	बनता	बनाता
३५१	१	मेचाका	मेचका
३५२	२६	व्यपक	व्यापक
३६०	१९	तहीं	नहीं
३६१	४	को	का

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीअमृतचन्द्रसूरि विरचित श्रीसमयसार कलश पर श्रीशुभचन्द्र आचार्यकृत—

परमाध्यात्म तरंगिणी

नामा संस्कृत टीका के भाषाकार का :—

मङ्गलाचरण

कुन्दकुन्दामृतचन्द्रौ, अध्यात्मज्ञानपारगौ,
आर्यवर्गे सदालोकैः पूज्यपादौ नमामितौ,
आद्यः समयसारस्य कर्ताऽभूत्प्राकृतस्य सः,
द्वितीयस्तत्कलशानां कर्ताभर्ताऽर्थसम्भृतेः ।
तृतीयः शुभचन्द्रोऽभूद् व्याख्याता संस्कृतस्य सः,
पद्यानां कलशाख्यानां भद्रो भट्टारकोबुधः ।
यन्नाटक समयसारं नाम्नाख्यातं पुरातनं शास्त्रम्,
सकले विद्वद्वृन्दे चिद्विद्यावेद्यचितेचित्ते ।
टीकानुसारतो यत् परमाध्यात्मतरङ्गिणीजातम्,
ख्यातं नामविशेषे विद्वद्वृन्दारकैर्मोलम् ।
कलशानां तट्टीकाया मूलार्थप्राभिधायिनीं,
हिन्दीटीकां प्रकुर्वेऽहं स्वात्मकल्याणकाम्यया ॥

संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण

शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्याम्बुजचन्द्रमकलङ्कम् ।
ज्ञानाभूषं वन्दे सर्वविभावस्वभावसम्मुक्तम् ॥१॥
सुधाचन्द्रमुनेर्वाक्य पद्यानुद्धृत्य रम्याणि ।
विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च ॥२॥

अन्वयार्थः—(शुद्धम्) अपने से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन द्रव्यों एवं उनके गुण पर्यायों से शून्य (सच्चिद्रूपम्) सत्-उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप-चित्-चैतन्य स्वरूप (भव्याम्बुजचन्द्रम्) भव्यजीव-रूप कमलों के लिए चन्द्रमा के तुल्य अर्थात् भव्यजीवरूप कमलों को विकसित करने के हेतु चन्द्रमा के

समान **(अकलङ्कम्)** अकलङ्क-रागद्वेष आदि दोषों से रहित **(ज्ञानाभूषम्)** अतएव ज्ञान से अलंकृत अर्थात् परिपूर्ण ज्ञानी केवली भगवान श्री अरिहन्त परमेष्ठी तथा ज्ञानशरीरी सर्वकर्ममल रहित श्री सिद्ध परमेष्ठी को **(वन्दे)** वन्दना-नमस्कार करता हूँ जो **(सर्वविभावस्वभाव सम्मुक्तम्)** समस्त विभाव-विकारी परिणामों से पूर्णतया मुक्त है अर्थात् सर्व विधकर्मों की परिस्थितियों से सर्वथा शून्य है। **(चिद्रूपे)** आत्मस्वरूप में **(रक्तचित्तः)** अनुरक्त मन वाला **(अहम्)** मैं शुभचन्द्र भट्टारक **(सुधाचन्द्रमुनेः)** अमृतचन्द्र आचार्य के **(रम्याणि)** मनोहर-यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रस्तुत करने के कारण मन को अति प्रिय **(वाक्य-पद्यानि)** वचनात्मक पद्यों को **(उद्धृत्य)** उद्धृत करके **(भक्तितः)** भक्ति से, हार्दिक गुणानुराग से **(विवृणोमि)** विशेषरूप से व्याख्यान करता हूँ।

(अथ) अब **(श्रीमदमृतचन्द्रसूरिः)** श्रीमान् अमृतचन्द्र आचार्य **(श्रीकुन्दकुन्दाचार्योक्त समयसार प्राभृत व्याख्यानम्)** श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित समयसार प्राभृत के व्याख्यान को **(कुर्वाणः सन्)** करते हुए **(तदनन्तरे)** उनके मध्य में **(चित्स्वरूपप्रकाशकानि)** चैतन्य के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले **(चिन्नाटकरङ्गावनिवितीर्णानि)** चैतन्य के नाटक की रङ्गभूमि में आये हुए **(पद्यानि)** पद्यों का **(परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयानि)** जिनका दूसरा नाम परमाध्यात्म तरङ्गिणी है **(रचयन्)** रचते हुए-निर्माण करते हुए **(प्रथमतः)** सर्वप्रथम **(परमात्मादि नमस्कृतिरूपमङ्गलमाचष्टे)** परमात्मा आदि के प्रति नमस्काररूप मङ्गल को कहते हैं—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

अन्वयार्थ :—(चित्स्वभावाय) चित्-चेतना-ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव वाले **(स्वानुभूत्या)** स्वानुभूति-आत्मानुभूति से अर्थात् स्वानुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से **(चकासते)** प्रकाशमान-देदीप्यमान **(सर्वभावा-न्तरच्छिदे)** सभी चेतन तथा अचेतनरूप पदार्थों को जानने वाले **(भावाय)** सत्तात्मक वस्तुरूप **(समय-साराय)** द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि—भावकर्म-राग द्वेष आदि तथा नोकर्म-शरीरादि से रहित शुद्धात्मा को **(नमः)** नमस्कार **(अस्ति)** है।

सं० टी०—(समयसाराय भावाय नमः—सं०-सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतयाअयन्ति-गच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः-पदार्थाः-तेषां मध्ये सारः-सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः-परमात्मातस्मै। भूयते सत्स्वरूपेणेतिभावः पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय। नमः त्रिशुद्धया नमः नमस्कारोऽस्तु) जो सम्यक् प्रकार से भूत भविष्यत् एवं वर्तमान इन तीनों कालों में निरन्तर अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त करते रहते हैं उन्हें पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थों के मध्य में जो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हैं वे सार अर्थात् परमात्मा हैं। जो सत्स्वरूप से होते रहते हैं वे भाव—अर्थात् पदार्थ हैं। ऐसे सर्व पदार्थों में सर्वोपरि विराजमान परमात्म-स्वरूप समयसार को मनःशुद्धि-वचःशुद्धि तथा कायशुद्धि

पूर्वक हमारा नमस्कार हो। (**किं लक्षणाय**) कैसे लक्षण वाले पदार्थ को (**चकासते-दैदीप्यमानाय**) अतिशयरूप से प्रकाशमान (**कया**) किससे (**स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मनः**) आत्मा की (**अनुभूत्या**) अनुभूति से (**स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मनः अनुभूतिः अनुभवनं तया**) आत्मा की अनुभूति-स्वरूप संवेदन से (**स्वानुभवप्रत्यक्षेण**) अर्थात् आत्मा के अनुभव-स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष से (**पुनः किम्भूताय**) फिर कैसे (**चित्स्वभावाय-चित् ज्ञान दर्शन रूपा-सैव स्वभावः स्वरूपः यस्य तस्मै**) ज्ञानदर्शनरूप चित्-चेतना स्वभाव वाले (**पुनः किंलक्षणाय**) फिर कैसे स्वरूप वाले (**सर्वभावान्तरच्छिदे-आत्मनो भावात्-अन्येभावाः-स्वभावाः पदार्था वा भावान्तराः सर्वे च ते भावान्तराश्च सर्वभावान्तराः तान्छिनत्ति स्वस्वभावात्पृथक् करोतीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै**) आत्मारूप पदार्थ से भिन्न पदार्थों का नाम भावान्तर है उन सभी भावान्तरों को जो जानता है उसे (**नमः**) नमस्कार (**अस्ति**) है (**सामान्योपेक्षोऽयम्**) यह अर्थ सामान्य की अपेक्षा से किया गया है अर्थात् यह साधारण अर्थ है।

(**जिनपक्षे**) जिन भगवान के पक्ष में (**समयसाराय-सं० सम्यक्‌यथोक्तरूपेण-अयन्ति-जानन्ति-स्याद्वादात्मकं वस्तु निश्चिन्वन्ति ते समयाः-सातिशयसम्यग्दृष्टि प्रभृति क्षीणकषायपर्यन्ता जीवाः**) जो यथार्थरूप से स्याद्वाद-कथञ्चिद्वादस्वरूप वस्तु के स्वरूप को निश्चयपूर्वक जानते हैं ऐसे सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त बारहवें गुणस्थान तक के जीव (**तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनः तस्मै**) उनके द्वारा पूज्य होने से सार अर्थात् जिन ऐसे जिन के लिए (**नमः**) नमस्कार (**अस्ति**) है।

(**अरहंतपक्षे**) **स्वानुभूत्या-स्वस्यानुभूतिः-विभूतिः-समवसरणादिलक्षणा तया**) अपनी समवसरण आदि स्वरूप वाली विभूतिसे (**चकासते-प्रकाशमानाय**) प्रकाशमान-दैदीप्यमान (**चित्स्वभावायघातिकर्मक्षयात्-चित्स्वभावाय**) घाती कर्मों के क्षय से चैतन्यस्वरूप (**भावायभान्ति-नक्षत्राणि-उपलक्षणात्-चतुर्णिकाय दैवतानि-अवति-रक्षति-पातीति भावस्तस्मै**) नक्षत्रों तथा उपलक्षण से चारों निकाय वाले देवों का संरक्षण करने वाले (**सर्वभावान्तरच्छिदे-सर्वभावानां अन्तरं भेदं जीवाजीवादिकं भिन्नमित्यादिरूपं विचारं छिनत्ति जानातीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै**) सभी पदार्थों के भेद स्वरूप जीव अजीव आदि पदार्थों के विचार विमर्श को जानने वाले ऐसे अरहंत परमात्मा को नमस्कार है।

(**सिद्धपक्षे**) सिद्ध परमेष्ठी के पक्ष में (**परमात्मवत् प्रक्रिया**) अर्हन्त परमात्मा के समान ही प्रत्येक विशेषण का अर्थ घटित करना चाहिए। (**समं साम्यं-यान्ति प्राप्नुवन्तीतिसमयाः, योगिनस्तेषां मध्ये-ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी**) जो समता-समानता को प्राप्त करते हैं ऐसे योगियों के द्वारा जो ध्यान करने योग्य हैं ऐसे सार-सिद्धपरमेष्ठी (**स्वानुभूत्या-सु सुष्ठु जगत्त्रयाऽसम्भाविनी-आ-अतिशयेनानुभूति वृद्धिः, अगुरुलघुत्वादिगुणानां षड्वृद्धिः तया**) तीनों लोकों में असम्भव एवं अतिशयरूप से होने वाली अगुरु-लघु आदि गुणों की षट्स्थान पतितवृद्धि से, यहाँ भू धातु का अर्थ वृद्धि लिया गया है जैसा कि नीचे के श्लोक से सुस्पष्ट है—

सत्तायां मङ्गलेवृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्तौच प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥१॥ इति

अर्थात् भू धातु निम्नलिखित अर्थों में व्यवहृत-प्रयुक्त होती है— सत्ता-मौजूदगी, मङ्गल-शुभाचार, वृद्धि-उन्नति, निवास, व्याप्ति फैलाव, सम्पत्, अभिप्राय-मनोविचार शक्ति और प्रादुर्भाव-उत्पत्ति। प्रकृत में उक्त अर्थों में से वृद्धि अर्थ ग्रहण किया है। (**चित्स्वभावाय पूर्ववत्**) चैतन्य स्वरूप पूर्व के समान अर्थात् चैतन्यमय (**भावाय-भाः-दीप्तिः ज्ञानज्योतिः तया वाति-प्राप्नोति जगदितिभावः**) ज्ञानज्योति से जगत् को जानने वाले (**सकलस्य जगतः ज्ञानान्तर्गतत्वात्**) क्योंकि सारा जगत् - विश्व ज्ञान के अन्तर्गत है यानी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। (**वागतिगन्धनयोः ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः**) वा धातु गति और गन्धन अर्थ में गृहीत है ओर जो धातु गत्यर्थप्रधान हैं वे प्राप्त्यर्थ में भी प्रयुक्त होती हैं। अत. यहाँ वाति का अर्थ प्राप्नोति जानाति-जानना अर्थ लिया गया है (**आतोऽनुपसर्गेकः इति क प्रत्ययेनसिद्धम्**) यहाँ वा धातु से (**आतोऽनुपसर्गेकः**) इस सूत्रसे क प्रत्यय द्वारा पद की सिद्धि की गई है। (**सर्वेत्यादिः सर्वभावानां अन्तः-अभ्यन्तरं तेषां अच्छित्-अविच्छेदोऽविनाशोयस्मात्स तथोक्तस्तस्मै**) जिससे सभी पदार्थों की अन्तरङ्गतः अविनश्वरता सिद्ध होती है (**सिद्धपरमेष्ठिनः केवाञ्चित्पदार्थानां विनाशाभावात्**) सिद्धपरमेष्ठी के ज्ञान में किन्हीं पदार्थों का विनाश सम्भव नहीं है अर्थात् सभी पदार्थ उनके ज्ञान में अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सत्तारूप से हो सर्वदा प्रतिविम्बित होते रहते हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार है।

(**आचार्यपक्षे**) अब आचार्य परमेष्ठी के पक्ष में—(**सम्-सम्यक्-अयनं—गमनं यतं चरेरित्यादि लक्षणं चरणं येषान्ते समयो योगिनः तेषु सारः आचार्यः**) जीव रक्षा के हेतु देख-भाल कर चलना चाहिए इत्यादि आगमोक्त लक्षणात्मक आचरण वाले योगियों में श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के लिए (**स्वानुभूत्या-षट्त्रिंशद् गुणलक्षणया**) छत्तीस मूलगुण-स्वरूप स्वानुभव से (**चकासते-प्रकाशमानाय**) शोभायमान (**चित्स्वभावायभावाय—चित्सु-चिद्रूपेषुस्वस्य आत्मनः भावः परिणतिः स एव अयभावः शुभावहभावः यस्य स तथोक्त स्तस्मै**) जिसके चैतन्य स्वरूप में निज की परिणति आत्म कल्याण से भरपूर है उस आचार्य परमेष्ठी को (**नमः**) नमस्कार (**अस्ति**) है। (**सर्वभावेत्यादि पूर्ववत्**) सर्वभावान्तरच्छिदे इत्यादि विशेषण पूर्व के समान ही लगा लेना चाहिए।

(**उपाध्यायपक्षे**) अब उपाध्याय परमेष्ठी के पक्ष में—(**समयः सिद्धान्तः— स्नियते-प्राप्यते येन सः तथोक्तः तस्मै**) जिससे सिद्धान्त-द्वादशाङ्ग श्रुत में से ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उस समयसार उपाध्याय परमेष्ठी को (**नमः**) हमारा नमस्कार है (**स्वानुभूत्यापूर्ववत्**) स्वानुभूत्या विशेषण का अर्थ पहले के समान जानना चाहिए (**चित्स्वभावाय भावाय-चित्सु चेतन पदार्थेषु-उपलक्षणात् अचेतनेष्वपि-अभावः स्यान्नास्तित्वं तेन सह आयः भणनं कथनमितियावत् इङ् अध्ययने-ऽस्यधातोर्भावे घञ्प्रत्यय विधानात्, भावस्य स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै पदार्थेष्वस्तित्वं नास्तित्वेनोपलक्षितमितिकथकायेत्यर्थः**) चेतन तथा उपलक्षण से अचेतन-पदार्थों में भी जो

अभाव स्यान्नास्तित्व कथञ्चित् किसी अपेक्षा से नास्तित्व का कथन करते हैं यहाँ अध्ययनार्थक इङ् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय से आय शब्द बनाया है जिसका अर्थ कथन करना है और जो भाव:-स्यादस्तित्व-कथञ्चित् किसी विवक्षाविशेष अस्तित्व का कथन करते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार है अर्थात् जो पदार्थगत अस्तित्व और नास्तित्व रूप परस्पर विरोधी दो धर्मों का विवक्षा के वश से युगपत्-एक साथ-निर्विरोध कथन करते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं उन्हें हमारा बार-बार नमस्कार है।

(साधुपक्षे) अब साधु परमेष्ठी के पक्ष में—**(समयेषु कालावलिषु सारः साधुः)** जो प्रति समय आत्मस्वरूप की साधना में सार-श्रेष्ठ है, संलग्न हैं वे साधु परमेष्ठी हैं **(शेषं पूर्ववत्)** बाकी के विशेषण पहले के समान समझना चाहिए। **(मयो-गतिः-मय-गतावित्यस्यधातोः प्रयोगः तेषुसारं-रत्नत्रयं तेनसह-वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थो वा)** अथवा मय शब्द का अर्थ गति है क्योंकि गत्यर्थक मय धातु से मय शब्द बनता है उन गतियों में जो सार श्रेष्ठ रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र ही है उस सार रत्नत्रय के साथ जो रहे सो समयसार अर्थात् साधु है। क्योंकि साधु परमेष्ठी रत्नत्रय से सहित होते हैं। उन साधु परमेष्ठी को हमारा नमस्कार है।

(रत्नत्रयपक्षे) अब रत्नत्रय के पक्ष में—**(सं०-सम्यक्त्वं-अयो ज्ञानं सरणं सारः-चारित्रम्-द्वन्द्वैकत्वं तस्मै)** अर्थात्—सम्-सम्यग्दर्शन अय-सम्यज्ञान-सार-सम्यक्चारित्र इन तीनों का द्वन्द्वसमास में एक वचन होता है अतः समयसारम्-रत्नत्रयम् यानी रत्नत्रयरूप समयसार को नमस्कार है **(शेषं पूर्ववत्)** बाकी के विशेषण पहले के समान **(यथासम्भवम्-व्याख्येयम्)** यथासम्भव, जहाँ जैसा योग्य हो वहाँ वैसा व्याख्यान कर लेना चाहिए। **(एवमर्थाष्टकं व्याख्यातम्)** इस प्रकार से समयसार के पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न आठ अर्थों का व्याख्यान किया। **(अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तारभयान्नेक्षितं पद्यम्)** अतिशयरूप से आक्षेप को प्राप्त विषय का विस्तार के साथ अर्थरूप से व्याख्यान करेंगे अतः यहां विस्तार के भय से इस पद्य की ओर अर्थतः दृष्टि नहीं डाली।

भावार्थ—यहाँ समय शब्द का अर्थ आत्मा है उन आत्माओं में जो सार—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा है उसे हमारा नमस्कार है। क्योंकि वह शुद्ध आत्मा एक सत्तात्मक पदार्थ है उसमें चेतना गुण की प्रधानता है अतएव वह स्वानुभव से प्रकाशमान है। अर्थात् अपने ज्ञान से अपने को जानता है साथ ही अपने से जुदे जड़ और चेतन सभी पदार्थों को भी जानता है क्योंकि ज्ञान का कार्य जानना मात्र ही है, अन्य कुछ नहीं। इसमें भी निश्चयनय की दृष्टि से अपने को ही जानते हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से पर को जानते हैं यह नयपरक दृष्टि भेद है—जो ज्ञान में उपलब्ध है यथार्थ है वास्तविक है और मौलिक है। अब प्रत्येक विशेषण की सार्थकता बताते हैं।

भावाय—यह विशेषण सर्वथा अभाववादी नास्तिक का निराकरण करता है। चित्स्वभावाय विशेषण—गुण और गुणी में सर्वथा भेदवादी नैयायिक का निरसन करता है। स्वानुभूत्या चकासते—विशेषण आत्मा तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष स्वीकार करने वाले जैमिनीय भट्ट प्रभाकर मतानुयायी

मीमांसक का निषेध करता है साथ ही एक ज्ञान अपने से भिन्न दूसरे ज्ञान से जाना जाता है, ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता है ऐसा मानने वाले नैयायिकों का भी खण्डन करता है। सर्वभावान्तरच्छिदे—यह विशेषण सर्वज्ञ के अभाववादी मीमांसक का निरसन करता है इस तरह से हर एक विशेषण अपनी-अपनी खास विशेषता रखता है जो साभिप्राय है। इस प्रकार से पूर्वोक्त विविध विशेषणों से विशिष्ट समयसार-परमात्मा-परम इष्ट देव को नमस्कार है। प्रकृत में कोई यह प्रश्न करे कि नाटक समयसार कलश के कर्ता श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जन-साधारण के बुद्धि-बल का ध्यान रख कर सीधे सादे शब्दों में ही इष्ट देव का नामोल्लेख करते हुए मङ्गलात्मक नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रकृत विषय आध्यात्मिक है मात्र शुद्ध आत्मा के असली स्वरूप का निर्देश ही नहीं, प्रत्युत् सविस्तार वर्णन करने का है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से समयसार का शब्दार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि का विषयभूत आत्मतत्व है वही निज परमात्मा है। अरिहन्तादि तो पर परमात्मा हैं जो व्यवहार दृष्टि का विषय है। परमार्थ से तो निज आत्मा ही आश्रय करने योग्य है इष्टदेव है।

अब सरस्वती का स्तवन करते हैं :—

अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अन्वयार्थः—(**अनन्तधर्मणः**) अनन्तधर्मवान् (**आत्मनः**) आत्मा के (**तत्वम्**) असली स्वरूप को (**प्रत्यक्**) पृथक् अर्थात् अपने से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों से उनके समस्त गुण एवं पर्यायों से जुदा (**नित्यम्**) हमेशा (**या**) जो (**पश्यन्ती**) देखती है जानती है (**सा**) वह प्रसिद्ध (**अनेकान्तमयी**) अनेक धर्म वाली (**मूर्तिः**) सरस्वती-जिनवाणी (**नित्यम्**) हमेशा (**प्रकाशताम्**) प्रकाशित रहे दैदीप्यमान हो।

सं० टी०—(**अनेकान्तमयीमूर्तिः अनेकान्तेन-स्याद्वादेन-**) स्याद्वाद के द्वारा (**निर्वृत्ता**) रचिता-रची हुई (**स्याद्वादात्मिका**) स्याद्वाद स्वरूप (**मूर्तिः**) मूर्ति-आकृति (**यस्याः**) जिसकी-अस्ति-है (**सा**) वह (**अनेकान्तमयी मूर्तिः-जिनवाणी। जिनवाण्या अनेकान्तात्मकत्वादनुक्ताऽपि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते-**) जिनवाणी अनेकान्तरूप होने से यद्यपि वह यहाँ साक्षात् जिनवाणी के नाम से ही कही गई है तथापि अनेकान्त शब्द की शक्ति से उसका अर्थ जिनवाणी लिया गया है (**सा-नित्यं-सदैव-त्रिकालं-हमेशा-प्रकाशतां-नित्योद्योतं कुरुतां**) वह हमेशा उद्योत करे (**किं विशिष्टा सा ?**) वह कैसी है ? (**प्रत्यगात्मनः अथवा आत्मनः चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**प्रत्यक् तत्वं**) पृथक् असली स्वरूप को (**पश्यन्ती-भिन्नं स्वरूपं-अवलोकयन्ती-प्रकाशयन्तीत्यर्थः**) अन्य द्रव्यों से जुदा देखती है—प्रकाशित करती है। (**किंविशिष्टस्यः तस्य ?**) कैसी आत्मा के (**अनन्तधर्मणः अनन्ता द्विकवाराऽनन्तप्रमाणाः—अस्तित्व नास्तित्वनित्यत्वानेकत्वाविरूपाधर्माः स्वभावायस्य स तथोक्तस्तस्य**) जिसके अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व और अनेकत्व आदि स्वभाव हैं। (**धर्मशब्दोऽत्र स्वभाववाची**) यहाँ आत्मा के विषय में धर्म शब्द का वाच्यार्थ स्वभाव है (**धर्माः—पुण्यसमन्यायस्वभावाचार सोमपाः इत्यनेकार्थाः**) पुण्य, सम, न्याय, स्वभाव,

आचार और सोमय इन अनेक अर्थों को धर्म शब्द प्रकाशित करता है अतएव प्रकृत में धर्मशब्द स्वभाव अर्थ को कहता है।

भावार्थ—यहाँ टीकाकार ने अनेकान्तमयी मूर्ति का अर्थ जिनवाणी किया है क्योंकि जिनवाणी का प्राण अनेकान्त है अर्थात् स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि दुनियां में हम जिन चीजों को देखते हैं वे सभी अनेक धर्मों से सहित हैं कोई भी वस्तु ऐपी नहीं है जो अनेक धर्मों में समाहित न हो। उन अनेक धर्मों को रखने वाली वस्तु के स्वभावगत अनेक धर्मों का युगपत् विवेचन करना किसी भी वक्ता के वचन का विषय नहीं है कोई भी वक्ता जब किसी वस्तु के किसी एक धर्म को कहने का उपक्रम करता है तब वह उस धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण मान करके ही विवेचन करता है इससे वस्तु की वस्तुता बनी रहती है अन्यथा नहीं। यह बात वस्तुगत विविध गुणों के पृथक्-पृथक् विवेचन की अपेक्षा से कही गई है जो विशेष विवेचन प्रणाली पर आधारित है सामान्य की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि सामान्य से वस्तु का विवेचन उसके नाममात्र से भी युगपत् एक साथ एक ही समय में शक्य है लेकिन यह भी विशेष सापेक्ष होता है कारण कि निर्विशेष सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है। अत: निष्कर्ष यह निकला कि सामान्य और विशेष दोनों ही परस्पर में एक दूसरे से अभिन्न हैं उनमें से एक का कथन अपने से अभिन्न दूसरे की अपेक्षा को लिए हुए ही होता है यही पदार्थ के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति है जो वस्तु की वस्तुता को प्रकट करने में पूर्णतया सहायक सिद्ध होती है। इसके बाद अपने मन की पूर्णशुद्धि के लिए ग्रन्थकार प्रार्थना करते हैं—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनु भाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अन्वयार्थ—(**परपरिणतिहेतोः**) राग-द्वेष-मोह आदि विकारी परिणामों के कारणरूप (**मोहनाम्नाः**) मोहनीय कर्म के (**अनुभावात्**) प्रभाव से (**अविरतम्**) निरन्तर (**अनुभाव्य व्याप्ति कल्माषितायाः**) अनुभव में आने वाले राग रोष आदि विविध विकारी भावों से अतिशय कलुषित (**मम**) मेरी (**अनुभूतेः**) अनुभूति की (**परम विशुद्धिः**) परिपूर्ण निर्मलता (**समयसार व्याख्यया**) समयसार-परमात्मा के गुणों के वर्णन से अथवा इस समयसार नामक ग्रन्थ के व्याख्यान से (**एव**) ही (**भवतु**) हो। (**शुद्धचिन्मात्र-मूर्ते**) मैं (द्रव्यदृष्टि से) शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं।

सं० टी०—(**मम-मे**) मेरे (**भवतु-अस्तु**) हो (**का ?**) क्या (**परमविशुद्धिः परमा-उत्कृष्टा-कर्ममल-कलङ्करहिता-सा चासौविशुद्धिश्च-विशुद्धता**) परम-उत्कृष्ट कर्ममल कलङ्क से रहित विशुद्धि-निर्मलता, (**कुतः ?**) किससे ? (**अनुभूतेः अनुभवनात्**) अनुभव से (**कया ?**) किससे (**समयसारव्याख्ययैव-समयेषु-पदार्थेषु-सारः-परमात्मा, तस्य व्याख्याविशेषेणवर्णनम्, एव-निश्चयेन**) समय पदार्थों में सार-परमात्मा के विशेष वर्णन से निश्चित ही (**परमात्मव्यावर्णनात्**) परमात्मा के गुणों का स्तवन गान और मान करने

से (**अनुभूतिः**) आत्मानुभव हो। (**ततोविशुद्धिर्भवतु**) उससे आत्मा की विशुद्धि हो। (**अथवा-समयसाराख्यमिदं शास्त्रम्**) अथवा समयसार नाम का यह शास्त्र है। (**तद्व्याख्यानं कृत्वा**) उसका व्याख्यान-विशेष वर्णन करने से (**अनुभूतिः**) आत्मा का अनुभव हो, (**ततः शुद्धिश्च**) तत्पश्चात् आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि हो। (**कस्याः ?**) किसकी ? (**शुद्धेत्यादि-शुद्धं कर्मकलङ्करहितं,**) कर्म कलङ्क रहित (**चिन्मात्रम्**) चैतन्यमात्र-ज्ञानमात्र (**तदेवमूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः**) वह ज्ञानमात्र ही जिसकी मूर्ति है ऐसी आत्मा की (**व्यवहार दशायां तु किंलक्षणा ?**) वह व्यवहारनय से क्या स्वरूप रखती है ? (**अविरतम्-निरंतरम्**) हमेशा (**अनुभाव्येत्यादि-संसारिणां अनुभवितुं योग्याः-अनुभाव्याः-विषयाः, तेषां व्याप्तिः-प्राचुर्यं तया कल्माषिता कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः**) संसारी जीवों के अनुभव करने योग्य विषयों की अधिकता से जो कलुषित है उस शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति की (**कुतः ?**) किससे ? (**अनुभावात्-प्रभावात्**) प्रभाव से (**कस्य ?**) किसके (**मोहनाम्नःशत्रोरित्याध्याहार्यम्**) मोहनीय कर्मरूप शत्रु के (**किं लक्षणस्य तस्य ?**) वह मोहनीय कर्म नामक शत्रु कैसा है ? (**परेत्यादि-परेभ्यः-पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः उत्पन्ना परिणतिः परिणामः**) पर-पुत्र मित्रकलत्र शत्रुओं से उत्पन्न परिणाम (**अथवा —परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारणं यस्य स तथोक्तः तस्य**) अथवा परा अर्थात् आत्मा के स्वरूप से भिन्न जो विभावरूप परिणति वही जिसका कारण है उसके।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि में आत्मा शुद्ध चैतन्यमय तत्त्व है वह अवद्ध है अस्पष्ट है। परन्तु पर्यायदृष्टि में वह कर्मबद्ध एवं पुद्गल से स्पष्ट है अतएव कर्मों में मोहनीय कर्म ही एक ऐसा कर्म है जिसकी वजह से आत्मा विकारी हो रहा है। यह विकार आत्मा के उपादान में होने से आत्मा का ही है अन्य का नहीं, लेकिन अन्य द्रव्य का संयोग उसमें कारण अवश्य है, इसलिए ही ग्रन्थकार ने मोहनीय कर्म का नाम लिया है और कहा है कि मोहनीय कर्म के निमित्त से शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववान आत्मा रागी, द्वेषी, मोही, कामी, क्रोधी आदि हो रहा है। ग्रन्थकार ने यह चाहा है कि मेरी आत्मा जैसी द्रव्यदृष्टि में कही गई है वैसी ही पर्याय में बने अर्थात् वह परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध जैसी हो जाय।

समयसार की व्याख्या का मुख्य उद्देश्य आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि की अभिव्यक्ति ही उन्होंने चाही है सो यथार्थतः आत्म मुमुक्षता की द्योतक है। जहाँ तक मुमुक्षता का सम्बन्ध है वहाँ तक सांसारिक चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि किसी भी वैभवपूर्ण पद की कामना उसमें जरा भी अपना स्थान नहीं रखती—क्योंकि वे ऐश्वर्यपूर्ण पद वस्तुतः अपद हैं पराधीन-पुण्य कर्माधीन होने से नश्वर हैं साथ ही अनेकों बार भुक्त होने से उच्छिष्ट भी हैं अतः मुमुक्षु की दृष्टि में वे वाञ्छनीय है ही नहीं, उसकी दृष्टि में तो एकमात्र आत्मशुद्धि की परम पवित्र भावना निहित है। जो ग्राह्य ही नहीं प्रत्युत तद्रूप होने का सक्षम प्रतीक है।

समयसार की प्राप्ति में जिनवचन ही निमित्त कारण है यह बताते हैं—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्तएव ॥४॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो (**स्वयम्**) स्वतः अपने प्रबल पुरुषार्थ से (**वान्तमोहाः**) मिथ्यादर्शन-मोह का नाश करते हैं (**ते**) वे (**उभयनयविरोधध्वंसिनि**) निश्चयनय और व्यवहारनय के आपस के विरोध को नाश-दूर करने वाले (**स्यात्पदाङ्के**) स्यात्पद से युक्त (**जिनवचसि**) जिनेन्द्र भगवान के वचनों में (**रमन्ते**) क्रीड़ा करते हैं अर्थात् निरन्तर अनुरक्त रहते हैं (**ते**) वे (**एव**) ही (**सपदि**) शीघ्र (**परंज्योतिः**) उत्कृष्ट तेज वाले (**उच्चैः**) सर्वोपरि (**अनवम्**) अनादि काल से विद्यमान (**अनयपक्षाक्षुण्णम्**) एकान्त पक्ष से शून्य (**समयसारम्**) शुद्ध आत्मा को (**ईक्षन्ते**) देखते-प्रत्यक्ष करते हैं।

सं० टी०—(**ते पुरुषाः**) वे पुरुष, (**सपदि-तत्कालं**) तत्काल-उसी समय (**एव-निश्चयेन-**) निश्चय से (**ईक्षन्ते-अवलोकयन्ति, साक्षात्कुर्वन्ति, इत्यर्थः**) प्रत्यक्ष करते हैं (**कितत्**) किसका (**परंज्योतिः-परं-उत्कृष्टं-अतिक्रान्तसूर्यादि तच्च तज्ज्योतिश्च-ज्ञानतेजपरं ब्रह्मेत्यर्थः**) उस उत्कृष्ट ज्ञानतेज रूप परब्रह्म का जो सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों को तिरस्कृत करने वाला है (**किं लक्षणं तत् ?**) उसका लक्षण क्या है ? (**समयसार-सर्वपदार्थेषु सारम्-**) जो सभी पदार्थों में श्रेष्ठ है (**पुनः किम्भूतम्**) फिर वह कैसा है ? (**उच्चैः अतिशयेन,**) अतिशय रूप से (**अनवं-ननवं अकृत्रिमं पुराणमित्यर्थः अनादिनिधनत्वात्**) अनादिनिधन होने के कारण पुराना है (**पुनः किम्भूतम्**) फिर कैसा है ? (**अनयपक्षाक्षुण्णं-नयोनैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततोविपरीतः एकान्तरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशोयेषान्तेऽनयपक्षाः, एकान्तवादिनः, तैरक्षुण्णं-अक्षुभितं-अध्वस्तमित्यर्थः, 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते' इति वचनात्**) जो स्याद्वाद कथञ्चिद्वाद-अपेक्षा वाद की अपेक्षा रखता है वह नय कहा जाता है जिसके नैगम आदि भेद हैं उससे विपरीत अर्थात् स्याद्वाद की अपेक्षा से रहित जो है वह ही अनय है क्योंकि वह एकान्तरूप है उस अनय का पक्ष अर्थात् अभिप्राय जिनके होता है ऐसे एकान्तवादियों से जो बाधा रहित अर्थात् अबाधित है क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म तत्त्व किन्हीं भी अन्य हेतुओं से बाधित नहीं हो सकता ऐसा आगम का वाक्य है। (**ते के !**) वे पुरुष कौन हैं या कैसे हैं। (**ये स्वयं-स्वतएव वान्तमोहाः सन्तः—वान्तो-वमितो मोहो रागद्वेषरूपोयैस्ते तथोक्ताः**) जिन्होंने स्वयमेव मोह का वमन कर दिया है अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है और (**रमन्ते-क्रीडन्ति एकत्वं भजन्त इत्यर्थः**) जो रमण-क्रीडन करते हैं अर्थात् एकत्व का सेवन करते हैं। (**क्व**) कहाँ ? (**जिन वचसि-जिनोक्त सिद्धान्त सिद्धान्तसूत्रे**) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए सिद्धान्तसूत्र—अर्थात् द्वादशाङ्ग श्रुत में (**किं लक्षणे**) कैसे सूत्र में (**उभयेत्यादि उभये नया द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकाः—अस्तित्व नास्तित्वं, एकत्वानेकत्वं नित्यानित्यमित्येवमादयः ?**) अस्तित्व ,नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि को विषय करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नय (**तेषां विरोधः-परस्परं विरोधित्वं, यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः, यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्व-स्यविरोधः-इत्याद्येकान्तवादिनां विरोधः, तंध्वंसत इत्येवं शीलं तस्मित्**) उनके आपस के विरोध अर्थात्

जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व का विरोध है और जहाँ नास्तित्व है वहाँ अस्तित्व का विरोध है इत्यादि एकान्तवादियों का जो विरोध है उसको दूर करने वाले (**तथाचोक्तमष्टसहस्र्याम्**) ऐसा ही अष्ट सहस्री में कहा गया है। (**विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्**) अर्थात् स्याद्वाद न्याय के विद्वान अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक रूप से स्वीकार नहीं करते। (**पुनः किम्भूते ?**) फिर कैसे ? (**स्यात्पदाङ्के-कथञ्चित्पदेनलक्षिते**) स्यात्पद-कथञ्चित्पद से युक्त (**जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात्**) क्योंकि जिनेन्द्र का वचन स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद को लिए हुए ही निकलता है। (**तथाचोक्तं सोमदेव सूरिणा**) ऐसा ही सोमदेव सूरि ने कहा है कि (**स्याच्छब्दमन्तरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधि वसतीति**) स्यात् शब्द के बिना तो उन्मेष मात्र भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ—टीकाकार ने अष्टसहस्री का प्रमाण देकर यह बात स्पष्ट कर दी है कि आपस में विरोध रखने वाले दो धर्म कभी एक नहीं हो सकते। हां उनका आधार एक धर्मी वस्तु अवश्य हो हो सकती है लेकिन उसकी विवेचना तो एकमात्र स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर ही सम्भव है अन्यथा नहीं। कारण कि द्रव्यार्थिकनय द्रव्यसामान्य को ही जानता है और पर्यायार्थिक नय पर्याय विशेष को हो। दोनों नय अपने से भिन्न को ही विषय करते हैं। अतः विषयभेद से दोनों नय बिलकुल ही भिन्न हैं उनके अपने विषय को जानने का नियम अबाधित है। ऐसी स्थिति में अज्ञानी एकान्तवादी का निरपेक्ष दृष्टि से वस्तु के विवेचन में हठवादी हो जाना स्वाभाविक ही है उस हठवाद को दूर कर वस्तुस्थिति की यथार्थता का प्रतिपादन एकमात्र स्याद्वाद-अपेक्षावाद से ही हो सकता है। इसकी पुष्टि में उन्होंने सोमदेवसूरि का वचन भी प्रमाण रूप से उपस्थित किया है और बताया है कि बिना स्याद्वाद के निमेषमात्र भी सिद्धि या सचाई को प्राप्त नहीं कर सकता। वास्तव में भगवान जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म तत्त्व का खण्डन किन्हीं हेतुओं से सम्भव नहीं है। यतः वे जिनेन्द्र हैं कर्मशत्रुओं को जीतने वाले हैं अतएव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है वह यथार्थ वक्ता होता है, उसका वचन सर्वथा अखण्डनीय ही होता है यह बात आगम और युक्ति दोनों से सिद्ध ही नहीं प्रत्युत प्रसिद्ध है।

व्यवहारनय व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोजनवान् है निश्चय दृष्टि से नहीं—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहित पदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैव किञ्चित् ॥५॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस संसार में (**प्राक्पदव्याम्**) शुद्धोपयोग की प्राप्ति के प्रारम्भिक मार्ग में (**निहितपदानाम्**) प्रवेश करने वालों को (**व्यवहरणनयः**) व्यवहार नय (**यद्यपि**) यद्यपि (**हस्तावलम्बः**) हाथ का सहारा मात्र (**स्यात्**) होता है (**हन्त**) यह खेद की बात है (**तदपि**) तथापि (**परविरहितम्**) पर द्रव्य से शून्य अर्थात् आत्मा से भिन्न जड़स्वरूप पुद्गल द्रव्य के गुण और पर्यायों से रहित (**चिच्चमत्कारमात्रम्**) चैतन्य चमत्कारमात्र अर्थात् ज्ञानदर्शन रूप चेतना के उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशमान (**परमम्**)

सर्वोत्कृष्ट (**अर्थम्**) आत्मतत्त्व को (**अन्तः**) अन्तरंग में (**पश्यताम्**) देखने वालों को (**एषः**) यह व्यवहार-नय (**किञ्चित्**) कुछ भी कार्यकारी (**न**) नहीं (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**प्राथमिकानां व्यवहारनयोपयोगित्वं प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति**) शुद्धोपयोग की प्रथम कक्षा में प्रवेश पाने वालों को व्यवहारनय-परद्रव्याश्रितनय-कथञ्चित उपयोगी है इस बात को बता कर शुद्धोपयोगियों के शुद्धोपयोग का निश्चय करते हैं। (**हन्त इति वाक्यालङ्कारे**) हन्त यह अव्यय वाक्य के अलङ्कार अर्थ में प्रयुक्त होता है (**इह जगति**) जगत में (**यद्यपि व्यवहरण नयः-व्यवहाराख्योनयः**) यद्यपि व्यवहारनय (**हस्तावलम्बः-करावलम्बनम्**) हाथ का सहारा (**स्यात्-भवति**) होता है (**केषाम्**) किन के (**निहितपदानाम्-निहितं-आरोपितं, पदं-स्थानं-सन्मार्गे यैस्ते तथोक्ता-स्तेषाम्**) मोक्षमार्ग में स्थान को प्राप्त हुए मोक्षमार्गियों के (**पदं-व्यवसितत्राणस्थान लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु इत्यनेकार्थः**) पद शब्द-व्यवसित, त्राण, स्थान, लक्ष्म, अङ्घ्रि और वस्तु इन अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः यहाँ पद शब्द स्थान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (**कदा ?**) कब (**प्राक्पदव्यां-शुद्धचिद्रूपप्राप्तितस्त-त्सम्मुखत्वेसतिपूर्वं तत्प्राथमिकावस्थायाम्**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पाने के पहले उसको पाने के लिए प्रयत्न करने में अभिमुख अर्थात् प्रारम्भ अवस्था में (**तदपि व्यवहारनयः पूर्वमुपयोगी यद्येषोऽस्ति**) वह व्यवहारनय यद्यपि उपयोगी है (**तथापि— एषः व्यवहारनयः-न किञ्चित्कार्यकारी**) तो भी यह व्यवहार नय जरा भी कार्यकारी नहीं है। (**केषाम् ?**) किनको (**पश्यताम्-अवलोकयताम्**) देखने वालों को (**कम् ?**) किसको (**परममर्थं-शुद्ध चिद्रूप लक्षणं पदार्थम्**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व को (**क्व ?**) कहाँ (**अन्तः-अभ्यन्तरे चेतसि**) अन्तरंग में (**किम्भूतम्**) कैसे (**चिच्चमत्कारमात्रं-चित्दर्शनज्ञानलक्षणा, तस्याश्चमत्कारः आश्चर्योद्रेकः स एव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथोक्तस्तम्**) दर्शन और ज्ञान रूप चेतना की परिपूर्णता रूप (**भूयः किम्भूतम्**) फिर कैसे (**परविरहितं-परैः पुद्गलादिद्रव्यैः विरहितं-त्यक्तम्**) पुद्गलादि परद्रव्यों से सर्वथा शून्य (**तथाचोक्तं कुन्दकुन्दाचार्यवरैः**) आचार्य-प्रवर-कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने भी ऐसा ही कहा है—"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदोदुसुद्धणओ" व्यवहारनय अभूतार्थ असत्यार्थ है और शुद्धनय-निश्चयनय भूतार्थ-सत्यार्थ है। (**इति**) ऐसा।

भावार्थ—टीकाकार ने अपनी टीका में 'हन्त' अव्यय का अर्थ वाक्य की सुन्दरता में किया है। लेकिन विचार करने पर उक्त अर्थ की अपेक्षा हन्त का अर्थ खेद करना ग्रन्थकार को इष्ट प्रतीत होता है। कारण कि व्यवहार नय को हेय और निश्चयनय को उपादेय रूप से सभी आध्यात्मिक चिन्तकों ने स्वीकार किया है। अतएव जो हेय है उसका ग्रहण करना तो विवशता की दशा में ही सम्भव हो सकता है सो भी बिना इच्छा के। जब व्यवहार के बिना काम चलता नहीं दिखता तब ही उसे काम चलाऊ मान कर अपनाना पड़ता है काम होने पर तो वह स्वतः ही छूट जाता है उसे छोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि वह वस्तुगत धर्म नहीं है प्रत्युत पर द्रव्याश्रित होने से पर का धर्म है जो पर है उसे अपना बनाना कदापि सम्भव नहीं है यह अध्यात्म तत्त्व का मुख्य लक्ष्य है जो अपरिहार्य होने से ग्राह्य है।

निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तुनः ॥६॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धनयतः**) शुद्ध-निश्चय-नय की दृष्टि से (**एकत्वे**) एकत्व में (**नियतस्य**) नियत-निश्चित (**व्याप्तः**) व्यापक-अपने गुण पर्यायों में सदा व्यापने वाले (**पूर्णज्ञानघनस्य**) पूर्ण ज्ञान घन स्वरूप (**अस्य**) इस (**आत्मनः**) आत्मा का (**द्रव्यान्तरेभ्यः**) अन्य चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यों से (**पृथक्**) जुदा (**यत्**) जो (**दर्शनम्**) देखना श्रद्धान करना है (**एतद्**) यह (**एव**) ही (**नियमात्**) नियम-निश्चय से (**सम्यग्दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन (**अस्ति**) है (**च**) और (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा-जीव (**अपि**) भी (**तावान्**) उतना (**एव**) ही (**अस्ति**) है (**तत्**) इसलिए (**इमाम्**) इस (**नवतत्त्व-सन्ततम्**) नवतत्त्वों की परिपाटी को (**मुक्त्वा**) छोड़कर (**नः**) हमारे (**अयम्**) यह (**एकः**) एक-अद्वितीय (**आत्म**) आत्मा (**अस्तु**) प्राप्त हो।

सं० टी०—(**इह-जगति**) संसार में (**नियमात्-निश्चयनयमाश्रित्य**) नियम से निश्चयनय का आश्रय करके (**एव-निश्चयेन**) निश्चित ही (**एतत्सम्यग्दर्शनम्-शुद्ध सम्यक्त्वम्**) शुद्ध सम्यग्दर्शन (**एतत् किम् ?**) यह क्या ? (**यत्**) जो (**अस्य-जगत्प्रसिद्धस्य, आत्मनः-चिद्रूपस्य**) इस जगत्प्रसिद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का (**दर्शनं-अवलोकनं, ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करणमित्यर्थः**) ध्यान से प्रत्यक्षरूप में देखना श्रद्धान करना (**कथम्**) कैसे (**द्रव्यान्तरेभ्यः-शुद्धचिद्रूपादन्यद्रव्याणि द्रव्यन्तराणि-पुद्गलादिद्रव्याणितेभ्यः**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यों से (**पृथक् भिन्नं भवति**) जुदा (**तथा**) और (**किं विशिष्टस्यात्मनः**) कैसी आत्मा का (**शुद्धनयतः-निश्चयनयात्**) निश्चयनय से (**एकत्वे अहमात्मा, आत्माहमित्येतल्लक्षणे-एकत्वे**) मैं आत्मा हूँ इस प्रकार के लक्षण वाले एकत्व में (**नियतस्य-रति प्राप्तस्य**) नियत-स्नेह युक्त (**पुनः किम्भूतस्य**) फिर कैसे (**व्याप्तुः-स्वगुणपर्याय व्यापकस्य**) अपने गुण और पर्यायों में व्यापने वाले (**व्यवहारनयाद्वा लोकालोक व्यापकस्य-ज्ञानेन ज्ञातत्वात्सर्वस्य**) अथवा व्यवहारनय से लोक और अलोक को व्याप्त करने वाले क्योंकि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान से सारे लोक अलोक को जानता है अतएव सर्व व्यापक है। (**तथाचोक्तमकलङ्कपादैः**) अकलङ्क स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है—

स्वदेह प्रमितश्चात्मा ज्ञानमात्रेऽपिसम्मतः ।
ततः सर्वगतः सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा ॥

अर्थात् आत्मा नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए अपने शरीर के प्रमाण हैं। पर स्वरूप की दृष्टि से वह ज्ञानमात्र-ज्ञानप्रमाण ही माना गया है। इसलिए वह ज्ञान के द्वारा लोक के अन्दर रहने वाले

सभी पदार्थों को और अलोक को भी युगपत् एक साथ एक ही काल में जानता रहता है। अतएव सर्व व्यापक है। सर्वथा सर्व व्यापक नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक स्थान पर रहता हुआ भी अपने ज्ञानगुण से सभी चराचर ज्ञेयों को प्रति समय जानता रहता है। वे ज्ञेय भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। ऐसा ही ज्ञान और ज्ञेयों का परस्पर में ज्ञायक ज्ञेय सम्बन्ध अनादितः धाराप्रवाह रूप से चला आ रहा है और इसी रूप से अनन्त काल तक चलता रहेगा। यही वस्तुस्थिति है जो त्रिकाल अबाधित है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है।

(पुनः किम्भूतस्य) फिर कैसे ! **(पूर्णज्ञानघनस्य-पूर्णः-परिपूर्णः-ज्ञानस्यबोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्य)** परिपूर्ण ज्ञान वाले **(च-पुनः)** और **(अयं प्रत्यक्षीभूतः)** यह प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाला **(आत्मा-चिद्रूपः)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(तावान् मात्रः-सम्यग्दर्शन मात्र इत्यर्थः)** सम्यग्दर्शन के प्रमाण ही **(अस्ति)** है **(तत्-तस्मात्कारणात्)** तिस कारण से **(अयं-आत्मा चिद्रूपः)** यह चेतना स्वरूप आत्मा **(नः-अस्माकम्)** हमारे **(एकः-अद्वितीयः)** परपदार्थ के संसर्ग से शून्य अतः एक अद्वितीय **(अस्तु)** प्राप्त हो **(किं कृत्वा ?)** क्या करके ? **(इमां-प्रसिद्धाम्)** इस प्रसिद्ध जग-जाहिर **(नवतत्त्वसन्ततिम् जीवादि नवतत्त्वानां समूहम्)** जीवादि नव तत्त्वों के समुदाय को **(मुक्त्वा त्यक्त्वा)** छोड़कर **(कर्मकलङ्कित जीवादितत्त्वानि विहाय)** कर्म मल से मलिन जीवादि सात तत्त्वों की परिपाटी को छोड़कर **(एकः आत्मा)** एक आत्मा **(नः-शुद्धयेऽस्तु सर्वेतियावत्)** हमारी शुद्धि के लिए हमेशा बना रहे।

भावार्थ— चैतन्य स्वरूप आत्मा के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है अर्थात् शुद्धनय की अपेक्षा को लिए जो विशेषण आत्मा के लिये दिये गये हैं उन विशेषणों से विशिष्ट आत्मा के श्रद्धान को ही निश्चय सम्यग्दर्शन जानना चाहिये। उन विशेषणों में प्रथम विशेषण आत्मा का एकत्व है अर्थात् आत्मा, स्वरूप की दृष्टि से एक है उसमें अन्य पदार्थ का परमाणु के प्रमाण भी अस्तित्व नहीं है अतएव वह अद्वितीय—एक है। दूसरा विशेषण व्यापकत्व है अर्थात् आत्मा स्वदेह परिमाण होते हुए अपने गुण पर्यायों में व्यापक है। व्यवहार दृष्टि में ज्ञानगुण के जरिये वह लोक तथा अलोक को निरन्तर जानता रहता है संसार का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो आत्मा के ज्ञान से बाहिर हो वह ज्ञेय ही क्या जो आत्मा के ज्ञान गुण का विषय न हो। ज्ञेय का सीधा अर्थ यही है कि जो ज्ञान से जाना जाय। अतः सभी पदार्थ ज्ञेय हैं ज्ञान के अन्दर प्रतिभासित होते रहते हैं ज्ञान का भी कार्य जानने का है अतः वह अपने स्वभाव से सभी पदार्थों को जानता ही रहता है इस दृष्टि से ज्ञान की अपेक्षा आत्मा सर्व व्यापक है। उसकी यह सर्व व्यापकता स्वभावगत होने से अक्षुण्ण है :

तीसरा विशेषण पूर्ण ज्ञानघन है अर्थात् प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ज्ञान का पिण्ड है लेकिन कर्म-बद्ध होने से उसकी वह स्वाभाविक ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति आंशिक रूप में ही उपलब्ध होती है जो कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करती है अर्थात् ज्ञान की कर्मोपाधि की अपेक्षा से पांच अवस्थायें प्राप्त

होती हैं जिनमें प्रथम की चार अवस्थायें ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं शेष पांचवीं अवस्था ज्ञाना वरण कर्म के क्षय से प्रगट होती है बस इसी अवस्था का नामान्तर ही केवलज्ञान है जो अविनाशी होने से अनन्त काल तक ज्यों का त्यों बना रहता है उसमें कोई खास स्थूल परिवर्तन नहीं होता है, हाँ सूक्ष्म परिवर्तन तो होता ही रहता है जिसे शास्त्रीय भाषा में षड्गुणी हानि वृद्धि कहते हैं बिना इसके द्रव्य का स्वरूप ही नहीं बन सकता। साधक सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मात्र सामान्य ज्ञान पर रहती है उक्त तीनों विशेषणों से विशिष्ट आत्मा का अन्य पुद्गलादि परद्रव्यों से पृथक् श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है यह जितना है उतनी ही आत्मा है न्यूनाधिक नहीं। गुण के बराबर गुणी और गुणी के बराबर गुण होता है यह गुण और गुणी का परिमाण है जो गुण गुणी के तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध पर आधारित है ऐसी सम्यग्दर्शन परिमाण अत्मा ही हमें प्राप्त हो।

अब शुद्धनयाधीन आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति का वर्णन करते हैं—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्तितत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि-यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

अन्वयार्थ— (**अतः**) इसलिए—इस कारण से (**शुद्धनयायत्तम्**) शुद्ध नय के अधीन शुद्धनिश्चयनय से जानी हुई (**तत्**) वह-शास्त्र प्रसिद्ध (**प्रत्यग्ज्योतिः**) पर द्रव्यों से सर्वथा जुदी आत्मा की ज्योति-ज्ञानमय तेजः कान्ति (**चकास्ति**) प्रकाशमान होती है (**यत्**) जो (**नवतत्त्वगतत्वेऽपि**) नवतत्त्व-जीव आदि नव पदार्थों में दूध और पानी की तरह मिली हुई होने पर भी (**एकत्वम्**) अपनी एकता-स्वरूपगत चेतनता को (**न**) नहीं (**मुञ्चति**) छोड़ती।

सं० टी०—(**यतो नवतत्त्वेष्वपि, अयमेक आत्माऽस्तु नः,**) जिस कारण से नव तत्त्वों में रहने पर भी हमारे यह एक आत्मा प्राप्त हो (**अतः-कारणात्**) इस कारण से (**चकास्ति-द्योतते**) प्रकाशित होती है (**तत्-प्रसिद्धं**) वह प्रसिद्ध (**आत्मज्या-प्रत्यग्ज्योतिः परं धाम**) उत्कृष्ट तेज (**शुद्धनयायत्तं-यत् शुद्धनयस्य-निश्चयनयस्य-आयत्तं अधीनं, शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत्**) जो शुद्ध निश्चयनय के अधीन (**अस्ति**) है (**यत्-परंज्योतिः**) जो उत्कृष्ट तेज-चैतन्यमय प्रकाश (**एकत्वम्-अद्वितीयत्वम्**) अद्वितीयता को-अपने खास चैतन्य स्वरूप जो आत्मा का असाधारण परिचायक चिह्न है को (**न**) नहीं (**मुञ्चति-जहाति**) छोड़ता (**क्व सति ?**) कहां पर (**नवतत्त्वगतत्वेऽपि-नवसु तत्त्वेषु गतत्वं प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि**) नव तत्वों में प्राप्त होने पर भी (**अपिशब्दात्तेषु, अगतत्वेऽपिसिद्धात्मनो नवतत्त्वेषु-अगतत्वात्**) अपि शब्द से—नव तत्वों में प्राप्त नहीं होने पर भी अर्थात् सिद्ध आत्मा नव तत्वों में प्राप्त नहीं हैं इससे वे नव तत्वगत नहीं है ऐसा अपि शब्द का अर्थ है (**संसार्यात्मनः, नवतत्वायत्तत्वान्नव तत्त्व गतत्वम्**) संसारी आत्मा नव-तत्त्वों के अधीन होने से नवतत्वगत है।

भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है जब पर्याय दृष्टि से देखते हैं तब आस्रव बंध-संवरनिर्जरा-

पुण्य-पाप-मोक्ष सत्यार्थ है, इन पर्यायरूप अवस्थाओं को तो जाना परन्तु जो आस्रव रूप बंधरूप परिणमन करने वाला, संवर-निर्जरा-मोक्षरूप परिणमन करने वाले को नहीं जाना तब तक आत्मस्वभाव का ज्ञान कैसे हो। एक किसान को खोजना है वह कहां-कहां मिलेगा। जहां-जहां मिलेगा उन जगहों का जानना भी जरूरी है परन्तु वह जानना उस किसान को जानने के लिए ही है। इसी प्रकार यह एक अकेला ज्ञायक भावरूप-चैतन्य नव तत्त्वरूप परिणमन करते हुए भी अपने चेतन्यपने को नहीं छोड़ता। आत्म अनुभव करने के लिए नव तत्त्व में भी उस एक अकेले को देखना जरूरी है जो शुद्ध नय का विषय है।

अब आत्मा ही दर्शनीय है इस बात को प्रेरणापूर्वक कहते हैं—

चिरमिति नव तत्त्वच्छन्न मुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः**) नव तत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति (**उन्नीयमानं**) शुद्धनय से बाहर निकाल कर प्रगट की गई है (**वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम्-इव**) जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न (**एकरूपम्**) एक रूप (**दृश्यताम्**) देखो (**प्रतिपदम् उद्योतमानम्**) यह (**ज्योति**) पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

सं० टी०—(**अथ-परंज्योतिषः प्रकाश कथनादनन्तरम्**) उत्कृष्ट ज्योति को प्रकाशित करने के बाद (**इदम्**) यह (**आत्मज्योतिः-परमात्मज्योतिः**) परमात्मा का प्रकाश-तेज (**दृश्यताम् अवलोक्यताम्**) देखो—अवलोकन करो। (**इति अमुना-प्रकारेण**) इस प्रकार से (**कोऽसौ प्रकारः**) वह प्रकार कौन-सा (**अस्ति**) है? (**एकस्मिन् संसार्यात्मनि, जीवाजीवादिनवतत्त्वसद्भाव इति**) एक ही संसारी आत्मा में, जीव अजीव आदि नव तत्त्वों का सद्भाव, ऐसा प्रकार (**चिरम्-आसंसारम्-पूर्वं पश्चाच्च,**) जबसे संसार है तबसे पहले और पीछे (**नवतत्त्वच्छन्नं-नवतत्त्वैः-जीवाजीवादिभिः, छन्नं-आच्छादितम्**) जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों से आच्छादित-मिले हुए (**किमिव**) किसके समान (**कनकमिव**) सुवर्ण के समान (**यथा स्वर्णम्**) जैसे स्वर्ण (**वर्णमालाकलापे-वर्णस्य सप्ताऽष्टादिरूप वर्णस्य, माला-पंक्तिः, तस्याः कलापः-समूहस्तस्मिन्**) सात आठ आदि वर्णों के समूह (**निमग्नम्-अन्तः पतितम्**) मध्य में पड़े हुए के समान। (**ननु च तत्त्वाच्छादितं परंज्योतिः, वर्णमालाच्छादितं स्वर्णं च कथमस्तीतिज्ञायते**) शंकाकार कहता है कि उत्कृष्ट ज्योतिः स्वरूप चैतन्यात्मा जीव अजीव आदि नव तत्त्वों से आच्छादित-ढँका हुआ है और स्वर्ण सात आठ रंगों से व्याप्त है यह आपने कैसे जाना? (**उन्नीयमानम्-नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानं, निघर्षणच्छेदनादिभिर्निर्णीयमानम्**) उत्तर में कहते हैं कि—नय और प्रमाण आदि से निश्चय किये जाने वाले और निघर्षण-घिसना तथा छेदन-टुकड़े करना आदि से जानने में आने वाले (**सततविविक्तम्-सततं-निरन्तरं, वि-विशेषेण-निश्चयनयेन-विक्तं-द्रव्यभावमलाद्भिन्नम्**) हमेशा द्रव्य और भाव मल से रहित

(स्वर्णञ्च निजकिट्टकालिकादिमलात् परमार्थतोभिन्नं, एकरूपं) और स्वर्ण अपनी किट्ट कालिका आदि रूप मल से वस्तुतः जुदा **(एक रूपम्—सर्वत्रपर्यायेषुचिद्विवर्तत्वेनैकस्वरूपम्)** सभी पर्यायों में चैतन्य का ही परिणमन होने से एकरूप **(लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यसारादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात्)** लब्ध्यपर्याप्त आदि पर्यायों में लब्ध्यक्षर आदि चैतन्य पर्यायों के नहीं छोड़ने से **(स्वर्णञ्च पीतत्वादिस्वरूपेण-सर्वत्र-वर्णेषु, एकस्वरूपम्)** और स्वर्ण भी अपने पीतत्व-पीलापन आदि निज रूप से सभी वर्णो में एकरूप होता है। **(प्रतिपदं एकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादि शक्तितः)** एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक पर्यायों में ज्ञान आदि शक्ति से **(उद्योतमानम्-प्रकाशमानम्)** प्रकाशमान **(एकेन्द्रियेषु-स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानात्)** एकेन्द्रियों में स्पर्शन इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान से **(द्वीन्द्रियादिषु रसनेन्द्रियज्ञानानां वृद्धिस्वभावत्वात्)** दो इन्द्रिय आदि जीवों में रसना इन्द्रिय आदि से होने वाले ज्ञानों की वृद्धिरूप स्वभाव होने से **(कनकमपि)** स्वर्ण भी **(प्रतिपदं-सप्ताष्टकादिवर्णकारस्थानेषु)** सात आठ आदि वर्ण वाले स्थानों में **(उद्योतमानम्)** प्रकाशमान रहता है **(इतिछायाऽर्थः)** ऐसा छायार्थ **(कनकेष्वपि ज्ञातव्यः)** सुवर्ण में भी लगा लेना चाहिए।

भावार्थ—जैसे सराफ मिले हुये सोने में केवल स्वर्णत्व को सब मलिनताओं से भिन्न अपने ज्ञान में अलग कर लेता है और देख लेता है। उस मलिनताओं को मेटने में समय लगेगा परन्तु ज्ञान में अलग देखने में कोई मुश्किल नहीं है वैसे ही यह आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से मिला हुआ है परन्तु ज्ञानी के ज्ञान में ऐसी विशेषता है कि वह समस्त किट्ट कालिमा को अर्थात् द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म को बाद देकर जो बाकी बचा केवल चैतन्यपना उसको अपने रूप से अनुभव कर लेता है। यह सम्यक अवलोकन अपने ज्ञानादि गुणों से अभिन्न ज्ञानी के ज्ञान की विशेषता है।

परमात्मज्योति के प्रकाशित होने पर नयादि की व्यर्थता दिखाते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेतिप्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो यातिनिक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयातेभाति न द्वैतमेव ॥९॥

अन्वयार्थ—**(सर्वंकषे)** सभी चराचर पदार्थों को जानने वाले **(अस्मिन्)** इस **(धाम्नि)** परमात्मरूप ज्योतिः-प्रकाश के **(अनुभवम्)** अनुभव को **(उपयाते)** प्राप्त होने पर **(नयश्रीः)** नयलक्ष्मी **(न)** नहीं **(उदयति)** उदय को प्राप्त होती। **(प्रमाणम्)** प्रमाण **(अस्तम्)** अस्त को **(एति)** प्राप्त होता है। **(निक्षेपचक्रम्)** निक्षेपों का समूह **(क्वचित्)** कहीं **(अपि)** भी अन्यत्र **(याति)** चला जाता है **(च)** ऐसा **(वयम्)** हम **(न)** नहीं **(विद्म,)** जान पाते। **(वयम्)** हम **(अपरम्)** और तो क्या **(अभिदध्मः)** कहें **(द्वैतम्)** द्वित्व-दोपन **(एव)** ही **(न)** नहीं **(भाति)** मालूम पड़ता है।

सं० टी०—**(अस्मिन्-परमात्मलक्षणे)** इस-परमात्माके लक्षण स्वरूप-इस **(धाम्नि-ज्योतिषि)** ज्योति के **(सर्वंकषे-सर्व-लोकालोकं, कषति-त्रासमानं करोति जानातीति लक्षण या धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंकषः "सर्वकूलाभ्रकरीषेषुकषः" इति खश्प्रत्ययविधानात्)** सभी लोक और अलोक को त्रासित करने वाले

अर्थात् लक्षणाशक्ति से जानने वाले यहाँ कष् धातु का अर्थ जानना है क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं प्रकरण की संगति से अर्थ की सङ्गति होती ही है। अतः यहाँ प्रकरण के वश से ज्ञान अर्थ लिया गया है सर्वशब्द पूर्वक कष् धातु से खश् प्रत्यय करने पर 'सर्वंकष' शब्द बना है।

(अनुभवं-स्वानुभवप्रत्यक्षम्) स्वानुभवप्रत्यक्ष को **(उपयाते-प्राप्तेसति)** प्राप्त करने पर **(नयश्रीः-नया द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकाः-नैगमादयः, तेषां श्रीः)** द्रव्यार्थिक-द्रव्य-सामान्य को विषय करने वाले तथा पर्याय-विशेष को विषय करने वाले नयों की लक्ष्मी **(न उदयति-न प्राप्नोति)** उदय को प्राप्त नहीं होती **(नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात्)** क्योंकि नय परमात्मा के स्वरूप को जानने के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् नयो में परमात्मा के स्वरूप को जानने की स्वतः क्षमता नहीं होती **(बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च)** दूसरी बात यह भी है कि नय बाह्यवस्तु के प्रकाशक होते हैं।

(पुनस्तस्मिन प्रकाशिते) और उस उत्कृष्ट परमात्मा ज्योति के प्रकाशित होने पर **(प्रमाणम्-प्रमीयते-परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकम्)** जिससे वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान होता है वह प्रमाण कहलाता है ऐसा प्रमाण अपना और अपने से भिन्न अपूर्व पदार्थ का निश्चय करने वाला-जानने वाला होता है। **(तच्च द्वैधं-प्रत्यक्ष परोक्षभेदात्)** और वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। **(तत्र)** उनमें **(विशदं प्रत्यक्षम्)** जो विशद्-निर्मल ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। **(तच्च द्वेधा)** और वह प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है। **(साकल्य वैकल्य भेदात्)** साकल्य और वैकल्य के भेद से **(साकल्यं-केवलज्ञानं – सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरणत्वात्)** साकल्य प्रमाण केवलज्ञान रूप है क्योंकि वह सामग्री विशेष-ध्यानादि तपश्चरण विशेष से अपने आवरण करने वाले कर्म-केवलज्ञानावरण के सर्वथा नाश करने से ही प्रकट होता है।

(वैकल्यं-अवधिमनःपर्ययभेदात्-द्वेधा) वैकल्य प्रमाण अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। **(ऐन्द्रियं प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादीन्द्रियभेदात् षोढा)** इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं वह स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों और छठवें मन के भेदसे छह प्रकार का होता है। **(तच्च प्रत्येकं-अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा,)** और वह भी अवग्रह, ईहा, अवाय औरधारणा के भेद से चार प्रकार का होता है। **(तच्चबहु बहु विधादि द्वादशविषयभेदात्, षट्त्रिंशदधिक त्रिशत्भेदभिन्नम्)** और वह भी बहु बहुविध आदि बारह विषयोंके भेद से तीन सौ छत्तीस प्रकार का होता है। **(परोक्षं-स्मृतिप्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागमभेदाद्बहुधा)** परोक्ष प्रमाण-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से बहुत प्रकार का है। **(एतद्द्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तं गतम् इति प्रमाणानां तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च)** ये दोनों प्रमाण जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं अस्त को प्राप्त होते हैं इस तरह से प्रमाणों के और उनकी प्राप्ति के निमित्त होने से इन्द्रिय आदि की प्राप्ति की व्यर्थता होने से भी प्रमाणों की अस्तिता प्रमाणित होती है। **(च-पुनः)** और **(निक्षेप-चक्रं-निक्षेपस्तु-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदतश्चतुर्धा-)** निक्षेप तो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से

चार प्रकार का है। **(तत्र)** उनमें **(अतद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम)** जो गुण जिसमें नहीं है उसको उस नाम से कहना निक्षेप है। **(अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना)** किसी अन्य वस्तु में यह वह है इस प्रकार के व्यवस्थापन को स्थापना निक्षेप कहते हैं। **(वर्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्)** वर्तमान की पर्याय से भिन्न भूत एवं भविष्यत् की पर्याय को वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है। **(तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तुभावोऽभिधीयते)** वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को वर्तमान पर्यायरूप कहना भाव निक्षेप है **(तस्य चक्रं समूहः)** उस निक्षेप का समुदाय **(क्वचिदपि-कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्येस्थाने याति-गच्छति, तद्वयं न विद्मः-न जानीमः)** कहां पर अर्थात् आत्मा से भिन्न किसी अन्य जगह चला जाता है इसको हम नहीं जानते। **(अतिशयालङ्कारकथनमेतत्)** अतिशयालङ्कार की अपेक्षा से यह कहा जाता है। **(प्राथमिकानां-निक्षेपस्योपयोगित्वात्)** क्योंकि प्रथम श्रेणी वालों को निक्षेप उपयोगी होता है। **(अत्र)** यहाँ **(अपरम्)** और **('निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणम्' 'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन कालान्तर-भावाल्प बहुत्व लक्षणम्' च किमभिदध्मः किंकथयामः)** निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानलक्षण तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व लक्षण को भी हम क्या कहें **(तत्र)** उस परमात्म लक्षण तेज में **(तेषामनुपयोगित्वात्)** उन नय, प्रमाण, निक्षेप आदि अनुपयोगी होने से **(एव-निश्चयेन)** निश्चय ही **(द्वैतं द्वाभ्यां, नय नेय, प्रमाण प्रमेय, निक्षेप निक्षेप्यादि लक्षणाभ्यां-इतं-प्राप्तं-द्वीत, द्वीतमेव द्वैतं, स्वार्थिकाऽण्प्रत्ययविधानात्)** नय नेय, प्रमाण प्रमेय, निक्षेप निक्षेप्य आदि दो-दो के लक्षणों से जो लक्षित हो—प्राप्त किया गया हो उसका नाम द्वैत है ऐसे द्वीत को ही द्वैत कहा जाता है क्योंकि यहाँ द्वीत शब्द से स्वार्थ-द्वीत अर्थ में अण् प्रत्यय किया गया है—ऐसा द्वैत **(नभाति नप्रतिभासते)** प्रतिभासित-ज्ञान-मालूम नहीं होता है, ग्रन्थान्तरमें **(तथाचोक्तम्)** ऐसा ही कहा गया है—

प्रमाणनय निक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिस्तदेकं प्रतिभासताम्॥

अर्थात् अर्वाचीनपद पृथक्-पृथक् पद में स्थित रहने वाले प्रमाण, नय, निक्षेप पृथक्-पृथक् प्रतिभासित हैं किन्तु केवल ज्ञान स्वरूप उस परमात्मज्योति के प्रतिभासित होने पर तो वही एक उत्कृष्ट परमात्मज्योति ही प्रकाशित रहे। अन्य प्रमाण, नय निक्षेप आदि—कोई भी प्रतिभासित न हों।

भावार्थ—यहाँ पर नय, प्रमाण और आदि पद से निक्षेपरूप अर्थ को टीकाकार ने ग्रहण किया है जो प्रकृत अर्थ को प्रकट करने में पूर्णतया उपयुक्त है उनकी संक्षिप्त परिचयात्मक व्याख्या करना उचित प्रतीत होती है। अतः सबसे पहले प्रमाण को लेते हैं—'प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वमनेनेतिप्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का असली स्वरूप जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं यहाँ प्रमाण पद से वह ज्ञान समझना चाहिए जो वस्तु के सर्वाङ्ग को पूर्णरीति से जाने। वह प्रमाण ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षप्रमाण वह ज्ञान है जो पदार्थों को जानने में स्वाधीन हो इन्द्रिय आदि परपदार्थों की सहायता की अपेक्षा न रखता हो ऐसा प्रमाण दो प्रकार का होता है—

पहला सकल प्रत्यक्षप्रमाण और दूसरा विकल प्रत्यक्षप्रमाण। सकल प्रत्यक्ष प्रमाण वह ज्ञान है जो केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर प्रकट होता है जिसे केवलज्ञान, अनन्तज्ञान, क्षायिकज्ञान, अविनाशीज्ञान, असहायज्ञान आदि अनेक नामों से पुकारते हैं यह ज्ञान त्रिलोक-त्रिकालवर्ती चराचर अनन्तानन्त पदार्थों के अनन्तानन्त गुण और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को युगपत् एक साथ एक ही काल में जानता है यह ज्ञान सकलप्रत्यक्ष प्रमाण है। विकल प्रत्यक्ष प्रणाण में दो ज्ञान लिए जाते हैं एक अवधिज्ञान और दूसरा मनःपर्ययज्ञान। पहला अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सहायता से रूपीपदार्थ-पुद्गल तत्त्व को जानता है इसमें इन्द्रिय आदि परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती यह तो आत्म सापेक्ष ज्ञान है लेकिन है विकल क्योंकि यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अधीन है। दूसरा विकल-प्रत्यक्षप्रमाण मनःपर्यय ज्ञान है यह भी इन्द्रिय आदि परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा तो नहीं रखता लेकिन फिर भी अन्य के मन में स्थित पदार्थों को ही जानता है अन्य को नहीं, यह भी मनःपर्यय ज्ञाना-वरण कर्म के क्षयोपशम के ऊपर अवलम्बित है अतएव विकलप्रत्यक्ष है। दोनों ही ज्ञान सीमित पदार्थ को ही जानते हैं सब को नहीं इसलिए भी विकल प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाण वह ज्ञान है जो पर इन्द्रिय, प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थ से मिलकर तथा दूर रहकर पदार्थ को जाने। इस परोक्ष प्रमाण में दो ज्ञान ग्रहण किये जाते हैं—पहला मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान। मतिज्ञान-मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से पांचों इन्द्रियों और मन की सहायता से ही पदार्थ को जानता है अतएव पराश्रित होने से परोक्ष प्रमाण है।

दूसरा श्रुतज्ञान है जो श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है यह भी मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ की विशेषता को जानता है अतएव परावलम्बी है इसलिए परोक्ष है। दोनों ज्ञान अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम के रहते हुए भी बाह्य इन्द्रिय आदि की निर्मलता, सुष्ठता, सबलता आदि पर निर्भर है यदि ये सब ठीक हैं तो वे ज्ञान अपना-अपना काम करने में पूर्णतया सजग, सक्रिय और सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं। बस यही इनकी पराश्रिता है जो प्रत्येक ज्ञानी के अपने ही अनुभवगम्य है।

ये दोनों ही प्रमाण जब प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद को लिये हुए होते हैं तब सत्यार्थ हैं भूतार्थ हैं और जब प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को गौणकर मात्र आत्मस्वरूप के अनुभव में ही तन्मय हो जाते हैं तब अभूतार्थ-असत्यार्थ हैं यह अध्यात्म तत्त्व की एकदृष्टि है।

प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ के किसी एक अंश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

पहला द्रव्यार्थिक नय—द्रव्य-सामान्य को जानने वाले नय ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष रूप होता है। उनमें जो सामान्यांश को मुख्यता से जाने वह द्रव्यार्थिक नय है।

दूसरा पर्यायार्थिक नय—जो पर्याय-विशेष को जाने वह पर्यायार्थिक नय है। यह नय द्रव्य सामान्य को गौण रखकर विशेष-पर्याय को ही मुख्यता से जानता है ये दोनों नय जब भेदरूप से अपने-अपने विषय का ग्रहण करते हैं तब भूतार्थ-सत्यार्थ हैं। और जब अभेदरूप से एकमात्र आत्मा को ही ग्रहण किया जाता है तब अभूतार्थ असत्यार्थ है। अध्यात्म दृष्टि में एकमात्र आत्मानुभव की ही प्रधानता होती है उसमें पर की ओर से पूर्ण विमुखता वरती जाती है इतना ही नहीं प्रत्युत् अखण्ड द्रव्य के खण्डों से भी पराङ्मुख रहकर एकमात्र शुद्ध चैतन्यमय अखण्ड तत्त्व का ही अनुभव होता है जो वस्तुतः सत्यार्थ-यथार्थ है।

निक्षेप—लोक व्यवहार में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये युक्तियोजना के साथ किसी प्रयोजनीभूत कार्य को सुचारु रूप से चलाने के हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ के स्थापन को निक्षेप कहते हैं। वह निक्षेप नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्य-निक्षेप और भावनिक्षेप के भेद से चार प्रकार का होता है :—

नाम निक्षेप—जिसमें जो गुण नहीं है उसको उस नाम से कहना नामनिक्षेप है।

स्थापना निक्षेप—किसी अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ की तदाकार या अतदाकाररूप से स्थापना करने को स्थापनानिक्षेप कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप—किसी विवक्षित वस्तु की अतीत-भूत और अनागत-भविष्यत् पर्याय को वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है।

भावनिक्षेप—किसी विवक्षित वस्तु की वर्तमान-हो रही-पर्याय को कहना भावनिक्षेप है। ये सभी निक्षेप अपने-अपने लक्षण के अनुसार लक्ष्यभूत वस्तु का जब अनुभव करते हैं तब वे सभी भूतार्थ-सत्यार्थ हैं लेकिन जब मात्र चैतन्यचमत्कारपूर्ण आत्मा की अनुभूति में ही निमग्न होते हैं तब वे ही अभूतार्थ-असत्यार्थ हो जाते हैं।

ये नय-निक्षेपादि वस्तु को समझने में जरूरी है इसलिए जब वस्तु को समझना होता है तब ये सब अपने-अपने विषय का परिपादन करते हुए सत्मार्ग है परन्तु जब आत्म अनुभव किया जाता है उस समय नयादिक का विकल्प भी आत्म अनुभव में बाधक हो जाता है, इसलिए आत्म अनुभव के समय ये नयादिक जो तत्त्व को समझने की अवस्था में प्रयोजनभूत थे वे ही बाधक हो जाते हैं इसलिए स्वभाव की दृष्टि में सभी प्रकार के विकल्प असत्यार्थ और अभूतार्थ कहे गये हैं।

अब आत्मा के स्वभाव को प्रकाशित करने वाले शुद्ध नय का विवेचन करते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम् ।

विलीन सङ्कल्प विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अन्वयार्थ—परभावभिन्नम्) परभावों से भिन्न-परपदार्थों से उनके गुण एवं पर्यायों से सर्वथा जुदे **(आपूर्णम्)** परिपूर्ण-समस्त लोक और अलोक को जानने वाले ज्ञान से भरपूर **(आद्यन्तविमुक्तम्)**

आदि और अन्त से रहित-किसी के द्वारा उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने वाले (**एकम्**) अद्वितीय-समस्त भेद भावों से रहित एक रूप रहने वाले (**विलीन सङ्कल्प विकल्प जालम्**) शरीर आदि में आत्मत्व की बुद्धि स्वरूप सङ्कल्प से तथा बाह्य पदार्थों में इष्ट अनिष्टरूप विकल्पों से रहित (**आत्मस्वभावम्**) आत्मा के स्वभाव को (**प्रकाशयन्**) प्रकाशित करता हुआ (**शुद्धनयः**) शुद्ध नय (**अभ्युदेति**) सर्व प्रकार से उदय को प्राप्त होता है।

सं० टी०—(**अभ्युदेति-उदयं गच्छति**) उदय को प्राप्त करता है (**कोऽसौ**) कौन (**शुद्धनयः-शुद्धपरात्मग्राहक द्रव्यार्थिकः**) शुद्धनय-शुद्ध परमात्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ? (**प्रकाशयन्-व्यक्तीकुर्वन्**) व्यक्त करता हुआ (**किम्?**) किसे? (**तम्**) उस (**आत्मस्वभावम्-शुद्धचिद्रूपस्वरूप**) शुद्धचैतन्यस्वरूप को (**कीदृशं तम्-**) कैसे? (**परभावभिन्नं-परे चतेभावाश्च परभावाः-स्वात्मान्यपदार्थाः अथवा परेषां-अचेतनादीनां भावाः स्वभावाः तैर्भिन्नम्**) आत्मा और आत्मा से भिन्न पदार्थ अर्थात् निज आत्मा से अन्य सभी चेतन अचेतन पदार्थ उनसे जुदे अथवा आत्मा से भिन्न अचेतन आदि पदार्थों के स्वभाव से पृथक् (**भूयः कीदृशम्**) फिर कैसे (**आपूर्णम्-आ-अतिशयेन परिपूर्णम्**) अतिशय रूप से परिपूर्ण (**ज्ञानाद्यनन्तगुणपूर्णत्वात्तस्य**) क्योंकि आत्मा ज्ञानादि गुणों से भरपूर है। (**पुनः किम्भूतम्**) फिर कैसे (**आद्यन्तविमुक्तम्-अनादिनिधनमित्यर्थः**) आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनादि निधन (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसे (**एकम्-अद्वैतम्**) अद्वैत-अद्वितीय (**अखण्डद्रव्यत्वात्**) क्योंकि आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसे (**विलीनसङ्कल्प विकल्पजालम्-परद्रव्येममेदमितिमतिः सङ्कल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिमतिः विकल्पः, सङ्कल्पश्च विकल्पश्च सङ्कल्पविकल्पौ विलीनं सङ्कल्पविकल्पयोर्जालं समूहो यस्यतम्**) शरीरादि परद्रव्य में 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचार का नाम सङ्कल्प और मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इस तरह के चिन्तन का नाम विकल्प है ये दोनों प्रकार के सङ्कल्प और विकल्पों के समूह जिसके नहीं है, ऐसे।

भावार्थ—यहाँ निश्चयदृष्टिसे आत्मा के स्वरूप को बताया गया है जिस रूप ज्ञानी अपने आपको अनुभव करता है। हरेक वस्तु द्रव्य क्षेत्र काल भाव को लिए हुए है। यहां आत्मा का चारों तरह से वर्णन किया गया है। यह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा-परभावों से भिन्न और निज चैतन्यभाव से अभिन्न है। क्षेत्र की अपेक्षा अपने गुण पर्यायों में व्याप्त है। काल की अपेक्षा जिसका न आदि है न अन्त है। भाव की अपेक्षा संकल्प और बिकल्प जाल से रहित ज्ञान मात्र है। संकल्प कहते हैं पर में अपनेपन को और विकल्प कहते हैं मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ आदि को। इस प्रकार शुद्ध नय के द्वारा वस्तु का प्रकाशन होता है। वह आत्मद्रव्य कैसा है एक-अकेला है। यह वस्तुस्वरूप है। हरेक वस्तु अपनी सत्ता को छोड़कर पररूप नहीं हो सकती। अपने गुणों से अभिन्न अपने गुणपर्याय में व्याप्त और आदि अन्त से रहित चैतन्यमात्र ऐसा आत्मा का स्वभाव है जो शुद्ध नय का विषय है।

अब आत्मानुभव की प्रेरणा करते हैं।—

नहिविदधतिबद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरितरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जिस शुद्ध आत्मा में (**अमी**) ये (**बद्धस्पृष्टभावादयः**) बद्धभाव-कर्मबन्धन से युक्त बन्धपर्याय तथा स्पृष्टभाव—कर्म परमाणुओं के स्पर्श से युक्त स्पर्शपर्याय आदि अनेक पर्यायें (**उपरि**) ऊपर २ (**स्फुटम्**) प्रकटरूप से (**तरन्तः**) तैरती-चलती हुई (**अपि**) भी (**एत्य प्रतिष्ठाम्**) प्रतिष्ठा को (**ति**) निश्चय से (**न**) नहीं (**विदधति**) पाती। (**जगत्**) हे संसारी प्राणियो (**अपगतमोहीभूय**) मोहनीय कर्म से रहित होकर अर्थात् मोहनीय कर्म का मूलोच्छेद करके अर्थात् पर से एकत्व बुद्धि छोड़ कर (**समन्तात्**) सब तरफ से (**द्योतमानम्**) प्रकाशमान (**तम्**) उस (**सम्यक्**) समीचीन-सत्य-यथार्थ (**स्वभावम्**) टकोत्कीर्ण चैतन्य ज्ञानघन स्वभाव को (**एव**) ही (**अनुभवतु**) अनुभव में लाओ।

सं० टीका—(**भो जगत्- भोजगन्निवासीलोक ?**) हे जगत् में रहने वाले मनुष्यो ? (**आधारे-आधेयस्योपचारः,**) यहां आधार में आधेय का उपचार-व्यवहार किया गया है अर्थात्—जगत को ही मनुष्य कह दिया गया जब कि जगत् खुद मनुष्य नहीं है किन्तु मनुष्य के रहने का ठिकाना है यही आधेय-मनुष्य का आधारभूत जगत में उपचार किया गया है। (**लोकोक्तिरपीदृशीऽस्ति**) लोकव्यवहार भी ऐसा ही है। जैसे—(**मालवो देशः समागतोऽत्र, इत्युक्ते तत्रत्याभूमिर्नागता किन्तु तत्रत्यो लोकः**) यहाँ मालव देश आया है ऐसा कहने पर मालव देश की जमीन नहीं आई किन्तु उसमें रहने वाला मनुष्य आया है। (**तथा**) तैसे (**जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः**) जगत् ऐसा कहने पर उसमें रहने वाला मनुष्य। (**अनभवतु—अनुभवगोचरीकरोतु,**) अनुभव करो या अनुभव का विषय बनाओ। (**कम्**) किसको (**तमेव-स्वभावम्**) उसी आत्मा के स्वभाव को (**शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात्, यथोक्तस्वभावम्**) जो शुद्ध निश्चय-नय से कहा गया है अतएव यथार्थ है। (**अथवा स्वभावं-स्वपदार्थं स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः**) आत्म पदार्थ को को जो शुद्ध चैतन्यमय है। (**सम्यक्-यथोक्ततया**) यथोक्तरूप से जिस रूप में कहा गया है उस रूप से (**किम्भूतम् ?**) कैसे (**समन्तात्-सामस्त्येन**) समस्त रूप से—सब प्रकार से। (**द्योतमानम्-लोकप्रकाशमानम्**) लोक में प्रकाशमान। (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**अपगत मोहीभूय-अपगतमोहोभूत्वा-विनष्टमोहोभूत्वेत्यर्थः**) मोहनीय कर्म से रहित होकर—मोहनीय कर्म का विनाश करके (**यत्र-आत्मनि**) आत्मा में (**अमी**) ये (**बद्धस्पृष्टभावादयः बद्धः—कर्म नोकर्मभ्यां संश्लेषरूपेणबन्धेनबद्धः, स्पृष्टः—विस्रसोपचयादिपरमाणुभिः अन्यैश्च संयोगमात्रतया स्पृष्टः, बद्धश्चस्पृष्टश्च-बद्ध स्पृष्टौ तौ च तौ भावौ तावेवादिर्येषामन्ययुतादीनाञ्च ते च ते भावास्यतो तथोक्ताः**) कर्म और नोकर्म के साथ संश्लेषरूप बन्ध से बद्ध और विस्रसोपचयादिरूप परमाणुओं से तथा अन्य परमाणुओं से संयोगमात्र होने के कारण स्पृष्ट ऐसे बद्धस्पृष्ट भाव तथा अन्य युत आदि भाव (**एत्य-आगत्य प्राप्येत्यर्थः**) प्राप्त करके (**प्रतिष्ठां-स्थितिं-माहात्म्यं वा**) अवस्थान या महत्व को (**नहिविदधति-नैवदधते**) नहीं करते (**स्फुटं व्यक्तं-यथाभवतितथा**) स्पष्ट-व्यक्तरूप से (**उपरि**) ऊपर

(सर्वतः तरन्तोऽपि-सर्वतः उत्कृष्टामवन्तोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि व्यवहारिभिः कथ्यमाना अपोस्यर्थः) सबसे उत्कृष्ट होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दिखाई देने वाले अर्थात् व्यवहारियों के द्वारा कहे जाने वाले। (उक्तञ्च) कहा भी है—

अस्पृष्टमबद्धमनन्य-मयुतमशेषमविभ्रमोपेतः ।

यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥

अर्थात्—(यः) जो (पुमान्) पुरुष (आत्मानम्) आत्मा को (अस्पृष्टम्) अस्पृष्ट—कर्म परमाणुओं से छुआ नहीं गया (अबद्धम्) कर्म और नोकर्मों से बंधा हुआ नहीं (अनन्यम्) अन्य वस्तु से शून्य (अयुतम्) अन्य पदार्थ से मिला हुआ नहीं (अशेषम्) अवशेष-परिपूर्ण (अविभ्रमोपेतः) विपर्यय ज्ञान से रहित (पश्यति) देखता है (सः) वह मनुष्य (खलु) निश्चय से (शुद्धनयनिष्ठः) शुद्धनय के स्वरूप में स्थित है।

भावार्थ—जो ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्व को अस्पृष्ट-कर्मों से अछूता, अबद्ध-कर्मों से नहीं बंधा हुआ, अनन्य—आत्मा से भिन्न किसी भी चेतन और अचेतन पदार्थ से रहित, अयुत—परपदार्थ के मेल से रहित, और अशेष-परिपूर्ण—इन पांच विशेषणों से विशिष्ट देखता है, जानता है और अनुभव में लाता है वही निश्चय से ज्ञानी पुरुष कहलाता है।

शरीरादि में एकत्व बुद्धि छोड़कर एक अकेले चैतन्य स्वभाव का अपने रूप से अनुभव करने की आचार्य प्रेरणा करते हैं। रागादि भाव होते हुए भी वे आत्मा के स्वभाव में प्रवेश नहीं कर सकते। जैसे किसी के घर में उसके अपने लोग भी रहते हैं और कुछ लोग बाहर के आये हुये भी ठहरे हुए हैं वहां दो विकल्प उठते हैं कि घर में कितने लोग हैं, उस समय सबकी गिनतो हो जाती है परन्तु जब यह कहा जाता है कि इस घर में घर के लोग कितने हैं तब जो बाहर वाले हैं उनको बाद देकर मात्र घर वालों को ले लिया जाता है। जब हम बाहर वालों को घर वालों की गिनती में नहीं लेते और कहते हैं ये हमारे घर के नहीं हैं तब उनका महत्व खत्म हो जाता है। इसी प्रकार यह देखना है कि घर में कितने हैं और घर के कितने हैं। यहां पर आचार्य घर के कितने हैं इसको बताना चाहते हैं। यही दृष्टि यदि आत्मतत्व पर डाली जाती है तो घर के तो मात्र ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही है बाकी रागादि शरीरादि सब बाहर से आये हुए हैं वे घर के नहीं हो सकते हैं। इसलिए बाहर वालों को बाद देकर जो घर के बचे ज्ञान-दर्शन उनको अभेद करके एक अकेली आत्मा का अवलोकन करना है जो सदा प्रकाशमान है।

अब बन्ध के विच्छेद पूर्वक आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है यह बताते हैं--

भूतं भान्तमभूतमेवरभसान्निर्भिद्यबन्धं सुधी-

र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्तेध्रुवं,

नित्यं कर्मकलङ्कपङ्क विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

अन्वयार्थ— (**यः**) जो (**कः**) कोई (**अपि**) भी (**सुधीः**) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि (**भूतम्**) हो चुके (**भान्तम्**) हो रहे और (**अभूतम्**) आगे होने वाले (**बन्धम्**) बन्ध को (**रभसा**) शीघ्र ही, (**निर्भिद्य**) आत्मा से पृथक् कर देता है वह (**हठात्**) बल पूर्वक-अपने पुरुषार्थ से (**मोहम्**) मोहनीय कर्म को (**व्याहत्य**) नाश करके (**किल**) आगमानुसार (**यदि**) यदि (**अन्तः**) आत्मा को आत्मा में (**अहो**) निश्चय से (**कलयति**) मिला देता है (**तर्हि**) तो (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**आत्मानुभवैक गम्य-महिमा**) अपने अनुभव के द्वारा ही अपनी महिमा को जानता है कि एक (**व्यक्तः**) सर्व से पृथक् (**नित्यम्**) हमेशा (**कर्मकलङ्कपङ्कविकलः**) कर्ममलरूप कर्दम से रहित (**स्वयम्**) खुद-ब-खुद (**ध्रुवम्**) निश्चय से (**शाश्वतः**) अविनाशी (**देवः**) देव (**आस्ते**) विराजमान है।

सं० टीका—(**किल-इति-आगमोक्तौ**) किल यह आगम का वाचक अव्यय है (**अहो इति आश्चर्ये**) अहो यह आश्चर्य का वाचक अव्यय है (**यदि**) यदि-अगर (**कोऽपि**) कोई भी (**सुधीः धीमान्**) बुद्धिमान्-आत्मज्ञानी (**अन्तः-अभ्यन्तरे-शुद्धचिद्रूपम्**) अन्तरङ्ग में शुद्धचिद्रूप को (**कलयति-अनुभवति-अवलोकयति-साक्षात्करोतीत्यर्थः**) अनुभव करता है अवलोकन करता है अर्थात् प्रत्यक्ष करता है (**व्याहत्य-निश्शेषमुन्मूल्य**) पूर्णरूप से उन्मूलन—विनाश करके (**कम् ?**) किसका (**मोहं—अष्टाविंशति प्रकृतिभेद-भिन्नं मोहनीयं कर्म**) अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म का (**कथम् ?**) कैसे (**हठात्—बलात्कारेण तपोध्यानादिभिः**) हठ से—अनशन आदि बाह्य तपों तथा प्रायश्चित्त आदि ध्यानान्त अन्तरङ्ग तपों के बल से (**पुनः किंकृत्य**) फिर क्या करके (**निर्भिद्य—निश्शेषं भेदयित्वा**) पूर्णरूप से भेदन करके (**कम्**) किसका (**बन्धम्—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणं चतुर्धाकर्मबन्धम्**) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश लक्षण वाले चार प्रकार के कर्म बन्ध का (**कथम्**) कैसे (**रभसा शीघ्रं-शुक्लध्यानावाप्त्यनन्तरम्-अन्तर्मुहूर्ततः**) शीघ्र ही शुक्लध्यान की प्राप्ति के अन्तर्मुहूर्तवाद (**कीदृशं बन्धम्**) कैसे बन्ध का (**भूतं-पूर्वं-संसारावस्थायां समयप्रबद्धस्वरूपेणबद्धं निर्जरावशान्निर्जीर्य**) भूत—पहले संसार अवस्था में समय प्रबद्ध के रूप से बांधे गये कर्मों को निर्जरा के वश से निर्जीर्ण करके, झड़ा करके (**भान्तम् वर्तमानम्—योगादिभिरागमकर्मसमयप्रबद्धं, अन्तः संवर वशान्निरुद्ध्य**) वर्तमान में योग आदि के जरिये आने वाले समयप्रबद्ध के प्रमाण कर्मों को अन्तरङ्ग में संवर के वश से रोक करके (**अभूतं-अनागतं-अपेक्ष्यमानं निरुद्ध्य**) आगे बंधने वाले कर्मों को रोक करके (**तत्कारणयोगकषायाणामभावात्**) आने वाले कर्मों के कारणभूत योग और कषायों के अभाव से (**कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादितिन्यायात्**) कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है ऐसा न्याय होने के कारण (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तदिति-अध्याहार्यम्**) तत् शब्द का समावेश कर लेना चाहिए।

(**अयं-प्रत्यक्षीभूतः**) यह प्रत्यक्ष में आ रहा (**आत्मा-शुद्धचिद्रूपः**) आत्मा शुद्ध चैतन्यमय जीव (**व्यक्तः-साक्षात्-अनन्तचतुष्टयापन्नः**) व्यक्त साक्षात् अनन्तचतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तशक्ति को प्राप्त हुआ (**ध्रुवम्-निश्चितम्**) अटल निश्चित (**आस्ते-तिष्ठति**) है (**कीदृशः ?**)

कैसा (**आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा-आत्मनश्चित्स्वरूपस्य, अनुभवः तेन एकः अद्वितीयः-गम्यः-ज्ञेयः महिमा माहात्म्यं यस्य सः**) चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव से जानने योग्य असाधारण महिमा वाला। (**नित्यं-सर्वत्र-परमावस्थायाम्**) हमेशा—परमात्मदशा में (**कर्मकलंकपंक विकलः कर्म एव कलंकपंकः संसारस्य कालंक्य हेतुत्वात् तेन विकलः रहितः**) कर्मरूप कलङ्कपङ्क ही संसाररूप कलङ्क का कारण है अतएव उससे रहित (**पुनः किम्भूतः ?**) फिर कैसा ? (**देवः दीव्यति-क्रीड़ति-एकलोलीभावमनुगच्छति-परमात्मपदे—द्योतते वा देवः**) देव · जो आत्मस्वरूप में ही क्रीड़ा करता है अर्थात् तन्मयता को प्राप्त होता है अथवा जो परमात्मपद में प्रकाशमान है। (**स्वयं कर्माद्यनपेक्षत्वेन शाश्वतः नित्यः**) जो स्वभावतः कर्मादि की अपेक्षा न रखने से शाश्वत-नित्य है।

भावार्थ— वस्तुतत्त्व दो दृष्टियों से देखा जाता है। पहली निश्चयदृष्टि और दूसरी व्यवहारदृष्टि। निश्चयदृष्टि से वस्तु का जो खासरूप होता है वही देखा जाता है उसमें अन्य का लगाव नहीं रहता। प्रकृत में उसी दृष्टि को मुख्य रखकर आत्मनिरीक्षण किया गया है जिसमें यह बताया गया है कि आत्मा कर्म की तमाम उपाधियों से रहित नित्य अविनाशी चैतन्य का अखण्डपिण्ड है। अपने द्वारा ही अनुभव में आने वाला साक्षात देव है। मात्र चैतन्य के सिवाय इसमें अन्य किसी भी चेतन या अचेतन का सम्बन्ध नहीं है। यह अन्तर्मुखी दृष्टि ही निश्चयदृष्टि है इसी का दूसरा नाम शुद्धदृष्टि या द्रव्यदृष्टि है। व्यवहार दृष्टि इससे भिन्न है, बहिर्मुखी है, पराश्रित है। वह वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं देखती। ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि से आत्मदर्शन सम्भव नहीं है यह जानकर बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि वह बहिर्मुखी दृष्टि को छोड़कर अन्तर्मुखी दृष्टि को अपनावे जिससे वह आत्मदर्शन करने में समर्थ हो सके।

अब आत्मानुभूति का समर्थन करते हैं—

आत्मानुभूतिरितिशुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प मेकोऽस्तु नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**या**) जो (**शुद्धनयात्मिका**) शुद्धनयस्वरूप (**आत्मानुभूतिः**) आत्मा का अनुभव (**अस्ति**) है (**इयम्**) यह (**एव**) ही (**ज्ञानानुभूतिः**) ज्ञान का अनुभव है (**इति**) ऐसा (**किल**) निश्चय से (**बुद्ध्वा**) जानकर (**आत्मानम्**) आत्मा-अपने को (**आत्मनि-**) आत्मा-अपने में (**सुनिः-प्रकम्पम्**) पूर्ण निश्चलता के साथ (**निवेश्य**) स्थापित-लगा करके (**नित्यम्**) सदा-हमेशा (**समन्तात्**) सब तरफ से (**अवबोधघनः**) ज्ञानघनस्वरूप (**एकः**) अद्वितीय (**आत्मा**) आत्मा (**अस्ति**) है (**एवम्**) ऐसा (**दृश्येत**) देखना चाहिए।

सं० टी०—(**किल-इति-निश्चितम्**) किल यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। (**इति-पूर्वोक्त-प्रकारेण**) पूर्व में कहे अनुसार (**शुद्धनयात्मिका-शुद्धनय एव आत्मा-स्वरूपं यस्याः सा**) शुद्धनय ही जिसका स्वरूप है ऐसी (**या**) जो (**आत्मानुभूतिः-आत्मनः चैतन्यस्य, अनुभूतिः-अनुभवः-उपलब्धिर्वा**) शुद्ध आत्मा के

स्वरूप की उपलब्धि (**पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थः**) अर्थात् आत्मा के असली स्वरूप की प्राप्ति (**अस्ति-वर्तते**) है (**इयमेव-आत्मानुभूतिरेव**) यह आत्मा की अनुभूति ही (**ज्ञानानुभूतिः ज्ञानस्य-सम्यगवबोधस्य, अनुभूतिः अनुभवः-उपलब्धिर्वा**) सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि-प्राप्ति (**अस्ति**) है (**इति-इत्थम्**) ऐसा (**बुद्ध्वा-मत्वा**) जानकर या मानकर (**एकः-अद्वितीयः**) अद्वितीय (**समन्तात्-सामस्त्येन**) पूर्णरूप से—सब ओर से (**किम्भूतः**) कैसा (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर-सदा-हमेशा (**अवबोधघनः-केवलज्ञान पिण्डः**) मात्र ज्ञान का समूहरूप (**किं कृत्वैकोऽस्ति**) क्या करके-एक है ? (**निवेश्य-आरोप्य**) आरोपण स्थापन-करके (**सुनिष्प्रकम्पम्-अविचलं यथाभवति तथा**) अविचल-स्थिर जैसे बने वैसे (**आत्मनि-स्वस्वरूपे**) अपने स्वरूप में (**आत्मानम्-स्वस्वभावम्**) अपने स्वभाव को देखो।

भावार्थ—जैसे शरीरादि परद्रव्यों से पृथक् आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत आत्मा के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं यह तो मात्र सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की परिभाषाएं हैं जो अपने-अपने विषय का संक्षिप्त परिचय उपस्थित करती हैं। यहां अध्यात्मदृष्टि को मुख्य मानकर सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का विचार किया गया है जिसकी खास विशेषता यह है कि जब सम्यग्दर्शन सर्वात्म व्यापक है तब सम्यग्ज्ञान भी वैसा ही आत्मा के सर्वप्रदेशों में व्यापकरूप से रहता है वही सम्यग्ज्ञान ही आत्मा है और ऐसी आत्मा की अनुभूति ही ज्ञानानुभूति है जो सम्यग्ज्ञान के लक्षण से लक्षित है यही सम्यग्ज्ञान अध्यात्म ज्ञानियों का सम्यग्ज्ञान है। इसमें और केवलज्ञान में मात्र पूर्णता तथा अपूर्णता का ही अन्तर है अन्य कुछ नहीं।

अब परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति हमारे हो—यह प्रकट करते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छ्वलनिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**अखण्डितम्**) खण्ड रहित ज्ञेयों के द्वारा जिसका खण्ड नहीं किया जा सकता हो (**अनाकुलम्**) आकुलता रहित (**अनन्तम्**) अनन्त-विनाश-रहित (**अन्तर्बहिः**) अन्तरङ्ग और बाहिर में (**ज्वलत्**) प्रकाशमान (**सहजम्**) स्वाभाविक स्वभाव से उत्पन्न (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**उद्विलासम्**) उदीयमान सुखवाला (**चिदुच्छ्वलन् निर्भरम्**) चैतन्य के परिणमन से भरपूर (**सकलकालम्**) भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में (**उल्लसल्लवण खिल्य लीलायितम्**) शोभमान नमक की डली की लीला के समान विस्तृत या व्याप्त (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**महः**) तेज (**एकरसम्**) शुद्ध परमात्मरूप रस का (**आलम्बते**) आलम्बन करता है (**तत्**) वह—उत्कृष्ट परमात्म तेज (**नः**) हमें (**सदा**) सदा (**अस्तु**) प्राप्त हो।

सं० टी०—(**अस्तु-भवतु**) हो (**किं तत् ?**) वह क्या ? (**परमं महः जगदुत्कृष्टज्योतिः जगत्प्रकाशकत्वात्**) जगत में वह उत्कृष्ट तेज जो जगत् को प्रकाशित करने में कारण है (**केषाम् ?**) किनके (**नः-अस्माकम्**) हमारे (**किं भूतम् ?**) कैसा ? (**अखण्डितम्-न खण्डितं-अध्वस्तम्-केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादि-**

मिस्ततत्स्वरूपस्य खण्डयितुमशक्यत्वात्) खण्डित नहीं किया गया अर्थात् किसी भी प्रमाण से किन्हीं विवादियों के द्वारा जिसका स्वरूप खण्डित नहीं किया जा सकता। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया सूक्ष्म वस्तु का स्वरूप हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं हो सकता ऐसा आगम का वचन है। (**अनाकुलं न केनापि-व्यकुलीकृतं तत्स्वरूपस्यकेनापि पुद्गलादि संयोगेनास्पृष्टत्वात् जलेनबिशनीपत्रवत्**) आकुलता रहित अर्थात् तथाकथित तेज का स्वरूप किसी के भी जरिए पीड़ित नहीं हुआ है साथ ही किसी पुद्गल आदि संयोग से छुआ भी नहीं है जल से कमलिनी के पत्र के समान अर्थात् जैसे जल में रहने वाला कमलिनी का पत्र स्वभाव से जल से स्पर्श नहीं होता वैसे ही आत्मिक तेज पुद्गलादि के संयोग से संयुक्त नहीं होता। (**भूयः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा ? (**अनन्तं-न विद्यते, अन्तो विनाशो यस्यतत्, तद्गुणाविर्भविन, विनाश-रहितत्वात्**) अनन्त-विनाश रहित क्योंकि वह तेज जो अपने आवरणभूतकर्म के हटने पर प्रकट हुआ है उसका विनाश नहीं होता। (**अन्तः-अभ्यन्तरे**) भीतर (**बाह्ये**) बाहिर (**ज्वलत्-देदीप्यमानम् बहिरन्तः स्वरूप प्रकाशकत्वात्**) देदीप्यमान-प्रकाशमान अर्थात् यह तेज अन्दर और बाहिर के अपने असली रूप का प्रकाश करता है। (**सहजं-स्वाभाविकं-केनापीश्वराविनाऽकृत्रिमत्वात्**) स्वाभाविक अर्थात् किसी ईश्वर आदि के द्वारा किया हुआ नहीं है। (**सदा-निरन्तरम्**) हमेशा (**उद्विलासम्-उत्-ऊर्ध्वं तनुवातवलये विलासः-सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्यतत्**) ऊपर तनुवातवलय में सुखानुभव करने वाला अथवा जिसके सुख का अनुभव हो रहा है (**तत्**) वह (**चिदुच्छ्वलन् निर्भरं-चितः चैतन्यस्य-उच्छ्वलनं तेन निर्भरं-प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात्**) चित् चैतन्य के परिणमनों से व्याप्त क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वभाव बढ़ रहा है (**यत्-परंज्योतिः**) जो उत्कृष्ट परमात्मतेज (**सकलकालम्-पूर्वापरवर्तमानकालम्**) भूत भविष्यत् और वर्तमान में (**एकरसम् शुद्धपरमात्मरसम्**) शुद्ध परमात्मरस का (**आलम्बते-अवलम्बयति**) आलम्बन करता है—स्वाद लेता है (**किंतत्**) किसके समान (**लवण रसवत्**) लवण रस के समान (**यथैव हि व्यञ्जन लुब्धानामबुद्धानां लोकानां विचित्र व्यञ्जन संयोगोपजातस्य सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्या-मनुभूयमानं लवणं स्वदते, न पुनरन्य संयोग शून्यतोपजात सामान्य विशेषाविभार्वतिरोभावाभ्याम्,**) जैसे व्यञ्जन के लोभी अज्ञानी मनुष्य नाना प्रकार के व्यञ्जनों के संयोग से उत्पन्न सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ अनुभव में आने वाले लवण रस का स्वाद लेते हैं किन्तु अन्य पदार्थ के संयोग के अभाव से उत्पन्न सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ नहीं। (**तथैव ज्ञेय लुब्धानामबुद्धानां विचित्र प्रमेयाकार करंबितसामान्य-विशेषातिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूपमानं ज्ञानंस्वदते न पुनस्तद्रव्यसंयोगशून्यतोपजात सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां ज्ञानिनां-केवल लवणरसिकानां तु तदेकं स्वदते**) वैसे ही ज्ञेय के लोभी अज्ञानी विचित्र प्रमेयों के आकार से युक्त सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ अनुभव में आने वाले ज्ञानका स्वाद लेते हैं किन्तु अन्य के संयोग के अभाव से उत्पन्न हुए सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ नहीं। (**भूयः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा (**इतिपदं सर्वत्र विशेषणे योज्यम्,**) यह पद सभी विशेषणों के साथ लगाना चाहिए। (**उल्लसदित्यादि**--

उल्लसन्-उल्लासं गच्छन्, सचासौ लवणखिल्यश्च लवण खण्डं तस्य लीला, तद्वदायतं-विस्तृतम् ।) उल्लास को प्राप्त होने वाले लवण के खण्ड-टुकड़े को लीला के समान विस्तृत । (**यथा-अलुब्धबुद्धानां केवलः सैन्धवखिल्यः परद्रव्य सम्पर्कराहित्येनैवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येक लवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथा-त्मापि सकलपरद्रव्य वैकल्येन केवल एव कल्पमानः सर्वतोऽप्य द्वितीय विज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते ।**) जैसे निर्लोभी ज्ञानी मनुष्य सिर्फ नमक के टुकड़े को परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित हो अनुभव करता है क्योंकि वह सब तरफ से मात्र लवण रस होने से लवणरूप से ही स्वाद में आता है वैसे ही आत्मा भी सभी परद्रव्यों के अभाव से मात्र आत्मा रूप में ही अनुभव में आता है क्योंकि वह सब तरफ से अद्वितीय-असाधारण विज्ञानघन होने से विज्ञान रूप से ही अनुभव में आता है ।

भावार्थ--टीकाकार ने 'उल्लसल्लवण खिल्यलीलायितम्' विशेषण को जिस विस्तार के साथ खुलासा किया है वह वस्तुतः प्रकृत विषय को दर्पण की तरह स्पष्ट झलका देता है। उन्होंने अज्ञानी और ज्ञानी की नैसर्गिक प्रवृत्ति को ही प्रकट करने में लवण की डली को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि अज्ञानी स्वाद का लोभी नाना व्यञ्जनों के संयोग से बनने वाले स्वाद को जो विविध व्यञ्जनों के संयोग से उत्पन्न हुआ है उन विविध व्यञ्जनों के स्वाद की तरफ दृष्टि न रखते हुए मात्र नमक का ही स्वाद मान बैठता है पर यथार्थतः वह मात्र नमक का न होकर नाना व्यञ्जनों का मिश्रित रूप है जो अज्ञानी की दृष्टि में आता ही नहीं है। परन्तु ज्ञानी तो यह जानने में कोई कोर-कसर नहीं रखता है कि यह स्वाद तो अमुक व्यञ्जन का है और यह स्वाद मात्र नमक का है। वैसे ही अज्ञानी ज्ञेयों का लोभी नाना ज्ञेयों के आकार से युक्त ज्ञान को नाना ज्ञेयों के आकारों से सहित न मानकर मात्र ज्ञान का रूप ही मानता है जो वस्तुस्थिति के सर्वथा प्रतिकूल है। लेकिन ज्ञानी उन-उन ज्ञेयों के आकारों को जो ज्ञान के अन्दर प्रतिविम्बित हैं उन्हें उन ज्ञेयों के ही मानता है ज्ञान के नहीं किन्तु उनके रहते हुए भी जो ज्ञान का आकार या स्वाद है वह उसे ज्ञानरूप से ही स्वीकार करता है इसका मात्र कारण स्वपर भेद विज्ञान ही है जो यथार्थ वस्तु स्वरूप को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

अब उसी परमात्म ज्योति स्वरूप की उपासना की प्रेरणा करते हैं--

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधक भावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**सिद्धिम्**) सिद्धि-आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप को (**अभीप्सुभिः**) प्राप्त करने की इच्छा करने वाले (**नित्यम्**) सदा-हमेशा (**ज्ञानघनः**) ज्ञान से लबालब भरे हुए (**एषः**) इस (**एकः**) एक अभिन्न (**आत्मा**) आत्मा की (**साध्य साधकभावेन**) साध्य साधकरूप से (**द्विधा**) दो प्रकार से (**समुपास्यताम्**) अच्छी तरह से उपासना करें।

सं० टी०—(**एष आत्मा-चिद्रूपः**) इस चैतन्य स्वरूप आत्मा की (**नित्यं-सदा**) हमेशा (**समुपास्यतां-सेव्यतां-ध्यायतामित्यर्थः**) उपासना की जाय (**कैः ?**) किनके द्वारा (**सिद्धि-स्वात्मोपलब्धिम्**) अपने स्वरूप

की प्राप्ति को (**सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरितिवचनात्**) क्योंकि स्वात्मोपलब्धि का नाम ही सिद्धि है ऐसा आगम का वचन है (**अभीप्सुभिः-प्राप्तुमिच्छुभिः**) प्राप्त करने की इच्छा करने वालों द्वारा (**किम्भूतः ?**) कैसा आत्मा (**ज्ञानघनः बोधपिण्डः**) ज्ञान का पुञ्ज (**एकः-योऽद्वितीयः**) जो अद्वितीय है (**साध्यसाधक-भावेन—साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन-स्वभावेन, स एवात्माध्येयरूपतयासाध्यः, स एव ध्यायकरूप-तयासाधकः।**) साध्य और साधक रूप से अर्थात् वही आत्मा ध्येय रूप स साध्य है और ध्यायक रूप से साधक भी है (**न त्वन्यः साध्यः, न त्वन्यश्चसाधकः, तेन स्वरूपेण**) आत्मा से भिन्न जुदा कोई साध्य नहीं है और न आत्मा से अलहदा कोई साधक ही है, उस साध्य साधक स्वरूप से (**द्विधा-द्विप्रकारः**) दो प्रकार का।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा एक अखण्ड चैतन्य का पिण्ड है तथापि व्यवहारियों के द्वारा वह प्रयोजन के वश व्यवहारनय की प्रधानता से यदा कदा भेदरूप से भी व्यवहृत होता है जो न्यायसङ्गत है। प्रकृत में सिद्धि-आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप की उपलब्धि की हार्दिक भावना रखने वाले मुमुक्षु जनों को यह प्रेरणा की गई है कि वे एक-अद्वितीय अभिन्न आत्मा में भी साध्य और साधक ये दो भेद करके प्रथम भेद को तो लक्ष्य मान लें और द्वितीय भेद को लक्षक मानकर स्वयं ही अपने प्रबल पुरुषार्थ से लक्ष्य में जा पहुंचे अर्थात् सिद्ध पद को प्राप्तकर स्वयमेव अभिन्न द्रव्यमय हो जायें।

अब आत्मा तीन भेद रूप भी है और एक भी है यह बताते हैं—

दर्शनज्ञान चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**समम्**) युगपत्-एक ही समय में एक साथ (**प्रमाणतः**) प्रमाण दृष्टि से (**दर्शनज्ञानचारित्रैः**) दर्शन-सम्यग्दर्शन, ज्ञान-सम्यग्ज्ञान और चारित्र-सम्यक्चारित्र रूप से (**त्रित्वात्**) तीन प्रकार का होने के कारण (**मेचकः**) अनेक भेद रूप है (**च**) और (**स्वयम्**) स्वतः (**एकत्वतः**) एक रूप होने के कारण (**अमेचकः**) अभेद रूप एक है।

सं० टी०—(**आत्मा-परमात्मा**) परमात्मा (**समं-युगपत्**) एक ही काल में एक साथ (**मेचकः-विचित्र स्वभावः**) विचित्र स्वभाव वाला (**कुतः**) कैसे (**दर्शनज्ञानचारित्रैः**) दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपभेद (**कृत्वा**) करके (**त्रित्वात्-त्रिस्वभावत्वात्**) तीन स्वभाव वाला होने से (**अपिच**) और (**अमेचकः-विचित्र स्वभाव रहितः**) विचित्र स्वभाव रहित (**कुतः**) कैसे (**स्वयं-स्वतः**) खुद व खुद (**एकत्वतः-एकस्वभाव-त्वात्**) एक स्वभाव होने से (**ननु यः-एक स्वभावः सोऽनेकः कथं स्यात्-एकानेकयोः परस्परं विरोधात्**) यहाँ शंका हो सकती है कि जो एक स्वभाव वाला है वही अनेक स्वभाव वाला कैसे हो सकता है क्योंकि एक और अनेक ये दोनों ही आपस में विरोध रखते हैं। (**इतिचेत्**) यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर देते हैं कि (**न**) उक्त विरोध नहीं आ सकता (**कुतः**) कैसे ? (**प्रमाणतः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणतः, एकानेक स्वभावत्व साधनात्**) प्रमाण-प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे एक और अनेक स्वभाव की सिद्धि होने से (**तानि पुनः त्रीण्यपि**

परमार्थेन, आत्मैक एव, वस्त्वन्तराभावात्) वे तीनों परमार्थ दृष्टि से एक आत्मारूप ही हैं क्योंकि वे तीनों आत्मा से भिन्न वस्तु रूप नहीं हैं। (**देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरणं, तत्स्वभावानतिक्रमात् तत्स्वभाव एव न वस्त्वन्तरम्**) जैसे देवदत्त का श्रद्धान ज्ञान और आचरण देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन करके नहीं रहते किन्तु देवदत्त के स्वभाव रूप ही हैं दूसरी वस्तु रूप नहीं (**तथात्मन्यपि तत्त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात्, आत्मा एव न वस्त्वन्तरं, मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वम्।**) वैसे ही वे तीनों भी आत्मा में ही रहते हैं क्योंकि वे तीनों आत्मा के स्वभाव को नहीं लाँघते अतएव आत्मा ही हैं कोई दूसरी वस्तु रूप नहीं है। अथवा मेचक चित्र ज्ञान की तरह वह एक और अनेक रूप भी है।

भावार्थ—टीकाकार ने देवदत्त के दर्शन, ज्ञान, चारित्र का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध कर दिखा है कि जैसे देवदत्त और देवदत्त के दर्शन ज्ञान तथा चारित्र देवदत्त से भिन्न मनुष्य के नहीं है किन्तु देवदत्त ही हैं क्योंकि वे देवदत्त के स्वभाव हैं वैसे ही आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा के ही हैं आत्मा से भिन्न किसी भी अन्य पदार्थ के नहीं हैं। दूसरा दृष्टान्त चित्र का दिया है जैसे एक ही चित्र में हरा, पीला, नीला आदि अनेक रंग अलग-अलग दिखाई देते हैं जो रंगों की दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न हैं ही पर वे ही रंग चित्र की दृष्टि से भिन्न नहीं हैं किन्तु एक ही हैं वैसे ही एक ही आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्र तीन होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से आत्मारूप ही हैं आत्मा से भिन्न वस्तु रूप नहीं हैं। यहां स्वभाव और स्वभाववान में भेद तथा अभेद की विवक्षा करके ही वस्तु के स्वरूप को प्रस्तुत किया है जो प्रमाण दृष्टि से प्रामाणिकता को लिये हुये है अतएव यथार्थ है अयथार्थ नही। तात्पर्य यह है कि– दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दृष्टि से आत्मा-मेचक—अनेक रूप है पर वही आत्मा—दर्शन ज्ञान चारित्रमय होने से स्वयं ही एक रूप है।

अब आत्मा की मेचकता तथा अमेचकता को दो पद्यों द्वारा प्रकट करते हैं—

दर्शनज्ञान चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेणमेचकः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**निश्चयेन**) निश्चयनय की दृष्टि से (**एकः**) एक-अद्वितीय (**अस्ति**) है (**अपि**) किन्तु (**सः**) वह आत्मा (**व्यवहारेण**) व्यवहारनय की दृष्टि से (**दर्शनज्ञानचारित्रैः**) दर्शन ज्ञान चारित्र (**त्रिभिः**) इन तीन रूप (**परिणतत्वतः**) परिणत होने से-परिणमन करने के कारण (**त्रिस्वभावत्वात्**) तीन स्वभाव वाला है अतएव (**मेचकः**) नाना स्वभाव वाला (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**आत्मा**) आत्मा (**एकोऽपि-चैतन्यस्वभावेनाद्वितीयः**) चैतन्य स्वभाव से अद्वितीय होते हुए भी (**व्यवहारेण-व्यवहारदशायाम्**) व्यवहारनय की दृष्टि में (**मेचकः-नानास्वभावः**) नाना स्वभाव वाला (**त्रिस्वभावत्वात्-त्रयः-दर्शनादिलक्षणः, स्वभावायस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्**) दर्शन आदि विभिन्न लक्षण वाले तीन स्वभावों को धारण करने के कारण (**त्रिस्वभावत्वात्**) तीन स्वभाव वाला (**किं कृत्वा?**) है क्या करके (**त्रिभिः-त्रिसङ्ख्याकैः, दर्शन ज्ञान चारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः**) आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान तथा आत्म आचरण से।

भावार्थ—आत्मा चैतन्य का अखण्ड पिण्ड है पर व्यवहारी जनों को जब उसका स्वरूप समझाया जाता है तब व्यवहारनय का सहारा लेना ही पड़ता है बिना उसके सहारे के आत्म स्वरूप का समझाना सम्भव नहीं है अतः व्यवहारनय जब प्रवृत्त होता है तब अखण्ड वस्तु को खण्ड-खण्ड करके ही उपस्थित करता है इस दृष्टि से अमेचक-अद्वितीय-अखण्ड-एक आत्मा भी मेचक-द्वितीय-खण्ड-अनेक रूप मालूम पड़ता है जो व्यवहार नय की अपेक्षा से वास्तविक होते हुए भी निश्चयनय की अपेक्षा से अवास्तविक ही है। जो कुछ भी हो लेकिन दोनों नय वस्तु स्वभाव में मात्र एकत्व और अनेकत्व की ही व्यवस्था करते हैं वस्त्वन्तर की नहीं अतः दोनों नय वस्तुव्यवस्थापक ही हैं उत्थापक नहीं इसलिए समीचीन ही है असमीचीन नहीं।

अब आत्मा की अमेचकता-एकता-की स्थापना करते हैं—

परमार्थेन तु व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**तु**) किन्तु (**परमार्थेन**) परमार्थ-निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा (**व्यक्तज्ञातृत्व-ज्योतिषा**) स्पष्ट ज्ञायक ज्योति-प्रकाशरूप होने से (**आत्मा**) आत्मा (**एककः**) एक ही है। (**सर्वभावान्तर-ध्वंसि स्वभावत्वात्**) और सभी अन्य पदार्थों के अभावरूप स्वभाव वाला होने से (**अमेचकः**) अखण्ड स्वभाव वाला ही (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**तु-पुनः**) किन्तु (**आत्मा**) आत्मा (**एककः—एक इति सञ्ज्ञायस्यसः संज्ञायां क प्रत्यय विधानात्**) एक ही संज्ञा वाला है यहां एक शब्द से संज्ञा अर्थ में क प्रत्यय होने से एकक रूप बना है जिसका अर्थ है एक (**अथवा एक एव, एककः**) अथवा एक का नाम ही एकक है अर्थात् दोनों एक ही अर्थ को कहते हैं। (**परमार्थेन-द्रव्यावेशतया**) द्रव्यार्थिक नय के आदेश से (**अमेचकः-अखण्डैकस्वभावः**) अखण्ड एक स्वभाव वाला है (**केन**) किससे (**व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिषा-व्यक्तं-स्पष्टं, तच्च तज्ज्ञातृत्वं-बोधकत्वं तदेव ज्योतिः महस्तेन कृत्वा**) स्पष्ट ज्ञायकता रूप उत्कृष्ट तेज से (**कुतः, ?**) किससे (**सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वात्-सर्वे च ते भावान्तराश्च अन्यपदार्था तान्-ध्वंसयति-विनाशयति ततो विविक्तोभवतीत्येवं शीलः स्वभावोयस्यसः तस्यभावस्तत्वं तस्मात्**) सभी पदार्थान्तरों-दूसरे पदार्थों को अपने से दूर करना या स्वयं ही उनसे दूर होना ही जिसका स्वभाव है ऐसा होने से

भावार्थ—भेद दृष्टि को गौण रखते हुए अभेद दृष्टि से जब आत्मा को देखा जाता है तब वह अमेचक-अखण्ड एक रूप ही दिखाई देता है उस समय उसमें अनेकता का भान नहीं होता।

अब रत्नत्रय से ही आत्मसिद्धि होती है यह बताते हैं—

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्नचान्यथा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(**आत्मनः**) आत्मा की (**मेचकामेचकत्वयोः**) एकत्व और अनेकत्व की (**चिन्तया**) चिन्ता से (**एव**) ही (**अलम्**) व्यर्थ है अर्थात् उक्त द्विविध-दुविधा से कुछ भला होने जाने वाला नही है (**साध्यसिद्धिः**) मोक्ष की प्राप्ति (**दर्शनज्ञान चारित्रैः**) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से (**एव**) ही (**स्यात्**) हो सकती है (**अन्यथा**) विना रत्नत्रय के (**न**) नहीं।

सं० टीका–(**आत्मनः-चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**मेचकामेचकत्वयोः-शुद्धत्वाशुद्धत्वोर्वा**) मेचकत्व और अमेचकत्व अथवा शुद्धत्व और अशुद्धत्व के (**चिन्तयैव-चिन्तनेनैव विचारणेनेत्यर्थः**) चिन्तन-विचारमात्र से (**अलं-पूर्णताम्-तद्विचारणेन न किमपीत्यर्थः**) कुछ भी होने वाला नहीं है (**तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः ?**) तो साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी (**दर्शनज्ञान चारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः-साध्यो मोक्षः-भव्यात्मनां मुक्तेरेवसाध्यत्वात् तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यम्**) आत्म-श्रद्धान आत्मज्ञान और आत्माचरण से ही मोक्षरूप साध्य की सिद्धि हो सकती है क्योंकि प्रत्येक भव्यात्मा का साध्यमोक्ष ही है और उसकी सिद्धि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता से ही होती है, ऐसा वाक्य का अध्याहार करने से अर्थ की सङ्गति ज्ञात होती है।

(**अन्यथा-तत् श्रद्धानादिमन्तरेण साध्यसिद्धिर्नच-नैव**) आत्मश्रद्धानादि के विना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती ? (**किंवत्**) किसके समान (**रसाङ्गवत्**–**यथा उपास्यमानो रसाङ्गस्तद्गुण श्रद्धान तत्सेवनानुचरण विधानतो रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकम्**) जैसे सेवन में आने वाला रसाङ्ग, रसाङ्ग के श्रद्धान ज्ञान और आचरण से ही रोग को नाश कर सकता है। श्रद्धान आदि के बिना नहीं। वैसे ही आत्मा के श्रद्धान आदि ही साध्य-मोक्ष-को सिद्ध कर सकते हैं। श्रद्धान आदि के विना नहीं।

भावार्थ–जो लोग मात्र आत्मा का चिंतवन व विचार ही करते रहते हैं कि मैं शुद्ध हूँ बुद्ध हूँ नित्य हूँ सबसे भिन्न हूँ अथवा मैं कर्मों से बद्ध हूँ रागादि रूप परिणमन कर रहा हूँ इत्यादि विचारों और बिकल्पों में लगे हुए हैं उनको आचार्य ने प्रेरणा की है कि इससे कार्य की सिद्धी नहीं होगी। वस्तु तत्व को समझने के समय उसकी दरकार थी परन्तु वस्तु का अनुभव कुछ और बात है। आत्मा के बारे में जानना और आत्मा को जानना दोनों में अन्तर है। आत्मा के बारे में जानकारी शास्त्रों से हो जायेगी परन्तु आत्मा का जानना आत्मा के द्वारा ही होगा। साध्यसिद्धि में आत्मा का जानना जरूरी है। अगर किसी ने पी-एच. डी. कर ली उसने आत्मा के बारे में बहुत कुछ जानकारी कर ली परन्तु अभी तक आत्मा को नहीं जाना। इसलिए पण्डित होना अलग बात है आत्मज्ञानी होना अलग बात है। मोक्ष की सिद्धि का सम्बन्ध आत्मज्ञान से है जिसको आत्मोपलब्धि कहते हैं। जैसे आम के बारे में जानना और आम को जानना अलग अलग है। आम के बारे में जानकारी ग्रन्थों से हो सकती है परन्तु आम का जानना तो स्वाद आने पर ही होगा।

अब आत्मा की त्रिविधता और एकता के साथ अभिन्नता होने से साध्य की सिद्धि हो सकती है यह करते हैं—

कथमपि समुपात्त त्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं—न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**कथम्**) किसी प्रकार से (**अपि**) भी (**समुपात्तत्रित्वम्**) त्रिविधता को प्राप्त हुए तो (**अपि**) भी (**एकतायाः**) एकत्व मे (**अपतितम्**) च्युत नहीं हुए (**उद्गच्छद्**) उदय को—प्राप्त होने वाले (**अच्छम्**) स्वच्छ-निर्मल (**अनन्तचैतन्यचिह्नम्**) अनन्त चैतन्य—अविनश्वर ज्ञान से परिचय में आने वाले (**इदम्**) इस (**आत्मज्योति**) आत्मा के तेज को (**वयम्**) हम (**सततम्**) निरन्तर हमेशा (**अनुभवामः**) अनुभव करते हैं (**यस्मात्**) कारण कि (**साध्यसिद्धिः**) मोक्ष की प्राप्ति (**अन्यथा**) अखण्ड स्वरूप आत्मानुभव के बिना (**नखलु-नखलु**) निश्चय से नहीं-नहीं (**स्यात्**) हो सकती ।

सं० टी०—(**अनुभवामः-अनुभवविषयीकुर्मः**) अनुभव करते हैं (**किंतत्**) किसका (**इदम्—संवेद्यमानं-सुखादिभिः**) सुख से अनुभव में आने वाले इस (**आत्मज्योतिः-परं-महः**) आत्मा के उत्कृष्ट तेज का (**कियन्तं-कालम्**) कब तक (**सततं-निरन्तरम्**) हमेशा (**किम्भूतं तत्**) कैसे आत्मा के (**कथमपि-केनचित्प्रकारेण-रत्नत्रयात्मकलक्षणेन**) किसी प्रकार से भी अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप लक्षण से (**समुपात्तत्रित्वमपि-सं-सम्यक्-उपात्तं गृहीतं-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपेणत्रित्वं-त्रयात्मकत्वं येन तत्**) जिसने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप से त्रिविधता को प्राप्त किया है (**ईदृक्षमपि**) ऐसे होते हुए भी (**एकतायाः चैतन्यैकस्वभावायाः सकाशात्**) चैतन्य स्वरूप एकता से (**अपतितम्-अभिन्नम्**) अभिन्न है (**आत्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात्**) क्योंकि आत्मा की त्रिविधता और एकता का पूर्व में समर्थन किया जा चुका है (**पुनः किम्भूतम्**) फिर कैसे (**उद्गच्छत्-ऊर्ध्वगमनस्वभावम्-उद्-ऊर्ध्वं-अग्रे अग्रे गच्छति-जानातीति, उद्गच्छत्—विशुद्धकर्म क्षयादनन्तरं, ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात्, विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्याच्च ।**) ऊपर लोक के अग्रभाग तक जाने वाले अर्थात् विशुद्ध-पुण्य कर्म के क्षय हो जाने के पश्चात्—ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एवं विशुद्धि की विशेषता से उत्तरोत्तर ज्ञान की प्रचुरता होने के कारण से भी लोक की शिखर पर जाने वाले (**पुनः किम्भूतम् ?**) फिर कैसे (**अच्छं-निर्मलं कर्मकर्दमरहितत्वात्**) कर्म कलङ्क से रहित हो जाने से निर्मल-पूर्ण स्वच्छ । (**अनन्तेत्यादि-अनन्तं-विनाशरहितं, चैतन्यं-चेतनस्वभावः, तदेव चिह्नं लक्ष्मयस्य, तत्**) अविनश्वर चेतना स्वभाव रूप चिह्न वाले । (**कुत एतत् अनुभवाम् ?**) क्यों या किस कारण से इसका अनुभव करें ? (**यस्मात्-यतः कारणात्**) जिस कारण से (**अन्यथा-आत्मानुभवमन्तरेण**) आत्मानुभव के बिना (**साध्यसिद्धिः-साध्यस्य चिद्रूप लक्षणस्य सिद्धिः प्राप्तिः**) साध्य चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि-परिपूर्ण निर्मलता की प्राप्ति । (**न खलु न खलु नखलु निश्चयेन नैवभवतीत्यर्थः**) निश्चय से नहीं हो सकती । (**वीप्सार्थोऽयमतिशयेन निषेधकः**) नखलु, नखलु—यह वीप्सार्थ-द्विरुक्त्यर्थ—अव्यय का समुदाय निषेध की अधिकता को सूचित करता है । (**अधिकवचनं च किंचिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्यः**) आचार्य अधिक वचन से किसी अभीष्ट अर्थ को सूचित करते हैं (**तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्यसिद्धिर्नान्यथा**) तथोप-

पत्ति-अन्वय तथा अन्यथानुपपत्ति-व्यतिरेक से आत्मा के साध्य की सिद्धि हो सकती है अन्यथा-प्रकारान्तर से नहीं। अर्थात् आत्मानुभव के बिना आत्मा के साध्य की निष्पत्ति सम्भव नहीं है।

(आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिः) आत्मा के अनुभव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है इसी का नाम तथोपपत्ति है। (तदनुभवनमन्तरेण कदाचित् क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथा-नुपपत्तिः) आत्मा के अनुभव के बिना कभी कहीं पर किसी के भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इसी का नाम अन्यथानुपपत्ति है।

भावार्थ—आत्मा में अनन्त गुण है उनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुख्य हैं परन्तु उनको भी अगर अलग-अलग देखते हैं तो भेद हो जाता है विकल्प पैदा होते हैं इसलिए इन गुणों को भी अभेद करके मात्र चैतन्य रूप आत्मा का अनुभव करना है। यहां रागादि शरीरादि जो संयोगी है उनका तो सवाल ही पैदा नहीं होता है ज्ञान-दर्शन चारित्र के भेद को भी अभेद करके मात्र चैतन्यरूप अनुभव करने पर ही साध्य की सिद्धि होगी अन्यथा नहीं—जैसे कोई समुद्र के किनारे बैठकर समुद्र के गुणों का गान करता है और कोई दूसरा व्यक्ति उसमें कूद कर गोता लगाता है। गोता लगाने का आनन्द कुछ और ही है जिसको गोता लगाना नहीं आता है वह किनारे पर बैठ कर गोता लगाने वाले को ललायित नजर से देखता है पर गोता का आनन्द नहीं ले सकता। यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि जो पानी में उतरता है वही गोता लगाता है उसी के स्वरूपोपलब्धि होती है। मात्र गीत गाने से नहीं। जैसे चीनी में सफेदपना-भारीपना-मिट्ठापना आदि कितने ही गुण होते हैं परन्तु उसकी पहचान तो मात्र मिट्ठेपने से ही होती है उसी प्रकार आत्मा की पहचान तो चैतन्य चिह्न के द्वारा ही होगी जो अनादि अनन्त है।

अब आत्मानुभव की प्राप्ति की स्तुति करते हैं—

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

अन्वयार्थ—(ये) जो भव्य पुरुष (स्वतः) स्वयमेव (वा) अथवा (अन्यतः) पर से-परोपदेश से (कथम्) किसी प्रकार से (अपि) भी (भेदविज्ञानमूलाम्) भेद विज्ञानमूलक (अनुभूतिम्) आत्मानुभूति को (अचलितम्) निश्चलरूप से (लभन्ते) प्राप्त करते हैं (ते) वे भव्य जीव (एव) ही (प्रतिफलननिमग्ना-ऽनन्तभाव स्वभावैः) प्रतिबिम्बरूप से प्राप्त हुए अनन्त पदार्थों के अनन्त स्वभावों से (मुकुरवत्) दर्पण के समान (सन्ततम्) निरन्तर (अविकाराः) विकार रहित) (स्युः) होते हैं।

सं० टीका—(हीतिस्फुटम्) हि-यह स्फुट-स्पष्ट अर्थ का वाचक अव्यय है। (लभन्ते प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं। (ये-भव्याः) जो भव्य (काम् ?) किसे (अनुभूतिं-आत्मानुभवनं-आत्ममाहात्म्यं वा,) आत्मानुभव-या आत्मा के माहात्म्य को (कथम्) कैसे (अचलितम्-निश्चलं यथाभवति तथा) निश्चलरूप से जैसे हो वैसे ही, (कथं लभन्ते ?) कैसे प्राप्त करते हैं ? (कथमपि महता कष्टेन) महान कष्ट से

भवाब्धौ स्वरूप प्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात् ।) क्योंकि संसाररूप समुद्र में आत्मा के स्वरूप का प्राप्त होना बड़ा ही कठिन है। (**कुतः प्राप्तिः**) कैसे-आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि कैसे होती है ? (**स्वतो वा-स्वयमेव**) अपने आप, (**अभ्यन्तरात् कर्मलाघवत्व लक्षणात्कारणात्**) कर्म की शक्ति की हीनतारूप अन्तरङ्ग कारण से, (**जातिस्मरण-देवागम-दर्शन-विद्युद्घन परशरीरादिविघटन दर्शनाद्वा,**) तथा-पूर्व जन्म का स्मरण,-देवों का आगमन का दर्शन—बिजली का गिरना,—मेघों का विलयन तथा दूसरों के शरीर आदि का विनाश--इन सब के देखने से (**अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिन्तनं तत आत्मस्वरूपप्राप्तेः**) अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं के चिन्तन से भी आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है। (**णमो सयं बुद्धाणं, इत्यागमवचनात् ।**) 'णमोसयं बुद्धाणं' इस आगम वचन से (**वा-अथवा**) अथवा (**अन्यतः-गुरूपदेशादेः**) गुरु के उपदेश आदि से (**किम्भूतां-ताम् ?**) फिर वह कैसी ? (**भेदेत्यादिः-आत्मशरीरयोर्भेदः-भिन्नत्वम्-तस्य वि-विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धिः, तदेवमूलकारणं यस्याः सा ताम्**) आत्मा और शरीर की भिन्नता-जुदाई के विज्ञान की उपलब्धि जिसका मूल-मुख्य कारण है ऐसी आत्मनुभूति को (**त एव**) वे ही (**ये अनुभूतिभावुकास्ते एव भव्या**) जो अनुभूति को सेवन करने वाले हैं, वे ही भव्यजीव, (**स्युः-भवन्ति**) होते हैं (**नान्यः**) अन्य नहीं। (**कथम् ?**) कैसे (**सततं-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**अविकाराः-मानसभावादि विकृतिरूप विकार-रहिताः**) मानसिक विकारों--इष्टानिष्ट कल्पनाओं से रहित (**"विकारो मानसोभावः" इत्यमरः**) मन के विचार का नाम विकार है ऐसा अमरकोश में उपलब्ध है। (**कैः ?**) किनसे ? (**प्रतीत्यादिः-प्रतिफलनं-प्रतिबिम्बं, आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थः, तेन निमग्नाः-आत्मान्तर्गताः, प्रतिभासत्वधर्मेणात्मान्तर्गतत्वं न तु तदुत्पत्ति-तादात्म्य तदध्यवसायत्वेन, ते च ते भावाश्च तेषां स्वभावाः-जीर्णनूतनागुरुलघुत्वादि लक्षणास्तैः,**) आत्मा में प्रतिबिम्ब-प्रतिभास-रूप से प्राप्त, तदुत्पत्ति, तादात्म्य या तदध्यवसायरूप प्राप्त नहीं होने वाले पदार्थों के पुरातन नवीन गुरुत्व और लघुत्व आदि लक्षण स्वरूप स्वभाव से (**मुकुरवत्-यथामूर्तस्य मुकुरस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव बहिरूष्मणस्तत्र प्रतिभाता ज्वाला, औष्ण्यं च तथा नीरूपस्यात्मनः स्व-पराकारावच्छेदी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्मेन्द्रियादीनां च ॥२१॥**) दर्पण के समान—जैसे मूर्त-जड़-दर्पण की स्वपर-अपने और परपदार्थ के आकार को प्रकट करने वाली स्वच्छता-निर्मलता ही होती है। जिसके बाह्य तेज में ज्वाला और उष्णता दोनों ही स्पष्ट रूप से चमकती रहती हैं। वैसे ही अमूर्त-चैतन्य स्वरूप आत्मा की-स्वपर-अपने तथा परपदार्थों के आकार को निश्चित करने वाली ज्ञातृता-जानने की शक्ति ही होती है जो पुद्गलों को, कर्म, नोकर्म तथा इन्द्रिय आदि को भी जानती है।

भावार्थ—इस अगाध-अथाह संसाररूपी समुद्र में गोते लगाने वाले जीवों की अपनी आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति बड़ी ही दुर्लभ है यदि भाग्यवश किसी को उसकी प्राप्ति होती भी है तो वह या तो स्वतः-अपने ही बल बूते से या किसी अन्य सद्गुरु आदि के सदुपदेश से। स्वतः स्वरूपोपलब्धि में जिसका भेद विज्ञान मूल है स्व-आत्मा की मुख्यतया उपादान शक्ति ही कारण होती है। लेकिन परोपदेश में, मात्र परोपदेश से ही स्वरूपोपलब्धि नहीं हो सकती। उसमें भी उपादान शक्ति ही अन्तरङ्गतः कारण

होती है। यदि अन्तरङ्ग कारण प्रबल न हो तो बहिरङ्ग कारण के रहते हुए आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती। अतः यह निर्विवाद रूप से मानना पड़ेगा कि वस्तुतः आत्मस्वरूपोपलब्धि में उपादान कारण ही समर्थ कारण है। निमित्त नहीं। निमित्त तो मात्र सहयोगी होता है। उत्पादक नहीं।

अब मोह के त्याग की प्रेरणा करते हैं—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं—रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मा नात्मना साकमेकः—किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥२२॥

अन्वयार्थ— (**जगत्**) जगत-संसारी प्राणी (**इदानीम्**) अब तो (**आजन्मलीढम्**) अनादि काल से लगे हुए (**मोहम्**) मोह को-अपने को पररूप मानना तथा पर को निजरूप मानना रूप बुद्धि की विपरीतता को (**त्यजतु**) छोड़े। तथा (**रसिकानाम्**) आत्मरस का पान करने वाले ज्ञानियों को (**रोचनम्**) रुचने वाले (**उद्यत्**) उदय को प्राप्त होने वाले (**ज्ञानम्**) आत्मज्ञान को (**रसयतु**) चखे-पीवे। (**इह**) इस संसार में (**एकः**) अद्वितीय (**आत्मा**) चैतन्यमय पदार्थ (**किल**) निश्चय से (**क्वापि**) किसी भी (**काले**) समय में (**कथमपि**) किसी प्रकार से भी (**अनात्मना**) जड़-अचेतन-पुद्गल पदार्थ के (**साकम्**) साथ (**तादात्म्यवृत्तिम्**) तादात्म्य सम्बन्ध जड़ता-अचेतनता को (**न**) नहीं (**कलयति**) धारण करता है।

सं० टीका— (**इदानीम्-आत्मस्वरूप प्रकाशनध्यानकाले**) इस समय -अर्थात् आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ध्यान के अवसर पर (**जगत्-विष्टयम्**) जगत्—हे जगत् में रहने वाले प्राणी (**मोहम्-ममेदं, अहमस्य, आसीन्मम पूर्वमिदम्, अहमेतस्यासम्, भविष्यति पुनर्ममैतत्, एतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूपम्-मोहम्**) यह मेरा, मैं इसका, यह पूर्व में मेरा था, मैं इसका था, फिर भी यह मेरा होगा, मैं भी इसका हूंगा, इत्यादि रूप मोह को (**त्यजतु-जहातु**) त्यागो-छोड़ो (**किम्भूतम्? आजन्मलीढं-आसंसारात्-प्रवृत्तम्**) अनादि संसार से चला आया। (**ज्ञानं-भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**रसयतु-आस्वादयतु-ध्यानविषयीकरोत्वित्यर्थः।**) ध्यान का विषय करो अर्थात् ध्यान में लाओ। (**किम्भूतम्**) कैसे (**तत्**) ज्ञान-भेदविज्ञान को (**रसिकानां-शुद्धचिद्रूप रसास्वादकानाम्**) शुद्ध चैतन्यरूप रस को पान करने वालों को (**रोचनं-रुचिकरम्**) रुचिकर (**उद्यत-उदयं गच्छत्**) उदय को प्राप्त होता हुआ (**इह जगति**) जगत् में (**क्वापिकाले-कस्मिंश्चित्समये**) किसी भी समय में (**क्षयोपशम विशुद्ध्यादि लब्धिपञ्चक सामग्री सद्भाव समये**) अर्थात्—क्षयोपशम, विशुद्धि, प्रयोग्य, देशना और काल लब्धिरूप पांच लब्धि स्वरूप सामग्री के सद्भाव के समय में (**किल इति निश्चितम्**) किल यह निश्चयार्थक अव्यय है (**एकः, आत्मा-जीवा अनात्मना-परद्रव्येण-शरीरादिना, साकं सह,**) एक आत्मा-परद्रव्य शरीर आदि के साथ (**तादात्म्य वृत्तिम्-एकत्ववृत्तिम्**) जड़तारूप वृत्ति को (**न कलयति नाङ्गीकरोति**) स्वीकार नहीं करता (**तन्मयो न भवतीत्यर्थः**) शरीरादि जड़ पदार्थरूप दशा को धारण नहीं करता (**कथमपि केनचित् प्रकारेण अपि**) किसी प्रकार से भी॥२२॥

भावार्थ—यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि कोई भी द्रव्य अपने सत्तात्मक गुण का परित्याग नहीं

करता, और न एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य रूप भी होता है। इस सिद्धान्त सम्मत फलितार्थ से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा भी एक स्वतन्त्र सत्तात्मक द्रव्य है, जो अपने अस्तित्व के दायरे से त्रिकाल में भी वहिर्भूत नहीं हुआ है-- यानी अन्य द्रव्यरूपता को प्राप्त नहीं हुआ है। आचार्य महाराज प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि हे जीवात्मन तुम उपादान को विपरीत करने में कारणीभूत पर में एकत्वपने का परित्याग करो, ऐसा करने से तुम्हारा उपादान स्वयमेव निर्मलता को प्राप्त हो जायेगा और तुम स्वयं ही सदा के लिए संसार दशा से उन्मुक्त हो जाओगे।

अब मोह का परित्याग करने के हेतु शरीर के व्यामोह के त्याग का उपदेश देते हैं--

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्तीमुहूर्तम्।
पृथगथविलसन्तं स्वं समालोक्य येनत्यजसिझगितिमूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

अन्वयार्थ--(**अयि**) हे भाई (**तत्त्वकौतूहली**) अपने असली स्वरूप को जानने की उत्सुकता वाले (**सन्**) होकर (**त्वम्**) तुम (**कथम्**) किसी प्रकार से (**मृत्वा**) मर करके (**अपि**) भी (**मुहूर्तम्**) दो घड़ी (**मूर्तेः**) शरीर के (**पार्श्ववर्ती**) पड़ोसी होकर (**अनुभव**) अपना अनुभव करो (**अथ**) इसके पश्चात् (**पृथक्**) शरीर से सर्वथा और सर्वदा जुदे (**विलसन्तम्**) शोभायमान रहने वाले (**स्वम्**) अपने को (**समालोक्य**) देखकर--अर्थात् शरीर से मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा बिलकुल ही जुदा पदार्थ हूँ ऐसा (**येन**) जिससे (**त्वम्**) तुम (**झगिति**) शीघ्र ही (**मूर्त्या**) शरीर के (**साकम्**) साथ (**एकत्व व्यामोहम्**) एकता रूप विपरीत बुद्धि को (**त्यजसि**) छोड़ सको।

सं० टीका--(**अयीति कोमलालापेऽव्ययम्**) अयि यह कोमल सम्बोधन में प्रयुक्त होने वाला अव्यय है। (**तत्त्व कौतूहली-तत्त्वं परात्मलक्षणम्, तस्यावलोकने कौतूहली**) परमात्म स्वरूप आत्मा के अवलोकन में उत्कण्ठित (**सन्-भवन्**) होते हुए (**हे मित्रेत्याध्याहार्यम्**) हे मित्र--ऐसा अध्याहार करना चाहिए अर्थात् हे मित्र! (**कथमपि-केनचित्-प्रकारेण**) किसी प्रकार से भी (**मायादि प्रकारेण**) कपट आदि से (**मृत्वा-च्युत्वा,**) मर करके (**साक्षात्मरणे तदनन्तरं तत्क्षणे साक्षात्तत्वावलोकनाभावात्**) क्योंकि साक्षात् मरने पर, मरने के पश्चात ही उसी समय प्रत्यक्ष रूप से आत्मा के स्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं है। **मुहूर्तं-द्विनालिकापर्यन्तम्**) दो घड़ी तक (**मूर्तेः-शरीरस्य**) शरीर के (**पार्श्ववर्ती-नैकट्यवर्ती**) निकट में रहने वाला (**भव-तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थम्**) हो, उस शरीर के स्वभाव को देखने-परखने के लिए (**अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानन्तरम्**) मर करके शरीर के सन्निकट में रहने के बाद (**स्वं-परमात्मानम्**) स्वयं परमात्मरूप को (**अनुभव-अनुभवगोचरीकुरु-स्वध्यानविषयं कुर्वित्यर्थः**) अनुभव करो अर्थात् अपने ध्यान में लाओ। (**किं कृत्वा ?**) क्या करके, (**समालोक्य-दृष्ट्वा**) देख करके, (**पृथक्-भिन्नं**) जुदा (**विलसंतम्-स्वस्वरूपे विलासं कुर्वन्तम्**) अपने आत्मस्वरूप में विलास-क्रीड़ा करने वाले (**आत्म व्यतिरिक्ताचेतनादि-शरीरावस्थाज्ञानादि परिणतावस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरीभवत्वित्यर्थः**) आत्मा से भिन्न जड़रूप शरीर आदि की अवस्था से अज्ञान आदि रूप से परिणमन को प्राप्त हुई आत्मा की अवस्था को देखकर

अपने ज्ञान आदि स्वरूप में स्थिर हो, यह इसका फलितार्थ है। **(येन-पृथक् स्वानुभवनेन)** जिस-शरीर आदि से भिन्न आत्मा के अनुभवन से **(मूर्त्या-शरीरेण)** शरीर के **(साकं-सह)** साथ **(एकत्वमोहम्-ममेदं शरीरम्, शरीरस्याहमित्येकत्व लक्षणं मोहम्)** यह शरीर मेरा है, या इस शरीररूपी मैं हूँ, इस एकत्वरूप मोह को **(स्वजसि-अहासि)** छोड़े उसको **(झगिति-तत्कालं-विलम्बमन्तरेणेत्यर्थः)** तत्काल-उसी क्षण अर्थात् बिना विलम्ब-देरी के। **(ननुशरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्य चिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात्)** कोई शंका करता है कि शरीर ही आत्मा है, क्योंकि शरीर से भिन्न-जुदी कोई आत्मा उपलब्ध नहीं है। **(अन्यथा महामुनीनां तीर्थंकर शरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्तिः, इति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिनं योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्यः)** यदि ऐसा न माना जाये तो महामुनि के तीर्थंकरों के शरीर आदि के अतिशयों का वर्णन नहीं बन सकेगा, ऐसी युक्ति को उपस्थित करके—शरीर से भिन्न-जुदी रहने वाली आत्मा को मानने वाले योगी-ध्यानी-मुनि के प्रति कोई अज्ञानी-जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं—ऐसा शिष्य कहता है—

भावार्थ—यह आत्मा शरीर के साथ एकत्वपने को प्राप्त हो रहा है अपने को शरीर रूप अनुभव कर रहा है। जागते-सोते हर हालत में अपने को शरीररूप अनुभव कर रहा है। अनुभव तो कर ही रहा है अपने को परन्तु पररूप अनुभव कर रहा है। जैसा शरीरी को अपने रूप अनुभव कर रहा है वैसा ही उसी प्रकार अपने को चेतनरूप अनुभव करना है। जैसा वह अनादिकाल से है। यह अनुभव, शरीर आत्मा से अलग-अलग है, शरीर नाशवान है पौद्गलिक है इत्यादि गुण गाने का नाम नहीं है। इससे इस शरीर के प्रति एकत्व बुद्धि नहीं टूटेगी। इस एकत्व बुद्धि तोड़ने के लिए शरीर पररूप दिखाई देना जरूरी है और पररूप दिखाई देने के लिए आत्मस्वरूप की पहचान होना जरूरी है। इसके लिए निरन्तर अभ्यास की जरूरत है। शरीर तो स्वांग हैं। कोई लड़का, लड़की का स्वांग धरकर नाच रहा है लोग उसे लड़की समझ रहे हैं परन्तु लड़के को यदि कहा जावे कि तू अपने को लड़की रूप अनुभव कर ले तो वह नहीं कर सकेगा यद्यपि वह अपने को लड़केरूप अनुभव कर रहा है कर सकता है परन्तु लड़की का स्वांग दिखाते हुए भी अपने को लड़की रूप अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि उसको इस बात की श्रद्धा है कि मैं लड़का हूँ लड़की नहीं। यदि हमें भी आत्मतत्व की ऐसी श्रद्धा हो जावे तो फिर शरीर में अपनापना नहीं पैदा हो सकता। शरीर नाशवान है चैतन्य निकलकर चला जाता है मुर्दा पड़ा रहता है यह हम रोज देखते हैं परन्तु इस अपने मुर्दे को मुर्देरूप नहीं देखते। हमारे इसमें रहने से इसको चेतन कहा जाता है परन्तु यह तो वस्तुतः तो मुर्दा ही है। दर्पण के सामने खड़े होकर देखें कि जो दिखाई दे रहा है वह मुर्दा है और उसका जानने वाला मैं हूँ ऐसा निरन्तर आभास करे तो वस्तुतः यह मुर्दा दिखाई देने लगे तब इसके साथ एकत्वपना छूटे। इसलिए जोर देने को कह रहे हैं कि यह काम तेरे को करना जरूरी है चाहे मरना ही क्यों न पड़े।

अब वह निम्न पद्य द्वारा अपनी शंका पुष्ट करते हैं—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाम महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण च।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्र लक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**अष्टसहस्रलक्षणधराः**) एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाले (**ते**) वे (**तीर्थेश्वराः**) तीर्थंकर (**सूरयः**) आचार्य (**वन्द्याः**) वन्दनीय हैं (**ये**) जो (**कान्त्या**) शरीर की कान्ति से (**एव**) ही (**दश दिशा**) दशों दिशाओं को (**स्नपयन्ति**) स्नान कराते हैं-व्याप्त करते हैं। (**च**) और (**ये**) जो (**धाम्ना**) अपने शारीरिक तेज से (**महस्विनाम्**) महा तेजस्वी-सूर्यादि के (**उद्दाम**) उत्कट-उत्कृष्ट (**धाम**) तेज को (**निरुन्धन्ति**) रोकते-नीचा करते हैं। (**च**) और (**रूपेण**) अपने शरीर के अलौकिक सौन्दर्य से (**जनमनः**) मनुष्यों—यानी जन्मधारियों - देव, मनुष्य और पशुओं के चित्त को (**मुष्णन्ति**) चुराते अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। (**श्रवणयोः**) श्रोताओं के कानों में—(**दिव्येन**) दिव्य-मनोहर (**ध्वनिना**) ध्वनि-आवाज से (**साक्षात्**) साक्षात्-प्रत्यक्ष रूप से (**अमृतम्**) अमृत को (**सुखम्**) सुख पूर्वक (**क्षरन्तः**) वर्षाते हैं।

सं० टीका—(**ते प्रसिद्धाः, नाभेयादयस्तीर्थेश्वराः-श्रुतज्ञान लक्षण तीर्थनायकाः**) वे प्रसिद्ध वृषभ आदि तीर्थंकर अर्थात् श्रुतज्ञानात्मक तीर्थ के स्वामी। (**वन्द्याः-नमस्करणीयाः**) वन्दनीय-नमस्करणीय-नमस्कार के योग्य हैं। (**ये-भगवन्तः**) जो-भगवान् (**कान्त्यैव-द्युत्या एव-केवलम्**) शरीर की कान्ति से ही (**दशदिशः-ककुभः**) दशों दिशाओं को (**स्नपयन्ति-प्रक्षालयन्ति-स्वकान्त्यैव समस्ता दिशः-प्रकटयन्तीत्यर्थः**) धो डालते हैं अर्थात् अपनी कान्ति से ही सभी दिशाओं को प्रकाशित कर देते हैं। (**ये-जिनाः**) जो जिनेन्द्र-तीर्थंकर (**धाम्ना-घातिकर्म क्षयोत्पन्न कोटि सूर्याधिक शरीर तेजसा**) घातिया-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों-कर्मों के क्षय से उत्पन्न जो करोड़ों सूर्यों के तेज से भी अधिक तेज रखने वाला है ऐसे शरीर के तेज से (**उद्दाममहस्विनां-अमर्यादीभूत तेजस्विनां-स्वर्ण-रत्न-मुक्ताफल-नक्षत्र-विमान-सूर्य-चन्द्र-दीपाग्न्यादीनाम्**) अपार तेज वाले स्वर्ण, मणि, मोती, नक्षत्र-विमान, सूर्य, चन्द्र, दीपक और अग्नि आदि के (**धाम-तेजः**) तेज को (**निरुन्धन्ति-निवारयन्ति-स्वल्पीकुर्वन्तीत्यर्थः**) निवारण करते हैं। (**तथाचोक्तम्**) इसी रूप से—कहा भी है—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकर सहस्रमपगत व्यवधानम् ।
भामण्डलमिव भावित रात्रिन्दिवभेदमतितरामाभाति ॥१॥

(**युगपत्**) एक साथ (**अपगतव्यवधानम्**) रुकावट रहित (**आकस्मिकम्**) अकस्मात्-अचानक उपस्थित हुए (**दिवसकर सहस्रम्**) हजार सूर्यों के (**इव**) समान (**भावितरात्रिन्दिवभेदम्**) रात और दिन के भेद से रहित (**भामण्डलम्**) यह भामण्डल —तेज का पुञ्ज (**अतितराम्**) अतिशय रूप से (**आभाति**) शोभित हो रहा है ऐसा (**इव**) मालूम होता है।

(**ये**) जो (**रूपेण कृत्वा**) रूप के द्वारा (**जनमनः-त्रिलोक निवासिप्राणिचित्तम्**) तीनों लोकों में

निवास करने वाले प्राणियों के चित्त को (**मुष्णन्ति-हरन्ति**) हरते हैं (**तच्चित्ताकर्षणं कुर्वन्तीत्यर्थः**) अर्थात् उनके मन को अपनी ओर आकर्षित करते-खींच लेते हैं। (**किम्भूतास्ते**) कैसे हैं वे ? (**सुखम्-उभयोः शर्म यथा भवति तथा**) दोनों को सुख जैसे हो वैसा जो करते हैं। (**श्रवणयोः-कर्णयोः**) कानों में (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष (**अमृतम्-धर्मसुधाम्-संसार दुःखापहारित्वात्**) धर्मरूपी अमृत को क्योंकि धर्मरूपी अमृत ही संसार के दुःखों का नाश करता है (**क्षरन्तः-स्रवन्तः**) बहाते हैं या वर्षाते हैं। (**केन**) किसके द्वारा ? (**दिव्येन-अन्यजनातिशायिना, ध्वनिना-तीर्थंकर पुण्यकर्मातिशय विजृम्भमाणध्वनिना**) दिव्य-अन्य मनुष्यों को तिरस्कृत करने वाली अर्थात् अन्य पुरुषों के नहीं पायी जाने वाली ध्वनि के द्वारा जो नामकर्म की पुण्यप्रकृति रूप तीर्थंकर प्रकृति के अतिशय से वृद्धि को प्राप्त करती है ऐसी वाणी से। (**पुनः किम्भूताः**) फिर कैसे ? (**अष्टेत्यादि-अष्टाभिरधिकानिसहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्र-कुशेशय तोरण-छत्राकारादीनि तेषां धराः-धारकाः, ते तथोक्ताः**) जो वज्र-कुशेशय कमल-तोरण-छत्र आदि एक हजार आठ चिह्नों को धारण करते हैं। (**नवशत व्यञ्जनोपलक्षिताष्टशत लक्षण लक्षित्वात्**) क्योंकि वे ९०० नव सौ व्यञ्जन तथा १०८ एक सौ आठ लक्षणों-चिह्नों से उपलक्षित-सहित होते हैं। (**तथा च सूरयः-आचार्याः**) और आचार्य (**वन्द्याः**) वन्दनीय है ॥२४॥

इसके बाद शिष्य कहता है कि कान्ति आदि गुणों के द्वारा शरीर के स्तवन से ही शरीर का स्वामी होने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय की दृष्टि से योग्य क्यों नहीं कहा जाता है ? ऐसा कहने पर आचार्य महाराज दो पद्यों द्वारा उत्तर देते हैं।

प्राकार कवलिताम्बर मुपवन राजीनिगीर्ण भूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखा वलयेन पातालम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**प्राकारकवलिताम्बरम्**) परकोट से आकाश को ग्रसने वाला—अर्थात् कोट की ऊँचाई से आकाश को स्पर्श करने वाला। (**उपवनराजी निगीर्णभूमितलम्**) बगीचों की पंक्तियों से भूतल को व्याप्त करने वाला (**इदम्**) यह (**नगरम्**) नगर (**परिखा वलयेन**) खाई के मण्डल से (**पातालम्**) अधोलोक को (**पिबति**) पान करता (**इव**) सा अर्थात् पीता हुआ सरीखा (**प्रतिभात**) मालूम होता है।

सं० टीका—(**इदम्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**नगरम्-पत्तनम्**) नगर-शहर (**पिबतीव-पानं करोति-गलतीत्यर्थः**) पान कर रहा है—अर्थात् निगल रहा है (**इव-उपमायाम्**) इव-यह उपमार्थक अव्यय है। (**किम् ?**) किसे ? (**पातालम्-अधोभवनम्**) अधोलोक को (**केन ?**) किसके द्वारा (**परिखावलयेन, अतिमात्रंनिम्नत्वात्**) खातिका मण्डल के द्वारा क्योंकि वह बहुत नीचा-गहरा है। (**किम्भूतम् ?**) वह कैसा है ? (**प्राकारेत्यादि-प्राकारेण शालेन, कवलितं-कवलीकृतं, व्याप्तमित्यर्थः, अम्बरं-नभः, येन तत्, अत्युच्चैस्तरत्वात्**) कोट के द्वारा जिसने आकाश को व्याप्त कर रखा है क्योंकि वह बहुत ही ऊँचा है। (**उपेत्यादि-उपवनानां-वाटिकानां राजिः-पंक्तिस्तया निगीर्णं-व्याप्तं-भूमितलं-पृथ्वीतलं, येन तत्**) बगीचों की पंक्ति से जिसने भूमण्डल को घेर रखा है। (**इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्रकारादि स्वरूपाभा-**

नात्, वर्णनं नो भवति) इस प्रकार से नगर का वर्णन होने पर भी नगर के स्वामी राजा का वर्णन नहीं होता है क्योंकि राजा कोट आदि स्वभाव वाला नहीं है, वैसे ही।

भावार्थ—जैसे कोट आदि नगर के ही स्वभाव है राजा के नहीं अतः नगर के वर्णन से जैसे राजा का वर्णन सम्भव नहीं है तैसे ही तीर्थंकर के शरीर के सौन्दर्य के वर्णन से तीर्थंकर की आत्मा का वर्णन कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि वे कान्ति आदि जड़ शरीर के स्वभाव हैं तीर्थंकर की आत्मा के नहीं।

शरीर के स्तवन से तीर्थंकर की आत्मा का स्तवन नहीं होता यह स्पष्ट करते हैं—

नित्यमविकार सुस्थित सर्वाङ्गमपूर्व सहज लावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं-जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**नित्यम्**) नित्य-शरीर की स्थिति पर्यन्त स्थिर रहने वाला, (**अविकार सुस्थित सर्वाङ्गम्**) विकार रहित होने से जिस शरीर के सभी अवयव सुदृढ़ रहते हैं, (**अपूर्वसहज लावण्यम्**) अपूर्व स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त (**समुद्रम्**) समुद्र के (**इव**) समान (**अक्षोभम्**) क्षोभ रहित (**परम्**) सर्वोत्कृष्ट (**जिनेन्द्ररूपम्**) जिनेन्द्र तीर्थंकर महाप्रभु का रूप (**जयति**) जयशील है-सर्वोपरि है।

सं० टीका—(**जिनेन्द्ररूपं-सर्वज्ञरूपं**) सर्वज्ञ का रूप (**जयति-सर्वोत्कर्षेण वर्तते**) सबसे उत्कृष्ट है, (**किम्भूतम्?**) कैसा है? (**नित्यम्-यावच्छरीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थः**) नित्य-जब तक शरीर रहेगा तब तक रहने वाला है, (**अवीत्यादि-अविकारेण-नेत्र हस्तादिविकृत्यभावेन, सुस्थितानि सर्वशरीराङ्गानि-सर्वावयवा यस्य तत्**) नेत्रहस्त आदि में विकार का अभाव होने से जिसके शरीर के सभी अवयव पूर्णतया सुरक्षित हैं, (**पुनः किम्भूतम्?**) फिर कैसा है? (**अपूर्वेत्यादि-अपूर्वं अन्यजीवासम्भवि, सहजं-अकृत्रिम्-स्वाभाविकमित्यर्थः, लावण्यं-लवणिमा-यस्य तत्**) अन्य जीवों के नहीं पाया जाने वाला- ऐसा स्वाभाविक सौन्दर्य जिसका है। (**समुद्रमिव**) समुद्र के समान (**अक्षोभम्-न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभम्**) किसी के द्वारा भी क्षोभ को नहीं प्राप्त होने वाला (**इति शरीरेस्तूयमाने तीर्थंकर-केवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थित सर्वाङ्गादिगुणाभावात् स्तवनं न स्यात् ॥२६॥**) इस तरह से शरीर की स्तुति होने पर तीर्थंकर-केवली भगवान जो उस शरीर के अधिष्ठाता-स्वामी हैं तो भी सुस्थित सर्वाङ्ग आदि गुणों का अभाव होने से उनकी स्तुति नहीं हो सकती।

भावार्थ—अब शिष्य कहता है कि यदि यह बात है तब तो तीर्थंकर की सारी स्तुतियाँ अप्रशस्त-निरर्थक हो जायेंगी, ऐसी स्थिति में शरीर तथा आत्मा दोनों में एकत्व होगा? "नैवं नयविभागाभावात्।) आचार्य उत्तर में कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है तुम्हें नय के विभाग का ज्ञान नही है इसलिए तुम ऐसा कहते हो।

अब आचार्य यहाँ उसी नय का उल्लेख करते हैं—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्व मात्माङ्गयोः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**व्यवहारतः**) व्यवहार नय से (**कायात्मनोः**) शरीर और आत्मा दोनों में (**एकत्वम्**) एकता (**अस्ति**) है (**पुनः**) किन्तु (**निश्चयात्**) निश्चय नय से (**न तु**) नहीं (**अस्ति**) है। (**वपुषः**) शरीर की (**स्तुत्या**) स्तुति से (**नुः**) आत्मा का (**स्तोत्रं**) स्तवन (**व्यवहारतः**) व्यवहार नय से (**अस्ति**) है (**तत्**) वह स्तोत्र (**तत्त्वतः**) निश्चय नय से (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**निश्चयतः**) निश्चय नय से (**चित्स्तुत्या**) चैतन्यस्वरूप आत्मा की स्तुति से (**एव**) ही (**चितः**) आत्मा का (**स्तोत्रम्**) स्तोत्र (**भवति**) होता है। (**एवम्**) इस प्रकार निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है ऐसा होने पर ही (**सा**) वह निश्चय स्तुति (**भवेत्**) हो सकती है। (**अतः**) इस लिये अर्थात् आत्मा और शरीर की स्तुति निश्चय और व्यवहार से भिन्न होने के कारण (**तीर्थंकरस्तवोत्तर बलात्**) तीर्थंकर के स्तवन के बल से (**आत्माङ्गयोः**) आत्मा और शरीर में (**एकत्वम्**) एकत्व-अभिन्नता (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकती।

सं० टीका—(**कायात्मनोः-देह देहिनोः**) शरीर और शरीरी-आत्मा का (**एकत्वं-कथञ्चिदेकता**) कथञ्चित्-विवक्षा के वश से एकत्व-अभिन्नत्व है (**व्यवहारनयतः-व्यवहारनयमाश्रित्य, लोकव्यवहारं वा आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कन्धबन्धो देहः, कनक कलधौतयोरेकस्कन्ध व्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा**) व्यवहार नय का अथवा लोक-व्यवहार का आश्रय करके आत्मा और कर्म के वश से नोकर्म रूप से पुद्गलस्कन्धों का बन्ध ही-देह-शरीर कहलाता है जैसे सुवर्ण और रजत "चांदी" को एकबन्ध रूप स्कन्ध में ही सुवर्ण का व्यवहार तथा पानी और दूध के एक बन्ध में दूध का व्यवहार देखा जाता है।

(**पुनः निश्चयात्-निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात्**) किन्तु निश्चय नय का आश्रय करने से शरीर और आत्मा में एकत्व नहीं है क्योंकि वे दोनों आपस में भिन्न-जुदे हैं। (**त्वित्यधिकं पदं विशेष ज्ञायकम्, निश्चयाद्धि देह देहिनोः-अनुपयोगोपयोगरूपयोः, कनक कलधौतयोः पीत पांडुत्वस्वभावयोरिव, अत्यन्त व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते र्नानात्वम्, एवं किल नय विभाग**) 'तु' यह अधिक पद विशेषार्थ का ज्ञापक है अर्थात् निश्चयनय से देह और देही 'अनु'उपयोग-ज्ञानदर्शन रहित और उपयोग ज्ञानदर्शन सहित स्वभाव में होने से, सुवर्ण और चाँदी में 'पीतत्व' पीलापन और 'पाण्डुत्व' सफेदी स्वभाव में अत्यन्त भेद होने से एक पदार्थ नहीं हैं किन्तु स्वभाव भेद से जुदा-जुदा पदार्थ हैं वस्तुतः यह नयविभाग है। (**अतः-कारणात्**) इस कारण से—(**वपुषः-शरीरस्य**) शरीर के (**स्तुत्यास्तवनेन-शरीरगुणवर्णनेन**) स्तवन—गुणों के वर्णन से (**नुः-आत्मनः**) आत्मा का (**स्तोत्रं-स्तवनम्**) स्तवन (**अस्ति-भवति**) हो जाता है (**कुतः-व्यवहारतः-व्यवहारनयात्**) कैसे? व्यवहारनय से, (**तत्-स्तोत्रं-निश्चयात्-परमार्थतः न हि।**) वह स्तोत्र निश्चयनय से नहीं। (**ननु आत्मनःस्तोत्रम्-कथम्?**) शंकाकार कहता है कि आत्मा का स्तवन कैसे होता है? उत्तर में कहते हैं कि (**निश्चयतः-परमार्थतः, चितः चिद्रूपस्यात्मनः स्तोत्रं-स्तवनम् गुणवर्णनमित्यर्थः-भवति-अस्ति,**) निश्चयनयसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्तवन—अर्थात् आत्माके गुणों का वर्णन करने

से होता है । (कथा ?) कैसे ? (चित्स्तुत्यैव-चिद्रूपस्यामूर्ताखण्ड ज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणस्तवनेन,) चैतन्यस्वरूप अमूर्त आत्मा के अखण्ड ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों के कीर्तन से, (एवं निश्चयस्तुतिरेव-आत्मस्तुतिः, एवं सति सा निश्चयस्तुतिः स्तुतिर्भवेत्) इस तरह से निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है ऐसा होने पर वह निश्चय स्तुति ही स्तुति हो सकती है। (अतः-आत्मशरीरयोर्भिन्नत्व समर्थनात्) इसलिए आत्मा और शरीर के जुदापन का समर्थन होने से। (एकत्वं-अभिन्नत्वं न भवतीत्यर्थः) एकता-अर्थात् अभिन्नता नहीं है। (कयोः ?) किनकी (आत्माङ्गयोः-चिद्रूपदेहयो) आत्मा और शरीर इन दोनों की (कुतः ?) कैसे ? (तीर्थेत्यादिः-तीर्थंकरस्य नाभेयादिजिनस्य स्तवः-अष्ट प्रातिहार्यादिगुणवर्णनं, तीर्थंकर शरीर गुणवर्णनमेव परमार्थ स्तवनमिति-प्रत्युत्तर बलाधानात्-एकत्वं न कदाचन ॥२७॥) नाभिराज के पुत्र श्री वृषभदेव तथा अजित आदि अन्य तीर्थंकरों के अष्ट प्रातिहार्य आदि गुणों का वर्णन तीर्थंकरों के शरीर के गुणों का वर्णन ही परमार्थ-वास्तविक स्तवन है इसके उत्तर में जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उससे आत्मा और शरीर में कभी एकत्व अभिन्नत्व नहीं हो सकता यह बात सर्वथा सुस्पष्ट है।

भावार्थ—शरीर तो पौद्गलिक है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन गुणों की उपलब्धि होती है जो चैतन्य स्वरूप आत्मा के गुणों से बिलकुल ही विपरीत हैं। गुणों के वैपरीत्य से गुणवान का विपरीत होना स्वभावसिद्ध है ऐसी स्थिति में आत्मा और शरीर ये दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं यह तर्कसिद्ध, निर्बाध, निर्विवाद बात है। अतः एक के स्तवन से दूसरे का स्तवन नहीं हो सकता। शिष्य ने शरीर में आत्मत्व की भ्रान्ति से उक्त बात कही थी। उसका निवारण आचार्य ने यहां स्वभाव भेद से कर दिखाया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार नय से शरीर और आत्मा का एक क्षेत्राव-गाह सम्बन्ध होने से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन हो जाता है। यह ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि-जिसे आत्मा शरीर में पूर्णतया भिन्नता का ज्ञान है, की अपेक्षा से ही कहा गया है। व्यवहार की समीचीनता और असमीचीनता का ज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है मिथ्याज्ञानी को नहीं। क्योंकि मिथ्याज्ञानी को उन दोनों की असलियत की खबर ही नहीं है। फिर निश्चयनय की तो बात ही क्या है वह तो उसका विषय सर्वथा नहीं है।

अब आत्मा और शरीर के भेद का उपसंहार पूर्वक फलितार्थ कहते हैं—

इति परिचित तत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्यस्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार से—पूर्व में कहे अनुसार (परिचित तत्त्वैः) वस्तु स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने वाले मुनीश्वरों द्वारा (नयविभजनयुक्त्या) नय-निश्चय और व्यवहार के विभाग की योजना से अर्थात् निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के पृथक्-पृथक् स्वरूप के प्रदर्शन द्वारा (आत्म-कायैकतायाम्) आत्मा और शरीर में अभिन्नता का (अत्यन्तम्) अतिशय रूप से (उच्छादितायाम्) उच्छेद-विनाश-खण्डन होने पर (स्वरस रभसकृष्टः) अपने आत्मिक आनन्दरूप रस से वेग पूर्वक आकर्षित

हुआ (**प्रस्फुटन्**) विकास को प्राप्त करता हुआ (**एकः**) अद्वितीय (**बोधः**) आत्मज्ञान (**एव**) ही (**अद्य**) इस समय (**कस्य**) किस पुरुष की (**बोधम्**) आत्मा को (**न**) नहीं (**अवतरति**) प्राप्त करता है (**अपि तु**) किन्तु (**सर्वस्य**) सभी की आत्मा को प्राप्त करता है।

सं० टी०—(**अद्य-इदानीम्**) इस समय (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से- (**कस्य-पुरुषस्य**) किस पुरुष के (**बोधः-बोधविज्ञानम्**) भेद विज्ञान—जुदाई का ज्ञान (**बोधम् बुध्यते-जानातीति बोधः-आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचारः तम्**) जो जानता है उसे बोध कहते हैं अर्थात् ज्ञान अथवा ज्ञान गुण में गुणी-आत्मा का उपचार करने से बोध शब्द का अर्थ आत्मा हो जाता है उस आत्मा को (**न**) नहीं—(**अवतरति, न प्रादुर्भवति**) प्राप्त करता (**अपितु प्रादुर्भवत्येव**) किन्तु प्राप्त करता ही है। (**किं भूतः सः**) कैसा वह (**स्वेत्यादिः स्वस्य-आत्मनः, रसः ज्ञानशक्ति विशेषः, तस्य रभस, वेगः, तेनकृष्टः-आकृष्टः विशदीकृतः इत्यर्थः**) अपनी आत्मा की ज्ञान शक्ति की विशेषता के वेग से विस्तार को या निर्मलता को प्राप्त हुआ (**भूयः किम्भूतः**) फिर कैसा ? (**प्रस्फुटन्-प्रकर्षेण निर्मलीभवन्-प्रकटीभवन्वा**) अतिशय रूप से निर्मलता को धारण करता हुआ अथवा प्रकट होता हुआ (**एक एवनान्यः**) अकेला ही दूसरा नहीं (**बोधं विना आत्मानं प्रत्यवतरयितुं न कश्चित्क्षमः इत्यर्थः**) अर्थात्—ज्ञान को छोड़कर आत्मा में अवतार लेने वाला दूसरा कोई नहीं है (**क्व-सत्याम्**) किसके होने पर (**आत्मेत्यादिः-आत्मा च कायश्च-आत्मकायौ तयोरेकता-ऐक्यं—तस्यां, उच्छादितायाम्-निराकृतायाम् सत्याम्**) आत्मा और शरीर दोनों की एकता का निराकरण-निषेध, होने पर (**कया ?**) किससे (**नयेत्यादि-नयस्य-निश्चयव्यवहार लक्षणस्य विभजनं विभागः तस्य युक्तिः वर्णनोपन्यासः तया**) निश्चय और व्यवहार रूप नयों के स्वरूप के विभाग-जुदाई को दिखाने से (**कैः ?**) किनके द्वारा (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण परिचितं परिचयीकृतं तत्त्वं शुद्धचिद्रूप लक्षणं यैस्ते इति परिचित तत्त्वास्तैः**) पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुषों के द्वारा ॥२८॥

भावार्थ—वस्तुतः नयों के स्वरूप का जानना वस्तुस्वरूप के जानने में नितान्त आवश्यक है। उसके न जानने से ही यह आत्मा अनादि से अज्ञानी बना हुआ है, अतएव शरीर को ही आत्मारूप से मानता आ रहा है। शरीर से भिन्न आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ऐसा उसे आज तक ज्ञान नहीं हुआ अतएव अज्ञानी ही बना रहा, लेकिन जब तत्त्वज्ञ महापुरुषों के तात्त्विक उपदेश को सुना और अनुभव में उसे उतारा तब मालूम हुआ कि अहो, मैं तो जड़ शरीर से सर्वथा भिन्न विज्ञानघन चैतन्य चमत्कार का पुञ्जरूप आत्मा हूँ। मैं तो स्वभावतः अजर-अमर नित्य सच्चिदानन्दमय हूँ। शरीर तो स्वभावतः विनश्वर है। जड़ है। इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध ? इसमें और मेरे में आकाश पाताल जैसा अन्तर है। क्या कभी पूर्व और पश्चिम एक हो सकते हैं ? नहीं, कभी नहीं। वैसे ही आत्मा और पौद्गलिक शरीर भी तीनों कालों में भी एक नहीं हो सकते ? यह सब निश्चयनय और व्यवहारनय के स्वरूप के समझने का ही सुफल है जो आत्मा को आत्मा रूप से और शरीर को शरीररूप से स्वीकार कराने में समर्थ कारण है। नय विवेक से ही बहिर्मुखी दृष्टि का त्याग और अन्तर्मुखी दृष्टि का उत्पाद होता है

अतः नय विवेक आत्मा और शरीर के यथार्थ स्वरूप को जानने में सक्षम है ऐसा मानकर हमें सर्व प्रकार उसे ही समझने और अनुभव में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, बिना उसे जाने और समझे हमारा अनादि अज्ञान दूर नहीं हो सकता ॥२८॥

अब जब तक परभावों का अभाव है तब तक ही स्वानुभव होता है यह बताते हैं –

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकल भावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जब तक (**अनवम्**) यथार्थ रूप से (**अत्यन्तवेगात्**) अति शीघ्रतापूर्वक (**अपरभावत्याग दृष्टान्त दृष्टिः**) परपदार्थों के त्यागरूप दृष्टान्त की दृष्टि (**वृत्तिम्**) प्रवृत्ति को (**न**) नहीं (**अवतरति**) प्राप्त करती (**तावत्**) तब तक (**अन्यदीयैः**) पर पदार्थों के (**सकलभावैः**) सभी परिणमनों से (**विमुक्ता**) रहित (**इयम्**) यह (**अनुभूतिः**) आत्मानुभूति (**झटिति**) शीघ्र ही (**आविर्बभूव**) प्रकट हो जाती है।

सं० टी०—(**यावत्-यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**अनवं-सत्यं यथाभवति तथा**) सत्य रूप से (**अत्यन्त-वेगात्-अति शीघ्रम्**) जल्द से जल्द (**अपरेत्यादिः—अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः-अन्यपदार्थाः, तेषां त्यागः-त्यजनं तदुल्लेखाय यो दृष्टान्तः तत्र दृष्टिः**) परपदार्थों के त्याग का उल्लेख करने के लिए जो दृष्टांत उस पर जाने वाली दृष्टि (**यथाहि—कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमम्बरमादाय सम्भ्रान्त्यात्मीय प्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन् अन्येन तद्वस्त्र स्वामिना तदञ्चलमालम्ब्यबलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व अर्पय, परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमिति-असकृद्वचः शृण्वन्, अखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य परकीय-मिति निश्चित्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुञ्चति तथा ज्ञाताऽपि परभावान् सम्भ्रान्त्यात्स्वप्रतिपत्त्यात्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानीसन् गुरुणा परभावे विवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खल्वयमात्मा, इत्य-सकृत् श्रुतिं श्रौतीं शृण्वन् अखिलैश्चिह्नैः सुपरीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुञ्चति परभावा-निति दृष्टान्त दृष्टिः,**) जैसे— कोई मनुष्य धोबी से किसी दूसरे का कपड़ा लेकर भ्रान्ति से अपना मान-कर पहन कर सो रहा है। उस अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि यह कपड़ा मेरे से भिन्न किसी दूसरे का है। मेरा खुद का नहीं है। अकस्मात् उस वस्त्र का मालिक उस कपड़े के छोर को पकड़ कर जबरन उस मनुष्य को नग्न करता हुआ कहता है कि हे भाई तू जल्दी जाग, यह कपड़ा मेरा है। बदल गया है। इसे तू मुझे दे दे। उक्त प्रकार के वचनों को अनेक बार सुनते हुए उसने समस्त चिह्नों से उस वस्त्र का निरी-क्षण और परीक्षण करके यह वस्त्र वस्तुतः दूसरे का है। मेरा नहीं है, ऐसा निश्चय करके समझदारी के साथ वह उसे छोड़ देता है। वैसे ही ज्ञानी-स्वपर विवेकी भी परपदार्थों को भ्रम से अपने मानकर अपने अधीन करके स्वयं अज्ञानी होकर सो रहा है, अर्थात् स्वपर के भेद विज्ञान से शून्य है। इतने में ही तत्त्व-ज्ञानी परम दयालु श्री गुरु ने पर पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न सिद्ध करके तू एक है, अद्वितीय है

जल्दी जाग। यह आत्मा निश्चयतः एक है इस प्रकार की शास्त्रीय चर्चा को बार-बार सुनता है सुनते ही सभी प्रकार के लक्षणों से भली भांति परीक्षा करके सभी परभावों का निश्चय करके स्वयं ज्ञानी हो समस्त परपदार्थों का त्याग कर देता है यह है दृष्टान्त दृष्टि। (**वृत्ति-परभावप्रवृत्ति प्रति**) परपदार्थों की ओर प्रवृत्ति को (**न अवतरति-अवतरणं न करोति**) अवतरण-प्रवर्तन को नहीं करती है (**तावत्पर्यन्तं**) तब तक (**इयमनुभूतिः आत्मानुभवज्ञानम्**) यह आत्मानुभव का ज्ञान (**स्वयं-स्वतः**) अपने आप (**आविर्बभूव प्रकटीबभूव**) प्रकट हो जाता है (**झटिति-शीघ्रम्**) शीघ्र-जल्दी (**किम्भूता ?**) कैसा ? (**विमुक्ता-त्यक्ता**) विमुक्त होकर (**कैः ?**) किनसे (**अन्यदीयैः-परकीयैः**) पर (**सकलभावैः-सकलचेतनाचेतनपदार्थैः**) सभी चेतन और अचेतन पदार्थों से ॥२६॥

भावार्थ – मोहजनित अज्ञान के कारण ही यह आत्मा अनात्मा को ही आत्मरूप से मानता रहता है। यह मोह का महान् परदा जब तक आत्मा पर पड़ा रहेगा तब तक आत्मा, अत्मारूप में अपने को नहीं जान सकता, हाँ श्रीगुरु आदि के तत्त्वोपदेश का निमित्त मिल जाय और स्वतः के उपादान में विवेक-स्वपर भेद विज्ञान जागृत होने की वेला-काललब्धि आ मिलें तो उक्त मोह का परदा वायु के सम्पर्क से कपूर की तरह उड़ जाय और उपादान स्वयं ही भेदविज्ञान रूप में परिणत हो परपदार्थों में एकत्व और ममत्व का परित्याग कर स्वयं आत्मा एक है, अखण्ड है, नित्य है, सच्चिदानन्द का पुञ्ज है ऐसा स्वीकार कर, अभूतपूर्व अननुभूत और अश्रुतपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगता है जो इसकी खास निधि है स्वाभाविकी सम्पत्ति है इसी बात को जानने समझने और अनुभव में लाने के लिए ही परवस्त्र को अपना मानकर बेफिक्री से सोने वाले मनुष्य को वस्त्र का स्वामी जैसे जगाकर और उसे अपने वस्त्र के उन तमाम चिह्नों को समझा-बुझाकर कहता है कि यह वस्त्र मेरा है भूल से तुमने इसे अपना मानकर पहन रखा है अब तुम इसकी परीक्षा करके यह हमें लौटा दो। तब वह मनुष्य भी सावधानी से उसकी उन तमाम बातों को ध्यान से सुनता है और विचार करता है। तदुपरान्त वह इस नतीजे पर पहुंचता है कि हाय मैंने बड़ी गलती की अक्षम्य भूल की, जो मैं दूसरे के कपड़े को अपना मानकर पहनता रहा हूँ यह तो मेरा नहीं है अतः मुझे इसे अविलम्ब लौटा देना चाहिए। बस इतना विचार दृढ़ होते ही वह उसे निर्ममत्व भाव से दे देता है। यही बात अनादि अज्ञानी जीव के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। यह अज्ञानी जीव अज्ञानवश परपदार्थों को अपना मानता है उसकी यह मान्यता वस्तु स्वरूप से सर्वथा विपरीत है जो उसको निरन्तर उत्पीड़ित खेदखिन्न करती रहती है, यह है अज्ञान का असीमित माहात्म्य। बाह्य में सद्गुरु आदि के उपदेश आदि का सुअवसर प्राप्त होने से जब स्व-पर-भेदविज्ञान के प्रगट होने पर वह अज्ञान ही सम्यग्ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है तब वह ज्ञानी स्वयं ही उन समस्त परपदार्थों से व्यामोह का परित्याग कर स्वरूपरत हो सच्ची आत्मिक अनुभूति के अनुपम आनन्द का पात्र बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पर में अहङ्कार और ममकार की बुद्धि ही अज्ञान है जो मोहजन्य है उस विपरीत बुद्धि का परित्याग ही सज्ज्ञान-आत्मज्ञान है जो परनिरपेक्ष है और है सर्वदा-सर्वथा स्वापेक्ष। इस ज्ञान

के प्रकट होते ही आत्मा में स्वानुभूति रूप निज परिणति अबाधरूप से प्रवृत्त होती है।

अब आत्मा स्वयं ही स्वरस का आस्वादन करता है यह बताते हैं—

सर्वतः स्वरस निर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) अपने आप-परनिरपेक्षरूप से (**इह**) इस संसार में (**सर्वतः**) सब तरफ से-पूर्णरूप से (**स्वरसनिर्भरभावम्**) चैतन्य रूप निज रस से भरपूर स्वभाव वाले (**एकम्**) एक अद्वितीय (**स्वम्**) आत्मा को (**चेतये**) चिन्तन-अनुभवन करता हूँ। (**मोहः**) मोह (**मम**) मेरा (**कश्चन**) कोई (**नास्ति-नास्ति**) नहीं है नहीं है। (**अहम्**) मैं (**तु**) तो (**शुद्धचिद्घनमहोनिधिः**) शुद्ध चैतन्य का समूहरूप तेज का पुञ्ज (**अस्मि**) हूँ।

सं० टी०—(**इह जगति**) इस संसार में (**अहम्-आत्मा**) आत्मारूप मैं (**स्वयं-आत्मना**) अपने द्वारा (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**चेतये-अनुभवामि, उपलभे-जानामीत्यर्थः**) जानता हूँ। (**किम्भूतमात्मानम्**) कैसी आत्मा को (**सर्वतः-सामस्त्येन**) समस्त रूप से (**स्वरसनिर्भर-भावम्-स्वस्य-आत्मनः, रसः-रुचिः-अनुभवनमिति यावत्-तेन निर्भरो भावः स्वभावोयस्य तम्,**) आत्मा के रस-अनुभव से भरपूर स्वभाव वाला (**मम-आत्मनः**) मेरा (**कश्चन-कोऽपि**) कोई भी (**शरीरादौ**) शरीर आदि में (**मोहः ममत्वं**) मोह-ममत्व —यह मेरा है इस प्रकार का भाव- (**नास्ति नास्ति-पुनः पुनर्नविद्यते**) नहीं है नहीं है - ऐसा बार-बार विचार करता है। (**अस्मि-भवाम्यहम्**) मैं हूँ (**कीदृशः**) कैसा ? (**शुद्धेत्यादि-शुद्धा-निर्मला-कर्मकलङ्करहित्यात्-सा चासौ चित् चेतना तस्याः, घनो निबिड़ः स चासौ महोदधिः महासमुद्रश्च घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात्**) शुद्ध-निर्मलकर्ममल से रहित होने के कारण अति पवित्र चेतना का अगाध महा समुद्र हूँ क्योंकि आत्मा समस्त गुणों का आधार है ॥३०॥

भावार्थ—मैं स्वभावतः अनन्त आनन्द का अखण्ड पिण्ड हूँ। उसका अनुभवन मैं ही स्वयं अपने आप अपने द्वारा करने का पूर्ण अधिकारी हूँ। अन्य किसी चेतन या अचेतन द्रव्य का मेरे साथ जरा-सा भी सहज सम्बन्ध नहीं है। परद्रव्य के साथ मेरा अहंकार या ममकार मेरे ही अज्ञान के कारण हो रहा था जिसकी वजह से मैं अनन्त संसारी बना रहा, यह मेरी ही मूल में भूल थी। जो अब तत्त्वोपदेश रूप अमृत के पान करने से सब तरह से निर्मूल हो चुकी है और मैं स्वयं ही ज्ञान-चेतना की अवस्था में रह रहा हूँ अतएव मात्र आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ॥३०॥

अब आत्मा और पर द्रव्यों के विवेक-भेद का विस्तार के साथ कथन करते हैं—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटित परमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**सर्वैः**) सभी (**अन्यभावैः**) पर पदार्थों के (**सह**) साथ (**विवेक**)

भेदज्ञान के (सति) होने पर **(अयम्)** यह **(उपयोगः)** ज्ञानदर्शन रूप परिणति **(स्वयम्)** स्वतः-अपने आप **(एकम्)** एक अद्वितीय **(आत्मानम्)** आत्मा को-अपने स्वरूप को **(बिभ्रत्)** धारण करता हुआ **(प्रकटित-परमार्थैः)** जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे **(दर्शनज्ञान-वृत्तैः)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के साथ **(कृतपरिणतिः)** एकता को धारण करने वाला **(आत्मारामे)** आत्मारूप उपवन में **(एव)** ही **(प्रवृत्तः)** प्रवृत्ति करता है।

सं० टीका—**(अयम्)** यह **(उपयोगः-ज्ञानदर्शनोपयोगः)** ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग **(स्वयम्-स्वरूपेण)** स्वतः-निजरूप से **(आत्मा चिद्रूप एव)** चैतन्य रूप में ही **(प्रवृत्तः-प्रवृत्तिं प्राप्तः)** प्रवृत्ति करता है। **(क्व सति)** किसके होने पर ? **(इति-पूर्वोक्त प्रकारेण)** पूर्व में कहे अनुसार **(सर्वैः-समस्तैः)** सभी **(अन्यभावैः-धर्माधर्मादिलक्षणैः परपदार्थैः)** अन्य धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य आदि विभिन्न लक्षण वाले परपदार्थों के **(सह साकम्)** साथ **(विवेके-पृथग्भावे जातेसति)** पृथक्ता-जुदाई का ज्ञान होने पर **(किम्भूतः-आत्मा ?)** कैसा आत्मा **(बिभ्रद्-दधद्)** धारण करता हुआ **(कम् ?)** किसको **(एकं-अद्वितीयम्)** एक-अद्वितीय **(आत्मानं-स्वस्वरूपम्)** अपने स्वरूप को **(भूयः-किंभूतः कृतपरिणतिः-कृता परिणतिः-परिणमनं-एकता यस्य सः)** एकता रूप परिणमन को प्राप्त हुआ **(कैः सह)** किनके साथ **(दर्शनज्ञानवृत्तैः—तच्छ्रद्धानबोधचारित्रैः-आत्मनस्तन्मयत्वात्)** आत्मश्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के साथ क्योंकि आत्मा स्वभावतः सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है **(कीदृशैस्तैः ?)** कैसे दर्शन ज्ञान चारित्र से। **(प्रकटित परमार्थैः-परमः-उत्कृष्टः, सर्वप्रकाशकत्वात्-सचासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्, प्रकटितः-प्रकाशं नीतः परमार्थोयेन सः तथोक्तः)** सर्व पदार्थों का प्रकाशक होने से परम-सर्वोत्कृष्ट जो परमात्मपद उसका प्रकाश करने वाले **(भूयः किम्भूतः)** फिर कैसा **(रामः-रमणीयः-मनोज्ञः)** रमणीय-मनोज्ञ-मन को प्रिय **(जगच्छ्रेष्ठत्वात्)** संसार में श्रेष्ठ होने से ॥३१॥

भावार्थ—परमात्मपद का मूल रत्नत्रय का एकत्व है। रत्नत्रय के एकत्व का बीज स्वपर भेद विज्ञान है क्योंकि स्व-आत्मा और पर-आत्मा से भिन्न सभी चेतन और अचेतन पदार्थों के भिन्नत्व का ज्ञान हो तो आत्मा को ज्ञानचेतना में प्रतिष्ठित करता है। ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि की चेतना ही तो है विना सम्यक्त्व के उसकी प्राप्ति होना नितान्त असम्भव है अतः सम्यग्दर्शन या ज्ञानचेतना का मुख्यतम साधन स्वपर भेदविज्ञान ही है उसके होते ही सम्यक्त्व और तदविनाभाविनी ज्ञानचेतना होती ही है और उसके होने पर स्वात्मानुभूति होती है जिसका चरमतम फल परमात्मपद ही है।

अब आत्मा ज्ञान का समुद्र है यह प्रकट करते हैं—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

अन्वयार्थ—**(एषः)** यह **(भगवान्)** भगवान् **(अवबोध सिन्धुः)** ज्ञानरूप समुद्र **(भरेण)** अपने भार

से (विभ्रमतिरस्करिणीम्) विपर्ययरूप परदे को (आप्लाव्य) दूर करके-विनष्ट करके (प्रोन्मग्नः) प्रकट हुआ है अतः (अमी) ये (समस्ताः) सभी (लोकाः) लोक-भव्य प्राणी (समम्) एक साथ (एव) ही (निर्भरम्) अतिशय रूप से (आलोकम्) लोक की शिखर तक (उच्छलति) उछलने वाले (शान्तरसे) शान्त रस में (निमज्जन्तु) स्नान करें—पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करें।

सं० टी०—(उन्मग्नः-उच्छलितः, प्रकटीभूत इतियावत्,) उन्मग्न-उछला उठा अर्थात् प्रकट हुआ—(कोऽसौ ?) यह कौन ? (एषः) यह (अवबोधसिन्धुः—अवबोधो ज्ञानं स एव सिन्धुः—अनन्तगुणाधारत्वात्,) ज्ञानरूप समुद्र क्योंकि यह अनन्त गुणों का आधार है। (किं कृत्वा ?) क्या करके ? (आप्लाव्य-प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः) डुबो करके-विनष्ट करके (काम्) किसको (विभ्रमेत्यादि:-विभ्रमो-ममेदमितिमोहः, मद्यवद्-भ्रमकारकत्वात् स एव तिरस्करिणी-यवनिका तां कण्टकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेन, उभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यात् जलेन तस्य विनाशयत्वात्) विभ्रम—यह मेरा है इस प्रकार का मोह—क्योंकि यह मदिरा के समान भ्रम-भ्रान्ति को पैदा करता है—वही हुआ तिरस्करिणी-परदा-उसको जैसे परदा कांटे आदि के द्वारा दुष्टता से स्पर्श किया गया विनाश को प्राप्त होता है वैसे ही जल के द्वारा जलमध्य वर्ती धान्य भी विनाश के योग्य होने से विनष्ट की जाती है क्योंकि यहां पर दोनों उपमान और उपमेय में सदृशता है (कथम् ?) कैसे (भरेण-अतिशयेन) अतिशय रूप से-अधिकता के साथ (मज्जन्तु-मज्जनं कुर्वन्तु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य,) मज्जन करो क्योंकि वह कर्म मल के प्रक्षालन में कारण है, (के ?) कौन ? (अमी) ये (समस्ताः-सर्वेलोकाः-भव्यजनाः) सभी भव्य जन (कथम् ?) कैसे (निर्भरं-अत्यर्थम्) अत्यन्त रूप से (सममेव-युगपद् एव) एक साथ ही (क्व ?) कहां-किसमें ? (शान्तरसे-शान्तः-उपशमत्वं, स एव रसः-पानीयम्, शाम्यस्य पाप प्रक्षालन शीलत्वात्) उपशमता रूप रस में क्योंकि शम-उपशमतारूप रस पापों के प्रक्षालन-धोने-विनाश करने का स्वभाव वाला होता है (आलोकम्-त्रिलोक शिखर पर्यन्तम्) तीन लोक की शिखर तक (उच्छलति-ऊर्ध्वंगमनं कुर्वतिसति-आलोकं व्याप्तेसति, इत्यर्थः) उछलने पर—ऊर्ध्वगमन करने पर अर्थात् लोक की शिखर तक व्याप्त होने पर (अन्यवारिधि जलस्योच्छलनशीलत्वात्) क्योंकि दूसरे समुद्रों का स्वभाव भी ऊपर की ओर ही उछलने का होता है।

भावार्थ—प्रकृत में शान्तरस की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नव रस नाटक में उपयोगी होते हैं। इनमें से एक शान्त रस को छोड़कर शेष आठ रस तो लौकिक हैं। लेकिन एक शान्त रस अलौकिक है। उसका अधिकार मात्र आत्म स्वरूप की उपलब्धि कराने में है, क्योंकि शान्तरस के होते ही आत्मा पापों का प्रक्षालन करने में सक्षम होता है। पापों का प्रक्षालन हो चुकने पर शान्त आत्मा पुण्य का भी प्रक्षालन कर सब रसों के उपशम होने से परमशुद्ध बन जाता है। और लोक की शिखर पर—तनुवातवलय में जहाँ सिद्ध परमेष्ठी विराजमान रहते हैं वहां, यहां से एक समय में पहुंचकर उनही सिद्धों की श्रेणी में जा बैठता है। यह है भेद विज्ञान की महिमा। जिसके प्रकट होते ही आत्मा में शान्ति का अपार-पारावार उछल उठता है।

जो वस्तुतः आत्मा का स्वरूपगत धर्म है। इसलिए हर एक आत्मार्थी-मोक्षार्थी भव्य पुरुष को चाहिए कि वह सबसे पहले अपने में स्वपर भेद विज्ञान की महिमा को समझे। तत्पश्चात् उसे अपने में जागृत करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे। प्रयत्न करने पर सफलता अवश्य ही मिलेगी।

अब ज्ञान विलास का व्याख्यान करते हैं

इसके अनन्तर जीव द्रव्य और अजीवद्रव्य दोनों मिलकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। उसमें सबसेपहले आचार्य मंगल के हेतु ज्ञान की महिमा को प्रकट करते हैं क्योंकि ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो अपने को जानता है और अपने से भिन्न समस्त चेतन और अचेतन पदार्थों को भी जानता है यही ज्ञान का मुख्य विलास है—

जीवाजीव विवेक पुष्कलदृशा प्रत्याय्य यत्पार्षदान्—
आसंसार निबद्ध बन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**जीवाजीव विवेक पुष्कलदृशा**) जीव तथा अजीव के भेद को-जुदाई को प्रकट करने वाली विशाल दृष्टि से (**पार्षदान्**) सभासदों—जीव और अजीव के नाना प्रकार के स्वांगों को देखने वाले सम्यग्दृष्टियों को तथा मिथ्यादृष्टियों को (**प्रत्याय्य**) भेद विज्ञान को प्रकट कराके (**आसंसारनिबद्ध बन्धनविधिध्वंसात्**) अनादि संसार को व्याप्त करके बन्धन को प्राप्त हुए कर्मों के बन्ध के विनाश से (**विशुद्धम्**) अतिशय रूप से निर्मल (**स्फुटत्**) स्फुरायमान (**आत्मारामम्**) आत्मा ही जिसका क्रीड़ावन-निवासस्थान है (**अनन्तधाम**) अविनश्वर तेजस्वी (**नित्योदितं**) निरन्तर उदित रहने वाला (**अध्यक्षेण**) सम्पूर्ण केवल ज्ञान के प्रकाश रूप (**महसा**) तेज से (**धीरोदात्तम्**) निष्कम्प एवं विशाल (**अनाकुलम्**) आकुलता-सङ्कल्प विकल्परूप मानसिक चिन्ताओं से शून्य (**यत्**) जो (**ज्ञानम्**) ज्ञान-सम्यग्ज्ञान है वह (**मनः**) चित्त को (**ह्लादयत्**) आनन्दित करता हुआ (**विलसति**) विलास को प्राप्त करता है।

सं० टीका (**ज्ञानं-शुद्धात्मबोधः**) शुद्ध आत्मज्ञान, (**विलसति-विलासं कुरुते**) विलास करता है (**तदित्यध्याहारः**) यहां तत्-इस पद का अध्याहार है। (**यत्-ज्ञानम्**) जो ज्ञान (**विशुद्धं-निर्मलम्**) निर्मल, (**कुतः ?**) कैसे (**आसंसारेत्यादिः-आसंसारं-पञ्चसंसारमभिव्याप्येत्यासंसारं निबद्धानि बन्धनं प्राप्तानि, तानि च तानि बन्धनानिच प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणानि तेषां विधिः-विधानं तस्यध्वंसः-विनाशः तस्मात्**) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार को व्याप्त करके बाँधे गये प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश लक्षण वाले बन्धों के विधान के विनाश से (**पुनः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा ? (**स्फुटत्-प्रादुर्भवत्**) विकास को प्राप्त होता हुआ—उत्पन्न होता हुआ (**किंकृत्य ?**) क्या करके ? (**प्रत्याय्य-प्रतीतिगोचरान् कृत्वा**) प्रतीति के विषय—भेदज्ञान के पात्र-करके (**कान् ?**) किनको ? (**पार्षदान्-सभापतीन्**) सदस्यों को—सभा के स्वामियों को (**कया ?**) किससे ? (**जीवाजीवविवेक पुष्कलदृशा जीवरूपा-**

जीवश्च जीवाजीवो तयोर्विवेकः-पृथक्करणं, स एव पुष्कला-विस्तीर्णावृक्-दृष्टिस्तया) जीव और अजीव इन दोनों का जो भेद ज्ञान वही हुई विस्तृत दृष्टि उससे (**किम्भूतम्**) फिर कैसा (**आत्मारामम्-आत्मा-चिद्रूपः-स एव आरामः-क्रीडावनम्-निवासस्थानम् यस्य तत्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा ही जिसका क्रीड़ावन-निवास स्थान है (**पुनः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा ? (**अनन्तधाम-अनन्तं-अन्तातीतं-धाम तेजः यस्य तत्**) अनन्त-विनाश से रहित है तेज जिसका अर्थात् अनन्त तेजस्वी (**नित्योदितं-नित्यं-निरन्तरं, उदितं-उदयप्राप्तम्**) हमेशा उदय को प्राप्त (**केन ?**) किससे ? (**अध्यक्षेण-सकल केवलालोक प्रत्यक्षेण**) सम्पूर्ण केवल-ज्ञान के प्रकाशरूप प्रत्यक्ष से (**महसा-तेजसा-लोकातिक्रान्त प्रकाशेन**) लोक को अतिक्रमण करने वाले प्रकाश से–लोक में सर्वोत्तम प्रकाश से (**धीरोदात्तम-धीरं-निष्कम्पं-धैर्यादिगुणयुक्तत्वात्-तच्च तदुदात्तं च उत्कटं, धीरोदात्तम्**) धीरता आदि गुणों से युक्त होने के कारण निष्कम्प-निश्चल और उत्कट (**अनाकुलं-आकुलतारहितम्**) आकुलता से रहित (**मनः भव्यचित्तम्**) भव्य जीवों के मन को (**ह्लादयत्-हर्षोद्रेकं कुर्वत्**) अत्यन्त हर्षित करता हुआ।

भावार्थ—ज्ञान में परिपूर्णता का कारण ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा विनाश है, और निर्मलता का बीज मोहनीय कर्म का पूर्णरूप से अभाव है क्योंकि ज्ञान में जो इष्ट और अनिष्ट विकल्प उठा करते हैं वे सब मोह जनित होते हैं वे भी अल्प ज्ञान या अधूरे ज्ञान में ही उठा करते हैं क्योंकि अल्पज्ञान-क्षायोपशमिक ज्ञान-मोहनीय कर्म के रहते हुए ही होते हैं। हां केवलज्ञान-परिपूर्णज्ञान या असहायज्ञान तो मोहनीय कर्म के विनाश के अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है अतः उसमें विकल्पों इष्ट और अनिष्ट कल्पनाओं का उत्पन्न होना असम्भव है। इस अक्षय ज्ञान का क्रीड़ास्थल मात्र आत्मा-रूप उपवन ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा जब परिपूर्ण निरावरण केवल ज्ञान से सम्पन्न होता है तब उसमें लोक त्रयवर्ती अनन्तानन्त पदार्थ अपनी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्तनन्त पर्यायों के साथ युगपत् एक ही काल में प्रतिबिम्बित होते हैं। उनके प्रतिबिम्बित होने पर भी आत्मा अपने स्वरूप में ही निमग्न रहता है। आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है और ज्ञेयों का स्वभाव ज्ञेय रूप से ज्ञान में प्रतिबिम्बित-झलकते रहना है। दोनों अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं। एक दूसरे में बाधा नहीं पहुंचाते हैं। सच बात तो यह है कि अपूर्ण ज्ञान की अवस्था में भी आत्मा की ज्ञायकता में ज्ञेय बाधक नहीं होते हैं वे तो स्वयं ही अपने स्वरूप में निमग्न रहते हैं पर मोही आत्मा मोहोदय के कारण स्वयं ही उन पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट कल्पना करके निरन्तर दुखी होता रहता है अतएव अपने स्वरूप से च्युत रहता है। इसमें अन्य पदार्थ दोषी नहीं हैं। दोषी तो मात्र मोही-आत्मा ही है। यदि यह आत्मा मोह न करे तो यह इसके पुरुषार्थ की बात है इसमें पर पदार्थ क्या कर सकता है वह तो पर ही है। पर पदार्थ अपने में ही हेरफेर करने के अधिकारी हैं। अपने से भिन्न किसी भी पदार्थ में रञ्चमात्र भी हेरफेर करने वाले वे नहीं हैं न थे और न होंगे यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। मोही अज्ञानी इस सिद्धान्त को समझ ही नहीं पाता है अतएव हमेशा खेद खिन्न बना रहता है। स्वयं की ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती जब जाती है तब पर

की ओर ही जाती है इसलिए ही पर को सुख दुख का कारण मान पर से राग और द्वेष कर सुखी और दुखी होता रहता है।

अब भेद विज्ञान के लिए उत्साहित करते हुए आचार्य कहते हैं—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्यषण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(**विरम**) हे आत्मन् तुम संसार से विरक्त हो (**अपरेण**) अपने से भिन्न पदार्थों के (**अकार्य कोलाहलेन**) निष्प्रयोजन कोलाहल तर्क-वितर्क रूप चर्चा से (**किम**) क्या प्रयोजन अर्थात् उससे इस तेरी आत्मा का कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है (**त्वम्**) तुम (**स्वयम्**) स्वतः-अपने आप (**अपि**) ही (**निभृतः**) निश्चल-निश्चिन्त रूप से स्थिर (**सन्**) होते हुए (**एकम्**) एक (**षण्मासम्**) छह माह तक (**पश्य**) देखो-आत्मा के स्वरूप को समझने की ओर ध्यान दो ऐसा करने से (**हृदयसरसि**) मन रूप तालाब में (**पुद्गलात्**) पुद्गल से-शरीरादि से (**भिन्नधाम्नः**) पृथक् तेजस्वी-अखण्ड-चैतन्यपुञ्जमय तेज वाले (**पुंसः**) आत्मा-जीव की (**ननु**) निश्चय से (**किम्**) क्या (**अनुपलब्धिः**) अप्राप्ति (**भाति**) मालूम पड़ती है अथवा (**किम्**) क्या (**उपलब्धिः**) प्राप्ति (**भाति**) मालूम होती है ?

सं० टी०—(**ननु शब्दोऽत्र-आमन्त्रणे**) यहां ननु शब्द आमन्त्रण-बुलाने अर्थ में हैं। हे जीवात्मा (**विरम-विरक्तोभव संसार दुःखादेः, परादपवोव्यापाराच्च**) संसार के दुःखादि से और पर पदार्थ से—जिसके विषय की चर्चा से तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। (**अकार्य कोलाहलेन-कार्यादन्योऽकार्यः**) कार्य से भिन्न का नाम अकार्य है अर्थात् जिससे तुम्हारा जरा भी सरोकार नहीं है उसके कोलाहल-विचार-विमर्श से, (**तत्रभावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे। ईषदर्थे च सादृश्यास्तद्विरुद्धतदन्ययोः ॥१॥**) तत्र भाव, निषिद्ध, स्वरूपार्थ के अतिक्रमण, ईषदर्थ, सादृष्यते तद्विरुद्ध और तदन्य अर्थ में (**इति नञ् शब्दस्य तदन्य-वाचित्वात्,**) इस कारिका के आधार से नञ् शब्द प्रयोजन से भिन्न का वाचक होने से (**अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च सतेन,**) निष्प्रयोजन-बेमतलव के कोलाहल-शोरगुल-होहल्ला से जैसे (**तथाहि-नैसर्गिक राग-द्वेष कर्मकल्माषितं अध्यवसानमेवजीवः, तथाविधाध्यवसानादंगारस्येव कार्त्स्न्यात्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुप-लभ्यमानत्वात् इति केचित् ॥१॥**) स्वाभाविक राग द्वेष रूप कर्म के मल से मलिन अभिप्राय ही आत्मा या जीव है क्योंकि उक्त प्रकार का अध्यवसान-अभिप्राय पूर्णरूप से अंगार के समान उपलब्ध है उसके अतिरिक्त सिवा अन्य कोई जीव है ऐसा समझ में नहीं आता ऐसा किन्हीं का कहना है। (**अनाद्यनन्त पूर्वापरीभूतावयवैकसंसरण कियारूपेण क्रीडन् कर्मैव जीवः, कर्मणाऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्-इति केचित् ॥२॥**) अनादि अनन्त जो पूर्वापर अवयव रूप पुद्गल परमाणुओं में परिभ्रमण स्वरूप क्रिया से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है क्योंकि कर्म से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ है ऐसी उपलब्धि नहीं है ऐसा कोई कहते हैं ॥२॥ (**तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्त राग रस निर्भराध्यवसानसन्तान एव जीव-स्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥३॥**) तीव्र-अत्यधिक तथा मन्द-अत्यल्प अनुभव-

अनुभूति के भेद से भेद को प्राप्त होने वाला अतएव फलकाल में महा दुःखदायक जो राग रूप रस उससे भरपूर ओतप्रोत अध्यवसान-अभिप्राय की सन्तति ही जीव है क्योंकि उक्त रागात्मक परिणाम से भिन्न कोई जीव पदार्थ उपलब्ध-अनुभव में नहीं आता— ऐसा कोई कहते हैं ।।३ । (**नव पुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीवः, शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।४।।**) नूतन तथा पुरातन अवस्था आदि के रूप से परिवर्तनशील नोकर्म-शरीरादिरूप से परिणत पुद्गल विशेष ही जीव है उस शरीरादि से पृथक् कोई जीव नाम का पदार्थ है ऐसा देखने या सुनने में नहीं आता है ऐसा कोई कहते कहते हैं ।।४।। (**विश्वमपि पुण्य पापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।५।।**) सारे जगत को पुण्य और पाप से आक्रान्त व्याप्त करने वाला कर्मविपाक—कर्मों का फल-ही जीव है क्योंकि शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप से अतिरिक्त-जुदा कोई अन्य जीव नहीं है ऐसा ही अनुभव में आता है ऐसा कोई कहते हैं ।।५।। (**सातासातरूपेणाभिव्याप्त समस्त तीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां-भिद्यमानाकर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित् ।।६।।**) साता-सुख तथा असाता-दुःख के रूप से चारों ओर या सब तरफ से भरपूर तीव्र-कठोर तथा मन्द सरल रूप गुण से भेद को प्राप्त करने वाला कर्मों का अनुभव-सुख दुःख रूप वेदन ही जीव है इससे पृथक् कोई जीव पदार्थ है ऐसा उपलब्धि के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता है ऐसा कोई कहते हैं ।।६।। (**मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।७।।**) आपस में एक दूसरे से दूध और पानी की तरह हिलेमिले रहने के कारण आत्मा और कर्म दोनों ही जीव हैं कारण कि पूर्णरूप से कर्म को छोड़कर जुदा जीव है ऐसी उपलब्धि नहीं है ।।७।। (**अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात् खट्वाया इव काष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।८।।**) अर्थ क्रिया में समर्थ कर्मों का संयोग ही जीव है क्योंकि जैसे काठ के संयोग से भिन्न कोई खट्वा-खाट-चारपाई चीज नहीं है प्रत्युत काठ संयोग का नाम ही खट्वा है वैसे ही अर्थ क्रिया समर्थ कर्म संयोग का नाम ही जीव है उससे भिन्न कोई जीव पदार्थ प्राप्त नहीं है ।।८।। (**एवमेवं प्रकारेण कोलाहलेन किम् ?**) इस पूर्वोक्त प्रकार के कोलाहल से क्या साध्य सिद्ध हो सकता है ? (**न किमपि**) अर्थात् कोई भी प्रयोजन हल नहीं हो सकता है । (**तर्हि किं कर्तव्यम् ?**) तो क्या करना चाहिए ? (**एकं षण्मासम्-षण्मासपर्यन्तम्**) छह महीने तक (**पश्य-अवलोकय**) देखो-विचारो (**किम्भूतः सन् ?**) कैसे होते हुए ? (**स्वयमपि स्वतएव-परनिरपेक्षोभूत्वा**) खुद-ब-खुद दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए अर्थात् स्वापेक्ष होकर (**निभृतः सन्-निश्चलः सन्**) निश्चल होते हुए (**समस्त व्यापार तन्वादिचिन्तांविहाय**) सभी व्यापार और शरीर आदि की चिन्ता को छोड़कर (**क्व ?**) कहां ? (**हृदयसरसि-हृदयं चित्तं एव सरः सरोवरं तस्मिन्**) मनरूप तालाब में (**पुंसः आत्मनः**) आत्मा के (**तदा**) उस समय (**अनुपलब्धिः-अप्राप्तिः**) अनुपलब्धि-उपलब्ध नहीं होना (**किम् ?**) क्या ? (**भाति, प्रतिभासते**) मालूम होती है (**च पुनः-पक्षान्तरे**) और दूसरे पक्ष में (**उपलब्धिः-प्राप्तिः**) प्राप्ति (**किम् ?**) क्या (**भाति**) मालूम होती है । (**निश्चल-स्वात्म-**

स्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यन्तरे आत्मनः, अनुपलब्धिः-उपलब्धिर्वाभवति-इत्यर्थः) अर्थात् स्थिरता के साथ अपनी आत्मा के स्वरूप को अवलोकन करने पर छह महीने के भीतर आत्मा की उपलब्धि या अनुपलब्धि हो सकती है। **(किम्भूतस्य पुंसः ?)** कैसी आत्मा के **(पुद्गलात्-परमाण्वादि द्रव्यात्)** पुद्गल द्रव्य से जो परमाणु और आदि शब्द से स्कन्ध रूप है **(भिन्नधाम्नः-भिन्नं-अतिरिक्तं धाम-तेजोऽस्यतत्)** भिन्न तेज वाले ॥३४॥

भावार्थ टीकाकार ने कोलाहल शब्द से आत्मा के विषय में विभिन्न प्रकार के मतमतान्तरों की मान्यताओं का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहा है कि इन मतमतान्तरों के विवाद को छोड़कर तुम स्वयं ही अनुभवपूर्ण विचारधारा में निमग्न होकर शरीरादि से भिन्न चिच्चमत्कार सम्पन्न आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक छह महीने तक तन्मय होकर शरीर से भिन्न अपने को देखो ऐसा करने से तुम्हें अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति अवश्य ही होगी क्योंकि आत्मस्वरूप की उपलब्धि में पर पदार्थ से सर्वथा भिन्न आत्मा के स्वरूप का स्वाद ही मुख्य कारण है। महापुरुषों ने इसी मार्ग पर चलकर ही आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति की थी अतः यही मार्ग प्रत्येक आत्मस्वरूप लिप्सु मुमुक्षु पुरुष को उपादेय है प्रशस्त है श्रेयस्कर है।

अब सभी द्रव्यों से सर्वथा भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है यह निरूपण करते हैं—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं, स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरिचरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—**(आत्मा)** आत्मा। **(चिच्छक्तिरिक्तम्)** चैतन्य शक्ति से शून्य अर्थात् अचेतन-जड़ स्वरूप **(सकलम्)** सभी पदार्थ समूह को **(अह्नाय)** शीघ्र ही **(विहाय)** छोड़ कर **(च)** और **(चिच्छक्तिमात्रम्)** चेतन्य शक्ति स्वरूप **(स्वम्)** अपनी आत्मा का **(स्फुटतरम्)** अत्यन्त स्पष्ट रूप से **(अवगाह्य)** अवगाहन करके **(विश्वस्य)** लोक के **(उपरि)** ऊपर **(चारु)** सुन्दरता से **(चरन्तम्)** प्रवर्तमान **(अनन्तम्)** अन्त रहित-अविनाशी **(परम)** सर्व श्रेष्ठ **(इमम्)** इस **(आत्मानम्)** आत्मा को **(आत्मनि)** आत्मा में **(साक्षात्-कलयतु)** साक्षात् अनुभव करो।

सं० टीका—**(कलयतु-ध्यायतु, पश्यतु-जानातु वा कलिवलि कामधेनुरितिवचनात्)** ध्यावे-देखे अथवा जाने क्योंकि कल् और वल् धातु कामधेनु के समान इष्ट अर्थ को देने वाली हैं। **(कः ?)** कौन ? **(आत्मा-चिद्रूपः)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(कम् ?)** किसे **(इमम्-प्रत्यक्षीभूतं स्वानुभवादिभिः)** अर्थात् स्वानुभव आदि के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली इस **(आत्मानम्—स्वस्वरूपं-आत्मा)** अपने स्वरूप को **(क्व)** कहाँ **(आत्मनि-स्वस्वरूपे)** आत्मा में अपने निज रूप में **(किम्भूतम् ?)** कैसे ? **(साक्षात्-प्रत्यक्षम्)** प्रत्यक्षरूप से **(विश्वस्य-जगतः)** विश्व-जगत् के **(उपरि)** ऊपर **(चरन्तम्-अग्रिमभागे परिस्फुरन्तं-लोकातिशायिमाहात्म्यं, लोकालोक परिच्छेदकं वा चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात)** अग्रिमभाग—शिखर पर लोकोत्तर माहात्म्य वाले अथवा लोक और अलोक को जानने वाले क्योंकि चर धातु का अर्थ जानना भी होता है **(परम्-उत्कृष्टम्)**

उत्कृष्ट-उत्तम (**अनन्तम्-अन्तातीतम्**) अनन्त-अन्त से रहित (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**अवगाह्य-अनुभूय**) अवगाहन-अनुभव करके (**किम्भूतं-स्वम् ?**) कैसी अपनी आत्मा को ? (**चिच्छक्तिमात्रं-ज्ञान शक्तिमात्रम्**) चैतन्य शक्तिरूप-ज्ञान सामर्थ्यवान् (**स्फुटतरम्-अतिव्यक्तम्**) अति स्पष्ट (**च-पुनः**) और (**किं कृत्वा**) क्या करके (**विहाय-त्यक्त्वा**) छोड़कर (**सकलमपि-समस्तमपि**) सभी (**परद्रव्यम् न तु-एकदेशेनेत्यपिशब्दार्थः**) पर द्रव्य को - पर द्रव्य के किसी एक भाग को नहीं ऐसा अपि शब्द का अर्थ है (**किम्भूतं तत् ?**) वह परद्रव्य कैसा ? (**चिच्छक्तिरिक्तम्-ज्ञानशक्तिमुक्तम्-अचेतनमितियावत्**) चैतन्यशक्ति-ज्ञानशक्ति से रहित अर्थात् जड़-अचेतन (**अह्नाय-शीघ्रम्**) जल्दी (**शीघ्र-वाच्यव्ययम्**) अह्नाय यह शीघ्रार्थ का वाचक अव्यय है (**स्रग् झगित्यञ्जसाह्नाय इत्यमरः**) स्रक्, झगिति, अञ्जसा और अह्नाय ये चार शब्द अव्ययसंज्ञक शीघ्र अर्थ के वाचक हैं ऐसा अमरकोश का वचन है।

भावार्थ—आत्मा के साथ द्रव्यकर्म भावकर्म-नोकर्म का सम्बन्ध है उसको इस प्रकार समझना चाहिए जैसे वर्तन में चीनी रखकर अग्नि पर रखकर गरम करे चासनी बनावे वहां पर मिठ्ठापना भी है गर्मपना भी है बर्तन भी है और अग्नि भी है इनमें चीनी का होना अपने मिट्ठेपने के साथ बाकी सब संयोगी अवस्था है चीनी सर्वांग में गर्म है चीनी ही गर्म हुई है परन्तु गर्मपना चीनी का नहीं है अग्नि का है अब यह हमारे पर निर्भर है कि हम चीनी को गर्मरूप अनुभव करें या मिट्ठेरूप। हमने गर्मरूप तो अनुभव किया परन्तु मिट्ठेरूप नहीं किया। इसी प्रकार आत्मा में एक ज्ञायक भाव है—एक रागादिक परिणमन—शरीर और कर्म का सम्बन्ध है। ज्ञानपना आत्मा के निज सत्व से उठ रहा है, जिसके होने से आत्मा का होना है रागादि भाव चीनी को गर्मपने की तरह पर से होने वाले हैं उनके अभाव में भी आत्मा का अभाव नहीं है यही बात शरीरादि कर्मादि के साथ है इसलिए आचार्य प्रेरणा करते हैं कि समस्त चैतन्य से रहित जो रागादि शरीरादि-कर्मादि हैं उनको वाद देने के बाद जो बाकी बचा चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा का निज भाव वही अनुभव करने का है यह भाव समस्त पर कृत भावों से अलग अनुभव गोचर है ॥३५॥

अब चेतन और अचेतन में मौलिक अन्तर है यह बताते हैं—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका अमी ॥३६॥

अन्वयार्थ- (**चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः**) चैतन्य शक्ति से व्याप्त सर्वस्व सार वाला (**इयान्**) इतना (**एव**) ही (**अयम्**) यह (**जीवः**) जीव (**अस्ति**) है (**अतः**) इस चैतन्यशक्ति से (**अतिरिक्ताः**) शून्य (**सर्वेऽपि**) सभी (**अमी**) ये—(**भावाः**)भाव (**पौद्गलिकाः**) पुद्गल जन्य (**सन्ति**) हैं।

सं० टी०—(**अयम्**) यह (**जीवः-आत्मा**) जीव-आत्मा (**इयान्-एतावन्मात्रः**) इतना ही (**अस्ति**) है (**चिच्छक्तीत्यादि चिच्छक्त्या-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वतः-सामस्त्येन, सारं-अन्तर्भागो यस्य सः**) चैतन्य शक्ति-ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद से व्याप्त है सब तरफ से सार भाग

अन्तरङ्ग जिसका अथवा जिसका प्रत्येक प्रदेश सब तरफ से चैतन्य शक्ति से भरपूर है (**अमी-प्रत्यक्षाः शरीरादयः**) प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले शरीर आदि (**सर्वेऽपि-समस्ता अपि**) सभी (**भावाः-पदार्थाः**) पदार्थ (**पौद्गलिकाः-पुद्गलेभवाः-पौद्गलिकाः**) पुद्गल में उत्पन्न होते रहते हैं (**अतः-एतस्मात्-चैतन्यात्**) इस चैतन्य से (**अतिरिक्ताः-भिन्नाः-ज्ञान शून्या इत्यर्थः**) भिन्न अर्थात् चैतन्य-ज्ञान से रहित है।

भावार्थ -जीव का जितना भी परिणमन है वह सब ज्ञानदर्शन शक्ति से भरपूर रहता है क्योंकि ज्ञान दर्शन जीव का मुख्य गुण है और जो गुण होता है वह गुणी से अभिन्न ही रहता है। स्वभावतः गुण गुणी में सर्वदा और सर्वथा अभेद ही होता है उसमें भेद की कल्पना मात्र कल्पना ही है क्योंकि वह व्यवहार के आश्रय से की जाती है। ज्ञान शक्ति से शून्य जो कुछ भी इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है वह सब मात्र पुद्गल का परिणमन विशेष है जो स्वभावतः जड़ता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। यही जीव और पुद्गल में खास फर्क है जो दोनों तत्त्वों की पृथकता को सूचित-प्रदर्शित करने में दर्पण के समान है।

अब वर्ण आदि में जुदाई को दिखाते हैं—

वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा भिन्नाभावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**वर्णाद्या**) वर्ण आदि (**वा**) अथवा (**मोहादयः**) मोह आदि (**सर्वे**) सभी (**भावाः**) भाव-परिणमन (**अस्य**) इस (**पुंसः**) आत्मा के (**भिन्नाः**) भिन्न-जुदे (**एव**) ही (**सन्ति**) हैं। (**तेन**) भिन्न होने से (**एव**) ही (**तत्त्वतः**) वस्तुतः-परमार्थ दृष्टि से (**अन्तः**) अन्तरङ्ग-निज स्वरूप को (**पश्यतः**) देखने वाले के (**अमी**) ये वर्ण आदि तथा राग-मोह आदि (**दृष्टाः**) दिखाई (**नो**) नहीं (**स्युः**) देते (**परम्**) सिर्फ (**एकम्**) एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व ही (**दृष्टम्**) दिखाई (**स्यात्**) देता है।

सं० टीका (**अस्य-प्रत्यक्षस्य**) इस प्रत्यक्षीभूत (**पुंसः-आत्मनः**) आत्मा के (**वर्णाद्या वा वर्णगन्धरसस्पर्शरूप शरीर संस्थान संहननादयो बहिर्भावाः, वा पुनः रागमोहादयः-रागद्वेषमोह प्रत्यय कर्म नोकर्म वर्ग वर्गणा स्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान योगस्थान बन्धस्थानोदय स्थानमार्गणा स्थानस्थिति बन्धस्थान संक्लेशस्थान विशुद्धिस्थान संयम लब्धिस्थान जीवस्थानादयः,**) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरूप शरीर, संस्थान, संहनन आदि बाह्य परिणमन तथा राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सङ्क्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान और जीवस्थान आदि (**सर्वे-समस्ताः**) समस्त (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**भावाः-पदार्थाः**) पदार्थ (**भिन्नाः-अतिरिक्ताः, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः**) आत्मा से भिन्न हैं (**तेनैव-वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव**) वर्ण आदि से भिन्न होने के कारण ही (**तत्त्वतः-परमार्थतः**) परमार्थ निश्चय से (**अन्तः-अभ्यन्तरे-स्वस्वरूपे**) भीतर अपनी आत्मा के स्वरूप में (**पश्यतः अवलोकयतः-स्वध्यानं कुर्वत इतिर्भावः**) देखने वाले अर्थात् अपनी आत्मा के ध्यान करने वाले के (**अमी-वर्णरागादयः**) ये वर्ण आदि

और राग आदि (**नोदृष्टाः—नावलोकिताः**) नहीं देखे गये (**स्युः-भवेयुः**) होते हैं (**अवलोकनेऽन्तः सति किं दृष्टम् ?**) देखने पर भीतर क्या देखा ? (**एकं-अद्वितीयं**) एक-अद्वितीय (**परं-उत्कृष्टं-परमात्मानमित्यर्थः**) उत्कृष्ट अर्थात् परमात्मा (**दृष्टं-अवलोकितम्**) देखा हुआ (**अन्तः पश्यतः पुंसः**) भीतर देखने वाले पुरुष के (**स्यात्-भवेत्**) होता है।

भावार्थ—वर्ण आदि रूप जो कुछ भी भाव-परिणमन होते हैं वे सबके सब पुद्‌गलद्रव्य के हो अस्तित्व में उपलब्ध होते हैं। पुद्‌गल द्रव्य से भिन्न किसी भी द्रव्य में उनकी उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि पुद्‌गल द्रव्य को मूर्तिमान माना है। और मूर्ति शब्दका अर्थ-स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण माना है। यह स्पर्शादि का चतुष्टय मात्र पुद्‌गल का धर्म है अतएव पुद्‌गल धर्मी ही मूर्तिमान् शब्द से व्यवहृत होता है। उससे यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि पुद्‌गल का धर्म पुद्‌गल में ही उपलब्ध होगा। उसकी उपलब्धि चैतन्य स्वरूप आत्मा में त्रिकाल में भी सम्भावित नहीं है। अतएव आत्मा वर्णादि से त्रैकालिक भिन्नता रखता है। अब रही बात राग द्वेष मोहादि की, सो यद्यपि रागादि का अस्तित्व आत्मा में ही प्राप्त होता है क्योंकि वे सब संसारी आत्मा के ही विकारी भाव हैं। तथापि उनकी उत्पत्ति कर्मबद्ध रागी आत्मा में ही सम्भवित है वीतरागी में नहीं। अर्थात् घातिकर्म विनाशक अर्हन्त परमेष्ठी जो अनंत चतुष्टय से मण्डित हैं वे अघातिकर्म से बद्ध होते हुए भी पूर्ण वीतरागी हैं। जब उनमें रागादि नहीं हैं तब कर्ममुक्त मुक्तात्माओं में उनका अस्तित्वकैसे हो सकता है अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है। इन्हीं अर्हन्त एवं सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप की ओर जब हमारा ध्यान जाता है तब हमें यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा के स्वभाव में रागादि विभाव नहीं है। वे तो औपाधिक भाव हैं अतएव विभाव हो हैं। अतः वे सबके सब भाव इस आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा स्वभाव दृष्टि से देखने पर स्पष्टतया दिखाई देता है। स्वभाव दृष्टि में तो मात्र चैतन्यमय आत्मा ही दिखाई पड़ता है अन्य कुछ भी नहीं। यह स्वभाव दृष्टि का अचिन्त्य माहात्म्य है।

अब पुद्‌गल से बना हुआ पुद्‌गल ही होता है यह दिखाते हैं—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।

रुक्मेणनिर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**अत्र**) इस जगत् में (**येन**) जिसके द्वारा (**यत् किञ्चित्**) जो कुछ (**निर्वर्त्यंते**) निर्माण किया जाता है रचा जाता या बनाया जाता है (**तत्**) वह (**तत्**) वह (**एव**) ही (**स्यात्**) होता है (**अन्यत्**) उससे भिन्न दूसरा (**कथञ्चन**) किसी प्रकार से (**न**) नहीं (**स्यात्**) हो सकता। (**इह**) इस लोक में (**रुक्मेण**) सुवर्ण से (**निर्वृत्तम्**) निर्माण किये हुये (**असिकोशम्**) म्यान-तलवार के रखने के घर को (**जनाः**) मनुष्य (**रुक्मम्**) सुवर्ण (**पश्यन्ति**) देखते हैं-जानते हैं (**असिम्**) तलवार (**कथञ्चन**) किसी प्रकार से (**न**) नहीं (**पश्यन्ति**) देखते हैं।

सं० टीका · (**अत्र-जगति**) इस जगत् में (**यत्-शरीरादि**) जो शरीर आदि (**किञ्चित्-किमपि**) कोई भी (**येन-पुद्गलादिना**) जिस पुद्गल आदि के द्वारा (**निर्वर्त्यते-निष्पाद्यते**) रचा जाता है (**तत्-शरीरादि**) वह शरीर आदि (**तदेव-पौद्गलिकमेव**) पुद्गल रूप ही (**स्यात्-भवेत्**) होता है (**कथञ्चन-केनापि प्रकारेण संस्कारादिना**) संस्कार आदि किसी प्रकार से भी (**अन्यत्-पुद्गलातिरिक्तं**) पुद्गल से भिन्न (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकता (**अथवा-अन्यत्-आत्मादि द्रव्यं केनापिप्रकारेण पौद्गलिकं न हि**) अथवा वस्तुतः आत्मादि द्रव्य किसी प्रकार से भी पुद्गल द्रव्यरूप नहीं हो सकता (**इममर्थं दृष्टान्तयति**) इस अर्थ को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं (**इह-जगति**) इस जगत् में (**रुक्मेण-कार्तस्वरेण**) सुवर्ण से (**निर्वृत्तं-निष्पन्नम्**) रचित (**असिकोशं-कनकपत्रनिष्पन्नं खड्गपेटारकम्**) असिकोश-तलवार को पिटोरा-म्यान को (**रुक्मं-सौवर्णम्**) सुवर्ण रूप से (**पश्यन्ति-अवलोकयन्ति**) देखते हैं (**सर्वे व्यवहारिणः**) सभी व्यवहारी लोक (**कथञ्चन-केनपि प्रकारेण-आधाराधेयादिना**) आधार आधेय आदि किसी प्रकार से भी (**असिं-खड्गम्**) तलवार को (**सौवर्णम्**) सुवर्ण रूप से (**न**) नहीं (**पश्यन्ति**) देखते हैं।

भावार्थ—पुद्गल से निर्मित शरीर पुद्गल ही है। पुद्गल से पृथक् किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं। पुद्गल का परिणमन पुद्गल रूप ही होगा। आत्मा रूप नहीं। तथा आत्मा का परिणमन आत्मा रूप ही होगा। पुद्गल रूप नहीं। एक द्रव्य का परिणमन अपने रूप ही होगा। पररूप नहीं। ऐसा सिद्धान्त त्रिकाल अबाधित है। अतः ज्ञानी जन शरीर को जड़ पुद्गल तत्त्व से निर्मित होने के कारण जड़ ही जानते मानते हैं। आत्मा को आत्मारूप से ही जानते हैं क्योंकि आत्मा स्वभावतः चेतन है। ज्ञान दर्शन का पिण्ड है। वह त्रिकाल में जड़ शरीररूप नहीं हो सकता है ऐसा निश्शंक रूप से जानना मात्र ज्ञानी-वस्तु स्वरूप के मर्म को जानने और पहचानने वाले-के ही हो सकता है।

अब वर्णादि पुद्गल रूप हैं यह स्पष्ट करते हैं—

वर्णादि सामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एवनात्मा यतः सविज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) इस (**वर्णादिसामग्र्यम्**) वर्णादि से लेकर गुणस्थान तक के भावों को (**हि**) निश्चय से (**एकस्य**) एक (**पुद्गलस्य**) पुद्गल द्रव्य का (**निर्माणम्**) निर्माण-रचना विशेष (**विदन्तु**) जानो। (**ततः**) तिस कारण से (**इदं**) यह वर्णादि का समूह (**पुद्गलः**) पुद्गल (**एव**) ही (**अस्ति**) है (**आत्मा**) आत्मा (**न**) नहीं है। (**यतः**) क्योंकि (**सः**) वह आत्मा (**विज्ञानघनः**) विज्ञान का पिण्ड (**अस्ति**) है (**ततः**) इसलिये (**अन्यः**) इन वर्णादि भावों से पृथक्-जुदा (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**विदन्तु-जानन्तु दक्षाः, इत्यध्याहार्यम्**) दक्ष-वस्तु स्वरूप को जानने में निपुण कुशल-ज्ञानीजन जाने। यहां दक्ष पद का अध्याहार करना चाहिए। **इदं-प्रत्यक्षम्**) इस प्रत्यक्ष-दिखाई देने वाले (**वर्णादिसामग्र्यम्—वर्णादीनि-वर्णगन्ध रस स्पर्शशरीर संस्थान संहननादीनि तेषां सामग्र्यं-समस्तत्व भावः**

सामग्रचम्) वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन आदि के समुदाय की (निर्माणं) रचना (एकस्य-धर्मादिपंचद्रव्यनिरपेक्षस्य) धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव की अपेक्षा से शून्य एक पुद्गलस्य-परमाणु द्रव्यस्य) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य की (हि-इति निश्चितम्) निश्चित है (नान्यन्निष्पादितम्) दूसरे द्रव्य से नहीं रचा हुआ है (ततः-तस्मात्कारणात्) तिस कारण से (वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनात्) अर्थात् वर्णादि की रचना का साधन पुद्गल होने से (इदन्तु-वर्णादि) यह वर्णादि तो (पुद्गल एव वर्णादि-नामप्रकृतिनिष्पादितत्वात्) पुद्गल ही है क्योंकि वर्णादि नाम कर्म की प्रकृतियों से ही वर्णादि की रचना होती है (नात्मा-चिद्रूपो नहि) चैतन्य स्वरूप आत्मा से नहीं (वर्णादिचिद्रूपः कुतो न) वर्ण आदि चैतन्य-स्वरूप क्यों नहीं हैं ? (यतः-यस्मात् हेतोः) जिस कारण से (सः-आत्मा) वह आत्मा (विज्ञानघनः-विशिष्टेन ज्ञानेन बोधेन, घनोनिबिडः विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः) ज्ञान से लबालब भरा हुआ अथवा जिसमें विशेष ज्ञान पिण्ड पाया जाता है (ततः-वर्णादीनां विज्ञानाभावात्) तिस कारण से अर्थात् वर्णादि में विज्ञान न होने से (अन्यः-वर्णादिभिन्न एव) वर्णादि से जुदा ही है ॥३९॥

भावार्थ - आचार्यश्री ने प्रेरणा की है कि जो ज्ञानी जन आत्म स्वरूप तथा पर के स्वरूप को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष हैं। वे पुद्गल जन्य वर्णादिकों से तथा कर्म जनित राग द्वेष मोहादि विभाव भावों से रहित ही आत्मा को देखें जानें और श्रद्धान में लायें। आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्यहै। स्वभाव दृष्टि से तो सभी आत्मा शुद्ध हैं। पर्यायदृष्टि में अशुद्धता है जिसका अभाव क्रम से होते हुए शुद्धत्व की पूर्णोपलब्धि जीवन्मुक्त तथा सर्व कर्म विमुक्त, मुक्तात्माओं में वर्तमान रहती है। ऐसा ही प्रत्येक संसारी आत्मा का स्वाभाविक द्रव्य है। उसकी सम्प्राप्ति ही प्रत्येक आत्मार्थी का चरम लक्ष्य है। वहां तक पहुंचने का एकमात्र मार्ग भेदविज्ञान है। उसे जागृत करने की ओर ही ज्ञानियों का ध्यान जाना चाहिए। विना उसके इष्ट सिद्धि कथमपि सम्भव नहीं है।

अब जीवों के वर्णादि का प्रतिपादन मिथ्या है यह निरूपण करते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (घृतकुम्भाभिधाने) घी का घड़ा कहने पर (अपि) भी (कुम्भः) कुम्भ-घड़ा (घृतमयः) घृतमय घी का (न) नहीं (भवेत्) होता है (तर्हि) तो (वर्णादिमज्जीवजल्पने) वर्णादि-मान् जीव को कहने पर (अपि) भी (जीवः) जीव (तन्मयः) वर्णादिमान-वर्णादिरूप (न) नहीं (स्यात्) हो सकता है।

सं० टी०—(चेत्-यदि) यदि (कुम्भः-कलशः) कलश (घृतमयः—घृतेन आज्येन, निर्वृत्तः घृतमयः) घी से बना हुआ (न) नहीं (भवेत्) होता है (घृतकुम्भाभिधाने-घृतस्य कुम्भ इत्यभिधानेऽपि न केवलं, अनभिधानेऽपि, इत्यपिशब्दार्थः) घी का घड़ा ऐसा कहने पर भी, अपि शब्द से नहीं कहने पर भी (तर्हि) तो (जीवः आत्मा) जीव (तन्मयः-वर्णादिमयो) वर्णादिमय-वर्ण आदि से युक्त या वर्णादि स्वरूप (नहि)

नहीं है (**क्व सति ?**) किसके होने पर (**वर्णेत्यादि:-मुग्धं प्रति वर्णादिमान् अयं जीवः, इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि**) अज्ञानी के प्रति यह जीव वर्णादिमान् हैं ऐसा आगम में तथा लोक व्यवहार में कहने पर भी (**यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैक घृतकुम्भस्य तदन्यमृण्मय कुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तथा कुम्भे घृतकुम्भ इतिव्यवहारः**) जसे वस्तुतः किसी ऐसे मनुष्य को जो जन्म से ही घी का घड़ा जानता है। घी से अतिरिक्त मिट्टी आदि के घड़े को नहीं जानता है। उसे समझाने के लिए जो यह घड़ा घी का है वह मिट्टी का ही है। घी का नहीं है, ऐसा। घड़े में घी का घड़ा व्यवहार होता है (**तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमयइति तत्प्रसिद्धया जीवे वर्णादिमद् व्यवहारः**) ॥४०॥ वैसे ही अनादि काल से प्रसिद्ध अतएव अशुद्ध इस अज्ञानी जीव को जो शुद्ध जीव से अपरिचित हैं समझाने के लिए जीव में वर्णादिमान का व्यवहार होता है ॥७०॥

भावार्थ –व्यवहार तो व्यवहार ही है। अपने में वह पूर्णतया समीचीन है। लोकव्यवहार में उसकी प्रधानता है। विना उसके लोक व्यवहार चलना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। शास्त्र में भी अज्ञानी जनों-जो आत्मा के स्वरूप से बिल्कुल ही अप्रतिबुद्ध हैं—को समीचीन रूप से आत्मा के स्वरूप को समझाने के हेतु व्यवहार का आश्रय-सहारा लेना पड़ता है इसी आशय को हृदयंगम कर जीव को जो स्वभावतः वर्णादिमान नही है—वर्णादिमान् कहा जाता है पर यह कथन पारमार्थिक-वास्तविक नहीं है अर्थात् जीव वर्णादिमान् कहने पर भी वर्णादिरूप नहीं है क्योंकि जीव के स्वरूपास्तित्व में वर्णादि की अस्तिता त्रिकाल बाधित है। जैसे घड़े के साथ घी का सम्बन्ध होने पर घड़ा, घी का घड़ा कहा जाता है परन्तु घड़ा घी का नहीं होता ॥४०॥

अब जीव में वर्णादि तथा रागादि कुछ भी नहीं है तो जीव क्या है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्य मुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

अन्वयार्थ— (**तु**) निश्चय से (**अनादि**) आदि-उत्पत्ति से रहित (**अनन्तम्**) विनाश शून्य (**अचलम्**) क्षणनश्वरता से रहित (**स्वसंवेद्यम्**) अपने द्वारा ही जानने के योग्य (**स्फुटम्**) स्पष्ट-ज्ञायक स्वभाव से प्रकाश मान (**इदम्**) यह (**चैतन्यम्**) ज्ञानदर्शनरूप चेतना वाला (**उच्चैः**) सर्वश्रेष्ठ रूप से (**यत्**) जो **चकचकायते**) चकचकित हो रहा है (**इदम्**) यह (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभावसिद्ध-परनिरपेक्ष (**जीवः**) जीव (**अस्ति**) है।

सं० टी०— (**इदम्-प्रत्यक्षम्**) यह प्रत्यक्ष (**चैतन्यं-चेतनत्वम्**) चैतन्य (**स्वयम्-स्वतः-पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन**) स्वभाव से-पुद्गल आदि की अपेक्षा न रखने से (**तु-इतिनिश्चितम्**) तु यह अव्यय निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चय से (**जीवः-आत्मा**) आत्मा (**चैतन्यमन्तरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्**) चैतन्य के बिना अन्य की उपलब्धि न होने से (**उच्चैः-सकलश्रेष्ठत्वात्**) सब में उत्तम होने से ऊँचा (**चकचकायते-चाकचक्यतया शोभते**) चकचकित रूप से शोभमान है (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**अनादि-कदाचिदपि**

तस्योत्पत्तेरभावात्) अनादि अर्थात् कभी भी उसकी उत्पत्ति न होने से **(अनन्तं-अन्तातिकान्तम्-विनाश-रहितत्वात्)** विनाश रहित होने से अनन्त **(अनादि-निधनत्वे तर्हि कीदृशम् ?)** तो अनादि निधन होने से फिर कैसा ? **(अचलं-विनाशरहितत्वात्)** विनाश रहित होने से-अचल, **(तद्यंस्तीति कथं ज्ञायते)** तो ऐसा कैसे जाना जाय। **(स्वसंवेद्यम्-अहं सुखी, दुःख्यहमित्यादिरूप स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्)** मैं सुखी मैं दुःखी इत्यादि रूप स्वआत्मा का प्रत्यक्ष होने से जाना जाता है **(स्फुटं-व्यक्तं, धर्माधर्मादि द्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात्)** व्यक्त अर्थात् धर्म आदि द्रव्य अचेतन-जड़ होने से अस्फुट हैं।

भावार्थ—जीव स्वभाव सिद्ध पदार्थ है। इसका प्रारम्भ और अन्त नहीं है क्योंकि यह अनादि निधन है। इसका प्रत्यक्षीकरण स्वानुभव से ही होता है। अन्य किसी की सहायता इसमें कार्यकारिणी नहीं है क्योंकि स्वानुभूति सदा स्वापेक्ष ही होती है। यह अपने ज्ञान के प्रकाश से न केवल अपना ही प्रकाश करता है किन्तु त्रिलोकवर्ती अनन्तानन्त चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को भी प्रकाशित करने का स्वभाव रखता है। जो इसका खास गुण है। इसी गुण के कारण ही यह सर्वोपरि प्रकाशमान है। इसमें परपदार्थकृत चञ्चलता रञ्चमात्र भी नहीं है अतएव यह पूर्ण रूप से निश्चित है।

अब जीव तत्त्व का आलम्बन करते हैं—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवोयंतो
नामूर्तत्वमुपास्यपश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—**(यतः)** जिस कारण से **(अजीवः)** अजीव तत्त्व **(द्वेधा)** दो प्रकार का **(अस्ति)** है उनमें पहला **(वर्णाद्यैः)** वर्ण आदि से **(सहितः)** युक्त **(तथा)** और दूसरा **(विरहितः)** वर्णादि से रहित **(ततः)** तिस कारण से **(जगत्)** जगत् के प्राणी **(अमूर्तत्वं)** अमूर्तता को **(उपास्य)** लेकर-अर्थात् अमूर्तता रूप लक्षण से **(जीवस्य)** जीव के **(तत्त्वम्)** असली स्वरूप को **(न)** नहीं **(पश्यन्ति)** देख सकता **(इति)** ऐसा **(आलोच्य)** पूर्वापर विचार करके **(विवेचकैः)** जीवतत्त्व के स्वरूप को विवेचन करने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष **(अव्यापि)** अव्याप्ति **(वा)** और **(अतिव्यापि)** अतिव्याप्ति से **(न)** रहित **(समुचितम्)** समीचीन-निर्दोष **(व्यक्तम्)** स्पष्ट **(व्यञ्जितजीव-तत्त्वम्)** जीव के असली स्वरूप को प्रकाशित करने वाले **(अचलम्)** सदा विद्यमान **(चैतन्यम्)** चैतन्य का **(आलम्ब्यताम्)** आलम्बन करें।

सं० टीका—**(ततः-तस्मात् कारणात्)** तिस कारण से **(जगत्-गच्छति जानातीतिजगत्)** जगत्-जानने वाला जीव लोक **(द्युतिगमोर्द्वे च इति क्विप्)** इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय गम धातु से ज्ञान अर्थ में हुआ है **(ज्ञानवत्प्राणिसमूहः)** ज्ञानवान् प्राणियों का समुदाय **(अमूर्तत्वम्-मूर्तत्वरहितम्)** मूर्तता रहित-अमूर्तता का **(उपास्य-आश्रित्य)** आश्रय करके **(जीवस्य, आत्मनः)** जीव-आत्मा के **(तत्त्वम्-स्वरूपम्)** स्वरूप को **(पश्य-**

ति-अवलोकयति) देखता है--अवलोकन करता है परंतु(**नहि यद्यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात्)** जो जो अमूर्त है वह वह जीव का स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि अमूर्तता के साथ जीव की व्याप्ती नहीं है। (**कुतः ?**) किस कारण से (**यतः यस्मात् कारणात्**) जिस कारण से (**अजीवः-अजीव पदार्थः**) अजीव पदार्थ (**द्वेधा-द्विप्रकारः**) दो प्रकार का (**अस्ति-वर्तते**) है। (**एकोभेदः**) एक-पहला भेद **वर्णाद्यैः-रूप, गन्ध, रस, स्पर्शाद्यैः सहितः-युक्तः परमाण्वादि पुद्गलपिण्डानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्)** रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि से सहित क्योंकि परमाणु आदि के पुद्गलपिण्ड वर्णात्मक होने से मूर्त हैं। (**तथा-तेनैवप्रकारेण द्वितीयोभेदः**) उसी प्रकार से दूसरा भेद (**तैर्विरहितः**) उन उक्त वर्णादियों से रहित (**धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्**) धर्म, अधर्म, आकाश और काल वर्णादि से रहित होने के कारण अमूर्त हैं (**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**अमूर्तत्वं-जीवस्वरूपं न**) जीव का स्वरूप अमूर्तता नहीं है। (**आलोच्य-निश्चित्य**) निश्चय करके (**आलम्ब्यताम्-सेव्यताम्**) आलम्बन करो--सेवन करो (**किम् ?**) क्या ? (**चैतन्यं-चेतनत्वम्**) चैतन्य-चेतनता (**व्यंजित-जीवतत्त्वम् --व्यंजितम् जीवस्य-स्वरूप येन तत्**) व्यंजित-प्रकट कर दिया है जीव के स्वरूप को जिसने (**अचलं-परलक्ष्येऽभावाच्चंचलतारहितम्**) पर लक्ष्य-पर पदार्थ-में जीव का अभाव होने से चञ्चलता रहित (**समुचितं-सम्यक् प्रकारेण तत्रोचितं युक्तम्**) भलो भांति उससे युक्त (**लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि-अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपाणि**) लक्षण के तीन दोष हैं--१. अव्याप्ति २. अतिव्याप्ति ३. असम्भव से रहित। (**तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात्**) जीव का यह चैतन्य लक्षण अपने लक्ष्यभूत सभी जीवों में पाया जाता है। (**गोः शावलेयत्ववदव्यापि न च**) अतएव गो के शावलेयत्व की तरह अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है अर्थात् यदि गो का लक्षण शावलेयत्व-चितकबरापन किया जाय तो वह सिर्फ चितकबरी गायों में ही घटित होगा अन्य श्वेत काली नीली आदि गायों में नहीं पाया जायगा। अतः गो का यह शावलेयत्व लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है किन्तु जीव का चैतन्य लक्षण जीवमात्र में उपलब्ध होने से सल्लक्षण है। अर्थात् अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है।

(**वा-पुनः अतिव्यापि न च स्वलक्ष्यं जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्**) और जीव का उक्त चैतन्य लक्षण अपने लक्ष्यभूत जीव को छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। जैसे गो का 'पशुत्व' लक्षण गो को छोड़ कर अश्व आदि में पाया जाने से अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट है वैसा जीव का चैतन्य लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है क्योंकि वह जीव से भिन्न में विद्यमान है ही नहीं। (**पुनः-गव्येकशफत्ववदसम्भवं च न**) और जीव का उक्त लक्षण गो में एक शफत्व की तरह असम्भव भी नहीं हैं (**यतः**) क्योंकि (**व्यक्तं तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्**) श्लोकस्थ व्यक्त पद से उक्त वह चैतन्य लक्षण स्पष्ट रूप से उन सभी जीवों में उपलब्ध होता है। (**अथवा समुचितपदेनासम्भव परिहारः**) अथवा श्लोक में कहे हुए समुचित पद से असम्भव दोष का परिहार हो जाता है। अर्थात् जैसे गो का लक्षण एक शफ वाला किया जाय तो वह एक शफ किसी भी गाय में सम्भव नहीं है अतएव

गो का उक्त लक्षण असम्भव दोष से दूषित है। वैसे ही जीव का चैतन्य लक्षण जीव मात्र में त्रिकाल अबाधित होने से असम्भव दोष से दूषित नहीं है अतएव सुलक्षण है। इस प्रकार से जीव का चैतन्य लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से शून्य होने के कारण समीचीन लक्षण है। बस इसी लक्षण से लक्षित जीव को पुद्गलादि जड़ पदार्थों से सर्वथा स्वरूप भेद से भिन्न मानकर श्रद्धान ज्ञान और आचरण में लाने की समुचित चेष्टा करनी चाहिए।

भावार्थ—किसी भी वस्तु के लक्षण में तीन दोष नहीं होना चाहिए अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। आत्मा का लक्षण अमूर्तिक करने पर अतिव्याप्ति दोष आयेगा क्योंकि धर्म-अधर्म आकाश काल भी अमूर्तिक है। अगर रागादिक आत्मा का लक्षण करें तो अव्याप्ति दोष आयेगा कारण सिद्धों में अरहंतों में रागादि नहीं है और मूर्तिक लक्षण करने पर असम्भव दोष आयेगा इसलिए आत्मा की पहचान तो आत्मा के चैतन्य लक्षण द्वारा ही की जाती है जो मात्र आत्मा में तो है और किसी में नहीं मिल सकता। उसी चैतन्य चिह्न के द्वारा आत्मा की पहचान करो।

अब जीव और अजीव की भिन्नता अनुभव में कैसे आती है यह बताते हैं—

जीवादजीवमितिलक्षणतो विभिन्नं ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**ज्ञानी**) ज्ञानवान् (**जनः**) मनुष्य (**स्वयं**) स्वतः खुद-ब-खुद (**उल्लसन्तम्**) शोभायमान (**जीवात्**) जीव से (**लक्षणतः**) लक्षण के कारण (**अजीवम्**) अजीव-पुद्गलादि जड़ पदार्थ को (**विभिन्नं**) सर्वथा भिन्न (**अनुभवति**) अनुभव करता है, अर्थात् जानता है मानता है। (**तु**) किन्तु- (**बत**) खेद है (**अहो**) और आश्चर्य है कि (**निरवधि**) अमर्यादा रूप से (**प्रविजृम्भितः**) अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ (**अयम्**) यह (**मोहः**) मोह-अज्ञान अर्थात् पर के साथ एकत्वपना (**कथम्**) कैसे-क्यों—(**अज्ञानिनः**) भेद ज्ञान से रहित प्राणियों को (**नानटीति**) बार-बार अथवा अतिशय रूप से नचा रहा है।

सं० टी०—(**इति-चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन**) चेतन और अचेतन के भेद का निरूपण करने से (**अनुभवति-निश्चिनोति, अनुभवविषयं करोतीत्यर्थः**) निश्चय करता है अर्थात् अनुभव में लाता है (**कः ?**) कौन (**ज्ञानी-भेदविज्ञानयुक्तः**) जीव तथा अजीव के भेद को जानने वाला (**जनः-भव्यलोकः**) भव्य जीव (**लक्षणतः-असाधारणधर्मतः**) असाधारण धर्म से (**जीवात्-आत्मनः**) जीव-आत्मा से (**अजीवं-धर्मादि-द्रव्यम्**) धर्म, अधर्म, आकाश और काल (**विभिन्नम्-अतिरिक्तम्**) सर्वथा पृथक् है (**कीदृशं-अजीवम् ?**) कैसे अजीव को (**स्वयम्-अचैतन्यस्वरूपेण**) अचेतन रूप से (**उल्लसन्तम्-ऊर्ध्वं विलसन्तम्**) अतिशय प्रकाशमान है (**बतइति खेदे**) बत यह खेद वाचक अव्यय है अर्थात् खेद है (**तत्-तस्मात, जीवाजीवयोः, परस्परं भिन्नत्वात्**) जीव और अजीव के आपस में भिन्नता होने से (**अयम्-मोहः—पुद्गलात्मकं मोहनीयं राग-द्वेषात्मकं च कर्म**) यह मोह-पुद्गल रूप मोहनीय कर्म अर्थात् द्रव्यकर्म तथा राग द्वेष रूप भाव कर्म (**अहो-इति आश्चर्ये**) अहो यह आश्चर्य अर्थ का वाचक अव्यय है अर्थात् आश्चर्य है (**कथं-केन प्रकारेण-**) किस

प्रकार से ((**नानटीति-अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्पर भिन्नत्वसाधनात्**) अत्यन्त रूप से नचाता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं नचाता है क्योंकि जीव और अजीव में आपस में भिन्नता सिद्ध है (**किम्भूतोमोहः ?**) कैसा मोह ? (**अज्ञानिनः-भेदज्ञान रहितस्य मूढ़प्राणिनः**) अज्ञानी-भेद विज्ञान से शून्य—अर्थात् मूर्ख प्राणी के (**निरेत्यादि मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः, अज्ञानिनस्तन्मयत्वात्**) अमर्यादित रूप से व्याप्त है अर्थात् अज्ञानी का मोह अनन्त है क्योंकि अज्ञानी मोह मय होता है ॥४३॥

भावार्थ जीव के चैतन्य लक्षण से अजीव का लक्षण जड़ता सर्वथा भिन्न है अर्थात् अजीव जड़ है अचेतन है अतएव वह जीव से त्रिकाल भिन्न है यह ज्ञानी के ज्ञान में प्रति समय प्रतिभासित होता रहता है। यह बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है कि अज्ञानी-जीव और अजीव में पार्थक्य का निर्णय नहीं कर पाता है उसका मोह प्रति क्षण वृद्धिङ्गत होता है जो उसे अज्ञान के चक्र में चलाता रहता है।

अव अविवेकपूर्ण नाटक में पुद्गल की प्रधानता बताते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादि पुद्गल विकार विरुद्धशुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अन्वयार्थ --(**अस्मिन्**) इस (**अनादिनि**) अनादि काल से प्रचलित (**महति**) महान् (**अविवेकनाट्ये**) अज्ञान रूप नाटक में (**वर्णादिमान्**) वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वाला (**पुद्गलः**) पुद्गल-परमाणु एवं स्कन्धरूप जड़ पदार्थ (**एव**) ही (**नटति**) नृत्य कर रहा है—नाच रहा है। (**अन्यः**) अन्य कोई (**न**) नहीं (**च**) क्योंकि (**अयम्**) यह (**जीवः**) जीव (**रागादि पुद्गल विकार विरुद्ध शुद्ध चैतन्य-धातुमय मूर्तिः**) रागादि पुद्गल के विकारों से विपरीत शुद्ध-निर्मल चैतन्य धातुरूप मूर्ति वाला (**अस्ति**) है।

सं० टीका--(**नटति नृत्यं करोति, नारकादिपर्याय सूक्ष्म स्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः**) नृत्य करता है अर्थात् नारक आदि सूक्ष्म तथा स्थूल आदि रूप को धारण करता है। (**कः ?**) कौन ? (**पुद्गलः, वर्ग वर्गणास्पर्धक गुणहान्यादिरूपः**) वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुण हानि आदि रूप पुद्गल (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**किम्भूतः ?**) कैसा (**वर्णादिमान्, वर्णोरूपं स एव आदिर्यस्य स्पर्शरस गन्धादेः, स वर्णादिः विद्यते यस्य सः, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"-इतिवचनात्**) जिसके आदि में वर्ण है ऐसे स्पर्श रस गन्ध आदि जिसमें विद्यमान हैं वह वर्णादिमान अर्थात् पुद्गल कहा जाता है। क्योंकि स्पर्श रस गन्धवर्ण वाले पुद्गल हैं ऐसा आगम का वचन है। (**क्व ?**) कहां (**अस्मिन् जगत्प्रसिद्धे**) इस लोक में प्रसिद्ध है (**अविवेक नाट्ये 'ममेदं' अहमस्येति लक्षणोऽविवेकः तथाचोक्तं-'चिदचिद्स्वेपरतस्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति' तद्विपरीतोऽविवेकः स एव नाट्यं लास्यं तस्मिन्**) यह मेरा है मैं इसका हूँ यह अविवेक स्वरूप है इसी प्रकार से कहा भी है कि चेतन और अचेतन इन दोनों तत्त्वों का विवेचन करना विवेक कहलाता है उस विवेक से विपरीत का नाम अविवेक है अर्थात् दोनों तत्त्वों को एक मानना ही अविवेक है उसी अविवेक रूप नृत्य में (**किम्भूते ?**) कैसे (**अनादिनि-आदिरहिते**) आदि-प्रारम्भ-शुरुआत से शून्य (**पुनः किम्भूते ?**) फिर कैसे (**महति-आसंसार**

जीव व्याप्तत्वात्) जब से संसार है तब से जीव के साथ व्याप्त होने से महान् **(चेतिभिन्नप्रक्रमे)** यह अव्यय भिन्न क्रम का वाचक है **(अन्यः-अजीवाद्भिन्नः)** अजीव से भिन्न **(अयं जीवः आत्मा)** यह आत्मा **(न नटति)** नहीं नृत्य करता है **(कुतः ?)** कैसे **(हेतु गर्भितविशेषणं दर्शयति-रागेत्यादिः-रागो-रतिः, आदि शब्दात्, द्वेषमोहाध्यवसायादयः ते च ते पुद्गलानां विकाराश्च विकृतयः तेभ्योविरुद्धं विपरीतस्वरूप-त्वाद्भिन्नं तच्च तत् शुद्धं-द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातुः-द्रव्यविशेषः अथवा दधातिस्वगुण पर्यायमितिधातुः-ज्ञानशक्तिः तेन निर्व्रत्तामूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य सः)** अब हेतु गर्भित विशेषण को दिखाते हैं राग इत्यादि राग अर्थात् रति, आदि शब्द से द्वेष मोह अध्यवसाय आदि वे ही हुए पुद्गल के विकार उनसे विरुद्ध अर्थात् जीव से विपरीत स्वरूप होने के कारण, द्रव्यकर्म नोकर्म तथा भावकर्म से रहित जो चैतन्य वही हुआ धातु-द्रव्यविशेष अथवा जो निजगुण और पर्यायों को धारण करता है वह धातु कहा जाता है अर्थात् ज्ञानशक्ति उससे लक्षण शक्ति द्वारा जिसके स्वरूप का निर्माण होता है इसलिये।

भावार्थ—प्रत्येक संसारी आत्मा अनादि काल से अविवेक-स्वपर भेद विज्ञान के अभाव से ही चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण रूप नाटक करता हुआ संसारी बन रहा है यह एकमात्र अपने स्वभाव को नहीं जानने का ही दुष्फल है। जब अज्ञान का स्थान ज्ञान-स्वपरविवेक-ग्रहण करता है तब ज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति से इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि इस संसार में संसरणकर्त्ता एकमात्र रूपी पुद्गल ही है अज्ञानी जीव स्वस्वरूप से च्युत हो पर वस्तु को ही निजरूप से स्वीकार करने लगता है नतीजा यह होता है कि यह अपने अस्तित्व को पर में ही विलीन कर अनन्त संसारी हो विविध यातनाओं से उत्पीड़ित एवं त्रस्त रहता है इसकी यह दशा उस मृग के समान है जो मृगमरीचिका में जल की बुद्धि से इतस्तः परिभ्रमण करता हुआ दुःख का ही पात्र बना रहता है। यदि वह मृग-मृगमरीचिका में जलत्व बुद्धि का त्याग कर दे तो तत्क्षण सुखी हो सकता है। इससे यह निचोड़ सहज ही में निकल आता है कि विपर्यय बुद्धि ही दुःख का मूल है। अस्तु ज्ञानी-आत्मस्वरूप एवं पर स्वरूप का ज्ञाता जब निज में निज का निज के द्वारा निरीक्षण करता है तब वह देखता है कि मेरे में रागादि भाव निमित्तज हैं सहज नहीं यदि वे सहज स्वभाव होते तो शुद्ध पर्यायापन्न सिद्धों में भी उपलब्ध होते जब सिद्धों में उनकी अनुपलब्धि है तब कहना पड़ता है कि वे आत्मा के स्वभाव भाव नहीं है प्रत्युत्त नैमित्तिक विभाव भाव ही हैं निमित्त के अभाव में उनका भी अभाव हो ही जाता है अतएव निमित्तभूत पुद्गल ही नाटक करने वाला है जीव नहीं। जीव तो स्वभावतः शुद्ध है। शुद्ध का नाटक कैसा ?

अब भेद ज्ञान का अन्तिम सुफल बताते हैं—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृ द्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) इस प्रकार से—अर्थात् पुद्गल ही नाटक करने वाला है जीव नहीं इस कथन से (**ज्ञानक्रकच कलनापाटनम्**) ज्ञान-भेदज्ञान रूप करोंत के ग्रहण की चतुराई से (**जीवाजीवौ**) जीव और अजीव को (**नाटयित्वा**) नचा करके (**यावत्**) जब तक वे दोनों (**स्फुट विघटनम्**) स्पष्ट रूप से पृथकता को (**नैव**) नहीं (**प्रयातः**) प्राप्त करते। (**तावत्**) तब तक (**ज्ञातृ**) ज्ञाता (**द्रव्यम्**) द्रव्य अर्थात् ज्ञाताद्रष्टा स्वभाववान् आत्मा (**प्रसभ विकसत्**) अतिशय रूप से विकास को प्राप्त होता हुआ (**व्यक्तचिन्मात्र शक्त्या**) प्रकटरूप चैतन्य स्वरूप शक्ति से (**विश्वं**) जगत् को (**व्याप्य**) व्याप्त करके (**स्वयम्**) स्वतः अपने आप (**अतिरसात्**) रस की अधिकता से (**उच्चैः**) सर्वोपरि (**चकाशे**) शोभित हो उठता है।

सं० टीका - (**तावत्-तावत्कालपर्यन्तम्**) तब तक (**ज्ञातृद्रव्यं-ज्ञायकद्रव्यम्**) ज्ञायक आत्मद्रव्य (**स्वयं-स्वभावादेव**) स्वभाव से ही (**अतिरसात्-रसातिशयतः**) रस की अधिकता से (**उच्चैः-ऊर्ध्वम्**) ऊपर (**चकाशे-शुशुभे**) शोभित रहता है। (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**प्रसभ विकसत्-अत्यर्थं विकासं गच्छत्**) अत्यन्त विकास को प्राप्त होता हुआ (**कया ?**) किसके द्वारा (**व्यक्तेत्यादि-चिन्मात्रस्य-ज्ञानमात्रस्यशक्तिःअविभागप्रतिच्छेदसमूहः, व्यक्ताचासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया**) विकसित ज्ञानमात्र के अविभाग प्रतिच्छेद समूह के द्वारा (**किं कृत्वा**) क्या करके (**विश्वं-जगत्**) जगत् को (**व्याप्य-परिच्छेद्येत्यर्थः**) व्याप्त करके अर्थात् पूर्ण रूप से जान करके (**यावत्-यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**नैवप्रयातः-निश्चयेन न प्राप्नुतः**) निश्चय रूप से नहीं प्राप्त होते (**किम् ?**) क्या (**स्फुट विघटनं-स्फुटं-व्यक्तं-विघटनं-पृथग्भवनम्**) स्पष्ट रूप से पृथक् होना (**कौ !**) कौन दो (**जीवाजीवौ-जीवः-आत्मा चेतनः, अजीवः-अचेतनः-कर्मपुद्गलादिः, द्वन्द्वः तौ**) जीव और अजीव को अर्थात् आत्मा तथा अनात्मा-पुद्गलादि कर्म परमाणुओं को (**किंकृत्वा ?**) क्या करके (**इत्थम् पूर्वोक्त प्रकारेण, पुद्गलस्यैव नर्तनादिकथनलक्षणेन,**) पूर्व में कहे अनुसार अर्थात् पुद्गल ही नृत्यादि का करने वाला है जीव नहीं इस कथन से (**नाटयित्वा-नृत्यविषयं कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति-यावत्**) नृत्य कराके अर्थात् इधर-उधर चला के (**किम् ?**) क्या (**ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानं-शुद्धात्मज्ञानं, तदेव क्रकचः करपत्रं 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रंस्यात्' इत्यमरः, तस्य कलना-ग्रहणं तस्याः पाटनं पटुत्वं-तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः**) शुद्धात्मा ज्ञानरूप करोंत के ग्रहण की चतुराई को जीव और अजीव के बीच में करके यहां क्रकच शब्द करपत्र-अर्थात् करोंत का वाचक है ऐसा अमर कोष से स्फुट है। (**तावत्**) तब तक (**ज्ञातृ**) ज्ञाता जानने वाला (**द्रव्यम्**) द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य (**समयं-समयं प्रति अधिकतया अचकात् यावन्निश्शेषबन्धध्वंसो न याति तस्मिन् कृते अधिकतया प्रतिभासना भावात्तस्य—स्वस्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यम्**) प्रति समय उत्तरोत्तर अधिकता से तब तक शोभित होता रहता है जब तक पूर्णरूप से बन्ध का विनाश नहीं हो जाता। बन्ध का पूर्ण विनाश होने पर तो उत्तरोत्तर अधिकता का अभाव हो जाता है क्योंकि आत्मा कृतकृत्य होने से अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाता है ऐसा तात्पर्यार्थ समझना चाहिए ॥४५॥

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि आत्म ज्ञान रूप करोंत से जीव अजीव को पृथक् करने में उद्यमशील

रहता है लेकिन जब तक वह पूर्णरूपेण अजीव को आत्मा से पृथक् नही कर देता तब तक वह श्रुत ज्ञान से आत्मा के स्वरूप को पर पुद्गलादि से पृथक् जानता हुआ आत्म स्वरूप को पूर्णतया प्राप्त करने के हेतु उद्यमशील बना रहता है और जब वह अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से ज्ञानावरणादि घातक कर्मों का विनाश कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्णरूप से प्रत्यक्ष आत्मा का एवं सकल चराचर पदार्थों का ज्ञाता होकर लोक शिरोमणि बन जाता है। अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है यही कृतकृत्यतापूर्ण स्थिरता की जननी है और इसका जनक पूर्वोक्त भेद विज्ञान है। भेद विज्ञान के बिना कृतकृत्यता नहीं आ सकती और कृतकृत्यता आये बिना पूर्ण स्थिरता कथमपि सम्भव नहीं है ऐसा जान कर प्रत्येक कृत-कृत्येच्छु को भेदविज्ञान की ओर अग्रसर होना चाहिए यह इसका तात्पर्यार्थ है ।।४५।।

व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशि प्रकृष्ट निजमानम् ।
शुभचन्द्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसारपद्यस्य ।।१।।

अन्वयार्थ - (**शुभचन्द्रयतिव्यक्तम्**) शुभचन्द्र मुनि के द्वारा प्रकट किया हुआ (**आत्मविकाशिप्रकृष्ट निजमानम्**) आत्मा के विकास से उत्कृष्ट परिमाण को प्राप्त (**शुद्धार्थम्**) निर्दोष अर्थ से सहित (**समय-सार पद्यस्य**) समयसार के पद्यों का (**इदम्**) यह (**व्याख्यानम्**) व्याख्यान (**जयतात्**) जयवान्-सर्वश्रेष्ठ हो।

(इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः समाप्तः)

इति परमाध्यात्म तरङ्गिणी नामक समयसार के पद्यों की व्याख्या में यह पहला अङ्क समाप्त हुआ !

द्वितीयोऽङ्कः-प्रारभ्यते

कर्ता कर्म अधिकार

सर्व प्रथम ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हैं—

एकः कर्ता चिदहमिहमे कर्म कोपादयोऽमी इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासिविश्वम् ।।१

अन्वयार्थ—(**इह**) इस लोक में (**चित्**) चैतन्य स्वरूप (**अहम्**) मैं (**एकः**) एक (**कर्ता**) कर्ता-करने वाला (**अस्मि**) हूँ (**अमी**) ये (**कोपादयः**) क्रोध आदि (**मे**) मेरे (**कर्म**) कर्म हैं (**इति**) इस प्रकार की (**अज्ञानाम्**) अज्ञानियों की (**कर्तृ कर्म प्रवृत्तिम्**) कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति को (**अभितः**) सब तरफ से (**शमयत्**) शान्त करता हुआ, (**परमोदात्तम्**) अत्यन्त विशाल अर्थात् अनन्त, (**अत्यन्त धीरम्**) अतिशय रूप से निश्चल, (**निरुपधि**) सर्व उपाधियों-आकुलताओं से रहित, (**पृथक्**) भिन्न-भिन्न (**द्रव्यनिर्भासि**)

द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, **(विश्वम्)** लोक और अलोक को **(साक्षात्कुर्वत्)** प्रत्यक्ष करने वाला **(ज्ञानज्योतिः)** ज्ञान का प्रकाश-अखण्ड तेज **(स्फुरति)** स्फुरायमान-प्रकाशमान होता है।

सं० टीका **(स्फुरति-द्योतते)** प्रकाशित होता है **(किम् ?)** क्या ? **(ज्ञानज्योतिः-बोधतेजः)** ज्ञान का तेज **(पृथक्-समस्त द्रव्येभ्यो भिन्नम्)** सर्व द्रव्यों से भिन्न **(किम्भूतम्)** कैसा **(परमोदात्तम्-परमं-उत्कृष्टं सर्वद्रव्य विकाशकत्वात्-अथवा परा-उत्कृष्टा मा लक्ष्मीः, अनन्त चतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परमं तच्च तदुदात्तं-उत्कृष्टं च तत्)** सभी द्रव्यों का प्रकाशक होने से उत्कृष्ट अथवा अनन्त चतुष्टयरूप उत्कृष्ट लक्ष्मी से व्याप्त **(पुनः)** और **(अत्यन्तधीरम्-अतिशयेन धीरं निष्कम्पम्, धीर्धारणा तां जगद् ग्रहणाय राति आदत्ते इति धीरमिति वा)** अतिशयरूप से निश्चल निष्कंप अथवा जगत् को जानने के लिए बुद्धि-केवलज्ञान को ग्रहण करने वाला **(निरुपधि-बाह्याभ्यन्तर द्रव्य भावकर्मण उपाधेर्निष्कान्तोनिरुपधि)** ज्ञानावरणादि रूप बाह्य कर्म उपाधि तथा रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर कर्मों की उपाधि से रहित **('निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पञ्चम्याः, इति पञ्चमी तत्पुरुषः नत्वव्ययीभावः)** निर् आदि अव्यय निर्गमन आदि अर्थ में अञ्चम्यन्तसुबन्त के साथ समस्त को प्राप्त करते हैं इस सूत्र से यहां पञ्चमी तत्पुरुष समास है अव्ययी भाव समास नहीं। **(द्रव्यनिर्भासि-समस्तगुणपर्याय नयोपनयप्रकाशकं नयोपनयमन्तरेणा यस्य द्रव्यस्याभावात्)** सभी गुण, पर्याय, नय, उपनयों का प्रकाशक क्योंकि नयों और उपनयों के विना कोई द्रव्य उपलब्ध नहीं होता।

(तथाचोक्तमष्टसहस्त्र्याम्—ऐसा ही अष्ट सहस्री में कहा है--

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड् भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१॥

(त्रिकालानाम्) तीनों कालों के **(नयोपनयै कान्तानाम्)** नयों तथा उपनयों का **(समुच्चयः)** एक पिण्ड, **(अविभ्राड् भावसम्बन्धः)** अन्य पदार्थ के सम्बन्ध से शून्य अर्थात् द्रव्य दृष्टि से जिसमें किसी भी अन्य द्रव्य का सम्बन्ध नहीं है ऐसा **(द्रव्यम्)** द्रव्य **(एकम्)** एक है **(अनेकधा)** अनेक प्रकार है। **(विश्वम्-षड्द्रव्य समुदाय सप्त रज्जुघनत्रिलोकम्-उपलक्षणादलोकञ्च)** जीवादि छहों द्रव्यों का समूह रूप सात राजु घन प्रमाण तीनों लोक तथा उपलक्षण से अलोक-को **(साक्षात्कुर्वत्-प्रत्यक्षी कुर्वत्)** प्रत्यक्ष करता हुआ **(इत्यपूर्वार्धोक्तप्रकारेण प्रवृत्ति-कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्)** इस तरह पूर्वार्ध में कहे अनुसार कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को **(तत्र क्रोधादौ योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता)** जो यह आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप रहना मात्र ऐसी स्वभावभूत उदासीन अवस्था के त्यागरूप अज्ञानभाव से इन क्रोध आदिकों में प्रवृत्ति करता हुआ मालूम पड़ता है वही कर्ता है। **(यत्तु-अज्ञानभवन व्याप्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म)** और जो अज्ञानरूप से व्यापार करने के कारण अन्तरङ्ग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होने वाले क्रोध आदि हैं वे ही कर्म हैं **(एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः, कर्ता-आत्मा, कर्म ज्ञानावरणादिः, द्वन्द्वः, तयोः प्रवृत्तिः,-प्रवर्तनं**

ताम्) इस तरह से यह अनादि अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता कर्म की प्रवृत्ति, कर्ता-आत्मा, कर्म-ज्ञानावरण आदि इन दोनों की प्रवृत्ति को (अभितः-साकल्येन) सब तरफ से-पूर्णरूप से (शमयत्-उपशमं शान्ततां—नयत्) शान्त करता हुआ (किम्भूताम् ताम्) कैसी प्रवृत्ति को (अज्ञानाम्-न विद्यते ज्ञानं यस्यां सा ताम्) ज्ञानशून्य-जिसमें स्वपर भेदात्मक ज्ञान का सर्वथा अभाव है (इति क्व) यह कहां (इह-जगति) इस जगत्-संसार में (एकः, अहं चित्-आत्मा, 'चिच्छब्दोऽत्र पुंल्लिङ्गे') यहां चित् शब्द पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् एक अद्वितीय मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा (कर्ता-करोतीत्येवं शीलः कर्ता) क्रिया करना ही जिसका स्वभाव है वह कर्ता (कोपादयः क्रोधादयो द्रव्यभावरूपाः) द्रव्य तथा भावरूप क्रोध आदि (मे-ममात्मनः, कर्तृतापन्नस्य) कर्तापने को प्राप्त हुई मेरी आत्मा के (कर्म-क्रियमाणं कार्यम्) किये जाने वाले-करने योग्य कर्म हैं (ऐसी अज्ञानता को शान्त करता हुआ) ॥१॥

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप मैं तो कर्ता हूँ और क्रोध आदि रूप भाव मेरे कर्म हैं इस प्रकार की अनादिकाल से चली आ रही अज्ञानमय कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को जड़ मूल से उन्मूलन करता हुआ अनन्त महिमा शाली परम निश्चल निर्विकार ज्ञान ज्योतिरूप समस्त पर द्रव्यों से सर्वथा पृथक् अपना अस्तित्व रखता हुआ एवं लोकालोक को दर्पण की भाँति प्रत्यक्ष करता हुआ अखण्ड अनन्त ज्ञान प्रकाशमान होता है ॥१॥

(ननु ज्ञाने कथं न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरिति चेत्) ज्ञान में कर्ता कर्म की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

परपरिणतिमुज्झत्खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्म प्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥२॥

अन्वयार्थ—(परपरिणतिम्) क्रोध आदि रूप पर भावों को (उज्झत्) त्यागता हुआ (भेदवादान्) कर्ता कर्म आदि रूप भेदों के कथन को (खण्डयत्) तोड़ता हुआ (अखण्डम्) अखण्ड (उच्चैः) अतिशय (चण्डम्) प्रचण्ड (इदम्) यह (ज्ञानम्) ज्ञान (उदितम्) उदय को प्राप्त हुआ है (इह) ऐसे इस ज्ञान स्वरूप आत्मा में (कर्तृकर्मप्रवृत्तेः) कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को (ननु) निश्चय से (अवकाशः) स्थान (कथम्) कसे (भवेत्) हो सकता है। (वा) और (पौद्गलः) पुद्गल सम्बन्धी (कर्मबन्धः) कर्म बन्ध (कथम्) कैसे (भवति) हो सकता है ? (अपितु न कथमपि भवेत्) किन्तु किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता है।

सं० टी०—(इदम्-प्रत्यक्षम्) यह प्रत्यक्ष (ज्ञानम्-बोधः) ज्ञान (उच्चैः-अतिशयेन) अतिशय रूप से (उदितम्-उदयं प्राप्तम्) उदय को प्राप्त हुआ (किम्भूतम्) कैसा ज्ञान (उज्झत्-त्यजत्) त्यागता छोड़ता हुआ (परेत्यादि-परेषु-क्रोधादिषु परिणतिं-परिणामम्) आत्मस्वरूप से भिन्न क्रोध आदि रूप परिणाम को (पुनः कीदृशम्) फिर कैसा ? (खण्डयत्-निराकुर्वत्) खण्डन-निराकरण करता हुआ (कान्) किनको (भेदवादान्—भेदानां कर्तृकर्म करणादिरूपाणां, वादाः-कथनानि-तान्) भेदवादों—कर्ता, कर्म, करण आदि

रूप वादों को (**अखण्डम्—न खण्डयते केनापि तदखण्डम्-परिपूर्णम्**) जिसका खण्डन किसी से भी न हो वह अखण्ड-परिपूर्ण (**उच्चण्डम्-उत्कटम्-द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात्**) द्रव्य कर्मों के आस्रव के निरोध का कारण होने से अतिशय रूप से महान् (**नन्विति वितर्के**) ननु यह अव्यय वितर्क में आया है (**इह-ज्ञानात्मनि**) इस ज्ञान स्वरूप आत्मा में (**अवकाशः-स्थानम्**) स्थान (**कथम्**) कैसे-किस प्रकार से (**न केनापि प्रकारेण**) अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं पाता। (**कस्याः ?**) किसकी ? (**कर्त्रेत्यादिः—कर्ता च कर्म च कर्तृ-कर्मणी तयोः प्रवृत्तिः-प्रवर्तनम्, आत्मा कर्ता क्रोधादि कर्म 'ईदृग्विधविकल्परूपा, तस्याः भावकर्मणां नावकाशइति यावत्**) कर्ता और कर्म इन दोनों की प्रवृत्ति— कर्ता आत्मा और कर्म क्रोध आदि इस प्रकार की विकल्परूप प्रवृत्ति अर्थात् भावकर्मों को जगह नहीं है ऐसा इसका भावार्थ है। (**वा-अथवा**) अथवा (**भवति-जायते 'प्रादुर्भावे गतौ च भू' इत्यभिधानात्**) उत्पन्न होता है यहां भू धातु का अर्थ उत्पत्ति है क्योंकि प्रादुर्भाव और गति अर्थ में भू धातु का प्रयोग होता है ऐसा कहा गया है। (**कथम्**) किस प्रकार से (**न केनापि प्रकारेण**) किसी भी प्रकार से नहीं। (**पौद्गलः-पुद्गलेभ्यः-त्रयोविंशति वर्गणानामन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचिताभ्यो भवःपौद्गलः**) पुद्गलों के तेईस प्रकार की वर्गणाओं में से कर्मबन्ध के योग्य वर्गणाओं से जो होता है वह पौद्गल (**कर्मबन्धः-कर्मणां-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणा बन्धः**) ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध ॥२॥

भावार्थ—कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति का मूल कारण अज्ञान है। उस अज्ञान का स्थान जब ज्ञान पा लेता है, तब कर्ता कर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति सहज ही हो जाती है। उसके होते ही पौद्गलिक कर्म-बन्ध का अभाव स्वतः ही सम्पन्न हो जाता है। द्रव्य कर्म के उदय से जब औदयिक-उदयानुसारी-भाव होते हैं वे राग द्वेषादि रूप भाव कर्म द्रव्यकर्म के बन्धक होते हैं। यह सब ज्ञान के ऊपर निर्भर करता है। ज्ञान के होने पर बन्धाभाव अवश्यम्भावी है। यह ज्ञान का चरमफल है। इसके होने पर मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है। अतः अज्ञान से ज्ञान की दिशा में आना ही आत्मा के लिए परमोत्कर्ष की हो नहीं प्रत्युत चरमोपलब्धि की बात है। उस ओर ही मुमुक्षु की मनः प्रवृत्ति होनी चाहिए।

अब ज्ञानी सदा प्रकाशमान रहता है यह कहते हैं—

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां-
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तः स्वयं-
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥३॥

अन्वयार्थ—(**इत्येवम्**) इस तरह से-पूर्वोक्त प्रकार से (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य-पुद्गल द्रव्य से (**पराम्**) अत्यन्त (**निवृत्तिम्**) निवृत्ति-जुदाई को (**विरचय्य**) रचकर-प्राप्त करके (**सम्प्रति**) तत्काल ही (**स्वम्**) अपने (**परम**) सर्व श्रेष्ठ (**विज्ञानघन स्वभावम्**) विज्ञानघन स्वभाव को (**अभयात्**) निर्भयता के साथ

(आस्तिघ्नुवानः) प्राप्त करता हुआ **(अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्क्लेशात्)** अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता कर्म की प्रवृत्ति के क्लेश से **(निवृत्तः)** छूटा-रहित हुआ **(स्वयम्)** स्वयं **(ज्ञानोभूतः)** ज्ञानरूप हुआ **(जगतः)** जगत का-लोकालोक का **(साक्षी)** प्रत्यक्षकर्ता-जानने और देखने वाला **(पुराणः)** अनादि **(पुमान्)** आत्मा **(इतः)** अब यहां से **(चकास्ति)** प्रकाशमान होता है।

सं० टी०—**(इतः-ज्ञानस्य माहात्म्य कथनादनन्तरम्)** इस ज्ञान के महत्त्व के वर्णन के पश्चात् **(चकास्ति-द्योतते)** द्योतमान रहता है **(कः ?)** कौन **(पुराणः-जीर्णः-अनादिरित्यर्थः)** अनादि **(पुमान्-आत्मा)** आत्मा **(किम्भूतः ?)** कैसा **(जगतः-त्रिलोकस्य)** तीनों लोकों का **(साक्षी-अक्षति-सङ्घातीकरोति पूर्वोत्तरपर्यायानित्येवं शीलः, अक्षी, अथवा अक्ष्णोति-व्याप्नोति-परिच्छिनत्ति, सर्वगुणपर्यायानित्येवं शीलः, अक्षो-ज्ञायकः तेन सह वर्तते, इति साक्षी, अथवा जगतः साक्षी साक्षिकः-जगत्स्वभावज्ञायकत्वात्)** जिसका स्वभाव अपनी पूर्व ओर उत्तर पर्यायों को इकट्ठा करने का हो उसे अक्षी कहते हैं अथवा जिसका स्वभाव अपने सभी गुण और पर्यायों को जानने का होता है उसे अक्षी कहते हैं अर्थात् ज्ञायक-जानने वाला उक्त ज्ञायक स्वभाव से सहित को साक्षी कहते हैं। अथवा जगत के स्वभाव का ज्ञाता होने से साक्षी **(स्वयम्-परस्वरूपमन्तरेण)** पर के स्वरूप के विना **(ज्ञानोभूतः संसारावस्थायामज्ञानं-प्रतिबुद्धावस्थायां ज्ञानं भूयतेस्मेति ज्ञानोभूतः)** संसारदशा में अज्ञानरूप से तथा प्रतिबुद्ध अवस्था में ज्ञानरूप से जो हो चुका हो अर्थात् जो मिथ्यात्व की अवस्था में अज्ञानी रहा हो और पश्चात् सम्यक्त्व की अवस्था में ज्ञानी रह चुका हो **(निवृत्तः-विनिवृत्तिं प्राप्तः)** विशेष रूप से निवृत्ति-जुदाई को प्राप्त हुआ **(कुतः ?)** किससे **(अज्ञेत्यादिः-अज्ञाना-स्वयं चैतन्याभावलक्षणा, उत्थिता प्रादुर्भूता, कर्तृकर्मणोः कलना-प्रवृत्तिर्विकल्पो वा सैव क्लेशः-दुःखदायित्वात्-तस्मात्)** स्वयं चैतन्य से शून्य उत्पन्न हुई कर्ता कर्म रूप प्रवृत्ति वही हुआ एक प्रकार का क्लेश-दुःख उससे **(पुनः किम्भूतः ?)** फिर कैसा **(आस्तिघ्नुवानः-ष्ठिवु आस्कन्दने, अस्य-धातोः प्रयोगात्)** आस्कन्दनार्थक ष्ठिवु धातु का प्रयोग होने से चारों तरफ से घेरता हुआ **(परं-केवलम्)** सिर्फ **(स्वं-स्वरूपम्)** अपने रूप को **(कुतः ?)** किससे **(अभयात्-निर्भयत्वमाश्रित्य)** निर्भयता का आश्रय करके अर्थात् निर्भयता से **(किंभूतं स्वम् !)** कैसे अपने को **(विज्ञानेत्यादिः-विज्ञानस्य विशिष्ट निर्मल ज्ञानस्यघनो-निरन्तरं स एव स्वभावो यस्य तत्)** परिपूर्ण निर्मल ज्ञान ही जिसका नित्य स्वभाव है **(इति-हेतोः-आत्मप्रकाशन स्वभावात्)** आत्मा को प्रकाशित करने के स्वभाव से **(एवं-पूर्वोक्त प्रकारेणकर्तृ-कर्मावकाशाभावेसति)** पूर्वोक्त प्रकार से कर्ता कर्म के अवकाश का अभाव होने पर **(विरचय्य-रचयित्वा)** रच करके **(काम् ?)** किसे **(पराम्-उत्कृष्टां)** सर्वोत्कृष्ट **(निवृत्तिम्-परावृत्तिम्)** परावृत्ति को—परिवर्तन-अभाव को **(सम्प्रति-इदानीम्)** इस समय **(कुतः-परद्रव्यात् – पुद्गलादि परद्रव्यत्वात्)** पुद्गल आदि पर द्रव्य से ॥३॥

भावार्थ—यह आत्मा अनन्त संसार के कारणभूत मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से अनादितः अज्ञानी रहता है। पश्चात् सद्गुरु आदि के सदुपदेश रूप बाह्य कारण तथा मिथ्यादर्शनादि के उपशमादि रूप

अन्तरङ्ग कारण की प्रबलता से सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञानी बन जाता है। इस प्रकार से अज्ञान से निकल कर और ज्ञान की परमोत्कृष्ट ज्योति से पुद्गलादि पर द्रव्य से अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् जानकर ज्ञानी आत्मा अज्ञान जनित या स्वयं ही अज्ञान स्वरूप कर्ता कर्म की अनादि कालिक प्रवृत्ति को जलाञ्जलि देकर स्वयं ही अविचल अनन्त ज्ञान रूप हो निर्मल निराकार निज स्वभाव का अनुभोक्ता हो जाता है। यह मात्र स्वपर भेदज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा समझना चाहिए।

अब आत्मा के कर्तृत्व का अभाव बताते हैं—

व्याप्य व्यापकता तदात्मनिभवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृ कर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एव लसितः कर्तृत्व शून्यः पुमान् ॥४॥

अन्वयार्थ—(**व्याप्यव्यापकता**) व्याप्य व्यापक भाव (**तदात्मनि**) स्वभाववान् पदार्थ में (**भवेत्**) होता है (**अपि**) किन्तु (**अतदात्मनि**) अतत्स्वरूप पदार्थ में (**नैव**) नहीं (**भवेत्**) होता (**व्याप्यव्यापकभाव सम्भवम्**) व्याप्य व्यापक भाव के सम्भव (**ऋते**) विना (**कर्तृकर्मस्थितिः**) कर्ता कर्म की प्रवृत्ति (**का**) कौन अर्थात् कोई भी नहीं होती (**इति**) इस प्रकार के (**उद्दाम विवेक घस्मरमहोभारेण**) उत्कट भेद विज्ञान रूप अज्ञानान्धकार को भक्षण करने वाले तेज के समूह से (**तमः**) अज्ञानरूप अन्धकार को (**भिन्दत्**) भेदता हुआ (**ज्ञानीभूय**) ज्ञान स्वरूप हुआ (**तदा**) उस समय (**एषः**) यह (**पुमान्**) आत्मा (**कर्तृत्वशून्यः**) कर्तृत्व रहित (**लसितः**) शोभित (**भवति**) होता है।

सं० टीका—(**तदा-कर्तृत्वशून्यत्वसूचनसमये**) उस समय—कर्तापन की शून्यता के समय (**स एषः प्रत्यक्षीभूतः**) वह यह-प्रत्यक्षरूप (**पुमान्-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**लसितः-उल्लासं प्राप्तः परम-प्रकर्षत्वं प्राप्त इत्यर्थः**) उल्लास को प्राप्त अर्थात् परम प्रकर्षता को प्राप्त हो (**किंकृत्वा**) क्या करके (**ज्ञानी-भूय ? अज्ञानं ज्ञानं भूत्वा संसार दशात इति ज्ञानीभूय**) संसार दशा के अज्ञान से ज्ञानवान् बनकर ज्ञानी-भूय यह पद (**"समासेभाविन्यनञः क्त्वो यप्" इति कौमारसूत्रेणयप्**) समासे इत्यादि कौमार सूत्र से यप् प्रत्यय करने पर "डाच्चूर्याद्यनुकरणं चेत्, इति चिन्तामणीय सूत्रेण निष्पादनाच्च।" डाच्चूर्यादि चिन्तामणीय सूत्र से सिद्ध होता है (**तदालसितः यदेत्यध्याहारः,**) उस समय परमोत्कर्षता को प्राप्त हुआ जब यहां यदा शब्द का अध्याहार है (**कर्तृत्वशून्यः-प्रवाहमात्मा कर्ता, कर्म नोकर्मपरिणामरूपकर्मणामिति विकल्पेन-शून्यः-रहितः**) जब मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्म और नोकर्म रूप परिणामों का कर्ता हूँ इस प्रकार के विकल्प से रहित (**किं-कुर्वन् !**) क्या करता हुआ (**तमः-अज्ञानं-ज्ञानदृष्टिनिवारकत्वात्**) अज्ञान रूप अन्धकार को क्योंकि यह ज्ञानरूप नेत्र का अवरोधक है (**भिन्दम्-छिन्दन् निवारयन्निति यावत्**) निवारण करता हुआ (**केन**) किसके द्वारा (**इति-पूर्वार्धोक्तयुक्त्या**) श्लोक के पूर्वार्द्ध में कही हुई युक्ति से (**उद्दामेत्यादिः— उद्दामः उत्कृष्टः, स चासौ विवेकश्च, चेतनाचेतनभिन्नत्वकरणलक्षणः, तथा चोक्तं 'चिदचित्वे परतत्वे विवेक-**

स्तद्विवेचनमिति' स एव घस्मरं जगदज्ञानग्रसकं, महः-तेजः अथवा विवेकेनोपलक्षितं घस्मरमहः जगदन्तः कारकं ज्ञानं तस्य भारस्तेन) चेतन और अचेतन को पृथक् करने वाला महान् विवेक जैसा कि विवेक का लक्षण करते हुए आचार्य ने कहा है कि चेतन और अचेतन रूप श्रेष्ठ दो तत्त्वों को जो पृथक् करे सो विवेक है वह विवेक ही हुआ-घस्मर-जगत् के अज्ञान को ग्रसने—नाश करने वाला—महः-तेजः अथवा विवेक से सहित घस्मरमहः-जगत् को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञान के भार से (**इतिकिम्**) ऐसा कौन ? (**तदात्मनि-तावेव स्वभावस्वभाविभावावेव आत्मा-स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्मिन्**) स्वभाव और स्वभावी ये दोनों ही भाव जिसके स्वरूप हैं उसमें (**भवेत्-स्यात्**) होता है (**का ?**) क्या ? **व्याप्यव्यापकता-व्याप्यतेऽनेनेति व्याप्यं कार्यं, व्याप्नोति स्वकार्यमिति व्यापकः, धूमधूमध्वजयोः, घटमृत्तिकयोर्वा व्याप्यव्यापकभाव सद्भावात्, पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा-स्वतन्त्रव्यापकेन कर्मत्वेन क्रियमाणं कर्म व्याप्यं तयोस्तद्भावत्वव्यवस्थानात् कुम्भमृदोरिव)** जिसके द्वारा व्याप्त किया जाय वह व्याप्य-कार्य, और जो अपने कार्य को व्याप्त करता है वह व्यापक, धूम का अग्नि के साथ अथवा घट का मिट्टी के साथ व्याप्यव्यापकभाव विद्यमान है। स्वतन्त्र रूप से व्यापक पुद्गलद्रव्यरूप कर्ता के द्वारा कर्मरूप से किया जाने वाला कर्म व्याप्य इन दोनों में घट का मिट्टी के समान व्याप्य व्यापकभाव बनता है।

(**अपि पुनः**) और भी (**अतदात्मनि-अतत्स्वरूपे**) अतत्स्वरूप-व्याप्यव्यापकता शून्य वस्तु में (**व्याप्यव्यापकता**) व्याव्यव्यापकता-कार्यकारणभाव (**नैव**) नहीं (**कुम्भकुम्भकारयोरिव**) कुम्भ-कुम्भकार के समान (**अन्यथा**) अतत्स्वरूप में भी व्याप्य व्यापकता स्वीकार करने पर (**पर्वतधूमध्वजयोरपि तत्प्रसङ्गात्**) पर्वत और अग्नि में भी व्याप्य व्यापकता-कार्य कारणस्वभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**स्वभाव स्वभाविनोः कार्यकारणयोश्च शिंशपावृक्षत्वयोर्धूमधूमध्वजोश्च यथा व्याप्यव्यापकता न चान्यत्र**) स्वभाव स्वभावी में, कार्य कारण में, शिंशपा वृक्षत्व में धूम अग्नि में जैसी व्याप्य व्यापकता है वैसी अन्य में नहीं। (**तथा ज्ञानात्मनोः पुद्गलकर्मणोरेव व्याप्यव्यापकता**)जैसी ज्ञान व आत्मा में, पुद्गल व कर्ममें व्याप्यव्यापकता है। (**न च पुद्गलपरिणामात्मनोः कुम्भतत्कारकयोरिवास्ति,**) वैसी पुद्गलकर्म व आत्मा में कुम्भ व कुम्भकार में नहीं है। (**व्याप्येत्यादिः-व्याप्यं च व्यापकं च व्याप्यव्यापके तयोर्भावस्तस्य सम्भवस्तम्**) व्याप्य और व्यापक इन दोनों का जो भाव-धर्म उसकी उत्पत्ति के (**ऋते-विना, 'ऋते योगे द्वितीयापिभवति,**) बिना ऋते शब्द के योगमें शब्दान्तर से द्वितीया विभक्ति भी होती है (**"पंचमीचर्तेः" द्वितीया च शब्दात्**) च शब्द से द्वितीया भी होती है (**इतिशाकटायनात्**) इस शाकटायन से (**कर्तृकर्मस्थितिः-कर्मात्मनोः कर्तृकर्मावस्थानं**) कर्म और आत्मामें कर्ता और कर्म की अवस्था (**कापि**) कोई भी (**न कापि भवतीति**)अर्थात् कोई भी नहीं होती है ॥४॥

भावार्थ—जिसका अस्तित्व सर्व अवस्थाओं में उपलब्ध रहता है वह व्यापक कहा जाता है। अवस्थाएँ व्याप्य कही जाती हैं। यह व्याप्य व्यापकता मात्र द्रव्य में ही होती है। द्रव्यव्यापक होता है और उसकी पर्यायें व्याप्य होती हैं। यह व्याप्य व्यापक सम्बन्ध तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। जैसे घट का मृत्तिका के साथ व्याप्य व्यापक भाव है क्योंकि घटरूप पर्याय मृत्तिकारूप द्रव्य की ही

है अन्य की नहीं । वैसे ही ज्ञानगुण की विविध पर्यायें ज्ञानी आत्मा के साथ ही व्याप्य व्यापकभाव रखती है; अन्य पुद्गलादि के साथ नहीं । जब पुद्गलादि के साथ आत्मा का व्याप्य व्यापक भाव कथमपि सम्भव नहीं है तब आत्मा का उक्त पुद्गलादि के साथ कर्तृ कर्म भाव कैसे हो सकता है क्योंकि बिना व्याप्य व्यापक सम्बन्ध के कर्तृ कर्म भाव की व्यवस्था हो ही नहीं सकती । इस प्रकार से जो विवेकी—भेद-विज्ञानी व्याप्य व्यापक भाव को पहिचानता है वही कर्तृ कर्म भाव की पहिचान करने में दक्ष होता है । अतएव आत्मा पुद्गलादि पर द्रव्यों का ज्ञाता द्रष्टा ही है कर्ता एवं भोक्ता नहीं है ।

अब आत्मा का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक भाव का अभाव सिद्ध करते हैं—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्तिक्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) स्वपर स्वरूप का ज्ञाता आत्मा (**इमाम्**) इस (**स्वपरपरिणतिम्**) अपनी और परद्रव्य-पुद्गलादि की परिणति-पर्याय को (**जानन्**) जानता है (**अपि**) और (**पुद्गलः**) पुद्गल (**अजानन्**) स्वपर की परिणति को नहीं जानता है अतएव दोनों द्रव्य (**व्याप्तृ व्याप्यत्वम्**) व्याप्य व्यापकता को (**अन्तः**) अन्तरङ्ग में–निज रूप में (**कलयितुम्**) धारण करने के लिए (**असहौ**) असह्-असमर्थ हैं क्योंकि उक्त दोनों द्रव्यों में (**नित्यम्**) सदा से (**अत्यन्तभेदात्**) सर्वथा भेद है अर्थात् दोनों द्रव्य स्वरूप से हमेशा ही बिल्कुल ही भिन्न है । (**अनयोः**) आत्मा और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में (**अज्ञानात्**) अज्ञान-स्वपर के स्वरूप का ज्ञान न होने से (**कर्तृकर्मभ्रममतिः**) कर्ता और कर्मरूप विपरीत बुद्धि (**तावत्**) तभी तक (**भाति**) भासित होती है (**यावत्**) जब तक (**विज्ञानार्चिः**) भेद विज्ञान की ज्वाला (**क्रकचवत्**) करोंत के समान (**अदयम्**) निर्दयता पूर्वक (**सद्यः**) शीघ्र ही अर्थात् तत्काल (**भेदम्**) भेद को-दोनों की पृथकता को (**उत्पाद्य**) उत्पन्न करके (**न**) नहीं (**चकास्ति**) प्रकाशमान होती है ।

सं० टीका—(**ज्ञानी-आत्मा**) ज्ञानी-आत्मा (**च-पुनः**) और (**पुद्गलः-परमाण्वादिपुद्गलद्रव्यम्-व्याप्यव्यापकत्वं-"प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणम्" तत्र—प्राप्यं-कर्मपर्यायं प्राप्तुं योग्यम्, यथा स्वभाविनि वह्नौ—उष्णत्वम्, पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थान्तरप्राप्तिः तद्विकार्यम्-यथा मृत्पिण्डस्य घटः, पर्याय स्वरूपेण निर्वर्तयितुं-निष्पादितुं योग्यं निर्वर्त्यम्-मृदः स्थासकोश कुशूल घटादिवत्, व्यापकत्वं-उष्णत्वे वह्नित्वम्, घटे मृत्पिण्डत्वम्, स्थासादौ मृत्त्वं, पुद्गलकर्मपरिणामयोः आत्मज्ञानपरिणामयोर्व्याप्य व्यापकत्वं, नत्वात्मकर्मणोः, अत्यन्तं विलक्षणत्वात्**) परमाणु आदि पुद्गलद्रव्य, व्याप्य व्यापकता, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य यह व्याप्य के लक्षण हैं" उनमें-प्राप्य-जो कर्मरूप पर्याय को प्राप्त करने के योग्य हो, जैसे स्वभाववान् वह्नि में उष्णता, जो पूर्व अवस्था के त्याग से उत्तर अवस्था को प्राप्त करने योग्य हो

वह विकार्य है, जैसे—मिट्टी के पिण्ड से घड़ा, जो पर्याय के रूप से निष्पन्न करने योग्य हो वह निर्वर्त्य है, जैसे—मिट्टी के स्थास, कोश, कुशूल और घड़ा आदि पर्यायों की भांति, व्यापकता—उष्णता में अग्नि, घड़े में मृत्पिण्ड, स्थासादि में मिट्टी, पुद्गल का अपने कर्मरूप पपिणमन में, और आत्मा का अपने ज्ञानरूप परिणमन में व्याप्य व्यापक भाव है किन्तु आत्मा का पुद्गल जन्य कर्म के साथ व्याप्य व्यापक भाव नहीं है क्योंकि दोनों में अत्यन्त विलक्षणता-स्वरूपकृत भेद प्राप्त है। (**अन्तः-अभ्यन्तरे**) अभ्यन्तर अन्दर (**बहिस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि**) बाहिर में आत्मा और पुद्गलकर्मों में व्याप्य व्यापकता दिखाई देती है तो भी (**कलयितुं-स्वीकर्तुं**) स्वीकार करने के लिए (**असहौ-असमर्थौ**) असहनशील असमर्थ है (**अत्यन्तविलक्षणत्वमुद्घाटयति तयोः**) आत्मा और पुद्गल में अत्यन्त विलक्षणता-स्वरूप कृत भेद को प्रकट करते हैं (**किम्भूतः सन्नात्मा**) कैसा होता हुआ आत्मा ? (**जानन्नपि-परिच्छिन्दन्नपि**) जानता हुआ भी (**अपिशब्दात् लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्**) अपि शब्द से लब्ध्यपर्याप्त आदि अवस्थाओं में पूर्ण-रूप से नहीं जानता हुआ भी (**काम् ?**)किसे (**इमां-प्रत्यक्षां-स्वपरपरिणतिम्**) इस प्रत्यक्ष स्वपर परिणति को (**स्वपरयोः-आत्मपुद्गलयोः परिणतिः परिणामः-पर्यायः-ज्ञानकर्मलक्षणस्ताम्**) आत्मा और पुद्गल की ज्ञान तथा कर्मरूप पर्याय को (**पुनः पुद्गलस्ताम्-अजानन्-अपरिच्छिदन्-अज्ञानस्वभावत्वात्**) और पुद्गल उस पर्याय को नहीं जानता हुआ क्योंकि उसका जानने का स्वभाव नहीं है। (**असहौ कुतः ?**) असमर्थ कैसे (**नित्यं-सदैव**) सदा-हमेशा-ही (**अत्यन्तभेदात्-चेतनाचेतनस्वभावेनात्यन्तं विलक्षणत्वात्**) क्योंकि चेतन-आत्मा और अचेतन पुद्गल में स्वभाव से अति ही विलक्षणता-स्वरूप की अपेक्षा महान भेद है (**यावत्**) जब तक (**विज्ञानार्चिः-ज्ञानज्योतिः**) ज्ञान की ज्योति (**न चकास्ति, न द्योतते**) शोभित नहीं होती (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**सद्यः-तत्कालम्**) तत्क्षण-उसी समय (**उत्पाद्य-निष्पाद्य**) उत्पन्न करके (**कम् ?**) किसे (**भेदम्-आत्मकर्मणोर्भिन्नत्वम्**) भेद को आत्मा और कर्म की जुदाई को (**कथम् ?**) कैसे (**अदयम्-ध्यानादिना निष्ठुरत्वं यथा भवति तथा**) निर्दयता पूर्वक-ध्यान आदि के द्वारा जैसे निष्ठुरता-कठोरता, हो सके वैसे (**क इव**) किसके समान (**क्रकचवत्-यथा क्रकचः करपत्रं काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति**) क्रकच-करोंत के समान अर्थात् जैसे करोंत दो काष्ठों में भेद करता है वैसे (**तावत्कालम्-**) तब तक (**भाति-शोभते**) शोभित होती है (**का ?**) कौन ? (**कर्त्रेत्यादिः—कर्तृकर्मणोर्भ्रमस्तेनोपलक्षिता मतिः-बुद्धिः**) कर्ता कर्म के भ्रम से सहित बुद्धि (**कयोः ?**) किन दोनों में (**अनयोः-जीवपुद्गलयोः**) इन दोनों जीव और पुद्गल में (**कुतः ?**) किससे (**अज्ञानात्-ज्ञानावरणादिकर्माच्छादित चैतन्यात्**) ज्ञानावरणादि कर्मों से आच्छादित आत्मा से ॥५॥

भावार्थ—कर्तृकर्म भाव की प्रवृत्ति तभी तक है जब तक भेद विज्ञान रूप करोंत से जीव और पुद्गल के अनादि सम्बन्ध को आत्मा पृथक् नहीं कर देता है।

भेद विज्ञान का अवरोधक एकमात्र मिथ्यात्व मोह है। इसी के कारण आत्मा का ज्ञान अज्ञान-मिथ्या ज्ञान रूप से परिणमन करता रहता है। इसके होते हुए कर्ता कर्म की प्रवृत्ति होती है; क्योंकि इस

प्रवृत्ति का अज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध अनादितः प्रवाह रूप से चला आ रहा है। मिथ्यात्व सह कृत अज्ञान मिथ्यात्व के हटते ही दूर हो जाता है और आत्मा स्वयं ही अपने को तथा पर पुद्गल को सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वीकार करने लगता है। ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानी संयुक्त परद्रव्य को अपने से पृथक् करने में पूर्णतया उद्यमशील रहता है। वह जानता है कि मेरा मेरे निज शुद्ध भावों के साथ ही कर्तृ कर्म सम्बन्ध है अन्य पुद्गलादि के साथ नहीं क्योंकि मेरा मेरे ही भावों के साथ व्याप्य व्यापक भाव है अन्य जड़ स्वरूप परपदार्थ पुद्गलादि के साथ नहीं। सिद्धान्ततः प्रत्येक पदार्थ का अपने परिणमनों के साथ ही व्याप्य व्यापक भाव है अन्य के साथ नहीं। जिस द्रव्य का मेरी आत्मा के साथ अनादितः एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रहा है वह भी अपने परिणमनों का कर्ता रहा है अपने से भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा के भावों का नहीं। क्योंकि वह तो स्वयं ही जड़ रूप है उसका व्याप्य व्यापक सम्बन्ध उसके जड़ परिणामों के साथ ही निश्चित है अन्य चैतन्य स्वरूप आत्मा के साथ नहीं। इसी प्रकार से आत्मा का भी परपुद्गल के परिणमनों के साथ व्याप्य व्यापक भाव का अभाव है अतएव वह भी पुद्गल के साथ सम्बद्ध होते हुए भी उसके भावों का कर्ता नहीं था, न है और न रहेगा, और जब यह आत्मा उनका कर्ता ही नहीं; तब वे भाव इसके कर्म भी नहीं, इस प्रकार से त्रैकालिक कर्तृ कर्म प्रवृत्ति की निवृत्ति ज्ञानी के सहज ही सिद्ध हो जाती है। ज्ञान का ऐसा ही अनिर्वचनीय अलौकिक माहात्म्य है जो ज्ञानी के ज्ञान का विषय है ॥५॥

अब कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीनों एक ही हैं; यह बताते हैं—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥६॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**परिणमति**) परिणमन करता है (**स**) वह (**कर्ता**) कर्ता है (**यः**) जो (**परिणामः**) परिणाम (**भवेत्**) होता है (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म है (**या**) जो (**परिणतिः**) परिणमन (**अस्ति**) है (**सा**) वह (**क्रिया**) क्रिया है (**अपि**) किन्तु (**त्रयम्**) तीनों (**वस्तुतया**) परमार्थ दृष्टि से (**भिन्नम्**) भिन्न (**न**) नहीं (**सन्ति**) हैं।

सं० टी०— (**यः-आत्मा पुद्गलो वा**) जो आत्मा अथवा पुद्गल (**परिणमति-स्वपर्यायान् प्रति परिणामं प्राप्नोति यथोत्तरङ्ग निस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणयोरपि समीर समुद्रयोः, कर्तृ-कर्मत्वाभावात् पारावार एवादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता, तथा संसारनिस्संसारयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि कर्तृ कर्मत्वाभावात् जीव एवाद्रिमध्यान्तेषु ते अवस्थे व्याप्य, उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता, एवं पुद्गलेऽपि योज्यम्,**) अपनी पर्यायों की ओर परिणमन को प्राप्त करता है। जैसे—उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था वाले वायु के संचार और असंचार वाले समीर और समुद्र के कर्त्ता और कर्म का अभाव होने से समुद्र ही आदि, मध्य और अन्त में उत्ताङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्थाओं को व्याप्त करके उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग रूप अपने को

करता हुआ कर्ता होता है। वैसे ही संसार और निस्संसाररूप पुद्गल कर्म के फलदान रूप विपाक का होना और नहीं होना रूप निमित्त वाले जीव पुद्गल में भी कर्ता कर्म का अभाव होने से जीव ही आदि, मध्य और अन्त में उन दोनों अवस्थाओं को व्याप्त करके दोनों अवस्थाओं रूप अपने को करता हुआ कर्ता होता है। इसी प्रकार से पुद्गल में भी कर्ता कर्म के अभावादि की योजना कर लेनी चाहिए। (**तु-पुनः**) और (**यः**) जो (**परिणामो**) परिणाम-परिणमन-पर्याय (**भवेत्**) होती है (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म है (**यथा तस्यैवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानमनुभवतः स एव-परिणामः कर्म तथा तस्य संसारं निस्संसारं त्वनुभवतः स एव परिणामः कर्म**) जैसे उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग रूप का स्वयं ही अनुभव करने वाले उस समुद्र का वही परिणमन कर्म है। वैसे ही संसार और निस्संसार रूप को स्वयं ही अनुभव करने वाले जीव का वही परिणाम कर्म है (**या**) जो (**परिणतिः-स्वपरिणामे परिणमनम्**) परिणति-अपने परिणाम में परिणमन (**सा**) वह (**क्रिया**) क्रिया (**वस्तुतया-वस्तुरूपेण ऐक्यात्**) वस्तुरूप से एकता होने के कारण (**त्रयमपि-कर्तृकर्मपरिणतिरूपम्**) कर्ता, कर्म और परिणति रूप तीनों (**भिन्नं-अन्यत्**) भिन्न-अन्य-जुदे (**न**) नहीं (**भवेत्**) हैं (**क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना,**) वस्तुतः क्रिया मात्र, परिणाम लक्षण के रूप में परिणाम से जरा भी भिन्न नहीं हैं (**परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः**) परिणाम भी परिणाम और परिणामी में अभिन्न वस्तुता-एक वस्तुपन-होने से परिणामी द्रव्य-से भिन्न-जुदा नहीं है। (**परिणाम्यपिक्रिया परिणामयोरभिन्नत्वात्परिणामतोऽभिन्नः**) परिणामी—द्रव्य-भी क्रिया-परिणति और परिणाम-परिणमन से अभिन्न होने के कारण परिणाम-कर्म से अभिन्न ही हैं ॥६॥

भावार्थ – जैसे समुद्र की उत्तरङ्ग·· उठती हुई तरङ्गों वाली अवस्था तथा निस्तरङ्ग नहीं उठती हुई तरङ्गों वाली अवस्था-में समीर-वायु-का होना और नहीं होना मात्र निमित्त ही है; उपादान नहीं है। उपादान तो स्वयं समुद्र ही है क्योंकि समुद्र ही उन अवस्थाओं का करता एवं अनुभोक्ता है वायु नहीं। वैसे ही जीव की संसार और असंसार अवस्था के होने में कर्मों-पुद्गलजन्य शुभ और अशुभ कर्मों का विपाक और अविपाक—फल देना और नहीं देना—मात्र निमित्त है। उपादान नहीं। उपादान तो स्वयं ही जीव है क्योंकि जीव ही उन अवस्थाओं का कर्ता एवं अनुभोक्ता है। अतएव जैसे समुद्र की उत्तरङ्ग तथा निस्तरङ्ग अवस्थाओं का कर्तृकर्म भाव समुद्र के साथ ही है, वायु के साथ नहीं। वैसे ही जीव की संसार और असंसार अवस्थाओं का कर्तृकर्म भाव जीव के साथ ही है, पुद्गल कर्मों के साथ नहीं ॥७॥

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥७॥

अन्वयार्थ—(**एकः**) वस्तु एक (**सदा**) हमेशा (**परिणमति**) परिणमन करती है (**एकस्य**) एक का (**सदा**) हमेशा (**परिणामः**) परिणमन (**जायते**) होता है (**एकस्य**) एक की (**परिणतिः**) परिणमन रूप क्रिया (**जायते**) होती है (**यतः**) क्योंकि (**अनेकम्**) अनेक कर्ता, कर्म एवं क्रिया तीनों (**अपि**) भी (**एकम्**)

एक रूप (**एव**) ही (**स्यात्**) हैं (**यतः**) क्योंकि उक्त तीनों में प्रदेश भेद नहीं है।

सं० टी०—(**अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति**) अनेक होने पर भी एक हैं यह स्पष्ट करते हैं (**एकः-आत्मा**) एक-आत्मा (**सदा-नित्यम्**) सर्वदा-हमेशा-निरन्तर (**परिणमति-परिणामयुक्तोभवति**) परिणाम-परिणमन-से सहित होता है। (**सदा-निरन्तरम्**) हमेशा (**एकस्य आत्मनः**) एक आत्मा-का (**परिणामः-शुभाशुभलक्षणः**) शुभ और अशुभरूप परिणाम (**जायते-उत्पद्यते**) उत्पन्न होता है। (**एकस्य आत्मनः**) एक-आत्मा की (**परिणतिः-परिणमनलक्षणक्रिया**) परिणमन रूप क्रिया (**स्यात्**) होती है। (**यथा किल कुलालः कलशसम्भवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः घटादिरूपं मृत्तिकया क्रियमाणं प्रति, अभिन्नता-मनुभवति**) जैसे—वस्तुतः कुम्भकार घट की उत्पत्ति के अनुकूल अपने व्यापार रूप परिणाम को जो आत्मा से अभिन्न है तथा आत्मा से अभिन्न जो परिणति रूप क्रिया उससे किये जा रहे कार्य को करता हुआ मालूम पड़ता है किन्तु वह मिट्टी से किये जा रहे घट आदि के रूप कार्य के प्रति अभिन्नता-एकता का अनुभव नहीं करता है। (**तथा-आत्माऽपि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्त मात्मनोऽव्यतिरिक्ततया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः पुद्गलक्रियया क्रिय-माणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति**) वैसे ही आत्मा भी पुद्गल के परिणमन के अनुकूल-योग्य-अज्ञान से अपने परिणाम को जो आत्मा से अभिन्न है तथा आत्मा से अभिन्न परिणति रूप क्रिया से किये जा रहे कर्मरूप कार्य को करता हुआ मालूम पड़ता है। किन्तु वह पुद्गल की क्रिया से किये जा रहे कर्म के साथ अभिन्नता-एकता-का अनुभव नहीं करता है। (**यतः-अभिन्नत्वं तेषां त्रयाणाम्**) क्योंकि वे कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों आत्मा से अभिन्न हैं अर्थात् आत्मा रूप हैं। (**अनेकमपि-कर्तृ कर्म क्रियारूपेणानेकमपि**) कर्ता, कर्म, क्रियारूप से अनेक होते हुए भी (**एकमेव-वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यम्**) एक ही हैं अर्थात् यथार्थ दृष्टि से वे तीनों आत्मा से अभेद सम्बन्ध रखने के कारण एक ही हैं— आत्मा रूप ही हैं ॥७॥

भावार्थ—एक द्रव्य ही हमेशा परिणमन शील होता है। एक द्रव्य का एक समय में हमेशा एक ही परिणाम होता है। एक द्रव्य की एक समय में हमेशा एक ही क्रिया होती है। ये तीनों विभिन्न कर्ता, कर्म और क्रिया रूप पर्यायें पर्यायी द्रव्य से अभेदरूप हैं अतएव एकमात्र द्रव्यरूप ही है द्रव्यान्तर-दूसरे द्रव्य-रूप नही हैं ॥७॥

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्यादयनेकमनेकमेव सदा ॥८॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) वस्तुतः-निश्चय से (**उभौ**) दो द्रव्यें (**न**) नहीं (**परिणमतः**) परिणमन करती हैं अर्थात् दो द्रव्यें एकरूप परिणमन नहीं करती हैं। (**उभयोः**) दो द्रव्यों का (**परिणामः**) एक परि-णाम (**न**) नहीं (**प्रजायेत**) हो सकता है। (**उभयोः**) दो द्रव्यों की (**परिणतिः**) एक परिणति रूप क्रिया

(न) नहीं **(स्यात्)** हो सकती है। **(यत्)** क्योंकि **(अनेकम्)** अनेक वस्तु **(सदा)** हमेशा **(अनेकम्)** अनेक **(एव)** ही **(स्यात्)** होती है।

सं० टी०—**(उभौ-जीवपुद्गलौ)** दोनों-जीव और पुद्गल **(खलु इति निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(परिणमतः-परिणामं गच्छतः)** एक परिणाम को प्राप्त करने वाले **(न-नहि)** नहीं हैं **(एक एव हि परिणमति)** एक ही परिणमन करता है। **(यथा-कुलालः घटनिष्पादनाभिमानपरिणाम प्रति परिणमति नतु घटभवन क्रियायाम्)** जैसे कुम्भकार घट को बनाने के अहंकार रूप परिणाम को करता है किन्तु घट की घटरूप होने वाली क्रिया को नहीं करता। **(तथा जीवः कर्म निष्पादनाभिमान परिणाम प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्यनिष्पादितकर्मक्रियां प्रति)** वैसे ही जीव कर्म को करने के अभिमानरूप परिणाम का कर्ता तो हो सकता है किन्तु पुद्गलद्रव्य से बनने वाली कर्मरूप क्रिया का करता नहीं हो सकता। **(उभयोः जीव पुद्गलयोः)** दोनों-जीव और पुद्गल का **(परिणामः-परिणतिः)** एक परिणमन **(न)** नहीं **(जायते-उत्पद्यते)** उत्पन्न होता है। **(परस्परम्-भिन्नस्वभावत्वात्)** क्योंकि दोनों द्रव्यं आपस में अलग-अलग स्वभाव रखती हैं। **(उभयोः-परात्मनोः)** पुद्गल और आत्मा को **(परिणतिः-परिणमनलक्षणा "क्रिया)** एक परिणमन-अवस्थान्तर-रूप-क्रिया **(न स्यात्-नभवेत्)** नहीं हो सकती **(परस्परं स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावात्)** क्योंकि आपस में अपने-अपने स्वभाव में, अलग-अलग परिणतियाँ विद्यमान हैं। **(यतः-यस्मात् कारणात्)** जिस कारण से **(अनेकं-न एकं अनेकम्-जीवपुद्गलौ)** अनेक-एक नहीं अर्थात् जीव और पुद्गल ये दोनों **(सदा-नित्यम्)** हमेशा **(अनेकमेव-भिन्नमेव)** अनेक-भिन्न ही हैं ॥८॥

भावार्थ—जैसे घटकार घट के बनाने के परिणाम का कर्ता है और घट बनाने का परिणाम उसका कर्म है तथा घटोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया रूप परिणति भी घटकार में ही होती है इस प्रकार से ये तीनों घटकार रूप ही है घटरूप नहीं क्योंकि घटनिष्ट व्यापार का कर्ता मिट्टी रूप वस्तु है। घट उस मिट्टी का कर्म है और घटानुकूल क्रिया मृत्तिका निष्ठ है। अतएव ये तीनों मिट्टीरूप हैं घटकार रूप नहीं। वैसे ही जीव पुद्गल में कर्मोत्पत्ति के अनुकूल अपने उपयोग रूप परिणाम का कर्ता है परिणाम उसका कर्म है और तदनुरूप क्रिया जीवनिष्ठ है अतएव ये तीनों जीव रूप ही हैं पुद्गलकर्मरूप नहीं क्योंकि कर्मरूप परिणाम का कर्ता पुद्गल है कर्मरूप परिणाम पुद्गल का कर्म है और कर्मानुकूल व्यापारात्मक क्रिया पुद्गलनिष्ठ है अतएव ये तीनों कर्ता, कर्म, क्रिया पुद्गल रूप ही है जीव रूप नहीं। इस प्रकार से जीव पुद्गल में आपस में कर्तृ कर्म भाव का सर्वथा अभाव है क्योंकि दोनों द्रव्यें अपने-अपने में ही परिणमनादि के कर्ता कर्म क्रिया रूप हैं एक दूसरे के परिणमनादि के कर्ता आदि नहीं हैं यही वस्तु स्थिति है अन्य नहीं तथा अन्य रूप नहीं ॥९॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥९॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**एकस्य**) एक परिणाम के (**द्वौ**) दो (**कर्तारौ**) कर्ता (**न**) नहीं (**स्तः**) होते हैं। (**च**) और (**एकस्य**) एक कर्ता के (**द्वे**) दो (**कर्मणी**) कर्म (**न**) नहीं (**स्तः**) होते हैं। (**च**) और (**एकस्य**) एक की (**द्वे**) दो (**क्रिये**) क्रियायें (**न**) नहीं (**स्तः**) होती। (**यतः**) क्योंकि (**एकम्**) एक वस्तु (**अनेकम्**) अनेक वस्तु रूप (**न**) नहीं (**स्यात्**) होती है।

सं० टीका—(**एकस्य-परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा**) चेतनरूप तथा कर्मरूप एक परिणमन का (**हि-इति निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**द्वौ-जीवपुद्गलौ**) दो-जीव और पुद्गल (**कर्तारौ-कारकौ**) कर्ता-करने वाले (**न स्तः-न भवतः**) नहीं होते (**चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता**) चेतना का जीव ही कर्ता है और कर्म का पुद्गल ही कर्ता है। (**चेति भिन्नप्रक्रमे**) च शब्द क्रम की भिन्नता का सूचक है। (**एकस्य जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे कर्मणी चेतनाकर्मलक्षणे न स्तः**) एक जीव अथवा पुद्गल के चेतना और कर्मरूप दो कर्म नहीं होते। (**च-पुनः**) और (**एकस्य कर्तुः-जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे क्रिये-परिणती न स्तः**) एक जीव अथवा पुद्गल की दो क्रियायें नहीं होती हैं। (**जीवस्य चेतनाक्रियां प्रतिपरिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रतिपरिणतत्वात्**) क्योंकि जीव का परिणमन चेतनारूप होता है और पुद्गल का परिणमन कर्मरूप होता है।

(**यथा-कुलालः स्वपरिणतिक्रियां प्रति परिणतः, मृद्द्रव्यं तु कलशक्रियां प्रतिपरिणतं, अन्यत्-मृद्द्रव्यं वस्त्रक्रियां प्रति हेतुर्नस्यात्**) जैसे कुम्भकार अपनी परिणति क्रिया में संलग्न रहता है और मृत्तिका अपनी कलश-घट रूप होने की क्रिया में निमग्न रहती है कोई भी मृत्तिका वस्त्ररूप क्रिया के प्रति कारण नहीं होती है। (**यतः-पूर्वोक्त कारणात्**) पूर्वोक्त कारण से (**एकं-अखण्डं-द्रव्यं-जीवादि**) एक अखण्ड जीवादि द्रव्य (**अनेकं-परपरिणामकर्तृ क्रियाभावात् अनेकरूपम्**) पर-पुद्गलादिद्रव्य के परिणाम आदि का कर्ता एवं तदनुरूप क्रियावान् न होने से अनेक रूप (**न स्यात्-न भवेत्**) नहीं होता है। (**अथवा-एकं-जीवादि, अनेकं स्व कर्तृ कर्म क्रियारूपं यतः कुतो न भवेत्, अपि तु भवेदेव**) अथवा एक जीवादि द्रव्य अपने में कर्ता कर्म और क्रियारूप परिणमन करने से अनेक रूप क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य ही होगा ॥९॥

भावार्थ—एक द्रव्य, अपने से भिन्न द्रव्य के कर्ता कर्म और क्रिया के रूप को प्राप्त नहीं करता, इस दृष्टि से अनेक नहीं हो सकता, किन्तु वही अपने में होने वाले कर्ता कर्म और क्रियारूप विभिन्न परिणमनों के कारण विभिन्न रूप अनेक रूप हो सकता है यह एक में होने वाली अनेकता विशेष विवक्षा की अपेक्षा पर निर्भर करती है॥९॥

अब अज्ञान के माहात्म्य का निरूपण करते हैं—

आ संसारत एव धावतिपरं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थ परिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**ननु**) निश्चय से (**अहम्**) मैं (**परम्**) पर द्रव्य को (**कुर्वे**) करता हूँ (**इति**) इस प्रकार का (**उच्चकैः**) महान् अतएव (**दुर्वारम्**) कठिनता से दूर करने योग्य (**महाऽहंकार रूपं**) महान् अहंकार स्वरूप (**तमः**) अज्ञानान्धकार (**इह**) इस संसार में (**आसंसारतः**) अनादि संसार से (**एव**) ही (**मोहिनाम्**) मोही-अज्ञानी जीवों के पीछे-साथ (**धावति**) दौड़ रहा है (**तत्**) वह अज्ञानान्धकार (**यदि**) यदि (**भूतार्थ-परिग्रहेण**) सत्यार्थ-शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के ग्रहण से (**एकवारम्**) एक बार (**विलयम्**) विनाश को (**व्रजेत्**) प्राप्त हो जाये (**तर्हि**) तो (**किम्**) क्या (**ज्ञानघनस्य**) ज्ञान के पिण्ड स्वरूप (**आत्मनः**) आत्मा के (**भूयः**) फिर से (**तत्**) उस अज्ञान का (**बन्धनम्**) बन्ध (**भवेत्**) हो सकता है ? अर्थात् नहीं। कभी नहीं।

सं० टीका—(**ननु-इति वितर्के**) ननु यह अव्यय वितर्क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (**इह जगति**) इस जगत में (**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**धावति-अत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीतियावत्**) अत्यन्त रूप से फैल रहा या व्याप्त कर रहा है (**किम् ?**) क्या (**महाहङ्काररूपम्**) महान् अहंकार रूप (**महान्-सकल प्राण्यतिशायी स चासौ अहङ्कारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः, स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत् तमः अज्ञानम्**) सभी प्राणियों में अतिशय रूप से विद्यमान "यह मेरे द्वारा किया गया है" इस प्रकार का गर्व ही जिसका स्वरूप है ऐसा अज्ञानरूप अन्धकार (**केषाम्-?**) किनके (**मोहिनां-मोहग्राहग्रस्तानां देहिनाम्**) मोहरूप पिशाच से प्रपीड़ित प्राणधारियों के (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**उच्चकैः-अत्यर्थम्**) अत्यन्तरूप से (**दुर्वारं-वार-यितुमशक्यम्**) निवारण करने में अशक्य (**कियत्पर्यन्तं-धावति**) कहां से-कब से दौड़ता है (**आसंसारतः-एव**) जब से संसार है तब से (**यावत्पर्यन्तं पञ्चपरिवर्तनरूप संसारस्तावत्पर्यन्तं प्रसर्पत्येव**) जब से यह पंचपरिवर्तन – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच परिवर्तन स्वरूप संसार है तब से फैल रहा-व्याप्त कर रहा है (**इति किम् ?**) ऐसा क्या (**कुर्वे-निष्पादयामि करिष्ये वा 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमान-वदिति" सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्**) करता हूँ अथवा करूँगा यहां "वर्तमान सामीप्येवर्तमानवत्" इस सूत्र से भविष्यत् अर्थ में वर्तमान का प्रयोग किया गया है। (**कर्तृभूतः-अहं**) करतारूप मैं (**किम् ?**) किसे (**परं-परद्रव्यं-गृहपुत्र विवाहशरीरकर्मादिरूपम्**) पर-परद्रव्य अर्थात् घर, पुत्र, विवाह, शरीर, कर्म आदि रूप पर पदार्थ को (**यदि-यदा**) यदि (**व्रजेत्-गच्छेत्**) प्राप्त करें (**विलयं-विनाशम्**) विनाश को (**तत्-तमः-कर्तृ**) वह अज्ञानरूप अन्धकार (**एकवारं-सकृद्वारम्**) एक बार (**केन ?**) किससे (**भूतेत्यादिः-शुद्ध द्रव्या-र्थिकनयेन**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (**तावत् किं स्यात्**) तो क्या हो सकता है ? (**अपि तु न स्यादित्यर्थः**) किन्तु नहीं हो सकता है (**भूयः-पुनः**) फिर (**अहो**) आश्चर्य है कि (**बन्धनं-कर्मश्लेषणम्**) कर्मों का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध (**कस्य**) किसके (**आत्मनः-चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**किम्भूतस्य**) कैसी आत्मा के (**ज्ञानघनस्य-बोधनिरतस्य**) ज्ञानमय ज्ञानस्वरूप ॥१०॥

भावार्थ—आत्मा का तथा पौद्गलिक कर्मों का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध अनादितः धाराप्रवाह रूप से चलता आ रहा है। अतएव जीव अनादि से ही अज्ञानी-स्वपर के ज्ञान से शून्य है। यदि इस जीव को किसी भी प्रकार से एक बार भी स्वपर भेद विज्ञान हो जाय तो निस्सन्देह यह आत्मा फिर कभी भी

बन्ध का पात्र नहीं हो सकता क्योंकि आत्मज्ञान के रहते हुए अनन्त संसार का बन्ध नहीं हो सकता। अनन्त संसार का बन्ध तो मिथ्यात्व की दशा में ही होता है। मिथ्यात्व के सहकार से ही ज्ञान अज्ञानरूप में परिणत होता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्यात्व ही अनन्त बन्ध का मूल है यदि उस मिथ्यात्व का, जीव अपने पुरुषार्थ से नाश कर दे तो सम्यक्त्वी बनकर बन्ध रहित हो जाय ॥१०॥

अब आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है और पर अपने भावों का कर्ता है यह दिखाते हैं—

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥११॥

अन्वयार्थ—(**सदा**) हमेशा (**आत्मा**) आत्मा (**आत्मभावान्**) अपने भावों को (**करोति**) करता है (**परः**) और पर-पुद्गलादि (**परभावान्**) आत्मा से भिन्न अपने भावों को (**सदा**) हमेशा (**करोति**) करता है। (**हि**) निश्चय से (**आत्मनः**) आत्मा के (**भावाः**) भाव (**आत्मा**) आत्मारूप (**एव**) ही (**सन्ति**) हैं। (**परस्य**) पुद्गल आदि रूप परद्रव्य के (**ते**) वे भाव (**परः**) पुद्गलादि रूप (**एव**) ही (**सन्ति**) होते हैं।

सं० टीका—(**आत्मा-चेतनः**) चैतन्य स्वरूप जीवात्मा (**करोति-विदधाति वेदयते वा**) करता है अथवा जानता है—अनुभव में लाता है। (**कान् ?**) किन्हें (**आत्मभावान्-मतिश्रुतावधिप्रमुखविभावपर्यायान्, केवलज्ञानदर्शन, सुखवीर्यरूपशुद्धपर्यायांश्च**) अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानादि रूप मुख्य विभाव पर्यायरूप भावों को तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य रूप शुद्ध पर्यायापन्न भावों को (**पर-पुद्गलपदार्थः**) पर पुद्गल पदार्थ (**परभावान्**) परभावों को (**ज्ञानादन्यान् स्वभाव विभाव पर्यायान्,**) ज्ञान स्वभाव विभावसे भिन्न-स्वभाव पर्यायों को (**करोतीति**) करता है (**सम्बन्धः**) ऐसा सम्बन्ध (**कुतः**) कैसे है (**होति यतः**) क्योंकि (**आत्मनो**) आत्मा की (**भावः-पर्यायाः**) भाव-पर्याय (**आत्मा**) आत्मारूप (**एव**) ही है (**द्रव्यादेशात्-पर्यायाणामात्मस्वभावत्वात्**) क्योंकि द्रव्यार्थिक नय के अनुसार पर्यायें आत्मा के ही स्वभाव भाव हैं। (**अत एव न ते परपर्यायाः**) इसलिए ही वे पर-पुद्गलादि के पर्याय आत्मा के नहीं हैं किन्तु पर-पुद्गलादि के ही हैं। (**परस्य-पुद्गलस्य ते भावाः पर एव पुद्गल एव ततोऽव्यतिरिक्तत्वात्**) पर-पुद्गलद्रव्य के वे भाव पर-पुद्गल ही हैं क्योंकि वे पुद्गल से अभिन्न हैं। (**इति ये स्वभावास्ते तदीयः, न परकीया इति विभागः स्फुटः**) इस प्रकार से जो स्वभाव जिसके हैं वे उसी के हैं अन्य-दूसरे के नहीं हैं। इस तरह से विभिन्न द्रव्यों के भावों का विभाग-पृथक्करण स्फुट-स्पष्ट हुआ ॥११॥

भावार्थ—प्रत्येक परिणाम परिणामी के साथ अभेद सम्बन्ध रखता है इस सिद्धान्त से यह फलितार्थ सहज ही समझ में आ जाता है कि चेतन के परिणाम सदा चेतनमय होते हैं और अचेतन के अचेतन रूप। चेतन के अचेतन रूप नहीं और अचेतन के चेतन रूप नहीं। इस विवेचन से आत्मा का परपुद्गलादि कृत परिणाम-पर्याय के प्रति कथमपि कर्तृत्व नहीं हैं यह द्रव्यदृष्टि वस्तुतः सुदृष्टि है और निर्दोष एवं निर्विरोध है।

अब अज्ञानी की परिणति का निरूपण करते हैं—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी, ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया, गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो पुरुष (**किल**) निश्चय से (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**भवन्**) होने पर (**अपि**) भी (**अज्ञानतः**) भेदविज्ञान के अभाव से (**सतृणाभ्यवहारकारी**) घास सहित आहार को करने वाले पशु के समान (**रज्यते**) पर वस्तु के साथ राग करता है (**असौ**) वह मनुष्य (**रसालाम्**) शिखरिणी-दही और शक्कर मिली हुई रसीली वस्तु-को (**पीत्वा**) पी करके (**दधीक्षु मधुराम्ल रसाति गृद्धया**) दही और इक्षुरस सम्मिश्रण-मेल से मीठे और खट्टे रस की तीव्र लोलुपता से (**इव**) मानो (**गाम्**) गाय के (**दुग्धम्**) दूध को (**दोग्धि**) दोहन करता है (पीता है) अर्थात् दूध को ही मीठे-खट्टे स्वभाव वाला मानता है।

सं० टीका—(**तु-पुनः**) और (**यः-आजन्माभ्यस्तसुतत्त्वशास्त्रः-पुमान्**) जिसने जीवनपर्यन्त सुतत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास पठन-पाठन एवं चिन्तन किया ऐसा जो मनुष्य (**रज्यते-बाह्यलाभादिकारण-कलापाद्रागं गच्छति**) बाहिर में लाभ आदि कारणों से राग को प्राप्त होता है (**कुतः**) किससे (**अज्ञानतः-भेदविज्ञानविलक्षणबोधाद्धेतोः**) भेदविज्ञान-स्वपर विवेक से विपरीत रूप ज्ञान-अज्ञान के कारण से (**किं-कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**स्वयं-स्वतः**) अपने-आप खुद-ब खुद (**ज्ञान-शुद्धात्मज्ञान**) शुद्ध पर पदार्थ के गुण पर्यायों से शून्य-आत्मज्ञान स्वरूप (**भवन्नपि-चिन्तयन्नपि**) अपने को विचारता हुआ (**अनुभवन्नपि वा**) अथवा अनुभव करता हुआ भी। (**किल इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय "आगम की उक्ति में" प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम के अनुसार (**स पुमान्,**) वह मनुष्य (**सेत्यादि-तृणेन सह वर्तमान सतृणः, अभ्यवहारः-उत्तमाहारः-पायसशर्कराज्यादिरूपः, सतृणश्चासावभ्यवहारश्च तं करोतीत्येवं शीलः स तथोक्तः-तृणसहितो-त्तमाहारभोजीत्यर्थः**) घास सहित उत्तम खीर शक्कर घी आदि रूप श्रेष्ठ भोजन करने वाला (**यथा-तृणा-दिकमनिष्टं पायसाहारः इष्टः, तयोरेकत्रास्वादेन कस्यचित्पुंसः शुभाशुभम्, तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वात् अशुभत्वं ज्ञानानुभवस्य शुभाहारस्थानीयत्वात् शुभत्वम्।**) जैसे—घास आदि अप्रिय तथा खीर का आहार प्रिय, उन दोनों का एक स्वाद में शुभ और अशुभ-प्रिय और अप्रियता का ज्ञान किसी पुरुष के नहीं होता है वैसे ही तृणस्थानीय राग के प्रति अशुभता और उत्तमाहार स्थानीय ज्ञानानुभव के प्रति शुभता का विवेक किसी अज्ञानी पुरुष को नहीं होता है। (**नूनं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**असौ-ज्ञानरागयोरेकत्वा-नुभावुकः पुमान्**) ज्ञान और राग में एकता का अनुभव करने वाला यह मनुष्य (**गां-धेनुं-दुग्धं-क्षीरम् दोग्धीव प्ररूपयति**) गाय से दूध को दोहन के समान निरूपण करता है। (**कया ?**) किससे (**दधीत्यादि-दधि-दुग्धविकाराम्ल रसोपेतं-इक्षु-मधुररसोपेतः इक्षुदण्डः, द्वन्द्वः तयोः मधुराम्लरसस्तयोरतिगृद्धिः, अत्या-सक्तिः तया**) खट्टा रस वाला दूध का विकार रूप दही और मधुर रस को प्राप्त ईख का दण्डरूप इक्षु इन दोनों के रस में अति आसक्ति से (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**पीत्वा-पानं कृत्वा**) पान करके (**काम् ?**)

किसको (**रसालाम्-रसनाविषयासक्तजनाः वस्त्रगालित दधिशर्करां मृष्ट्वा कमपि रसान्तरं प्राप्यरसालामिति भणन्ति शिखरिणीति देशभाषायाम्, यथा कश्चित् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोर्दोहनक्रियायां मधुराम्लरसातिगृद्धया प्रवर्तते तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यम् ॥१२॥**) रसाला अर्थात् रसना इन्द्रिय के विषय में आसक्त मनुष्य कपड़े से छानी हुई दही मिश्रित शक्कर को, साफ करके किसी तीसरी जाति के रस को प्राप्त कराके रसाला बनता है इसी को देशभाषा में शिखरिणी कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य रसाला-शिखरिणी को आस्वादन करके उस रसाला के भेद को नहीं जानता हुआ मीठे और खट्टे रस की तीव्र इच्छा से गाय के दोहन में प्रवृत्त होता है अर्थात् गोरस में ही ऐसा स्वाद है यह समझ करके गाय से दूध निकालता है। वैसे ही पर-पुद्गल और आत्मा के भेद को नहीं जानता हुआ अज्ञानी क्रोध आदि के करने में प्रवृत्ति करता है। अर्थात् अज्ञानी क्रोध आदि को अपना स्वरूप मान उनके करने में लगा रहता है; उसे यह ज्ञान नहीं है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, क्रोधादि तो पुद्गल कर्मजनित आत्मा के विकारी भाव हैं; स्वभाव भाव नहीं, उनका कर्ता स्वरूप दृष्टि से मैं नहीं हूँ। मैं तो मात्र शुद्ध ज्ञानादि निजभावों का ही कर्ता हूँ। पौद्गलिक कर्म निमित्तज क्रोधादि का नहीं ॥१२॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानस्वभावी है परन्तु ज्ञानस्वभाव को न जानकर जो पर्यायरूप शुभ-अशुभ भाव हो रहे हैं उसी को अपना होना मानता है। ज्ञानस्वभाव का स्वाद तो लेता नहीं ज्ञान से मिश्रित शुभ-अशुभ भावों का, त्याग ग्रहण के भावों का स्वाद लेकर उसी को ज्ञान का स्वाद मान लेता है। उसी मिश्रित स्वाद की आसक्ति के कारण उन्हीं पर्यायरूप भावों का ही सेवन करता रहता है। द्रव्यस्वभाव रूप निजभाव को नहीं पाता। पर्याय में भगवान की भक्ति का भाव और भोगों से विरक्ति का भाव भी होता है दया दानादि रूप भी भाव होते हैं। वह निज स्वभाव को नहीं जानने वाला इन भावों को ही द्रव्य स्वभाव रूप मानकर उसी में आसक्त रहता है इस प्रकार अपनी अज्ञानता से पर्याय का ही स्वाद लेता रहता है और उसी की चेष्टा करता है रहता।

अब अज्ञान के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपिस्वयमी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**मृगाः**) मृग (**अज्ञानात्**) अज्ञान से (**मृगतृष्णिकाम्**) मृगमरीचिका को (**जलधिया**) जल की बुद्धि से (**पातुम्**) पीने के लिए (**धावन्ति**) दौड़ते हैं। (**जनाः**) मनुष्य (**अज्ञानात्**) अज्ञान से (**तमसि**) अन्धकार में (**रज्जौ**) रस्सी में (**भुजगाध्यासेन**) सर्प की बुद्धि से (**द्रवन्ति**) भागते हैं। (**शुद्ध-ज्ञानमयाः**) इसी तरह शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने पर (**अपि**) भी (**अमी**) ये (**जनाः**) मनुष्य (**स्वयम्**) खुद-ब-खुद (**कर्त्रीभवन्ति**)

कर्म के कर्ता हो रहे हैं (**च**) और (**अज्ञानात्**) अज्ञान-स्वपर भेद विज्ञान के अभाव से (**वातोत्तरङ्गाब्धि-वत्**) वायु के निमित्त से उत्तरङ्गित समुद्र के समान (**विकल्पचक्रकरणात्**) रागद्वेष आदि विकल्पों के समूह के करने से (**आकुलाः**) पीड़ित (**भवन्ति**) हो रहे हैं।

सं० टीका – (**अमी-एते लोकाः**) ये मनुष्य (**स्वयं-स्वत एव**) अपने आप ही (**कर्त्रीभवन्ति-मया कर्म कृतमिति कर्मणां कर्तारो भवन्ति**) "मेरे द्वारा यह कर्म किया गया है" इस प्रकार से कर्मों के कर्ता बनते हैं। (**कीदृशा अपि**) कैसे होते हुए भी (**शुद्धज्ञानमया अपि-निर्मल भेदबोधप्राचुर्याः; अभेद ज्ञानिनः कथं कर्म कर्तारो न स्युरित्यपि शब्दार्थः**) निर्मल भेद ज्ञान से ओतप्रोत, यहां अपि शब्द से यह अर्थ निकलता है कि अभेद ज्ञानी, कर्म के कर्ता क्यों नहीं होंगे ? (**आकुलाः सन्तः**) आकुल होते हुए (**कुतः ?**) किससे (**अज्ञानात्-भेदज्ञानाभावात्**) अज्ञान से-भेदज्ञान न होने से (**पुनः कुतः**) फिर किससे (**विकल्पेत्यादिः-विकल्पानां चक्रं-समूहः तस्य करणाच्च कृतश्च हेतोः**) विकल्पों के समूह के करने से (**अत्रैवार्थान्तरन्यास-माह-वातोवित्यादिः-वातेन-वायुना, उत्तरङ्ग-ऊर्ध्वोर्मिमयः स चासावब्धिश्च तद्वत्-यथोत्तरङ्गरहितोऽब्धिर्वा-तेनोत्तरङ्गीयते तथा शुद्धज्ञानोऽपि, अज्ञानात्कर्ता भवतीत्यर्थः।**) यहां अर्थान्तरन्यास—दूसरे पदार्थ को दृष्टान्तरूप में उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जैसे-उठती हुई तरङ्गों वाला हो जाता है-वैसे ही शुद्धज्ञान वाला आत्मा भी अज्ञान के निमित्त से कर्मों का कर्ता बन जाता है। (**लौकिकनिदर्शनेनाज्ञानस्य माहात्म्यमाह-**) अब लौकिक-लोक में प्रचलित दृष्टान्त के द्वारा अज्ञान के माहात्म्य-प्रभाव को कहते हैं— (**मृगाःहरिणाः**) हरिण (**धावन्ति-प्रसर्पन्ति**) दौड़ते हैं। (**किमर्थम् ?**) किस लिए (**पातुं-पानार्थम्**) पीने के लिए (**काम्**) किसे (**मृगतृष्णिकाम्-मरीचिकाम्**) मृगमरीचिका को (**कया-**) किससे (**जलधिया-पानीयाभावेऽपि पानीयबुद्ध्या**) पीने योग्य-पानी के न होने पर भी पानी की बुद्धि से (**अज्ञानात्-ज्ञानाभावमाश्रित्य**) ज्ञान के अभाव को प्राप्त करके (**ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथं धावन्ति ?**) यदि ज्ञानी-जल और मरीचिका के भेद को स्वरूप दृष्टि से जानते तो मरीचिका को जल जानकर क्यों दौड़ते ? (**तथाऽज्ञानिनो भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया ममत्वधिया च वर्तन्ते-इति भावार्थः**) वैसे ही अज्ञानी—स्व और पर को नहीं जानने वाले जीव—भोगजन्य सुख में और शरीर स्त्री पुत्र आदि में सुख की कल्पना और ममेदं बुद्धि से प्रवृत्ति करते हैं। (**पुनः द्रवन्ति-पलायनं-कुर्वन्ति**) फिर भागना प्रारम्भ करते हैं। (**क्व ?**) किसमें (**तमसि-तिमिरे**) अन्धकार में (**के ?**) कौन (**जनाः-पुरुषाः**) मनुष्य (**केन**) किससे (**रज्जौ-वराटके**) वराटक-रस्सी में (**शुल्वो वराटकः स्त्री तु रज्जुः स्त्रीषु वटी गुणः' इत्यमरः**) शुल्व और वराटक पुंल्लिङ्ग ये सब शब्द रस्सी के वाचक हैं ऐसा अमरसिंह, कोशकार का वचन है। (**भुजगाध्यासेन-भुजगोयमित्यारोपबुद्ध्या**) यह सर्प है इस प्रकार का आरोप-संकल्प-करने वाली बुद्धि से (**कुतः ?**) किससे (**अज्ञानात्-अज्ञानमाश्रित्य**) अज्ञान-मिथ्याबुद्धि-का आश्रय ले करके (**यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तन्ते तथा स्वे परकीयं, परशरीरादौ स्वमिति कृत्वा वर्तन्ते अज्ञानिनः।**) जैसे रस्सी में यह सर्प है ऐसा मानकर प्रवृत्ति करते हैं वैसे ही स्व-आत्मा में—पर की तथा परशरीरादि में आत्मा की कल्पना करके प्रवृत्ति करते हैं अज्ञानी स्वपर-

विवेक शून्य पुरुष ॥१३॥

भावार्थ—यहां पर आचार्य ज्ञान की महिमा बता रहे हैं अज्ञान की वजह से क्या क्या होता है। आत्मा तो ज्ञायकरूप है—वह रागादि का भी—शुभ अशुभ भावों का—शरीर की रोग-निरोग रूप अवस्था का एवं कर्म के फल का मात्र जानने वाला है वह अपने को ज्ञानपने में स्थापित न करके रागादि शरीरादि का कर्त्ता बन जाता है। यद्यपि वह वस्तुत: उनको कर नहीं सकता परन्तु कर्त्तापने की विपरीत श्रद्धा बनाता है अपनी उसी विपरीत श्रद्धा की वजह से वह आकुलित होता रहता है। अगर वह अपनी विपरीत श्रद्धा जिसका नाम अज्ञान है उसको छोड़ दे तो वह स्वयं ज्ञान दर्शनरूप है। जब तक अपने स्वभाव को नहीं जानता शरीरादि-रागादि में अपनापना मानकर उनका कर्त्ता बनता है। आत्मा में तीन काम एक साथ हो रहे हैं—शरीर की शुभ अशुभ क्रिया-जीव का विकारी परिणाम शुभरूप अशुभरूप और ज्ञान का कार्य जाननपनारूप। हरेक व्यक्ति में तीन काम हो रहे हैं चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी हो। अज्ञानी की पकड़ में दो बातें तो आ रही हैं—विकारी परिणाम और शरीर की क्रिया। उसी के होने में वह अपना होना मान रहा है अत: उनका कर्ता बनता है एवं अहम् बुद्धि को धारण करता है। उसी समय जो जाननपना हो रहा है- इन विकारी भावों का जानना और शरीर की क्रिया को जानना वह ज्ञान का कार्य है। वह हो तो रहा है परन्तु उसकी पकड़ नहीं आ रही है उस जानने रूप क्रिया में यह अपनापना स्थापित नहीं करता है जो वास्तविक इसका होना है। अगर इसमें अपना पना आ जावे तो विकारी भावों का और शरीर की क्रिया का कर्त्तापना न रहे। विकारी भाव रहेंगे-शरीर की क्रिया रहेगी, उनका जानने वाला भी रहेगा परन्तु उनका करने वाला नहीं रहेगा यही भेदविज्ञान है और इसका न होना वही अज्ञानता है। दो काम हो रहे हैं विकारी परिणमन और उनका जानना। हमें नक्की करना है कि मैं विकारी परिणाम हूँ या उनका जानने वाला। परिणामों का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध मोह कर्म के साथ है और जाननपने का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध चैतना के साथ है। विकारी परिणाम समय-समय में बदली होते जाते हैं जबकि जानने वाला स्वयं एकरूप रहता है। इसलिए मैं जाननपने रूप हूँ विकारी भाव नहीं हूँ। यही बात शरीर की क्रिया के साथ है उसका व्याप्य व्यापना शरीर के साथ है ज्ञान के साथ नहीं। शरीर के रोगी होते हुए भी निरोगी होते हुए मैं रोगी-निरोगी नहीं हूँ परन्तु रोग-निरोगपने का जानने वाला हूँ। इसलिए रोग होते हुए भी रोगी नहीं, निरोग होते हुए निरोगी नहीं। राग होते हुए रागी नहीं। संसार होते हुए संसारी नहीं। मैं तो मात्र जाननरूप हूँ। ऐसा अनुभव करे तो शरीर की क्रिया का और राग का कर्त्तापना खत्म हो जावे। जब कर्त्तापना अपने चैतन्य स्वभाव में आ जाता है तब पर के करने के अहंकार का अभाव हो जाता है। शरीर की क्रिया का और विकारी भावों का अभाव गुणस्थानों के अनुसार होगा परन्तु कर्त्तापने का अभाव अभी हो सकता है।

अब ज्ञान के महत्व को प्रकट करते हैं—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो, जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**इव**) जैसे (**हंसः**) हंस (**वाः-पयसोः**) जल और दूध के (**विशेषम्**) भेद को (**जानाति**) जानता है (**तथैव**) वैसे ही (**यः**) जो ज्ञानी पुरुष (**ज्ञानात्**) भेदज्ञान से (**विवेचकतया**) स्व और पर को पृथक्-पृथक् करने की योग्यता से (**परात्मनोः**) पर-पुद्गल और आत्मा-जीव इन दोनों के (**विशेषम्**) स्वरूपकृत भेद को (**जानाति**) जानता है (**सः**) वह-ज्ञानी (**सदा**) सदा (**अचलम्**) अचल (**चैतन्यधातुम्**) एक मात्र चैतन्य को धारण करने वाले आत्मा को (**अधिरूढः**) आश्रय लेता हुआ (**जानीत एव**) जानता ही है (**किञ्चन**) किंचित मात्र (**अपि**) भी (**करोति**) कर्ता (**न**) नहीं होता ।

सं० टी०—(**तु-पुनः, अज्ञानविजृम्भणविकथानन्तरम्**) अज्ञान के विस्तार को रोकने के बाद (**जानाति-वेत्ति**) जानता है (**कम्**) किसको (**विशेषं-भेदम्**) विशेष भेद को (**कयोः ?**) किनके (**परात्मनोः-पुद्गलकर्मजीवयोः**) पुद्गलजन्य कर्म और जीव के (**ज्ञानात्-भेदबोधमाश्रित्य**) ज्ञान-भेदज्ञान के आश्रय से (**कया ?**) किसके द्वारा ? (**विवेचकतया-ज्ञानात्मनोर्भेदकस्वरूपतया**) विवेचकतया-ज्ञान और आत्मा के भेदकता-स्वरूप के द्वारा (**इममर्थं निदर्शयति**) इसी अर्थ को दृष्टान्त से स्फुट करते हैं (**हंस इव-यथा मरालः**) हंस के समान-जैसे हंस (**वाः पयसोः-नीरक्षीरयोः**) पानी और दूध के (**भेदम्**) भेद को (**वेत्ति**) जानता है (**तथा ज्ञानी-जीव पुद्गलयोः**) वैसे ही ज्ञानी-जीव और पुद्गल के भेदको जानता है (**स पुमान् जानीत एव-वेत्त्येव**) वह पुरुष जानता ही है (**कम् ?**) किसको (**चैतन्यधातुं-चेतनास्वरूपधातुम्**) चैतन्यधातु (**आत्मानं वेत्यर्थः**) अर्थात् आत्मा को (**किम्भूतम् ?**) कैसी आत्मा को (**अचलम्-स्वस्वभावान्नचलतीत्यचलम्**) अचल अर्थात् अपने चैतन्य स्वभाव से च्युत नहीं होने वाली (**सदा नित्यम्**) हमेशा (**अधिरूढः सन् गुणसमूहमाश्रितः सन्**) गुणों के समूह को प्राप्त होकर (**हीति-निश्चितम्**) हि-यह अव्यय निश्चित अर्थ का वाचक है—अर्थात् निश्चित रूप से (**किञ्चनापि-किमपि**) कुछ भी (**न करोति-कर्तृकर्मक्रियां न विदधाति**) कर्ता कर्मरूप क्रिया को नहीं करता है ॥१४॥

भावार्थ - स्व-स्वरूप का ज्ञाता, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ज्ञाता ही है, पर का कर्ता नहीं। जब तक पर के कर्तृत्व का जनक अज्ञान रहता है तब तक ही आत्मा अज्ञाता है । अज्ञान के दूर होते ही आत्मा ज्ञाता हो जाता है तो ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता ॥१४॥

अब ज्ञान से ही भेद की उत्पत्ति होती है यह निरूपण करते हैं—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था, ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वाद भेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**ज्वलनपयसोः**) अग्नि और जल की (**औष्ण्यशैत्यव्यवस्था**) उष्णता और शीतता की व्यवस्था (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**एव**) ही (**प्रभवति**) प्रगट होता है । (**लवणस्वादभेदव्युदासः**) व्यञ्जन आदि के

स्वाद से नमक के खारेपन रूप स्वाद-रस-का-भेदीकरण (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**एव**) ही (**उल्लसति**) प्रकाश को प्राप्त होता है (**स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः**) अपने अनुभव से विकास को प्राप्त होने वाले नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**च**) और (**क्रोधादेः**) क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के प्रति (**कर्तृभावम्**) कर्तृत्व को (**भिन्दती**) भेदन करने वाली (**भिदा**) पृथकता-जुदाई (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**एव**) ही (**प्रभवति**) अतिशय रूप से उत्पन्न होती है।

सं० टीका—(**प्रभवति-जायते**) होता है (**भिदा-भेदः**) भेद (**कस्य ?**) किसका (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः-अनुभवः, तेन-विकसन्-विकासं गच्छन् स चासौ नित्यः शाश्वतः चैतन्यधातुश्चचेतनालक्षणो-धातुस्तस्य, क्रोधादेश्च, कोप-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मनो-वचन-काय-श्रोत्रचक्षुघ्राण-रसन-स्पर्शनादेश्च परस्परम्**) अपने अनुभव से विकासशील चैतन्य स्वरूप आत्मा का और क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मन-वचन-काय-कर्णनेत्र-नासिका-रसना और स्पर्शन "त्वचा" आदि का आपस में (**कुतः ?**) किससे (**ज्ञानादेव-शुद्धात्मपरिज्ञानात्-नान्यत एव**) ज्ञान-शुद्ध आत्मा के परिज्ञान से ही अन्य से नहीं। (**किम्भूता**) कैसी भिदा-कैसा भेद, (**भिन्दती-विदारयन्ती**) भेदन-विदारण-करती हुई (**कम् ?**) किसको (**कर्तृभावम्-आत्मनः कर्मणां कर्तृत्वस्वभावम्**) आत्मा का कर्मों के करने के स्वभाव को (**लौकिक ज्ञानादेव सर्वमिति प्रकाशयति**) लोक व्यवहार के ज्ञान से ही सर्व व्यवस्था होती है यह दिखाते हैं—(**औष्ण्यशैत्यव्यवस्था-शीतोष्णयोर्व्यवस्थितिः भवति**) उष्ण और शीत की व्यवस्था होती है (**कयोः ?**) किनकी (**ज्वलनपयसोः-वह्नितप्तनीरयोः**) वह्नि से तपे हुए जल की (**कुतः ?**) किससे (**ज्ञानादेव-बोधा-देव**) ज्ञान से ही (**यथाकश्चिल्लौकिकव्यवहारज्ञः-एकत्रीभूतयोः पावकपयसोर्भेदं निश्चिनोति,**) जैसे कोई लोकव्यवहार को जानने वाला—एक ही स्थान पर इकट्ठा हुए अग्नि और जल के भेद को निश्चित करता है। (**अभेदज्ञस्तयोरभेदमेव**) अभेद को जानने वाला—तयोः-उन दोनों के अभेद को ही निश्चित करता है (**तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेदं निश्चिनोति, नाज्ञानी**) वैसे ही ज्ञानी-ज्ञानवान्-पुरुष-एकत्र-एक क्षेत्रावगाह रूप से मिले हुए पर-पुद्गल और आत्मा के भेद का निश्चय करता है अज्ञानी-नहीं। (**तथा उल्लसति-उल्लासं गच्छति**) वैसे ही उल्लास-आनन्द को प्राप्त करता है (**कः ?**) कौन (**लवणेत्यादिः-लवणस्वादस्य-क्षार-लवणस्य कटुकाम्लव्यञ्जनस्वादात्-भेदः विशेषः, तस्यव्युदासः ज्ञानम्**) खारे स्वाद वाले लवण-नमक का कड़ुवे कसायले व्यञ्जन के स्वाद से भेद के ज्ञान को (**कुतः ?**) किससे (**ज्ञानादेव-यथा कश्चिद्भोजनभेदज्ञो व्यञ्जनलवणयोर्भेदं व्यक्तं वेत्ति, अभेदज्ञः इदं क्षारस्वादं व्यञ्जनमेव तथा ज्ञानी-क्रोधादि ज्ञानयोरेकत्रीभूतयो, पृथक् स्वभावं परिच्छिनत्ति, अज्ञानी तु क्रोध्यायमात्मैवेति वेत्ति-इति तात्पर्यम्**) ज्ञान से ही-जैसे कोई भोजन के भेद को जानने वाला व्यञ्जन और लवण के भेद-विशेष को स्पष्ट रूप से जानता है। अभेद को जानने वाला, यह खारा स्वाद व्यञ्जन का ही है ऐसा जानता है। वैसे ही ज्ञानी, क्रोध आदि और ज्ञान—जो एकमेक हो रहे हैं—को अलग-अलग स्वभाव वाला निश्चित रूप से जानता है किन्तु अज्ञानी—दोनों की अलग-अलग परिणति को नहीं जानने वाला-पुरुष "यह आत्मा

ही क्रोधी है" ऐसा—दोनों को एक रूप से-जानता है यही इसका तात्पर्यार्थ समझना चाहिए ॥१५॥

इस श्लोक में प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है जैसा कि वाग्भट्ट ने कहा है—

अनुपात्तविवादानां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥

(**यत्र**) जिस रचना में (**वस्तुनः**) वस्तु के (**अनुपात्तविवादानाम्**) अनुपात विवादों की (**साम्यम्**) समानता (**प्रतिवस्तुना**) प्रति वस्तु के साथ (**प्रतीयते**) मालूम पड़ती है (**सा**) वह (**प्रतिवस्तूपमा**) प्रति-वस्तूपमा (**कथ्यते**) कही जाती है ॥

भावार्थ—जैसा गाथा १३ के भावार्थ में बताया है ज्ञान का कार्य जाननेरूप है। अगर कोई तर्क करे कि क्रोध ने ही क्रोध को जाना है जानने वाला कोई अन्य नहीं है तो आचार्य अकलंक स्वामी के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि क्रोध के अभाव को किसने जाना। जब क्रोध ने क्रोध को जाना तब जब क्रोध का अभाव हुआ तब किसने जाना कि अब क्रोध नहीं है। इससे साबित होता है कि जानने वाला क्रोधादि से भिन्न कोई और है। यदि क्रोधादिक के साथ एकरूप होता तो क्रोधादिक के अभाव में उसका अभाव हो जाता। परन्तु क्रोधादिक का अभाव होता है और जानने वाला उस समय भी क्रोधादिक के अभाव को जानता है। इसलिए जानने वाला व क्रोधादिभाव या क्षमारूप भाव वैसे ही शरीर की क्रिया ये तीन काम एक साथ हो रहे हैं इनमें जाननपना चैतन्य से उठ रहा है और क्रोधादिक भाव एवं उनका अभावरूप परिणमन कर्मसापेक्ष हो रहा है और शरीर की क्रिया हो रही है। जानने वाला तो मात्र ज्ञाताही है वह तो रागादिरूप परिणमन और शरीर की क्रिया से भिन्न है। उसका अपनापना तो अपने जाननपने में ही है। जैसे चीनी का मीठापना उसके अपने स्वभाव से आ रहा है जिसके अभाव में चीनी का अभाव है और गर्मपना और ठण्डापना अग्नि के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा रखता है गर्मपने के अभाव में भी मिठ्ठापने का अभाव नहीं है। मीठापना और गर्मपना दोनों एक साथ एक समय में रहते हुए भी एक अग्निकृत है और एक चीनी के स्वभावरूप हैं। ऐसे ही एक ही आत्मा में जाननपना और रागादि एक समय में एक साथ रहते हुए भी एक आत्मा के स्वभाव से आ रहा है और एक कर्म कृत है कर्म के स्वभाव से आ रहा है। आत्मा अपने जाननपने स्वभाव को भूलकर कर्मकृत भावों का कर्ता बन रहा है यही अज्ञानता है जो निज स्वभाव का ज्ञान होने पर ही मिट सकती है।

अब आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है यह बताते हैं—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**अञ्जसा**) निश्चय से (**आत्मानम्**) अपने को (**ज्ञानम्**) ज्ञानरूप (**अपि**) या (**अज्ञानम्**) अज्ञान-विपरीत ज्ञान-रूप (**कुर्वन्**) करता हुआ (**आत्मभावस्य**) अपने ही भावों

का (**कर्ता**) करने वाला (**स्यात्**) होता है (**परभावस्य**) पुद्गल द्रव्य के भावों का (**कर्ता**) करता-करने वाला- (**क्वचित्**) कभी भी (**न**) नहीं (**स्यात्**) होता है।

सं० टी०—(**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**आत्मभावस्य-स्वस्वरूपस्य**) अपने ही स्वरूप का (**कर्ता-स्यात्-भवेत्**) कर्ता होता है। (**किं कुर्वन् ?**) क्या करता हुआ (**अञ्जसा-परमार्थतः**) परमार्थ-निश्चय-रूप से (**आत्मानम्-स्वस्वरूपम्**) अपने स्वरूप (**ज्ञानम्-बोधम्**) ज्ञान को (**अपि-पुनः**) भी (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**अज्ञानम्-बोधविपर्ययम्**) अज्ञान-बोध की विपरीतता को (**कुर्वन्-निष्पादयन्**) करता हुआ (**यत्किल-क्रोधोऽहमित्यादिवत्, वा मोहोऽहमित्यादिवच्चपरद्रव्याण्यात्मीकरोति**) जो निश्चय से मैं क्रोधरूप हूँ इत्यादि की भाँति अथवा मोहरूप मैं हूँ इत्यादि की तरह परद्रव्यों को आत्मारूप करता है (**आत्मानम्**) आत्मा को (**अपि**) भी (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य रूप (**करोति**) करता है (**एवम्**) इस प्रकार से (**आत्मा**) आत्मा (**तदा**) उस समय (**अयम्**) यह (**अज्ञान कर्ता**) अज्ञान का कर्ता है। (**क्वचित्-कदाचित्**) कहीं पर किसी समय (**परभावस्य-पुद्गलपर्यायस्य**) पुद्गल की पर्याय का (**कर्ता**) करने वाला (**न स्यात्**) नहीं होता है।

भावार्थ – जैसे ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानमय भावों का कर्ता होता है। वैसे ही अज्ञानी आत्मा भी अपने ही अज्ञानमय भावों का कर्ता होता है। इससे भिन्न जड़-अचेतन स्वरूप पुद्गल द्रव्य के भावों-पर्यायों-परिणमनों का नहीं। इस कथन से यह नतीजा निकाल लेना अनुचित न होगा कि आत्मा निज भावों का ही कर्ता था, है और रहेगा। परद्रव्य-पुद्गल के भावों का कर्ता न था, न है और न होगा। इस तरह परकर्तृत्व निषेध सर्वथा और सर्वदा सिद्धान्ततः सिद्ध होता है।

अब व्यवहारियों की कर्तृत्व बुद्धि को दिखाते हैं—

आत्मा ज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोतिकिम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥१७॥

अन्वयार्थ - (**आत्मा**) आत्मा (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप है (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) आत्मा स्वरूप है (**अतः**) इसलिए (**आत्मा**) आत्मा (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**अन्यत्**) अतिरिक्त (**किम्**) क्या (**करोति**) करे (**आत्मा**) आत्मा (**परभावस्य**) अपने से भिन्न पर भाव का (**कर्ता**) करने वाला (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह (**व्यवहारिणाम्**) व्यवहारी-अज्ञानियों का (**मोहः**) मोह-अज्ञान (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप-आत्मा (**ज्ञानं-बोधम्**) ज्ञान को (**करोति**) करता है (**स्वयम्-ज्ञानमेवात्मा**) स्वयम-ज्ञान ही आत्मा है (**आत्मज्ञानयोर्द्रव्यावेशावेकत्वात्**) क्योंकि आत्मा और ज्ञान में द्रव्यार्थिकनय से एकत्व है। (**ज्ञानात्-बोधं विहाय, अन्यत्-घट पट मुकुट लकुट शकटादि किं करोति ? अपि तु न विदधात्येव**) ज्ञान को छोड़कर अन्य, घट, 'घड़ा' पट 'वस्त्र-कपड़ा' मुकुट 'शिरोभूषण-सिरमौर' लकुट लकड़ी तथा शकट 'गाड़ी' आदि को क्या करता है ? अर्थात् नहीं करता है। (**मन्वात्मनोऽकर्तृत्वे गृहमिदमात्मनाकृतमित्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्**) कोई शंका करता है कि यदि आत्मा को कर्ता

नहीं मानोगे तो 'यह घर मेरे द्वारा बनाया गया है' इत्यादि लोक व्यवहार क्यों होता है या कैसे बनेगा तो आचार्य उत्तर देते हैं कि (**न, आत्मनः परभावस्याकृतत्वात्**) आत्मा परभावों का कर्ता न होने से उक्त व्यवहार नहीं बन सकता है। (**आत्मा-जीवः**) जीव (**परभावस्य-परपर्यायस्य घटादेः कर्ता,**) पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप घट का कर्ता है। (**व्यवहारिणां व्यावहारिक पुरुषाणां**) व्यवहारी पुरुषों का (**अयं-आत्मा कर्तेत्यादि लक्षणः मोहः-विभ्रमः**) यह आत्मा कर्ता है इत्यादिरूप मोह-विभ्रम-विपरीतभ्रान्ति ही है। (**ये-खलु परद्रव्याणां परिणामाः-गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लवत् पुद्गलद्रव्य व्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणादीनि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी**) गोरस से व्याप्त दूध दधि में मिठास और खटास के समान पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होने के कारण ज्ञानावरण आदि रूप जो पुद्गलद्रव्य के परिणाम पर्याय विशेष होते हैं उन सबको तटस्थ गोरसाध्यक्ष के समान ज्ञानी निश्चय से नहीं करता है ॥१७॥

भावार्थ—आत्मा, मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्ता है। ज्ञान के अतिरिक्त पर-पुद्गलजन्य-ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता नहीं। वह तो मात्र उनका ज्ञाता ही है। जैसे गोरस से व्याप्त दुग्ध, दधि आदि का कर्ता गोरस ही है। गोरसाध्यक्ष नहीं। वह तो मात्र उनका ज्ञाता ही है। अतएव गृह आदि का बनाने वाला मैं हूँ यह व्यवहार भी निश्चय की दृष्टि में मिथ्या ही है सम्यक् नहीं है। क्योंकि गृह रूप परिणमन पुद्गल का पुद्गल में पुद्गल से हुआ है अन्य तो मात्र उसके उस रूप परिणमन में निमित्त ही है ॥१७॥

अब कोई आक्षेप पूर्वक पुद्गल कर्मों का कर्ता जीव है ऐसा कहता है—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**जीवः**) जीव (**पुद्गलकर्म**) पुद्गलकर्म-ज्ञानावरणादि को (**नैव**) नहीं (**करोति**)करता है (**तर्हि**) तो (**तत्**) उस पुद्गल कर्म को (**कः**) कौन (**करोति**) करता है (**इति**) इस प्रकार की (**अभिशङ्कया**) आशंका से (**एव**) निश्चय से (**एतर्हि**) अब (**तीव्ररयमोहनिवर्हणाय**) तीव्र वेग वाले मोह के विनाश के लिए (**सङ्कीर्त्यते**) कहते हैं कि (**पुद्गल कर्मकर्तृ**) पुद्गल-कर्म ज्ञानावरणादि का कर्ता कौन है (**यूयम्**) तुम लोग (**शृणुत**) ध्यान पूर्वक सुनो।

सं० टी०—(**यदि ननु, जैनं प्रत्याक्षिपति कश्चित्-**) जैन के प्रति कोई आक्षेप करता है कि यदि (**जीवः-आत्मा**) जीव-चैतन्य स्वरूप आत्मा (**पुद्गलकर्म-पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म**) पुद्गलकर्म-ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलजन्य कर्मों को (**नैव-करोति-न निर्मापयति**) नहीं करता है-नहीं बनाता है (**तर्हि**) तो (**तत्-पुद्गलकर्म**)उस पुद्गल कर्म को (**कः**) कौन(**कर्ता-कुरुते**) करता-बनाता है ? (**पुद्गलानां स्वयमचेतनत्वात् कर्तृत्वानुपपत्तेः, अतएव आत्मैव कर्ता लक्ष्यते दक्षैः**) क्योंकि पुद्गलद्रव्य स्वभाव से अचेतन जड़ है। अतएव वह कर्ता नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा ही उनका कर्ता है ऐसा चतुर पुरुषों का कहना है। (**इति-अमुना प्रकारेण अभिशंकया-पूर्वपक्षाशङ्कया**) इस प्रकार पूर्वपक्ष की आशङ्का से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**एतर्हि-इदानीम्**) इस समय (**सङ्कीर्त्यते-निरूप्यते**) निरूपण करते हैं (**किमर्थम्**) किस लिए

(**तीव्रेत्यादि-तीव्ररयः-तीव्र तीव्रतरानुभागः स चासौ मोहश्च विभ्रमः, तस्य निबर्हणं-विनाशनम् तस्मै**) अत्यन्त तीव्र उदय वाले मोहनीय कर्म के विनाश के लिए (**श्रृणुत-आकर्णयत**) सुनो (**पुद्गलकर्म-पुद्गलात्मकं कर्म, द्रव्यभावरूपं कर्तृ-पुद्गलपर्यायाणां कर्तृ निष्पादकम्**) पुद्गलमयकर्म जो द्रव्यभावरूप है वह पुद्गलपर्यायों का करता है (**आत्मा तु नैमित्तिको हेतुरस्तु**) आत्मा तो नैमित्तिक हेतु रहे। (**आत्मना कृतमिति तु व्यवहारः**) आत्मा के द्वारा किया गया यह तो मात्र व्यवहार है (**राज्ञा देशे गुणदोषौ कृताविस्यादिवत्**) देश में होने वाले गुण और दोष जैसे राजा के द्वारा किये गये कहे जाते हैं (**योधैर्युद्धे कृते राज्ञाकृतमिस्यादिवद्वा**) अथवा योधाओं से किया गया युद्ध जैसे राजा के द्वारा किया गया कहा जाता है वैसे ही पुद्गल से किये कर्म आत्मा से किये गये ऐसा व्यवहार में कहा जाता है।

भावार्थ—परमार्थतः पुद्गलकर्म का कर्ता पुद्गल ही होता है। आत्मा नहीं, क्योंकि पुद्गल कर्म स्वभावतः अचेतन हैं, वे पुद्गलरूप अचेतन के ही कर्म हो सकते हैं। जीव के नहीं। कारण कि जीव अपने चेतन कर्म का ही कर्ता होता है। अचेतन का नहीं जैसे राज्य में प्रजा द्वारा किया गया अच्छा और बुरा कर्म राजा के द्वारा किया गया कहा जाता है। वैसे ही यहां कर्म के विषय में समझना चाहिए कि कर्मों का कर्ता तो वस्तुतः पुद्गल ही है, पर आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध होने से आत्मा को उसका कर्ता कह दिया जाता है यह सब व्यवहार-उपचार है यथार्थ नहीं।

अब पुद्गल ही कर्म रूप परिणमन करता है यह सिद्ध करते हैं—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणाम शक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोतिभावम्, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥१३॥

अन्वयार्थ— (**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**पुद्गलस्य**) पुद्गल द्रव्य की (**स्वभावभूता**) स्वभावरूप (**परिणाम शक्तिः**) परिणमन शक्ति (**खलु**) निश्चय से (**अविघ्ना**) निर्विघ्न रूप (**स्थिता**) स्थित-सिद्ध हुई। (**तस्याम्**) उस-परिणाम-शक्ति के (**स्थितायाम्**) स्थित-सिद्ध-होने पर (**सः**) वह-पुद्गल (**आत्मनः**) अपने (**यम्**) जिस (**भावम्**) परिणाम को (**करोति**) करता है (**तस्य**) उस-परिणाम-का (**कर्ता**) करनेवाला (**सः**) वह-पुद्गल (**एव**) ही है।

सं० टीका— (**खलु-इति वितर्के**) खलु यह अव्यय वितर्क अर्थ का वाचक है। यहां कोई वितर्क करता है कि— (**इति-पूर्वपक्ष प्रकारेण**) पूर्व पक्ष के अनुसार (**ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमबद्धं सज्जीवे कर्मभावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वात् इति चेन्न**) पुद्गलद्रव्य स्वतः अबद्ध होता हुआ जीव में कर्मरूप से परिणमन नहीं कर सकता क्योंकि वह सर्वथा एक स्वभाव वाला अपरिणमशील है। आचार्य उत्तर देते हैं कि तुम्हारा उक्त कथन ठीक नहीं है (**अपरिणामिनो नित्यस्यार्थ क्रियाकारित्व विरोधात्**) क्योंकि अपरिणमनशील नित्य द्रव्य में अर्थ क्रिया कारिता का विरोध है अर्थात् कूटस्थ नित्य द्रव्य में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती। (**अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तेते**) अर्थ क्रिया, क्रम और यौग पद्य के साथ-व्याप्त है और वे क्रम और यौगपद्य जब नित्य से दूर होते हैं तब

अपने द्वारा व्याप्य अर्थक्रिया को लेकर ही दूर होते हैं (**साऽपि स्वव्याप्यं सत्वमादाय निवर्तते**) और वह अर्थक्रिया भी अपने द्वारा व्याप्य सत्वद्रव्य को लेकर हटती है (**जीवस्याबन्धे च संसाराभावात्**) और जीव में बन्ध न होने पर संसार का अभाव होगा (**इति युक्त्या सांख्यादिना कूटस्थ नित्यवादिना विघ्नं कर्तुं न शक्यते**) इस युक्ति से कूटस्थ नित्यवादी सांख्य आदि विघ्न करने में समर्थ नहीं हो सकते (**वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्-ज्वलनौष्ण्यवत्**) क्योंकि-अग्नि की उष्णता के समान-वस्तु के स्वभाव का निषेध नहीं किया जा सकता (**नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयति ततो न संसाराभाव इतिचेत्**) पूर्वपक्षी कहता है कि आत्मा पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है इसलिए संसार का अभाव नहीं हो सकेगा। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम्हारा कहना उक्त प्रकार से है (**तर्हि-**) तो-हम तुमसे ही पूछते हैं कि (**आत्मा स्वयम-परिणममानं परिणममानं वा तत्परिणामयेत् !**) आत्मा स्वत: अपने आप में परिणमन नहीं करने वाले को परिणमाता है या परिणमन करने वाले को ? ये दो पक्ष हैं। इनमें से (**न तावत्प्राक्तनः पक्षः कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षावद्भिः**) पहला पक्ष बुद्धिमान् विचारकों को स्वीकार्य नहीं होना चाहिए क्योंकि (**अपरिणममानस्यतस्य परेण परिणमयितुम-शक्यत्वात्**) जो स्वयमेव अपरिणमनशील हैं उसे दूसरा कोई भी परिणमाने में समर्थ नहीं हो सकता। (**न हि स्वतोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येनपार्यते**) स्वतः अविद्यमान शक्ति किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। (**अथोत्तरः पक्षः**) यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करें तो (**तब तस्य स्वयमेव परिणमनात् परापेक्षणायोगाच्च**) तब उस द्रव्य के स्वतः परिणमन से और पर की अपेक्षा न रखने से ही (**तस्यपरिणामशक्तौ स्थितायां-व्यवस्थितायाम्**) उसकी परिणाम-परिणमन शक्ति के व्यवस्थित होने पर (**सोऽयं पुद्गलः, आत्मनः-स्वरूपस्ययं-भावं परिणामं करोति निष्पादयति,**) वह यह पुद्गल अपने जिस परिणाम को करता-बनाता है (**तस्य भावस्य स एव पुद्गल एव कर्ता-कारकः नान्यः।**) उस परिणाम का वह पुद्गल ही करने वाला है, दूसरा नहीं ॥१६॥

भावार्थ—कूटस्थ नित्यवादी सांख्य ने यह आपत्ति उठाई थी कि पुद्गल द्रव्य स्वभावतः अपरिणमनशील है अतएव वह जीव के साथ स्वयमेव कर्मरूप से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता। उसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा कि जो द्रव्य परिणमनशील नहीं है वह अर्थ क्रियाकारी भी नहीं हो सकता। और जो अर्थ क्रिया कारी नहीं होता वह द्रव्य भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में संसार की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। शायद तुम यह कहो कि आत्मा ही पुद्गल को कर्मरूप से परिणमाता है इसलिए संसार की व्यवस्था में कोई बाधा नहीं होगी। तब आचार्य ने दो विकल्प उठाये— पहला यह कि क्या आत्मा-अपरिणामी पुद्गल को कर्म रूप से परिणमाता है ? यदि हां ऐसा कहोगे तो तुम्हारा कहना इसलिए उचित नहीं होगा कि जो स्वयं ही परिणमनशील नहीं है उसे दूसरा कोई भी परिणमन कराने में समर्थ नहीं हो सकता। दूसरा विकल्प यह है कि परिणमनशील पुद्गल को आत्मा कर्मरूप से परिणमाता है "क्या ?" यदि हां तब तो पुद्गल ही परिणमनशील हुआ ऐसी दशा में पुद्गल में परिणामशक्ति आप के द्वारा स्वतः ही स्वीकृत हुई उसके स्वीकृत होने से पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणमन करता है यह

बात सिद्ध हुई तब तो पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म का करता सिद्ध हुआ आत्मा नहीं। क्योंकि अचेतन कर्म का करता अचेतन ही होता है चेतन नहीं ॥१६॥

अब सांख्य सम्मत जीव की नित्यता का निरसन (खण्डन) करते हैं—

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥२०॥

अन्वयार्थ– (**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**जीवस्य**) जीव-आत्मा-की (**निरन्तराया**) अन्तर विघ्नों से निर-रहित--अर्थात् निर्विघ्न (**स्वभावभूता**) स्वभाव स्वरूप (**परिणामशक्तिः**) परिणमनशक्ति (**स्थिता**) स्थित-सिद्ध-हुई। (**तस्याम्**) उस परिणमन शक्ति के (**स्थितायाम्**) स्थित-सिद्ध होने पर (**सः**) वह आत्मा (**स्वस्य**) अपने (**यम्**) जिस (**भावम्**) भाव को (**करोति**) करता है (**सः**) वह आत्मा (**तस्य**) उस भाव का (**एव**) ही (**कर्ता**) करने वाला (**भवेत्**) होता है।

सं० टी०—(**नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारकः स्यात् यदि सोऽस्त्वकारको विक्रियश्चेति चेन्न, प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्तत्फलाभावप्रसङ्गात्**) यहां शंकाकार सांख्य कहता है कि जब जीव अपरिणामी है तब कूटस्थ हुआ और जब कूटस्थ हुआ तो अकारक हुआ और जब अकारक हुआ तो क्रिया रहित सिद्ध हुआ? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा उक्त प्रकार का कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि यदि जीव को अपरिणामी मानोगे तो वह प्रमाणादि का कर्ता न होने से प्रमाण आदि के फलाभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**न ह्यकारकः कश्चित् प्रमाता**) साथ ही कोई अकारक प्रमाता नहीं होता है (**प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभावः**) प्रमातापन का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव होगा (**गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात्**) क्योंकि गुण का अभाव होने पर गुणी का भी अभाव हो जाता है।

(**ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते, इति कश्चित्सांख्यः**) यहां कोई सांख्य शंकाकार कहता है कि--जीव स्वभावतः अबद्ध-कर्मों से बंधा हुआ नहीं है अतएव क्रोधादिरूप से परिणमन नहीं करता है (**सोऽपि न विपश्चिद्वक्षः**) आचार्यकहते हैं कि वह भी बुद्धिमान्-विचार चतुर नहीं है। (**तदपरिणामित्वे संसाराभावप्रसङ्गात्**) क्योंकि जीव को अपरिणामी मानने पर संसार के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**यदि क्रोधादिसंयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजातरक्त संयुक्त स्फटिकवदिति न संसाराभावः इति चेत्तर्हि क्रोधादिः स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत्?**) शायद तुम यह कहो कि जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से श्वेत होता है पर जपा कुसुम के संयोग से रक्तवर्ण हो जाता है वैसे ही यह जीव स्वभाव से तो निर्बन्ध होने के कारण क्रोधादि से शून्य है पर क्रोधादि के संयोग से क्रोधादिरूप हो जाता है तो हम तुमसे पूछते हैं कि क्रोधादि, अपरिणमनशील जीव को परिणमाते हैं या परिणमनशील जीव को? (**न तावदाद्यः पक्षो लक्ष्यो विपश्चैः**) उनमें से पहला पक्ष बुद्धिमान् विपक्षों को नहीं देखना चाहिए (**स्वयमपरिणममानस्य परैः कारणान्तरसहस्रैः वंध्यावगाहवत् परिणमयितुमशक्यत्वात्**)

क्योंकि जो स्वयं खुद-ब-खुद परिणमनशील नहीं हैं उसे कोई हजारों विभिन्न कारणों से भी परिणमन नहीं करा सकता वज्रावगाह के समान (**अथोत्तरस्तर्हि सिद्धं नः समीहितम्**) यदि दूसरा पक्ष आपको स्वीकार है तो हमारा अभिमत सिद्ध हुआ। क्योंकि हम तो जीव को परिणामी मानते ही हैं उसे आपने भी मान लिया अतएव जीव में भी परिणमन शक्ति सिद्ध हुई। (**इत्युक्तयुक्त्या जीवस्य-आत्मनः**) इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से जीव-आत्मा की (**या**) जो (**परिणामशक्तिः-ज्ञानावरणादि परिणमन सामर्थ्यम्**) परिणाम शक्ति ज्ञानावरण आदि रूप परिणमन करने की सामर्थ्य (**सा**) वह (**स्थिता**) स्थित सिद्ध-हुई। (**किम्भूता**) कैसी (**निरन्तरा-निर्विघ्ना-विघ्नवर्जिता**) निर्विघ्न (**पुनः कीदृशा**) फिर कैसी (**स्वभावभूता-पारमार्थिकी परानपेक्षत्वात्**)स्वभावरूप-दूसरेकी अपेक्षा न रखने से-परमार्थरूप(**तथा चोक्तमष्टसहस्र्याम्**) ऐसा ही अष्टसहस्री में कहा है कि -(**"कारणस्य कार्यात्मनो भवतः क्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणात्"**) क्योंकि स्वयं ही कार्यरूप में परिणमन करने वाले कारण को किसी दूसरे स्वभाव की अपेक्षा नहीं होती है।

(**यस्यां-स्वभावभूतायां परिणामशक्तौ स्थितायां सत्याम्**) उस स्वभावरूप परिणाम शक्ति के स्थित सिद्ध होने पर (**सः-जीवः**) वह जीव (**यं-ज्ञानादिलक्षणं स्वस्य-आत्मनः-भावं-स्वभावम्**) ज्ञानादि लक्षण-रूप आत्मा के जिस भाव-परिणाम को (**करोति-सृजति**) करता-रचता है (**स जीवः तस्यैव ज्ञानादि लक्षणस्य भावस्य न पुनरन्यस्य कर्ता-कारकः भवेत्-स्यात्**) वह जीव उस ही ज्ञानादि स्वरूप भाव का कर्ता-करने वाला होता है अन्य का नहीं ॥२०॥

भावार्थ—जीव भी स्वभावतः परिणमनशील है अतएव उसका जो परिणाम समय प्रतिसमय होता है उसका कर्ता भी वही जीव होता है उससे भिन्न कोई भी द्रव्य उसके उस परिणाम का कर्ता नहीं होता है कारण कि अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता अन्य द्रव्य नहीं होता है यह सिद्धान्त पूर्व में युक्तियुक्त रूप से सिद्ध किया जा चुका है।

अब ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव क्यों होते हैं? यह दो पद्यों द्वारा प्रकट करते हैं—

ज्ञानमय एव भावः कुतोभवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**ज्ञानमयः**) ज्ञानरूप (**एव**) ही (**भावः**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**भवेत्**) होता है (**पुनः**) और (**अन्यः**) अज्ञानमय (**भावः**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**न**) नहीं होता है! (**अज्ञानिनः**) अज्ञानी के (**सर्वः**) सभी (**अज्ञानमयः**) अज्ञान रूप (**अयम्**) यह (**भावः**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**भवेत्**) होता है (**अन्यः**) अज्ञान से भिन्न ज्ञानरूप (**भावः**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**न**) नहीं (**भवेत्**) होता है? (यहां यह प्रश्न होता है)

सं० टीका—(**ज्ञानिनः पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**ज्ञानमय एव बोध निर्वृत्त एव**) ज्ञानमय-ज्ञान से निर्मित-ही (**कुतः-कस्माद्धेतोः**) किस कारण से (**भवेत्-स्यात्**) होता है? (**पुनः**) और (**अन्यो-भावः**)

अज्ञानमय भाव **(कुतो)** किस कारण से **(न)** नहीं **(स्यात्)** होता है ? **(अज्ञानिनः-ज्ञानरहितस्य)** ज्ञान से रहित के **(तु)** तो **(अयं-प्रसिद्धो ममत्वादि लक्षणः)** यह प्रसिद्ध ममत्वरूप **(सर्वः-समस्तः)** समस्त **(अज्ञानमयः-अज्ञाननिर्वृत्तो भावः)** अज्ञान से निर्मित भाव **(कुतो हेतोर्भवेत्)** किस कारण से होता है **(न पुनरन्यः-ज्ञानादिलक्षणः)** अन्य ज्ञानादि स्वरूप भाव **(कुतो न भवेत्)** क्यों नहीं होता है ?

भावार्थ—यहाँ पर सवाल है ज्ञानमय भाव कौन से हैं और अज्ञानमय भाव कौन से हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय और ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही क्यों होते हैं। रागादि शुभभाव अथवा अशुभभावों का होना अज्ञानमयी भाव नहीं है चाहे द्रव्यलिंगी का उच्च कोटी का शुभ भाव होवे अथवा नरक के नारकी का तीव्र कृष्ण लेश्यायुक्त अशुभ भाव हो ये अज्ञानभाव नहीं हैं, इसी प्रकार शरीर की अशुभरूप क्रिया हो चाहे शुभरूप क्रिया हो यह अज्ञानरूप नहीं हैं। अज्ञान भाव तो तब कहलाता है जब उन शुभ अशुभ भावों में यह अपनापना-एकत्वपना, स्वामित्वपना-अहम्पना मानता है। अपने ज्ञानस्वभाव का मालिक न बनके पर्याय में होने वाले शुभ-अशुभ भावों में एकत्व बुद्धि करता है अपनापना स्थापित करता है वह विकारी भावों में एकत्वपना-अपनापना ही अज्ञानभाव है।। विकारी भाव अज्ञान भाव नहीं है विकारी भावों में अपनापना अज्ञान भाव है। क्योंकि ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव का मालिक है उसमें अपनापना एकत्वपना है इसलिए कर्मकृत शुभ-अशुभ भावों में अपनापना-एकत्वपना नहीं है इसलिए ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते। अज्ञानी क्योंकि अपने निजभाव को नहीं पहचानता है इसलिए विकारी भावों में अपनापना जरूर है इसलिए अज्ञानी के सभी भाव चाहे वह द्रव्यलिंगी के शुक्ल लेश्यारूप ही क्यों न हो अज्ञानमयी भाव है और ज्ञानी के चाहे नारकी के कृष्ण लेश्या रूप ही क्यों न हो ज्ञानमय भाव है क्योंकि उस नारकी सम्यक्दृष्टि के उन भावों में भी अपनापना नहीं है अपने निज जाननरूप भाव में ही अपनापना है। यही कारण है कि छः खण्ड के चक्रवर्ती के भोगों के भाव को भी अज्ञानरूप नहीं कहा और द्रव्यलिंगी के परिणामों को अज्ञानरूप कहा है यह विचित्रता समझे तो तत्त्व समझ में आये।

अब उक्त प्रश्न का युक्तिपूर्ण उत्तर देते हैं—

ज्ञानिनो ज्ञान निर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२॥

अन्वयार्थ—**(हि)** निश्चय से **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी के **(सर्वे)** सभी **(भावाः)** भाव **(ज्ञाननिवृत्ताः)** ज्ञान से रचे हुए **(भवन्ति)** होते हैं। **(तु)** और **(अज्ञानिनः)** अज्ञानी के **(ते)** वे **(सर्वेऽपि)** सभी भाव **(अज्ञाननिवृत्ताः)** अज्ञान से रचे हुए **(भवन्ति)** होते हैं।

सं० टी०—**(होति-यस्मात् कारणात्)** जिस कारण से **(ज्ञानिनः पुंसः)** ज्ञानी पुरुष के **(सर्वे-निखिलाः)** सब-निखिल **(भावाः-परिणामाः)** भाव-परिणाम **(ज्ञाननिर्वृत्ताः-ज्ञाननिष्पन्नाः)** ज्ञान से-निष्पादित-रचित **(भवन्ति-जायन्ते)** होते हैं **(ज्ञानाद्-ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावा)** ज्ञान से, ज्ञानरचित भाव ही **(यथा जम्बूनद जातितो जाम्बूनद पात्र कुण्डलादयः)** जैसे जम्बूनद जाति-सुवर्ण की जाति-से जम्बूनद-

सुवर्ण के पात्र-भाजन वर्तन तथा कुण्डल आदि। (**तु-पुनः**) किन्तु (**अज्ञानिनः-पुंसः**) अज्ञानी पुरुष के (**ते-प्रसिद्धाः अहंकारादयः**) वे-प्रसिद्ध अहङ्कार आदि (**सर्वेऽपि-समस्ता अपि**) समस्त (**अज्ञाननिर्वृत्ता ये अज्ञानमया एव**) अज्ञान रूप ही (**भवन्ति-जायन्ते**) होते हैं (**यथा कालायसमयाद्भावात् कालायसपात्रवलयादयः**) जैसे लोहमय भाव से लोहमय वर्तन, कड़ा आदि (**तथाऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः**) वैसे ही अज्ञान से तो अज्ञानमय ही भाव होते हैं। (**तथाचोक्तम्**) कहा भी है—

द्वैताद् द्वैतमद्वैताद्वैतं खलु जायते।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं तथा॥

अर्थात् (**यथा**) जैसे (**द्वैतात्**) द्वैत से (**द्वैतम्**) द्वैत (**अद्वैताद्**) अद्वैत से (**अद्वैतं**) अद्वैत (**जायते**) उत्पन्न होता है (**लोहात्**) लोह से (**लोहमयम्**) लोह रूप (**पात्रम्**) भाजन-बर्तन (**जायते**) उत्पन्न होता है (**हेम्नः**) सुवर्ण से (**हेममयम्**) हेम-सुवर्ण रूप (**पात्रम्**) पात्र – (**जायते**) होता है।

अन्वयार्थ - जैसे स्वर्ण जाति से स्वर्णमय, लोह जाति से लोहमय,-ही कुण्डल, कड़ा आदि बनते हैं, उनसे भिन्न जाति के नहीं वैसे ही ज्ञानी के ज्ञान से बने हुए ज्ञानरूप ही भाव होते हैं, अज्ञानरूप नहीं। और अज्ञानी के अज्ञानरूप ही भाव होते हैं, ज्ञानरूप नहीं। द्वैत से द्वैत ही बनता है, अद्वेत नहीं। और अद्वैत से अद्वैत ही बनता है, द्वैत नहीं। यही तो यथार्थ वस्तु स्थिति है अन्य नहीं और अन्य प्रकार नहीं।

अब अज्ञान से ही कर्मबन्ध होता है यह दिखाते हैं—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥२३॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानी**) अज्ञानी-ज्ञानस्वरूप से विपरीत पुरुष (**अज्ञानमय भावानाम्**) अज्ञानमय भावों की (**भूमिकाम्**) भूमि को (**व्याप्य**) व्याप्त करके (**द्रव्यकर्म निमित्तानाम्**) द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि के निमित्तरूप (**भावानाम्**) भावों की (**हेतुताम्**) हेतुत्व को (**एति**) प्राप्त करता है।

सं० टीका—(**अज्ञानी-ज्ञानच्युतः पुमान्**) ज्ञान से पतित पुरुष (**एति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**काम् ?**) किसको (**हेतुतां-कारणताम्**) कारणता को (**केषाम्**) किनकी (**द्रव्येत्यादि:-द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां निमित्तानि-कारणानि तेषां भावानां पर्यायाणां-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादादि रूपाणाम्**) द्रव्यकर्म-ज्ञानावरण आदि के निमित्त-कारण-भूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद आदि रूप भावों की (**किं कृत्वा**) क्या करके (**व्याप्य-प्राप्य**) प्राप्त करके (**काम् ?**) किसको (**भूमिकां-स्थानम्**) भूमि का स्थान-को (**केषाम् ?**) किनके (**अज्ञानमय भावानां-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणानाम्**) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग स्वरूप अज्ञानरूप भावों की॥२३॥

भावार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच भाव, कर्मबन्ध के हेतु हैं। इनमें मिथ्यात्व भाव ही अज्ञानमय भाव है क्योंकि इसके होते हुए जीव को यथार्थ पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता किन्तु विपरीत-अयथार्थ-जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ज्ञान नही कर, उससे उल्टा ही ज्ञान होता

है। अतएव वह अनन्त संसार के बन्ध में कारण होता है। इस मिथ्यात्व के नाश होते ही सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकाशमान होने लगता है तब अज्ञान का अर्थ विपरीत ज्ञान न होकर अल्पज्ञान होता है और केवलज्ञान का अभाव भी होता है। सम्यक्त्व सहचर ज्ञान बन्ध का कारण नहीं होता क्योंकि वह आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान है और जो स्वभाव होता है वह बन्ध का कारण नहीं होता। यदि स्वभाव ही बन्ध कारण मान लिया जाय तो मुक्ति की प्राप्ति ही दुर्लभ हो जावेगी, दुर्लभ ही नहीं प्रत्युत असम्भव हो जावेगी अतः मिथ्यात्व के अभाव के पश्चात् अविरति आदि ही बन्ध के कारण होते हैं ऐसा समझना चाहिए ॥२३॥

अब नयों के पक्षपात का निपात सुख का कारण है यह निरूपण करते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो भव्य पुरुष (**नयपक्षपातम्**) नय के पक्षपात को (**मुक्त्वा**) छोड़ कर (**नित्यम्**) हमेशा (**एव**) ही (**स्वरूपगुप्ताः**) अपने चैतन्य स्वरूप में मग्न (**निवसन्ति**) रहते हैं। (**विकल्पजालच्युत-शान्तचित्ताः**) विकल्पों रागद्वेषजनित इष्ट और अनिष्ट कल्पनाओं से रहित अतएव शांत चित्त वाले (**ते**) वे भव्य पुरुष (**एव**) ही (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष रूप से (**अमृतं**) अमृत को (**पिबन्ति**) पीते हैं।

सं० टीका (**य एव योगिनः**) जो योगी-साधु महापुरुष (**निवसन्ति-तिष्ठन्ति**) स्थित रहते हैं (**नित्यं-निरन्तरम्-आजन्मपर्यन्तम्**) निरन्तर हमेशा जीवनपर्यन्त (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए? (**स्वरूपगुप्ताः-स्वरूपे-निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपनं येषां ते**) अपने चैतन्य स्वरूप में जिनका गुप्ति-गोपन-रक्षण है यहां (**'अभ्राविभ्यः इति'**)-इस (**जैनेन्द्र-सूत्रेण**) जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र से (**अस्त्यर्थे अः**) अस्ति के अर्थ में 'अ' प्रत्यय होता है। (**किं कृत्वा?**) क्या करके (**मुक्त्वा-हित्वा**) त्याग करके (**कम्-**) किसको (**नयपक्षपातम्-नयानां-अपि कर्म बद्धमबद्धं चेत्यादि रूपाणां, नयेषु वा पक्षपातः-ममत्वाभिनिवेशस्तम्**) आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है और कर्मों से बंधा हुआ नहीं है इत्यादि नानाविध रूप नयों के अथवा नयों में पक्षपात-ममत्वरूप परिणाम-को (**त एव पुरुषाः**) वे ही पुरुष (**नयं मुक्त्वा-**) नय को छोड़कर (**पिबन्ति-पानं कुर्वन्ति-आस्वादयन्तीत्यर्थः**) पान करते आस्वादन करते हैं। (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्षरूप से (**किम्?**) किसे (**अमृतं-न म्रियते येन परमात्मध्यानेन तदमृतम्-परमात्मध्यातुर्मुक्तिनिवासित्वेनमरणानिर्बर्हकत्वात्**) परमात्मा के जिस ध्यान से मरण नहीं होता है वह अमृत कहा जाता है अर्थात् क्योंकि परमात्मा के ध्याता का मुक्ति में निवास मरण का निरोधक है (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए? (**विकल्पेत्यादिः—विकल्पानां जालं समूहः तेन च्युतं-रहितं शान्तं-उपशमं प्राप्तं-चित्तं मानसं येषान्ते**) जिनका चित्त नाना विकल्पों से रहित होने के कारण अत्यन्त शान्त है ॥२४॥

भावार्थ—आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है यह व्यवहार नय का कथन है। आत्मा कर्मों से बंधा हुआ नहीं है यह निश्चयनय का अपना विवेचन है। ये दोनों नय अपने-अपने विषय में सम्यक् हैं जब ये सापेक्ष

हो पर जब दोनों में से किसी एक को ही दूसरे की अपेक्षा न करते हुए मुख्य रूप दे दिया जाता है तब वही नय मुक्ति में बाधक सिद्ध होता है क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो एक ही है पर उसके साधन दो हैं एक निश्चयरूप और दूसरा व्यवहार रूप। निश्चयरूप साधन मुख्य है और व्यवहार रूप साधन गौण है इनमें से जब किसी एक को ही निरपेक्ष रूप से अपनाया जाता है और दूसरे की ओर दृष्टि डालकर भी नहीं देखा जाता है तब आत्मा मुक्ति से अनन्तों कोश दूर रह जाता है अतः साधक का कर्तव्य हो जाता है कि वह दोनों के पक्ष को छोड़कर आत्मसाधना के मार्ग पर आरूढ़ हो ॥२४॥

अब नयों का पक्षपात क्या है ? और उसका त्याग क्या है ? इसका वर्णन करते हैं—

एकस्यबद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (**एकस्य**) एक व्यवहार नय की अपेक्षा से (**बद्धा**) कर्मों से बँधा हुआ है (**तथा**) और (**अपरस्य**) दूसरे निश्चय नय की अपेक्षा से (**बद्धः**) कर्मों से बँधा हुआ (**न**) नहीं है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों-व्यवहार और निश्चय-नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ-पक्षपातः**) पक्षपात है (**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**) जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है (**तस्य**) उस तत्त्वज्ञ के (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित्स्वरूप आत्मा (**चिदेव**) चित्स्वरूप आत्मा ही है।

सं० टी०—(**एकस्य-व्यवहारिकनयस्य पर्यायार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा बद्धः-कर्मभिर्निबद्धः**) एक व्यवहारिक अपर नाम पर्यायार्थिक-नय के अभिप्राय से आत्मा कर्मों से बँधा हुआ है (**तथा-तेनैव प्रकारेण, परस्य-निश्चयनयस्य-द्रव्यार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा न बद्धः कर्मभिः**) वैसे ही दूसरे निश्चय अपर नाम द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से आत्मा कर्मों से बँधा हुआ नहीं है। (**इति-अमुना-प्रकारेण**) इस प्रकार से (**चिति-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा में (**द्वयोः-उभयोर्नययोः-द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकयोः**) दोनों-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के (**द्वौ-उभौ**) दो— (**पक्षपातौ-अभिनिवेशौ स्तः**) पक्षपात-अभिप्राय हैं (**यः-कश्चित्**) जो कोई (**तत्त्ववेदी-परमार्थवेत्ता सन्**) यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होता हुआ (**च्युतपक्षपातः-बद्धेतरयोर्नययोः पक्षपातरहितः भवतीत्यध्याहार्यम्**) बद्ध और अबद्ध नयों के पक्षपात-अभिप्राय-से रहित है "यहाँ भवति इस क्रिया का अध्याहार किया है" (**तस्य**) उस (**तत्त्ववेदिनः**) तत्त्ववेदी के (**खलु-इति-नियमेन**) नियम से "यहां खलु अव्यय नियम अर्थ में आया है" (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**चित्-चैतन्यम्**) चैतन्य (**चिदेव-ज्ञानस्वरूपमेव**) ज्ञान स्वरूप ही (**अस्ति-भवति**) है (**साक्षात् केवलज्ञानीभवतीति यावत्**) जब तक साक्षात्-प्रत्यक्षरूप से केवलज्ञानी होता है ॥२५॥

भावार्थ—नय सम्बन्धी राग आखिर राग ही तो है जब तक राग है तब तक वीतराग नहीं कहा जा सकता या हो सकता क्योंकि केवली होने के लिए पूर्व वीतराग होना अत्यन्त आवश्यक है इसलिए शुद्ध नय का भी पक्ष-राग नहीं होना चाहिए। राग का पूर्वरूपेण अभाव ही वीतराग है और वही केवलज्ञान के होने में पूर्णतया सक्षम कारण है बिना उसके हुए केवलज्ञानावरण कर्म का क्षय नहीं हो सकता

और उसके क्षय के बिना केवलज्ञान का अखण्ड प्रताप और प्रकाश कथमपि सम्भव नहीं। अतः नय का राग भी हेय है ॥२५॥

बद्ध और अबद्ध नय के पक्ष के समान अन्य का पक्ष भी हेय है यह बताते हैं—

एकस्य मूढ़ो न तथापरस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**एकस्य**) एक नय का (**मूढ़ः**) मोह करने वाला (**अस्ति**) है (**तथा**) वैसे ही (**अपरस्य**) दूसरे नय का (**मूढः**) मोह करने वाला (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इति**) इस तरह से (**द्वयोः**) दोनों नयों का (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय में (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात-अभिप्राय (**स्तः**) हैं (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता (**च्युतपक्षपातः**) दोनों नयों के पक्ष व्यामोह-से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित स्वरूप जीव (**चिदेव**) चित्स्वरूप ही (**अस्ति**) है (मोही और अमोही दोनों से रहित जैसा है वैसा मात्र अनुभव में आता है) ॥२६॥

पुनश्च—

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**जीवः**) जीव (**एकस्य**) एक नय के विषय (**रक्तः**) रागी (**अस्ति**) है। (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के विषय में (**रक्तः**) रागी (**नास्ति**) नहीं है। (**इति**) इस तरह से (**द्वयोः**) दोनों नयों का (**चिति**) चैतन्य स्वरूप जीव के विषयें (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं, किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) उक्त प्रकार के पक्षपात से रहित है (**तस्य**) उसके (**नित्यं**) निरन्तर (**खलु**) निश्चय से (**चित्**) चित्स्वरूप जीव (**चित्**) चित्स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥२७॥

पुनश्च —

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नय से (**दुष्टः**) द्वेषी (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय से (**दुष्टः**) द्वेषी (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से शून्य (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**नित्यम्**) सदा— (**खलु**) नियम से (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**चित्**) चैतन्य रूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥२८॥

पुनश्च—

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२९॥

अन्वयार्थ—(**जीवः**) जीव (**एकस्त**) एक नय से (**कर्ता**) कर्ता (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय से (**कर्ता**) कर्ता (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं परन्तु (**यः**) जो (**तत्ववेदी**) तत्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) दोनों के पक्षपात से रहित है (**तस्य**) उसके (**नित्यम्**) हमेशा (**खलु**) नियम से (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**चित्**) चैतन्य स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥२९॥

पुनश्च—

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय का पक्ष है (**भोक्ता**) जीव भोगने वाला (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय का पक्ष है जीव (**भोक्ता**) भोगने वाला (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस प्रकार (**चिति**) चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में (**द्वयोः**) दो नयों के (**द्वौ पक्षपातौ**) दो पक्षपात हैं (**यः**) जो पुरुष (**तत्ववेदी**) तत्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित है (**तस्य**) उस तत्वज्ञ के (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**चिदेव**) चैतन्यरूप ही (**अस्ति**) है ॥३०॥

पुनश्च—

एकस्य जीवो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यतस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**जीवः**) जीव जीव (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**जीवः**) जीव जीव (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्यरूप आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं। किन्तु (**यः**) जो (**तत्ववेदी**) तत्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**चिदेव**) चैतन्य रूप ही (**अस्ति**) है ॥३१॥

पुनश्च—

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**सूक्ष्मः**) जीव सूक्ष्म (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**नास्ति**) सूक्ष्म नहीं है (**इति**) ये (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है किन्तु (**यः**) जो (**तत्ववेदी**) तत्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**चिदेव**) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (**अस्ति**) है ॥३२॥

पुनश्च—

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**हेतुः**) जीव हेतु (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**हेतुः**) हेतु (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से शून्य है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३३॥

पुनश्च—

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३४॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**कार्यम्**) जीव कार्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**कार्यम्**) कार्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात है किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से शून्य है (**तस्य**) उसके (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) आत्मा (**एव**) हीं (**अस्ति**) है ॥३४॥

पुनश्च—

एकस्य भावो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३५॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**भावः**) जीव भाव (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**भावः**) भाव (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं। किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) चित्-स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३५॥

पुनश्च—

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**)- (**एकस्य**) एक नय के (**एकः**) एक (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**एकः**) एक (**न**) नहीं (**अस्ति**) है अर्थात् अनेक है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों का (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं। किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ पुरुष

(**व्युतपक्षपातः**) दोनों नयों के पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) चित्स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३६॥

पुनश्च—

एकस्य सान्तो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**सान्तः**) आत्मा अन्तसहित (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**सान्तः**) सान्त-अन्तसहित (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों को (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है, किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) वस्तुस्वरूप का वेत्ता (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य-आत्मा (**चित्**) चित्-आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३७॥

पुनश्च—

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३८॥

अन्वयार्थ- (**एकस्य**) एक नय के (**नित्यः**) जीव नित्य (**अस्ति**) है। (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**नित्यः**) नित्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है अर्थात् अनित्य है। (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है। किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य आत्मा (**चित्**) चैतन्य आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३८॥

पुनश्च—

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३९॥

अन्वयार्थ--(**आत्मा**) आत्मा (**एकस्य**) एक नय के (**वाच्यः**) वाच्य-कहने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) (**परस्य**) दूसरे नय के (**वाच्यः**) वाच्य-कथनीय (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्ववेदी—वस्तु स्वरूप का जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) चित्-आत्मा (**चित्**) आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥३९॥

पुनश्च—

एकस्य नाना न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४०॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एकनय के (**नाना**) नानारूप (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नयके (**नाना**) नानारूप (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातो**) पक्षपात (**स्तः**) हैं। किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा **चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४०॥

पुनश्च—

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४१॥

अन्वयार्थ–(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नयके (**चेत्यः**) चेत्य-जानने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**चेत्यः**) चेत्य-जानने योग्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्यमय जीव के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है किंतु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञाता है, (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४१॥

पुनश्च—

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नयके (**दृश्यः**) दृश्य–देखने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**दृश्यः**) देखने योग्य (**न**) नहीं **अस्ति**) है। (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों का (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपातरहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य (**चित्**) चैतन्य (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४२॥

पुनश्च—

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४३॥

अन्वयार्थ–(**आत्मा**) आत्मा (**एकस्य**) एकनय के (**वेद्यः**) वेदन करने—जानने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**वेद्यः**) जानने योग्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी** तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य-आत्मा (**चित्**) चैतन्य आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४३॥

पुनश्च—

एकस्य भातो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४४॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एकनय के (**भातः**) प्रकाशमान (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**भातः**) प्रकाशमान (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय में (**द्वयोः**) दोनों नयों के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी च्युत-पक्षपातः**) तत्त्ववेत्ता पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित्स्वरूप आत्मा (**चित्**) चित्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४४॥

सं० टी०—(**पूर्ववत् व्याख्येयानि मूढ़रक्तेतरादि पदपरिवर्तनेन** "२६-४४") अर्थात्—२६वें पद्य से लेकर ४४वें पद्य तक मूढ़ रक्तो आदि पदों के परिवर्तन के साथ पहले के समान व्याख्यान करना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर नयों के पक्षपात को छुड़ाकर निज स्वभाव में गुप्त होने का उपदेश है। वस्तु द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक=वस्तु है। पूरी वस्तु का ज्ञान करने के लिए द्रव्यार्थिक दृष्टि के विषयभूत वस्तु का और पर्यायार्थिक दृष्टि के विषयभूत वस्तु का ज्ञान करना जरूरी है। एक, वस्तु के एक अकेले पर से भिन्न निज स्वभाव को बताता है तो दूसरा उस वस्तु के साथ संयोगादिक एवं विकारी अथवा विकार-रहित अवस्था का परिपादन करता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायदृष्टि का स्वरूप सर्वथा विपरीत है। द्रव्य-दृष्टि जब कि ध्रौव्य स्वरूप को बताती है तब पर्यायदृष्टि उत्पाद व्यय को बताती है। द्रव्यदृष्टि जब गुणों को जो ध्रौव्य है उन्हें बताती है तब पर्यायदृष्टि जो नाशवान और उत्पन्न होने वाली अवस्था को बताती है क्योंकि वस्तु को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप बताया है एवं गुणपर्ययवद्द्रव्यम् कहा है। पर्यायदृष्टि जब आत्मा को कर्म से बंधा—अज्ञानी, रागी, द्वेषी, कर्त्ता, भोक्ता, जीव, सूक्ष्म, हेतु आदि रूप बताती है वहाँ द्रव्यदृष्टि इनका निषेध करती है कि आत्मा कर्मों से बंधा नहीं है—ज्ञानरूप है, राग-द्वेष से रहित, कर्त्ता-भोक्ता से रहित, दश प्राणों से जीने वाला नहीं, सूक्ष्म और हेतुरूप नहीं है वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रूप है। जब एक दृष्टि बताती है कि आत्मा किसी का कार्यरूप नहीं है, भावरूप नहीं है, अनेक नहीं है अर्थात् नित्य है शब्दों से नहीं कहा जा सकता अर्थात् शब्दातीत है, नाना रूप नहीं है अर्थात् एक-रूप है, चैत्य नहीं है अर्थात् अचेत्य है, दृश्यरूप नहीं है अर्थात् अदृश्य है, वेदने योग्य नहीं है अर्थात् अवेद्य है। जबकि उससे विरोधी दूसरी नय उसका निषेध करती है। इस प्रकार से द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु को और पर्यायदृष्टि के विषयभूत वस्तु को जानकर किसी भी दृष्टि का पक्षपात नहीं करता है। दृष्टि तो वस्तु को समझने के लिए जरूरी है। नय वस्तु को बदली नहीं कर सकती। जब पर्यायदृष्टि से अपने आपको देखा तो रागादिरूप परिणमन करता हुआ शरीरादि से युक्त कर्म से बंधा भेदरूप दिखाई देता है उसी समय अपने आपको जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो एक अकेला ज्ञानदर्शन से अभेद, अखण्ड

दिखाई देता है इस दृष्टि में न रागादि है, न शरीरादि है, न कर्म का बंध है। एक दृष्टि जब विकार और संयोगों को बताती है तब दूसरी दृष्टि अनादि अनन्त निज स्वभाव को दिखाती है दोनों दृष्टि अपनी-२ जगह पूर्ण सत्य हैं परंतु जैसे रूपये की दो साइड होती है और हरेक साइड दूसरी साइड की अपेक्षा लिए हुए है दूसरी साइड का निषेध नहीं करती ऐसेही सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। सामान्य में विशेष नहीं, विशेषमें सामान्य नहीं, सामान्य के बिना विशेष नहीं, विशेष के बिना सामान्य नहीं ऐसा वस्तु के स्वरूप का श्रद्धान करना है। वस्तु में जो विकार है उसका जानना भी उसको छोड़ने के लिए जरूरी है और स्वभाव को जानना भी जरूरी है क्योंकि उस रूप रहना है। इसलिए वस्तु के पूर्ण स्वरूप को समझ कर ज्ञानी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक किसी भी दृष्टि का पक्षपात नहीं करता। नयों के द्वारा वस्तु को जान कर निज स्वभाव में रमण करता है जो सब नयों से अतिक्रांत है।

अब नयों के पक्ष से निरपेक्ष हो आत्मानुभूति का उपदेश देते हैं—

स्वेच्छा समुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं-स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**स्वेच्छा समुच्छलदनल्पविकल्पजालाम्**) अपने आप उठते हुए महान विकल्पों के समूह वाली (**महतीम्**) विशाल-बड़ी भारी (**नयपक्षकक्षाम्**) नयों के पक्षों की श्रेणी को (**व्यतीत्य**) दूर करके (**अन्तर्बहिः समरसैक रसस्वभावम्**) भीतर और बाहर समता रस रूप अद्वितीय रस जिसका स्वभाव-स्वरूप है ऐसे (**अनुभूतिमात्रम्**) अनुभव स्वरूप (**एकम्**) एक-अद्वितीय (**स्वम्**) अपने (**भावम्**) स्वभाव को (**उपयाति**) प्राप्त करता है ॥४५॥

सं० टी०—(**एकम्**) एक (**स्वम्-आत्मीयम्**) आत्मीय-अपने (**भावम्-स्वभावम्**) स्वभाव का (**अनुभूतिमात्रम्-अनुभवमेव**) अनुभव को ही (**उपयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करना है। (**किम्भूतम्-स्वम्**) कैसे अपने स्वभाव को (**अन्तरित्यादिः-अन्तः-अभ्यन्तरे, बहि-बाह्ये, यः समरसः-साम्यरसः, स एव एकः-अद्वितीयः आस्वाद्यमानरस स्वभावः-स्वरूपंयस्य तत्**) भीतर और बाहर अद्वितीय समतारस ही जिसका स्वरूप है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**एवम्-उक्त विंशतिपद्योक्त नयप्रकारेण**) पूर्वोक्त बीस पद्यों में कहे गये नयों के अनुसार (**नयपक्षकक्षां-नयपक्षाङ्गीकारम्**) नयों के पक्षों की मान्यता को (**व्यतीत्य-हित्वा**) त्याग करके (**किम्भूताम्**) कैसी को (**स्वेच्छेत्यादिः-स्वेच्छया समुच्छलन्तश्च तेऽनन्तविकल्पाश्च तेषां जालं-समूहो यस्याः सा ताम्**) अपनी इच्छा से उत्पन्न होने वाले अनन्त विकल्पों के समूह जिसमें विद्यमान हैं ऐसी (**महतीम्-महाप्रसर प्राप्ताम्**) अत्यन्त विस्तृत—अर्थात् विस्तार वाली ॥४५॥

भावार्थ—आत्मा कर्मों से बंधा है रागादि रूप परिणमन कर रहा है शरीर से संयोग को प्राप्त है ये सब भी विकल्प है और आत्मा एक है, अकेला है ज्ञानदर्शन-मयि है अखण्ड है अविनाशी है यह भी विकल्प है। जब तक दोनों में से किसी भी प्रकार के विकल्प में लगा हुआ है तब तक वस्तु के स्वाद से वंचित है इसलिए आत्म अनुभव के लिए समस्त विकल्पों को छोड़कर परिधि को लांघ कर

केन्द्र के सन्मुख होने पर ही आत्म अनुभव होता है। परिधि तो पर्याय है केन्द्र स्वभाव है। परिधि पर खड़ा होकर चाहे परिधि का विकल्प करे चाहे केन्द्र का विकल्प करे विकल्प ही है। परन्तु केन्द्र पर आकर केन्द्ररूप अपने को अनुभव करना है। परिधि का अतिक्रम किए बिना केन्द्र पर नहीं पहुंच सकता। परिधि पर जन्म-जन्मांतर तक दौड़ता रहे तो भी केन्द्र पर नहीं पहुंच सकता। आचार्यों ने संसार शरीर भोगों से हटाकर आत्मविकल्प में लगवाया और वहाँ से भी हटाकर आत्मा में लगाना है ॥४५॥

अब विकल्पों के समूह को तिरस्कृत करते हुए निज स्वरूप को दिखाते हैं—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्, पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणम् कृत्स्नमस्यति तदस्मिचिन्महः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः**) अतिशय रूप से उठने वाले विकल्प रूप तरङ्गों के समूह से (**उच्छलत्**) उछलते हुए (**इदम्**) इस (**कृत्स्नम्**) सारे (**इन्द्रजालम्**) इन्द्र-जाल को (**तत्क्षणम्**) उसी समय-उत्पन्न होने के समय (**एव**) ही (**यस्य**) जिस आत्मिक तेज का (**स्फुर-णम्**) प्रकाश (**अस्यति**) दूर कर देता है—रोक देता है (**तत्**) वह (**चिन्महः**) चैतन्यमय तेज (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ ॥४६॥

सं० टी०—(**यस्य-चिन्महसः**) जिस चैतन्यमय तेज का (**विस्फुरणमेव-प्रकाशनमेव**) प्रकाशन ही (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस-प्रसिद्ध (**ममैतदस्यहमित्यादिरूपम्**) यह मेरा और मैं इसका इत्यादि रूप (**कृत्स्नम्-समस्तम्**) सब (**इन्द्रजालं-महेन्द्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासादृश्यत्वादसद्रूपत्वाच्चेदं सर्वमिन्द्रजालम्**) इन्द्रजाल-महेन्द्र आदि के द्वारा रचित शास्त्रस्थ विद्या की समानता से असद् रूप इस सारे जंजाल को (**तत्क्षणम् उदयकालम्**) तत्काल-उदय-उत्पत्ति के समय (**अस्यति-निराकरोति**) निराकरण-दूर कर देता है। (**किम्भू-तम् ?**) कैसे (**उच्छलत्-अधिकं-प्रापयत्**) उछलते हुए-अधिकता को प्राप्त होते हुए (**काभिः ?**) किन्हों से (**पुष्कलेत्यादिः-विकल्पममत्वादिरूपाः सङ्कल्पास्त एव वीचयः कल्लोलाः बहुलास्ताश्च ताः उच्चलन्त्यः-ऊर्ध्वं प्राप्नुवन्त्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः**) विकल्प ममत्वादि रूप सङ्कल्प तद्रूप अत्यधिक ऊपर को उछलने वाली तरङ्गों से (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**चिन्महः-चित्स्वरूपधाम**) चैतन्य स्वरूप तेज (**अस्मि-भवामि**) मैं हूँ ॥४६॥

भावार्थ—शरीरादि पर पदार्थ को अपना मानना सङ्कल्प है। और मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं क्रोधी हूँ मैं मानी हूँ इत्यादि विकल्प हैं। ये सङ्कल्प और विकल्प निरन्तर आत्मा को आकुलित करते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी स्वपर विवेकी उक्त समस्त सङ्कल्प और विकल्पों से अपने को भिन्न करके जब आत्मिक अखण्ड तेजपुञ्ज का अनुभव करता है तब वे सभी सङ्कल्प और विकल्प स्वभावतः विलय को प्राप्त हो जाते हैं यह है आत्मानुभव का साक्षात् सुफल।

विकल्पों के आधीन वस्तु का परिणमन नहीं है वस्तु तो जैसी है वैसी ही है यह विकल्पों के द्वारा

बदली नहीं जा सकती। अज्ञानी परवस्तु का आश्रय लेकर विकल्प के द्वारा उस वस्तु को अपनी बनाता है। वस्तु तो भिन्न ही है। उस विकल्प का कर्ता बनके उस विकल्प को अपने रूप करके वह उस वस्तु का कर्ता बन जाता है ये विकल्प पर वस्तु का आश्रय लेने से बनते हैं। विनाशिक हैं। एक विकल्प करके यह अपने को दुःखी बना लेता है और एक विकल्प करके अपने को सुखी मान लेता है। इन विकल्पों के नाश का उपाय है कि विकल्पों का कर्ता न बनके विकल्पों का ज्ञाता बने। मैं विकल्प करने वाला नहीं मैं तो जो विकल्प कर्म के सम्बन्ध से हो रहे हैं उनका जानने वाला हूँ ऐसा अपने स्वभाव का अवलम्बन लेने से विकल्प पैदा ही नहीं होते ॥४६॥

अब समयसार का चिन्तन करते हैं—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥४७॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं (**समस्ताम्**) सम्पूर्ण (**बन्धपद्धतिम्**) बन्ध की परिपाटी को (**अपास्य**) दूर करके (**चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया**) चैतन्य स्वरूप के समूह रूप से प्राप्त उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप को यथार्थता से (**एकम्**) अद्वितीय - एक है ऐसे (**अपारम्**) अपार (**समयसारम्**) समय-शुद्ध आत्मा को (**चेतये**) अनुभव करता हूँ।

सं० टीका—(**चेतये-चिन्तयामि-ध्यानविषयीकरोमीत्यर्थः**) मैं चिन्तन-ध्यान का विषय-करता हूँ (**कम्-**) किसको (**समयसारम् सम्यक्-अयन्ति-गच्छन्ति-निजगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः, अथवा समयन्ति जानन्ति स्वरूपमिति आत्मनः, तेषां मध्येसारः श्रेष्ठस्तम्**) जो अपने गुण और पर्यायों को भली भाँति प्राप्त करते हैं वे समय-पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जो अपने खास स्वरूप को भली भाँति जानते हैं उन्हें आत्मा कहते हैं उनमें जो सारभूत है उसको (**किम्भूतम् ?**) कैसे समयसार को (**अपारम्-गुणपाररहितम्**) गुणों के पार-अन्त-से रहित अर्थात् अनन्त (**पुनः**) फिर कैसे ? (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय-असहाय (**कया-?**) किससे (**चिदित्यादि-चिदेव स्वभावो यस्य स चित्स्वभावः-आत्मा,-तस्यभरः-अतिशयः-प्रतिक्षणं-त्रिलक्षणोपादानलक्षणः तेन भाविताः-निष्पादिताः, भावाभावभावाः, भूयते इति भावः-उत्पादः, अभावः पूर्वं पर्यायः, भवनं-भावः द्रव्यरूपेण ध्रौव्यता, द्वन्द्वः, तेषां परमार्थता-सत्यता-एकार्थता तया**) जिसका स्वभाव चैतन्य है वह आत्मा, उसका प्रति समय होने वाला उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप जो भर-अतिशय, उससे निष्पन्न हुई उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की सत्यता रूप एकार्थता से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**अपास्य छित्वा**) छेदन करके- (**काम्-बन्धपद्धतिम्-कर्मबन्धश्रेणीम्**) कर्म बन्ध की श्रेणी को (**समस्ताम्-निखिलाम्**) सारी (**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपाम्**) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध स्वरूप ॥४७॥

भावार्थ—कर्म के सम्बन्ध से विकल्प उठते हैं यह कर्म का कार्य है। कर्म के कार्य को कर्म के खाते में डालें उसमें अपनापना छोड़ें। विकल्प का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कर्म के साथ है चेतना के साथ नहीं

है विकल्प से यह सिद्ध होता है कि अभी राग भाव विद्यमान है। कर्म के कार्य को अपने से भिन्न जानकर शुद्ध चेतन का अनुभव करना ही कार्य की सिद्धि है। वह चेतन मात्र ज्ञान गुण के द्वारा पकड़ में आता है। जब तक स्वरूप का अनुभव नहीं है तब तक नयों के विकल्प उठते हैं जहां वस्तु का अनुभव हुआ सभी विकल्प का अभाव है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को हम नहीं जानते उसको लेने को स्टेशन पर जाते हैं बताने वाले ने उसका सब प्रकार का हुलिया बताया है उसको विचार करते जाते हैं। स्टेशन पर एक तरफ खड़े होकर सबके साथ उस हुलिया को मिलाते हैं जिसके साथ मिलान बैठ जाता है उसको ग्रहण कर लेते हैं कि "यही है" ऐसा ग्रहण होते ही सभी विकल्प खत्म हो जाते हैं। यही बात आत्मतत्त्व के प्रति भी है इस नय से ऐसा है उस नय से ऐसा है इस प्रकार के विकल्पों को उठाते रहते हैं, परन्तु जब वस्तु स्वरूप सामने होना है समूचे विकल्प खत्म हो जाते हैं।

आत्म अनुभव करने के लिए पहले आगम से द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक रूप जैसी वस्तु है उसका उस प्रकार निर्णय करें। फिर कर्म और कर्म के फल में व नैमित्तिक भावों को पर जानकर अपने को ज्ञानस्वभाव द्वारा उनसे भिन्न करे, ज्ञान में भी जो ज्ञान के विशेष हैं उनको गौण करके अनन्त गुणों को द्रव्य में अभेद करके मात्र एक अकेले सामान्य ज्ञान के पिण्ड को आपही अभिन्नरूप अनुभव करें। जब ऐसा अपने को अपनेरूप अनुभव होता है तब रागादि-कर्मादि का तो पता ही नहीं चलता कोई विकल्प वहां पर नहीं रहते। "मैं हूँ" इस विकल्प को भी जगह नहीं है। शरीर से सर्वथा भिन्न रह जाता है यह अलग दिखाई देने लगता है यह आत्म अनुभव का फल है। जो मृत्यु में घटता है वह प्रत्यक्ष आप ही देख लेता है फल यह होता है कि मृत्यु भय विलय हो जाता है फिर भूल कर भी नहीं कहता कि शरीर में हूँ यह मेरा है। मतिश्रुत ज्ञान की पर्याय अपने अखण्ड चैतन्य स्वभाव को अपने में ज्ञेय बनाती है और अपने रूप आपही अनुभव करती है यह आत्मदर्शन दर्शनोपयोग का विषय है। अतः निर्विकल्प है। जब तक ऐसा अनुभव नहीं होता तब तक आत्मा सम्बन्धी विकल्पों को ही अनुभव न मान ले नहीं तो द्रव्य स्वभाव से वञ्चित रह जायेंगे। विकल्प भी बहुत गहरे होते हैं। विकल्पों में एक रूप होकर यह अपने को उसी रूप मानता आया है कहीं आत्मा के विकल्पों में एकरूप अपने को आत्म अनुभवी न मान बैठे। यही गलती कहीं द्रव्यलिंगी के बनती है वह पकड़े हुए तो आत्म विकल्प है परन्तु मान रहा है आत्म अनुभव ॥४७॥

अब समयसार का शब्दतः पाठ करते हैं—

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्—
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(**नयानाम्**) नयों के (**पक्षैः**) पक्षों के (**विना**) विना (**अचलम्**) निश्चल (**अविकल्प-**

भावम्) निर्विकल्प भाव को (**आक्रामन्**) प्राप्त करता हुआ (**निभृतैः**) निश्चल-एकाग्रचित्तवान् पुरुषों के द्वारा (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभावतः (**आस्वाद्यमानः**) आस्वादन अनुभवन-किया जाने वाला (**विज्ञानैकरसः**) विज्ञान रूप अद्वितीय रसवान् (**समयस्य**) समय-आत्मा-का (**यः**) जो (**सारः**) सार (**भाति**) शोभित होता है। (**सः**) वह (**एषः**) यह आत्मा (**भगवान्**) भगवान् (**पुण्यः**) पवित्र (**पुराणः**) पुराण (**पुमान्**) पुरुष है (**अयम्**) यही (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**अस्ति**) है (**अयम्**) यही (**दर्शनम्**) दर्शन (**अपि**) भी (**अस्ति**) है (**अथवा**) अथवा (**किम्**) बहुत कहने से क्या (**यत्**) जो (**किञ्चनपि**) कुछ भी (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह (**एकः**) एक ही (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**यः**) जो (**समयस्य-पदार्थस्य मध्ये सारः-उत्कृष्टः आत्मेत्यर्थः**) पदार्थों में उत्कृष्ट—अर्थात् आत्मा (**स्वयं-परप्रकाशाद्यभावेन**) स्वतः-पर-प्रकाश आदि पर पदार्थ की सहायता के विना (**भाति-शोभते**) शोभित होता है। (**नयानाम्-बद्धमूढादीनाम्**) बद्ध मूढ़ आदि विविध भेदों में विभक्त-नयों के (**पक्षैः-अङ्गीकारैः**) पक्षों के अङ्गीकार के (**विना-अन्तरेण**) विना (**निभृतैः-निश्चलैः-एकाग्रता-गतैर्योगिभिः**) निभृत-निश्चल अर्थात् एकाग्रता को प्राप्त योगियों के द्वारा (**आस्वाद्यमानः-ध्यानविषयीक्रियमाणः**) आस्वादन-अनुभवन-ध्यान का विषय किया जा रहा। (**अचलम्-निश्चलं यथा भवतितथा**) निश्चल जैसे हो वैसे (**अथवा अविकल्पभावस्य विशेषः**) अथवा निश्चल यह अविकल्प भाव का विशेषण है (**अविकल्प-भावम्-विकल्परहितभावम्**) विकल्पों से शून्य आत्मा के परिणाम को (**आक्रामन्-स्वीकुर्वन्**) स्वीकार करता हुआ (**पुनः-किम्भूतः ?**) फिर कैसा (**विज्ञानैकरसः-विज्ञानस्य-विशिष्टबोधस्य, एकरसः यः सः**) जो विशेष ज्ञान का-अद्वितीय रस है वह (**पुमान्-आत्मा**) आत्मा (**भगवान्-ज्ञानी**) ज्ञानवान् (**पुण्यः-प्रशस्तः**) पुण्य-प्रशस्त (**पवित्रो वा**) अर्थात् अति स्वच्छ पवित्र (**पुराणः-चिरन्तनकालीनः-पुरातन इत्यर्थः**) चिरकाल का अर्थात् बहुत पुराना (**अयं-आत्मा**) यह आत्मा (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-बोधरूप है क्योंकि (**ज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्य मानत्वात्**) ज्ञान से अतिरिक्त-भिन्न-रूप से उसकी उपलब्धि सम्प्राप्ति नहीं होती है। (**अपि-पुनः**) और (**अयम्**) यह-आत्मा (**दर्शनं-सत्तालोचनमात्रम् सम्यक्त्वं वा आत्मैव**) दर्शन-सामान्य अवलोकन रूप अथवा सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मा ही है। (**अथवा किं बहुना**) अथवा अधिक कहने से क्या ? (**विकल्पेन किं साध्यं ? न किमपि**) विविध विकल्पों-विचारों से क्या सिद्ध हो सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं (**यत्कि-ञ्चनचारित्रं सौख्यम्**) जो कुछ भी चारित्र या सुख है सो (**किञ्चित् एकोप्ययं अद्वितीय आत्मैव-आत्मव्य-तिरेकेण तेषां अनुपलभ्यमानत्वात्-आत्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात्**) एकमात्र आत्मा ही है क्योंकि आत्मा से पृथक् रूप में ज्ञान आदि की उपलब्धि नहीं होती है अथवा ज्ञान आदि स्वभावतः आत्म-स्वरूप ही हैं क्योंकि स्वरूप और स्वरूपवान् में एकत्व होता है ॥४८॥

भावार्थ—आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शन है, स्वयं ही सम्यग्ज्ञान है और स्वयं ही सम्यक्चारित्र है। आत्मा से जुदा न तो सम्यक्त्व है न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र ही है क्योंकि आत्मा में और उक्त सम्यग्दर्शनादि में कोई भी प्रदेश भेद नहीं है मात्र विवक्षा भेद कहा जाता है स्वरूप भेद से नहीं

क्योंकि गुण और गुणी में आगमिक दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत् द्रव्यदृष्टि से भी अभेद ही है।

पर्याय को गौण करके द्रव्य स्वभाव को मुख्य करके ज्ञान के विशेषों को पांचइन्द्रिय और मन से हटाकर ज्ञान स्वभाव के सन्मुख करके एक अभेद अखण्ड वस्तु को अपने रूप अनुभव करना है। अपने को चैतन्यरूप अनुभवन ही सम्यक्दर्शन है वही सम्यग्ज्ञान है और उसी रूप एक हो जाना लीन हो जाता ठहर जाना वही सम्यक्चारित्र है इसलिए आत्मा ही दर्शनज्ञान चारित्र स्वरूप है। समुद्र से लहर उठी वह उसी में समा गयी। पानी का बुदबुदा जहाँ से उठा था वहीं समा गया। नदी अलग थी तब तक नदी थी जब समुद्र में गिर गयी तब नदी नहीं रही समुद्र ही रहा ॥४८॥

अब आत्मा की गमनागमनता को सिद्ध करते हैं—

दूरं भूरि विकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(**तोयवत्**) जल के समान (**निजौघात्**) अपने विज्ञानघन समूह से (**च्युतः**) स्खलित-परिभ्रष्ट हुआ अतएव (**भूरिविकल्पजालगहने**) अत्यधिक विकल्पों के जाल रूप जंगल में (**दूरम्**) दूर तक (**भ्राम्यन्**) परिभ्रमण करता हुआ (**दूरादेव**) दूर से ही (**विवेकनिम्नगमनात्**) स्वपर भेद विज्ञानरूप ढालने वाले मार्ग में गमन करने से (**निजौघम्**) अपने विज्ञान घन समूह में (**बलात्**) बल पूर्वक (**नीतः**) लाया गया इसलिए (**तदेकरसिनाम्**) अद्वितीय आत्म रसास्वादियों को (**विज्ञानैकरसः**) एक विज्ञान रस वाला ही अनुभव में आने वाला ऐसा वह (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**आत्मानम्**) आत्मा को (**आत्मनि**) आत्मा-अपने-में (**एव**) ही (**आहरन्**) स्थिरता करता हुआ (**सदा**) हमेशा-सर्वदा (**गतानुगतताम्**) विज्ञान-घन स्वभाव में (**आयाति**) आ मिलता है।

सं० टी०—(**तदेकरसिनाम्-तस्मिन्,-आत्मनि एकः-अद्वितीयः रसः येषां तेषां योगिनाम्**) जिन योगियों की आत्मा में एक-अद्वितीय रस विद्यमान है उनका (**अयम्-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**आत्मा-चिद्रूपः**) आत्मा-चैतन्य स्वरूप जीव (**आत्मनि-एव-स्वस्वरूप एव**) अपने स्वरूप में ही (**गतानुगतताम्-गमनागमन-ताम्**) गमन आगमन पने को (**आयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है। (**सदा-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**आत्मानं-स्वस्वरूपम्**) अपने स्वरूप को (**आहरन्-स्वीकुर्वन्**) स्वीकार करता हुआ (**किम्भूतः ?**) कैसा-आत्मा (**विज्ञानैकरसः-विशिष्टबोधैक रसास्वादकः**) विशेषज्ञान आत्मज्ञान रूप-रस का आस्वादन करने वाला (**निजौघात्-विज्ञानैकरस समूहात्**) आत्मज्ञान रूप रस के समूह से (**च्युतः-परिच्युतः सन्**) अति भ्रष्ट होता हुआ (**भूरीत्यादिः—भूरि विकल्पानां जालं समहस्तदेवगहनं वनं-अवगाहयितुमशक्यत्वात् तस्मिन्**) अत्यधिक विकल्पों-मनोविचार धाराओं—के जालरूप जंगल में अर्थात् उन विकल्पों को जंगल की उपमा इसलिए दो गई है कि वे सहसा अवगाहन करने में नहीं आ सकते हैं। (**दूरं-आत्मस्वरूपादनिकटं**

यथाभवति तथा भ्राम्यन् भ्रमणं कुर्वन्) आत्मस्वरूप से बहुत दूर जैसे हो वैसे भ्रमण करता हुआ (**दूरादेव-स्वस्वरूपादसमीपत एव**) अपने स्वरूप की दूराई से ही (**बलात्-हठात् बहिर्द्रव्य-ममत्वादि परित्यागरूपात्**) बाह्य द्रव्यों में होने वाले "यह मेरा है और मैं इसका हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय के परित्याग रूप हठ से (**निजौघं-विज्ञानैक रस समूहम्**) विज्ञान-स्वपर भेद ज्ञानरूप-अद्वितीय रस के समूह को (**नीतः-प्राप्तः**) प्राप्त हुआ (**कुतः**) कैसे (**विवेक निम्नगमनात्-विवेकः-परात्मनोर्भेदेन विवेचकत्वम्, स एव निम्नं-गभीरं-गमनं-गतिः-तस्मात्**) पर-पुद्गल तथा आत्मा-जीव-द्रव्य का भेद रूप से जाननेरूप गहराई से (**बहिर्भ्रमन् विकल्पे विवेक वशात् स्वस्वरूपे**) बाहिर घूमता हुआ विकल्प में, भेदज्ञान के वश से अपने आत्मा के खास स्वरूप में (**आयाति**) आ जाता है (**किमिव**) किसके समान (**तोयवत्-यथा पानीयं स्वस्थाने गतानुगततां करोति निजौघाच्च्युतं वने भ्राम्यन्-निम्नगमनविशेष निजस्थानं प्राप्नोतीति, उक्ति लेशः**) जैसे पानी अपने उत्पत्ति स्थान में गमनागमन करता है किन्तु वही पानी अपने ही स्थान से बाहिर निकल कर जंगल में बहता हुआ नीची भूमि को प्राप्त कर अपने उत्पत्ति स्थान में आ मिलता है वैसे आत्मा के विषय में लगा लेना चाहिए यह इस वचन का अभिप्राय है ॥४६॥

भावार्थ—अज्ञान अवस्था में आत्मा अनात्मा को ही आत्मा मान बैठता है अतएव पर के साथ इसका ममत्व हो जाना स्वाभाविक ही है वही परनिष्ठ ममत्व इस आत्मा में अतिशय रूप से आकुलतोत्पादक विकल्पों को उत्पन्न करता रहता है वे विकल्प तब तक दूर नहीं हो सकते जब तक आत्मा, आत्मा को आत्मा रूप से नहीं जान लेता पर में आत्मत्व बुद्धि का होना ही अज्ञान है जो आत्मा में आत्मत्व बुद्धि के प्रकट होते ही सुज्ञान रूप में परिणत हो जाता है इसके होते ही तमाम विकल्प आत्मा से कपूर की भाँति उड़ जाते हैं और आत्मा निर्विकल्प हो परम निराकुलता रूप आनन्द का अनुभोक्ता हो जाता है ॥४६॥

अब विकल्प का स्वरूप बताते हैं—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**परम्**) केवल-सिर्फ (**विकल्पकः**) विकल्प करने वाला (**कर्ता**) कर्ता (**भवति**) होता है (**केवलम्**) सिर्फ (**विकल्पः**) विकल्प ही (**कर्म**) कर्म (**भवति**) होता है अतएव (**सविकल्पस्य**) विकल्प सहित आत्मा के (**जातु**) कभी (**कर्तृकर्मत्वम्**) कर्ता कर्मपना (**नश्यति**) नष्ट (**न**) नहीं होता है ।

सं० टी०—(**परं-केवलम्**) सिर्फ (**विकल्पकः-परद्रव्ये ममेवमिति, अभिनिवेशो विकल्पः स्वार्थे क प्रत्ययविधानात्**) आत्मा से भिन्न पुद्गलरूप पर द्रव्य में यह मेरा है इस प्रकार के अभिप्राय का नाम ही विकल्प है यहाँ विकल्प शब्द से विकल्परूप अर्थ में क प्रत्यय किया गया है जिससे विकल्प क रूप बनाया गया है । (**कर्ता-कर्मणां कर्तृत्वेन प्रतिभवति**) जो कर्मों का कर्तारूप से मालूम पड़ता है वह कर्ता है । (**केवलम्-परम्**) केवल-सिर्फ (**विकल्पः कर्म, भावकर्मणां विकल्पस्वरूपत्वात् कर्महेतुत्वाद्वा, विकल्पस्य**

कर्मत्वं, कारणे कार्योपचारात्) विकल्प कर्म हैं क्योंकि भावकर्म विकल्प स्वरूप-विकल्पमय होते हैं अथवा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों के कारण-उत्पादक होते हैं। यहां कारण में कार्य का उपचार करके विकल्प को कर्म संज्ञा दी गई है (**जातु-कदाचित्**) कभी (**सविकल्पस्य-देहिनः,**) विकल्पवान् आत्मा के (**कर्तृकर्मत्वम्**) कर्ता कर्मपना (**न नश्यति, न निरस्यति**) नष्ट-दूर-नहीं होता है ॥५०॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि विकल्पों का कर्त्ता बनता है और वे विकल्प उसके कर्म बन जाते हैं इसलिए उसका कर्त्ता कर्मपना कभी भी नहीं मिटता। जब तक रागादि भावों को अपने रूप मानता है तब तक कर्ता कर्म की पद्धति चलती रहती है। अज्ञानी विकल्प उठाकर ही परवस्तु को अपनी कर्त्ता है। विकल्प तो चला जाता है परन्तु वह आत्मा पर अपना संस्कार छोड़ जाता है वही संस्कार मजबूत होकर कर्मरूप परणित हो जाता है। विकल्प की मौजूदगी कर्म के सद्भाव को साबित कर रही है। ज्ञानी विकल्प का ज्ञाता है—वह उन विकल्पों का जानने वाला है परन्तु विकल्परूप नहीं है इसलिए वह ज्ञान का कर्त्ता है विकल्पों का कर्ता नहीं बनता। जब विकल्पों का कर्त्ता नहीं है तब जिसका आश्रय लेकर विकल्प हुआ उस वस्तु का भी कर्ता नहीं रहा। अपने ज्ञान स्वभाव को न जानने के कारण अज्ञानी अपने को विकल्प स्वरूप मानता है। अतः विकल्पों का कर्ता हो जाता है तब जिनका आश्रय लेकर विकल्प होता है उनका भी कर्त्ता हो जाता है ॥५०॥

अब कर्तृत्व तथा वेत्तृत्व का मौलिक भेद बताते हैं—

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति नहि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**करोति**) करता है (**सः**) वह (**केवलम्**) सिर्फ (**करोति**) करता है (**तु**) और (**यः**) जो (**वेत्ति**) जानता है (**सः**) वह (**तु**) तो (**केवलम्**) सिर्फ (**वेत्ति**) जानता है (**यः**) जो (**करोति**) करता है (**सः**) वह (**क्वचित्**) कभी (**हि**) निश्चय से (**न**) नहीं (**वेत्ति**) जानता है (**तु**) और (**यः**) जो (**वेत्ति**) जानता है (**सः**) वह (**क्वचित्**) कभी (**न**) नहीं (**करोति**) करता है।

सं० टीका—(**यः-पुद्गलः**) जो पुद्गल (**करोति-द्रव्यभावनोकर्म विदधाति**) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नौकर्म को बनाता है (**स-पुद्गलः**) वह पुद्गल (**केवलं-परम्**) केवल-सिर्फ (**करोति-कर्मादि सृजत्येव**) कर्म आदि को बनाता ही है (**तु-पुनः**) और (**यः-आत्मा**) जो आत्मा (**वेत्ति-स्वपर स्वरूपं परिच्छिनत्ति**) अपने और पर के स्वरूप को जानता है (**सः-आत्मा**) वह आत्मा (**केवलं-परम्**) सिर्फ (**वेत्त्येव-जानात्येव तु शब्दः एवार्थे**) जानता ही है यहां तु शब्द एव अर्थ में आया है जिसका तात्पर्यार्थ निश्चय करना है (**ननु यत्प्रधानं महदादि करोति तदेव वेत्ति नत्वात्मा-**) यहां कोई सांख्य मतानुयायी शंकाकार शंका करता है कि जो प्रधान महद् आदि को करता है वही जानता है आत्मा नहीं—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

अन्वयार्थ—(**प्रकृतेः**) प्रधान से (**महान्**) महान (**ततः**) महान् से (**अहङ्कारः**) अहङ्कार (**च**) और (**ततः**) अहङ्कार से (**षोडशकः**) सोलह (**गणः**) गण (**अपि**) और (**तस्मात्**) उस (**षोडशकात्**) सोलह से (**पञ्चभ्यः**) पांच से (**पञ्च**) पांच (**भूतानि**) भूत (**जायन्ते**) उत्पन्न होते हैं।

(**इति वचनात्**) इस वचन से (**एकस्यैव कर्तृत्व वेत्तृत्वोपपत्तेः**) एक ही के कर्तापन और वेत्तापन की सिद्धि होती है (**नत्वात्मनः किञ्चिदुपपन्नं तस्य सकल जगत्साक्षिकत्वात्**) किन्तु आत्मा के इनमें से कुछ भी सम्पन्न-सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह तो मात्र जगत् का साक्षात्कार करने वाला ही है।

(**इति चेत् तन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत्**) यदि ऐसी तुम्हारी शंका है तो वह ठीक नहीं है क्योंकि उस आत्मा में मिट्टी आदि की तरह अचेतनता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**अन्यथा पुमान्निष्फलः स्यात्**) यदि आत्मा को अचेतन मान लिया जाय तो पुमान् निश्फल सिद्ध होगा। (**चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतनेतरत्व विभागानुपपत्तिः**) और आत्मा को चेतन स्वभाव से भिन्न अचेतन स्वभाव वाला मान लेने पर चेतन और अचेतन रूप विभाग नहीं बन सकेगा (**अत आत्मनश्चेतनत्वं तस्याचेतनत्वम्**) इसलिए आत्मा को चेतन और पुद्गल को अचेतन मानना युक्तिसङ्गत है। (**होति यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**यः-पुद्गलः**) जो पुद्गल (**करोति-कर्मादिकम्**) कर्मादि को करता है (**सः-पुद्गलः**) वह पुद्गल (**क्वचित्-कदाचित्**) कहीं पर और किसी समय (**न वेत्ति-न जानाति**) नहीं जानता है (**तस्यसर्वथाऽचेतनत्वात्**) क्योंकि वह पुद्गल सर्व प्रकार से अचेतन है (**तु-पुनः**) और (**यः-आत्मा वेत्ति**) जो आत्मा जानता है (**सः-आत्मा**) वह आत्मा (**क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्काले**) किसी देश में एवं किसी काल में (**न करोति कर्मादि**) कर्म आदि को नहीं करता है। (**तस्यकर्माकर्तृकत्वात्**) क्योंकि—उस आत्मा के कर्मादि का कर्त्तापन नहीं है॥५१॥

भावार्थ—पुद्गल जड़ होने से जानता नहीं है परन्तु करता अवश्य ही है। आत्मा जानता ही है पर कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा स्वभावतः ज्ञाता ही है कर्ता नहीं है। जो कर्ता है वह कर्ता ही है ज्ञाता नहीं। और जो ज्ञाता है वह ज्ञाता ही है कर्ता नहीं है। इस तरह दोनों द्रव्यें अपने अपने विषय में पूर्णतया पृथक् एवं स्वाधीन हैं अपने-अपने कार्य में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

अब जानना और करना ये दोनों क्रियायें सर्वथा भिन्न हैं यह दिखाते हैं—

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च॥५२॥

अन्वयार्थ—(**करोतौ**) करोति क्रिया के होने पर (**अन्तः**) अन्तरङ्ग में (**ज्ञप्तिः**) ज्ञप्ति—जाननारूप क्रिया (**हि**) निश्चय से (**न**) नही (**भासते**) मालूम होती (**च**) और (**ज्ञप्तौ**) जाननेरूप क्रिया के होने पर (**करोतिः**) करने रूप क्रिया (**अन्तः**) अन्तरङ्ग में (**न**) नहीं (**भासते**) प्रतीत होती (**ततः**) इसलिए (**ज्ञप्तिः**) जानना (**च**) और (**करोतिः**) करना ये दोनों क्रियायें (**विभिन्ने**) सर्वथा पृथक् ही (**स्तः**) हैं।

(ततः) इससे **(ज्ञाता)** जो ज्ञाता है **(कर्ता)** वह कर्ता **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(इति)** यह **(स्थितम्)** सिद्ध हुआ ।।५२।।

सं० टीका—(ह्योति स्फटम्) हि यह अव्यय स्पष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह स्पष्ट है कि **(करोतौ-कर्तृक्रियायाम्-सत्याम्)** कर्ता की करने रूप क्रिया के होने पर **(अन्तः-मध्ये)** अन्तरङ्ग में **(ज्ञप्तिः-ज्ञातृता)** जानने वाले को जाननेरूप क्रिया **(न भासते-न प्रतिभासते)** नहीं प्रतिभासित होती **(च-पुनः)** और **(ज्ञप्तौ-ज्ञातृतायां प्रतिभासमानायाम्)** ज्ञप्ति—जो जाननेरूप क्रिया के प्रतिभासित होने पर **(अन्तः-अभ्यन्तरे)** अभ्यन्तर-भीतर-में **(करोतिः-आत्मनः कर्तृत्वभावः)** करोति-आत्मा का कर्तृत्व स्वभाव **(न भासते-न चकास्ति)** नहीं प्रकाशमान होता । **(ततः-कारणात्-परस्पर परिहारेण व्यवस्थानात्)** तिस कारण से अर्थात् परस्पर-आपस में एक दूसरे के परिहार जुदाई-की व्यवस्था होने से **(ज्ञप्तिः-ज्ञातृता)** जाननापन **(च-पुनः)** और **(करोतिः-कर्तृता)** करनापन **(विभिन्ने-पृथक्स्वभावे)** दोनों अलग-अलग स्वभाव हैं **(ततः परस्परं भिन्नस्वभावत्वात्)** अतः आपस में स्वभाव भेद होने से **(इति च स्थितम्-इति सुप्रतिष्ठितम्)** यह सिद्धान्त निर्बाध रूप से सिद्ध हुआ कि **(यो ज्ञाता चिद्रूपः स कर्ता न भवेदिति)** जो जानने वाला चैतन्यमय आत्मा है वह कर्ता नहीं हो सकता ।।५२।।

भावार्थ जो ज्ञान का मालिक है वह कर्म के कार्य का मालिक नहीं है जो कर्म का मालिक है वह ज्ञान का मालिक नहीं है । जिसने ज्ञान स्वभाव में अपना सर्वस्व स्थापित किया है वह कर्म का कार्य रागादि शुभ अशुभ भाव, विकल्प, शरीर की क्रिया, आठ कर्मों का सम्बन्ध और बाहर की कर्मकृत सामग्री का जानने वाला तो है परन्तु उनका कर्त्ता नहीं है । कर्त्ता उसे कहते हैं जो उनके साथ एकपने को प्राप्त हो । ज्ञानी ज्ञान के साथ एकपने को प्राप्त है इसलिए ज्ञानरूप ही है ज्ञाता ही है वह कर्म कर्मफल के साथ एकपने को प्राप्त नहीं है इसलिए वह कर्म और कर्मफल का कर्त्ता नहीं है । अगर वह कर्म और कर्मफल में अपनी श्रद्धा में एकत्व स्थापित करता है तब वह जड़रूप हो जाता है और ज्ञान के साथ एकत्वपना नहीं रहता इसलिए ज्ञाता न होकर कर्म का कर्त्ता हो जाता है । ज्ञानी ज्ञान का मालिक है इसलिए ज्ञानी तो जो कुछ कर्मकृत हो रहा है उसका ज्ञाता ही है किसी भी प्रकार से कर्ता नहीं है । ज्ञानी कभी कर्त्ता होता नहीं अज्ञानी का कर्त्तापना कभी मिटता नहीं । पर्याय में जो कुछ हो रहा है वह निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध से हो रहा है उसको निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध रूप मानता है इसलिए वह उसका कर्त्ता नहीं है । अज्ञानी पर्याय में जो कुछ हो रहा है उसके साथ उसका वैसा ही एकपना है जैसा द्रव्यदृष्टि में आत्मा का ज्ञान से एकपना है । अतः ज्ञानी उसका ज्ञाता है कर्त्ता नहीं है । याने उसका कर्म के साथ एकपना नहीं है ।।५२।।

अब कर्ता और कर्म में आपस में एकता का निरसन-खण्डन करते हैं—

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ-कर्मस्थितिः ।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नैष्पथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येषकिम् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(**कर्ता**) करने वाला आत्मा (**कर्मणि**) किये जाने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों में (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**तत्**) तिस कारण से (**कर्म**) ज्ञानावरणादि कर्म (**अपि**) भी (**कर्तरि**) करने वाले आत्मा में (**नियतम्**) निश्चित रूप से (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**यदि**) यदि (**द्वन्द्वं**) दोनों कर्ता और कर्म (**विप्रतिषिध्यते**) विशेष रूप से निषेध-निवारण-किये जाते हैं (**तदा**) तो (**कर्तृकर्मस्थितिः**) कर्ता और कर्म की व्यवस्था (**का**) क्या (**स्यात्**) होगी (**नकापीत्यर्थः**) अर्थात् कुछ भी नहीं। (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**ज्ञाता**) ज्ञाता—जानने वाला-आत्मा (**ज्ञातरि**) ज्ञाता-जानने वाले आत्मा में तथा (**कर्म**) कर्म (**कर्मणि**) कर्म ज्ञानावरण आदि में (**अवतिष्ठते**) रहता है (**इति**) यह (**वस्तुस्थितिः**) वस्तु-पदार्थ की-स्थिति-मर्यादा (**व्यक्ता**) व्यक्त-स्पष्ट (**अस्ति**) है। (**तथापि**) कर्ता और कर्म में परस्पर में भेद सिद्ध होने पर भी (**बत**) खेद है कि— (**एषः**) यह अनादिकालीन (**मोहः**) मोह (**रभसा**) वेग पूर्वक-शीघ्रता से (**नैष्पथ्ये**) नेपथ्य में (**कथम्**) क्यों (**नानटीति**) नृत्य कर रहा है।

सं० टीका—(**कर्मणि-ज्ञानावरणादिकर्मरूपपरिणत पुद्गल पर्यायि**) कर्म-ज्ञानावरण आदि कर्म रूप अवस्था को प्राप्त पुद्गल की पर्याय में (**कर्ता-आत्मनः कर्तृत्वम्**) आत्मा का कर्तापन (**नास्ति-नविद्यते**) नहीं है (**तत्-तस्मात्-कर्मणिकर्तृत्वाव्यवस्थानात्**) तिस कारण से—अर्थात् कर्म में आत्मा के कर्तापन का अभाव होने से (**नियतं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**यदि कर्मणि कर्ता न तर्हि कर्तरि कर्म भविष्यति ?**) यदि कर्म में कर्ता नहीं है तो कर्ता में तो कर्म होगा ऐसी आशंका होने पर (**तन्निषेधार्थमाह**) उस आशंका का निराकरण करने के हेतु कहते हैं (**कर्मापि-ज्ञानावरणादिपरिणतपुद्गलपर्यायः**) कर्म-ज्ञानावरण आदि रूप में परिणत पुद्गल द्रव्य की पर्याय (**कर्तरि-आत्मनि**) कर्ता-आत्मा में (**नास्ति-न विद्यते**) नहीं है। (**यदि-चेत्**) यदि (**विप्रतिषिध्यते-निराक्रियते**) निषेध-निराकरण करते ही (**किम्**) किसका (**द्वन्द्वम्-युग्मम्-कर्ताकर्मरूपम्**) दोनों कर्ता कर्म रूप जोड़े का (**तदा-तर्हि**) तो (**कर्तृकर्मस्थितिः-कर्तृकर्मणोः-आत्मा कर्ता पुद्गलपर्यायः कर्म इति व्यवस्था**) आत्मा कर्ता और पुद्गलपर्याय कर्म इस प्रकार की व्यवस्था क्या होगी (**न कापि**) अर्थात् कुछ भी नहीं। (**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**वस्तुस्थितिः-वस्तु-व्यवस्था**) वस्तु की व्यवस्था-मर्यादा (**व्यक्ता-स्पष्टा**) स्पष्ट हुई (**इतिकिम्**) यह कैसी ? (**ज्ञातरि-आत्मनि**) ज्ञाता आत्मा में (**ज्ञाता-ज्ञातृस्वभावः**) ज्ञाता स्वभाव है (**नान्यत्र न पुनः कर्तृस्वभावः**) कर्ता स्वभाव नहीं है (**सदा-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**कर्मणि-कर्मपर्याय परिणत पुद्गले**) कर्म अवस्था रूप में परिणमन को प्राप्त पुद्गल में (**कर्म-कर्मेति व्यपदेशः**) कर्म इस प्रकार का व्यवहार (**नान्यत्र ज्ञातरि**) ज्ञाता आत्मा में नहीं है (**बत इति खेदे**) वत-यह अव्यय खेद का वाचक है (**परस्परं तयोर्भिन्नत्वे वेदयत्याचार्यः**) आचार्य उन दोनों की भिन्नता-जुदाई को प्रकाशित करते हैं (**एष मोहः-ममत्वकारक मोहनीयं कर्म**) ममता का उत्पादक यह मोहनीय कर्म (**तथापि-परस्परमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वेऽपि**) तो भी अर्थात्—आत्मा और कर्म इन

दोनों में आपस में भिन्नता-जुदाई होने पर भी **(रभसात्-शीघ्रम्)** शीघ्र ही **(नैष्पथ्ये-निर्गतः पन्था मार्गो यत्र स्थाने तत् निष्पथम्-तस्य भावो नैष्पथ्यं तस्मिन्-अमार्गस्थाने इत्यर्थः)** जो स्थान मार्ग से निकल चुका है उसमें अर्थात् अयोग्य स्थान में **(किम्-कथम्)** क्यों **(नानटीति-अतिशयेन नाटयति-कर्मकर्तृ विकल्पानवकाशे मोहः कथं कर्तृकर्म विकल्पान् कारयतीति यावत्)** अतिशय रूप से नाच नचाता है अर्थात् जहाँ कर्म और कर्ता का विकल्प ही नहीं हो सकता वहां यह मोह कर्ता और कर्म के विकल्पों को क्यों कराता है यह इसका तात्पर्य है ॥५३॥

भावार्थ— जीव और पुद्गल ये दोनों स्वभावतः भिन्न-भिन्न दो द्रव्यें हैं। उनमें पहला जीव ज्ञान प्रधान चेतन द्रव्य है, और दूसरा पुद्गल पूरण गलन स्वभाव प्रमुख अचेतन-जड़-द्रव्य है। चेतन जीव अपने ज्ञानभाव का कर्ता है क्योंकि वह उसका खास स्वभाव है। उससे भिन्न जड़ पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है क्योंकि वह सहज ही जड़-अचेतन है। चेतन का कर्ता और कर्म चेतन ही होती है अचेतन नहीं। तथा अचेतन का कर्ता और कर्म अचेतन ही होता है चेतन नहीं। यह त्रिकाल अबाधित सहज सिद्ध सिद्धान्त है। इसके होते हुए भी मोह अपने प्रबल प्रभाव से तमाम संसारी प्राणियों को उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध प्रवृत्ति क्यों करा रहा है वही एक महान् खेद का विषय है जिससे मोही अज्ञानी जीव मोह के प्रभाव से अपने स्वरूप से च्युत हो आत्मा को ही पौद्गलिक कर्मों का करता मान बैठा है जो सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल ही नहीं प्रत्युत द्रव्य व्यवस्था का उत्थापक भी है ॥५३॥

अब ज्ञान ज्योति का उज्ज्वल प्रकाश प्रकट होता है—

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(चिच्छक्तीनाम्) चैतन्य शक्तियों के **(निकरभरतः)** समुदाय के भार से **(अत्यन्त गम्भीरम्)** अत्यधिक गहरा **(उच्चैः)** उन्नत रूप से **(व्यक्तम्)** स्पष्ट **(अन्तः)** अन्तरङ्ग में **(अचलम्)** निश्चल **(एतत्)** यह **(ज्ञानज्योतिः)** ज्ञान का तेज-प्रकाश **(तथा)** उस तरह से **(ज्वलितम्)** जाज्वल्यमान हुआ कि **(कर्ता)** अज्ञान में आत्मा कर्ता होता था **(कर्ता)** अब वह कर्ता **(न)** नहीं **(भवति)** होता है **(अपि)** और **(कर्म)** अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होना था **(कर्म)** वह पुद्गलों का कर्मरूप होना **(न)** नहीं **(भवति)** होता है। किन्तु **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप ही **(भवति)** रहता है **(च)** और **(पुद्गलः)** पुद्गल **(अपि)** भी **(पुद्गलः)** पुद्गल **(एव)** ही **(भवति)** रहता है।

सं० टीका - **(एतत्-प्रत्यक्षम्)** यह प्रत्यक्ष **(ज्ञानज्योतिः-बोधमहः)** ज्ञान का तेज **(तथा-तेनैव प्रकारेण)** उसी प्रकार से **(उच्चैः-अतिशयेन)** अतिशय रूप से **(अन्तः अभ्यन्तरे-उपलक्षणा-द्बाह्येऽपि)** अन्तङ्ग भीतर तथा उपलक्षण से बाह्य-बहिरङ्ग बाहिर में भी **(ज्वलितं-देदीप्यमानं-जातम्)** देदीप्यमान-प्रकाशमान

हुआ **(कुतः)** किससे **(चिच्छक्तीनां-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां, निकरमात्रः निकरोद्दिकवारानन्तभावः, तस्यभरः-अतिशयः तस्मात्)** ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों के अनन्तानन्त समूह से **(किम्भूतम्)** कैसा **(अचलं न चाल्यते यच्छक्तितः परैः-पुद्गलादिभिः, इत्यचलम्)** जिसकी शक्ति पर-पुद्गलादि पर द्रव्यों के द्वारा चलायमान नहीं की जा सकती **(पुनः-कीदृशम्)** फिर कैसा **(व्यक्तं-स्पष्टं-समस्तवस्तुप्रकाशकत्वात्)** समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से व्यक्त-स्पष्ट **(पुनः-अत्यन्तगम्भीरम्-अत्यर्थं-अतलस्पर्शं-ज्ञानशक्तेर-नन्तत्वात्)** फिर ज्ञानगुण के अनन्त होने के कारण जिसकी गहराई अथाह है **(तथेति कथम्)** तथा यह कैसे **(यथा कर्ता पुद्गलः, कर्ता, कर्मणां निष्पादकः)** जैसे पुद्गल कर्ता – कर्मों का बनाने वाला **(न)** नहीं **(भवति-जायते)** होता है **(अशुद्धं ज्ञानं निमित्तीकृत्य पुद्गलः कर्मणां कर्ता)** अशुद्ध ज्ञान को निमित्त बना-कर पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है **(अधुना ज्ञानज्वलनात् तच्छुद्धं जातम्)** इस समय ज्ञान के प्रकाश से वह अज्ञान शुद्ध हो चुका है अर्थात् समीचीन अवस्था को प्राप्त कर चुका है **(तथा)** वैसे ही **(यथा)** जैसे **(पुद्गलस्य कर्मकर्तृत्वेन निमित्तत्वं)** पुद्गल कर्म के करने में मात्र निमित्तरूप में कर्ता है **(निमित्ताभावे-नैमित्तिकस्याप्यभावात्)** क्योंकि निमित्त-कारण-का अभाव होने पर नैमित्तिक-कार्य का भी अभाव हो जाता है **(अपि-पुनः)** फिर **(कर्म-ज्ञानावरणादि कर्मस्वरूपेण नैव निश्चयेन न व्यवतिष्ठते समर्थे विनाशके विनाश्यस्याप्यवस्थानात् प्रकाशे सति तमोवत्)** ज्ञानावरणादि कर्म, कर्मरूप में निश्चय से नहीं स्थिर रहते क्योंकि समर्थ विनाशक के होने पर विनाश होने योग्य पदार्थ स्थिर नहीं रह सकता अर्थात् वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है जैसे प्रकाश के रहते हुए अन्धकार नहीं टिक सकता है **(च-पुनः)** और **(यथा-येन प्रकारेण ज्ञानम्, कर्म कलंक कलङ्कितं ज्ञानम्-ज्ञानम्-निर्मल ज्ञानम्)** जैसे कर्म मल से मलिन ज्ञान, निर्मल ज्ञान **(भवति-जायते)** हो जाता है **(अपि-पुनः)** फिर **(पुद्गलः-पुद्गलपरमाणुः)** पुद्गल परमाणु **(पुद्गल एव भवति न कर्मरूपेण परिणमति)** पुद्गल रूप में ही रहता है कर्मरूप से नहीं परिणमन करता है।

अन्वयार्थ---कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो जाता है यह न्याय सिद्ध नियम है। इस नियम के आधार पर से यह निर्णय करना युक्तिसङ्गत ही होगा कि मोह के सद्भाव में आत्मा का ज्ञान अज्ञान-मिथ्याज्ञान रूप से परिणत होता है। उस अवस्था में कर्ता कर्म की सन्तति चल पड़ती है। इसका अस्तित्व अज्ञान के साथ अविनाभाव रूप से सम्बद्ध है अतः जब तक अज्ञान रहता है तब तक वह कर्ता कर्म की सन्तति अविच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहती है। लेकिन जब अज्ञान का मूल कारणमोह अर्थात् पर में एकत्वपना विलीन हो जाता है तब वह अज्ञान भी ज्ञानरूप में परिणत हो उक्त सन्तति का निरोधक बन जाता है। ऐसी स्थिति में कर्ता कर्म का वेष धारण करने वाले जीव और पुद्गल अपने विकृत वेष को छोड़ कर स्वभाव में स्थित होकर मात्र ज्ञाता और ज्ञेय रूप में प्रतिभासित होने लगते हैं जो वास्तविकता की चरम सीमा है और है वस्तुतलस्पर्शी यथार्थता ॥५४॥

इति श्री समयसार पद्यास्याध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः।

इस प्रकार से इस समयसार पद्य की जिसका दूसरा नाम अध्यात्मतरङ्गिणी भी है—व्याख्या में दूसरा अङ्क समाप्त हुआ॥

तृतीयाऽङ्कः प्रारभ्यते

पुण्य पापाधिकारः

जीयादमृतहिमांशु प्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदम् ।
शुभचन्द्रदेवविवृतं सुकृतचयं कुन्दकुन्दपरम् ॥१॥

अन्वयार्थः—**(कुन्दकुन्दपरम्)** जिसके मूल कर्ता भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य हैं **(सुकृतचयम्)** और जो शुद्धोपयोग का समूह है **(शुभचन्द्रदेवविवृतम्)** और शुभचन्द्र भट्टारक ने जिसकी व्याख्या की है **(इदम्)** ऐसा **(अमृतहिमांशुप्रणीतम्)** श्री अमृतचन्द्राचार्य प्रणीत-विरचित **(इदम्)** यह **(अध्यात्मविशदपद्यम्)** अध्यात्म तत्त्व को विस्तृत करने नाला पद्यग्रन्थ अर्थात् अध्यात्मतरङ्गिणी नामक ग्रंथ **(जीयात्)** जयवान् हो ।

(अथैकमेवद्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति) अथ—कर्ताकर्म का खण्डन करने के पश्चात् एक ही कर्म दो पात्र बनकरके पुण्य और पाप के रूप में प्रवेश करता है—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भर मोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१॥

अन्वयार्थः—**(अथ)** कर्ताकर्म अधिकार के बाद **(सत्)** जो **(कर्म)** कर्म **(शुभाशुभभेदतः)** शुभ और अशुभ के भेद से **(द्वितयताम्)** दो भेदता को अर्थात् शुभ-पुण्य तथा अशुभ पापरूप को **(गतम्)** प्राप्त हुआ **(तत्)** उसी प्रसिद्ध कर्म को **(ऐक्यम्)** एकरूप **(उपानयन्)** करता हुआ **(ग्लपित-निर्भरमोहरजा)** जिसने महामोहरूप रज को विनष्ट कर दिया है ऐसा **(अयम्)** यह **(अवबोधसुधाप्लवः)** सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा **(स्वयम्)** स्वतः अपने आप **(उदेति)** उदय को प्राप्त होता है ।

सं० टीका—**(अथ-जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनन्तरम्)** जीव और अजीव में कर्ता और कर्म का निराकरण करने के पश्चात् **(अयम्)** यह **(बोधसुधाप्लवः ज्ञानामृतपूरः)** ज्ञानरूप अमृत का प्रवाह **(स्वयं-स्वत एव कर्मनिरपेक्षत्वेन)** स्वयं ही कर्म की अपेक्षा न रखते हुए **(उदयति-उदयं प्राप्नोति)** उदय को प्राप्त करता है **किंभूतः)** कैसा होता हुआ **(ग्लपितेत्यादिः ग्लपितं-विनाशितं निर्भरं-निर्विशेषं भुवनं-बिभर्ति धारयतीति निर्भरं समस्तमोहाक्रान्तत्वात् मोह एवरजो धूलिर्येन सः, अन्योऽपि सुधाप्लवः रेणुं ग्लपयति इत्युप मोयमेपयोः साम्यम्)** जिसने लोकमात्र को आक्रान्त करने, आच्छादित करने वाली मोहरूप धूलि का विनष्ट कर दिया है, अन्य अमृत का प्रवाह भी धूलि को नष्ट कर देता है इसलिए यहां उपमान उपनेय में समानता है ।

(तत्प्रसिद्धंकर्म) वह प्रसिद्ध कर्म **(ऐक्यं-एकताम्)** अभेदता को, एकरूपता को **(उपानयन्-कुर्वन्)** करता हुआ **(किम्भूतम्-तत्)** वह कैसा **(शुभाशुभ भेदतः पुण्यप्रकृतिः-शुभायुर्नामगोत्ररूपा, पापप्रकृतिः—घातिचतुष्काशुभायुर्नामगोत्ररूपा, तयोर्भेदतः-प्रभेदात्)** शुभ और अशुभ के भेद से अर्थात् शुभ आयु, शुभ नाम, और शुभ गोत्र रूप पुण्य प्रकृति तथा घातिकर्मचतुष्क अर्थात ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घातियाकर्म—अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र रूप पाप प्रकृति रूप दोनों के भेद-प्रभेद से **(द्वितीयताम्-द्विरूपताम्)** दो-रूपता को **(गतं-प्राप्तं-शुभाशुभभेदेन द्विधापि ज्ञाने भवतः, संसारदायकत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमितिभावः)** प्राप्त हुआ अर्थात शुभ कर्म और अशुभ कर्म के भेद से द्विकारता ज्ञान में भी होती है, तो भी संसार का बढ़ाने वाला होने से सभी समूह समान हैं अतएव कर्म एक ही है, यह इसका भावार्थ है ।।१।।

भावार्थ—आत्मिक भावों के भेद से कर्मों में भी भेद होना स्वाभाविक ही है क्योंकि कार्मण वर्गणाएँ जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं, वे कर्मरूप होने की स्वाभाविकी शक्ति तो रखती हैं या जब तक आत्मा के राग-द्वेषादि रूप परिणामों का निमित्त उन्हे नहीं मिलता तब तक वे स्वभाव रूप में ही स्थिर रहती हैं कर्मरूप में नहीं। उन्हें कर्मरूपता तो आत्मा के विकारी भावों के निमित्त से ही स्वयमेव अपने ही उपादान से प्राप्त हो जाती है। निमित्त के भेद से नैमित्तिक में भी भेद पड़ जाता है, यद्यपि आत्मा के भाव शुभ हैं तो उनके निमित्त से बँधने वाले कर्मों में भो शुभरूपता आये बिना नहीं रह सकती इसी प्रकार से यदि आत्मा के भाव अशुभ हैं, तो आने वाले कर्मों में भी अशुभता होगी ही, इस तरह से कर्मभी शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पापरूप होते ही हैं। इनकी इस द्विविधता को कोई भी कर्मसिद्धान्त निषेध नहींकरता यह विवेचना एकमात्र व्यवहारनय सापेक्ष हैं। जो व्यवहार-पर्याय विशेष को प्रमुखता प्रदान करता हुआ प्रवृत्त होता है वह व्यवहारनय या पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। परन्तु शुभ भी कर्म है और अशुभ भी कर्म है इस प्रकार कर्म सामान्य में दोनों एक हैं। जब सामान्य दृष्टि की कसौटी पर कसा जाता है तब वह निर्दोष प्रतीत होता है क्योंकि सामान्य दृष्टि तो मात्र अभेद को ही विषय करती है उसकी दृष्टि तो वस्तु पर ही जाती है वस्तुगत भेद प्रभेदों पर नहीं। ऐसी स्थिति में कर्म सामान्य में पुण्य और पाप का पार्थक्य प्रतीत नहीं होता। अतः आध्यात्मिकता का सच्चा उपासक सम्यग्ज्ञानी कर्म सामान्य को हेय मानता है, चाहे वह कर्म शुभ-पुण्य-रूप हो और चाहे अशुभ-पाप-रूप हो। उसकी बुद्धि में तो दोनों ही परिहार्य या विनाश्य हैं अतएव एक हैं दो नहीं ।।१।।

(अथ शुभाशुभकर्मणोर्दृष्टान्तेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन) इसके बाद शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप-कर्म की एकता को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं दो पद्यों से—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना,
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥२॥

अन्वयार्थ—(**शूद्रिकायाः**) शूद्रिका के (**उदरात्**) उदर से (**युगपत्**) एक साथ, एक ही समय में (**निर्गतौ**) निकले हुए अर्थात् जन्मे हुए (**एतौ**) ये (**द्वौ**) दोनों (**अपि**) ही (**साक्षात्**) साक्षात् प्रत्यक्ष रूप में (**शूद्रौ**) शूद्र (**स्तः**) हैं (**अपि च**) किन्तु (**जातिभेदभ्रमेण**) जाति के भेद के भ्रम से अर्थात् जो ब्राह्मण के यहाँ पला-पुषा वह अपने को ब्राह्मण मानने लगा और जो उसी शूद्रिका के यहाँ पला-पुषा वह अपने को शूद्र मानने लगा" इस भ्रम से (**चरतः**) दोनों अपने-अपने कुल का आचरण करने लगे उनमें (**एकः**) एक जो अपने को ब्राह्मण मान रहा है वह (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्**) ब्राह्मणत्व के अभिमान-अहंकार से (**मदिराम्**) मदिरा को (**दूरात्**) दूर से (**त्यजति**) छोड़ता है (**अन्यः**) दूसरा (**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) स्वयं (**शूद्रः**) शूद्र (**अस्मि**) हूँ (**इति**) ऐसा (**मत्वा**) मानकर (**नित्यम्**) हमेशा (**तया**) उस मदिरा से (**एव**) ही (**स्नाति**) स्नान करता है अर्थात् पवित्र मानता है।

सं० टी० --(**दृष्टान्तं तावद्वक्ति**) सर्वप्रथम दृष्टान्त कहते हैं (**यथा**) जैसे (**एकः कश्चित् सदाचरणः**) एक कोई सदाचारी पुरुष (**मदिरां-सुराम्**) मदिरा—शराब को (**दूरात्-आरात्**) दूर से (**त्यजति-परिहरति**) छोड़ता है (**कुतः**) कैसे (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्-एवं 'वयं ब्राह्मणाः, ब्राह्मणैस्तु सुरा न पेया' ईदृग्विधाभिप्रायस्तस्मात्**) ब्राह्मणपन के अहंकार से अर्थात् हम ब्राह्मण हैं जो ब्राह्मण हों उन्हें मदिरा नहीं पीना चाहिए इस तरह के अभिप्राय से (**अन्यःकश्चिदसदाचरणः**) दूसरा कोई दुराचारी (**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) स्वतः खुद-ब-खुद (**शूद्रः**) शूद्र (**अस्मि**) हूँ (**इति कृत्वा**) ऐसा करके अर्थात् ऐसा मान करके (**तयामदिरया**) उस मदिरा से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर, हमेशा (**स्नाति स्नानं करोति**) स्नान करता है (**पानस्य का वार्ताः**) पीने की तो बात ही क्या ? (**अतिशयालङ्कारोऽयम्**) यह अतिशयालङ्कार (**अस्ति**) है (**द्वावपिएतौ-सदसच्चारिणौः ब्राह्मण-शूद्रौ**) सदाचारी और असदाचारी ये दोनों ब्राह्मण और शूद्र (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष रूप में (**शूद्रौ-अवरवर्णौ**) शूद्र हैं अर्थात् नीच वर्ण हैं **शूद्रत्वमेतयोः, कथम्**) इन दोनों में शूद्रपन कैसे (**अस्ति**) है (**यतः-यस्मात्**) जिस कारण से (**युगपत्-सकृत्**) एक साथ (**शूद्रिकायाः-शूद्रभार्यायाः**) शूद्र की भार्या—स्त्री के (**उदरात्-जठरात्**) उदर से (**निर्गतौ-निष्क्रांतौ**) निकले-जन्मे हैं (**अथ च-अनु च पश्चादित्यर्थः**) पश्चात् (**जातिभेदभ्रमेण-जातेः सन्तानस्य भेदः तस्य भ्रमः भ्रान्तिःतेन**) जाति-सन्तान के भेद की भ्रान्ति से (**एको वेत्त्यहंद्विजः**) एक जानता है कि मैं द्विज-ब्राह्मण (**अस्मि**) हूँ (**एको वेत्त्यहं शूद्रः**) दूसरा जानता है मैं शूद्रः हूँ (**इत्यभिप्रायातः**) इस अभिप्राय से (**चरन्तौ भिन्नाचारमाचरतः**) भिन्न आचार · जुदे-जुदे आचरण को पालन करते हुए (**तथा**) वैसे ही (**एक-पुद्गलनिष्पन्ने शुभाशुभकर्मणी**) एक पुद्गल से निष्पन्न-बने हुए शुभ और अशुभ कर्म एक (**स्तः**) हैं (**एकंशुभं-स्वर्गादिदायि**) एक शुभ-पुण्य-कर्म स्वर्ग को देने वाला है (**अशुभमपरं नरकगत्यादिदायि**)

और दूसरा अशुभ-पाप-कर्म नरक गति आदि को देने वाला है ऐसा भेद किया जाता है परन्तु (**पुनः उभे बन्धनहेतुके**) दोनों ही बन्ध के कारण हैं ॥२॥

भावार्थ—कर्मत्व-कर्म सामान्य की ओर लक्ष्य देने से कर्म में कोई भेद नजर नहीं आता है यह तो वास्तविकता है। कर्म की उत्पत्ति का मूल कारण तो आत्मा का विभाव परिणाम ही है, जो मोह जनित होने से पापरूप ही है कारण कि मोहनीय कर्म आत्मा के अनुजीवी गुण का घातक है, अतएव पापरूप ही है पुण्यरूप नहीं। व्यवहार से थोड़े समय के लिए कर्म के पुण्य और पाप ये दो भेद माने भी गये, तो भी कर्म के कार्य की ओर दृष्टि डालने में कर्म एक ही हैं क्योंकि कर्म का एकमात्र कार्य आत्मा को चतुर्गतिपरिभ्रमणरूप संसार में रोक रखने का ही है अन्य कुछ भी नहीं अतः कर्म एक ही है दो नहीं ॥२॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलुबन्ध हेतुः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हि) **निश्चय से** (**हेतुस्वभावावानुभवाश्रयाणाम्**) हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय के (**सदा**) हमेशा (**अभेदात्**) अभेद—भेद न होने से (**कर्मभेदः**) कर्म में भेद (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**तत्**) तिस कारण से—अर्थात् कर्म में भेद न होने से (**बन्धमार्गाश्रितम्**) बन्ध के मार्ग के आश्रित है (**बन्ध हेतुः**) बन्ध का कारण (**अस्ति**) है। (**कर्म**) अतः कर्म (**एकम्**) एक (**इष्टम्**) इष्ट (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**हीतिस्फुटम्**) हि यह अव्यय स्फुट अर्थ में आया है अर्थात् यह बात स्फुट है कि (**कर्मभेदः—शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो**) शुभ और अशुभ प्रकृति रूप कर्म में भेद (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**कुतः**) किसे (**हेत्वित्यादि-हेतुः—कारणम्, स्वभावः—स्वरूपम्, अनुभवः अनुभूतिः, आश्रयः, द्वन्द्वः, तेषाम्**) हेतु-कारण, स्वभाव-स्वरूप, अनुभव-अनुभूति और आश्रय इन चारों का द्वन्द्व समास हुआ है अर्थात् इन चारों के (**सदाप्यभेदात्**) हमेशा ही अभेद होने से (**शुभाशुभयोः केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वम्**) शुभ और अशुभ दोनों एक ही हैं क्योंकि दोनों का कारण एकमात्र अज्ञानमयभाव है। यह हेतु-कारण की अपेक्षा से कर्म में एकत्व है।

(**केवलपुद्गलमयहेतुत्वात् तयोः स्वभावाभेदः**) शुभ और अशुभ इन दोनों में स्वभाव भेद नहीं है कारण कि दोनों पुद्गल-स्वरूप हैं अतः स्वभाव की अपेक्षा से भी कर्म में एकत्व है।

(**शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवल पुद्गलमयः, इत्यनुभवाभेदः**) शुभ और अशुभ रूप फल का पाक-अनुभव भी पुद्गलमय है इसलिए अनुभव की अपेक्षा से भी कर्म एक ही है।

(**केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेदः**) शुभ और अशुभ दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही एकमात्र पुद्गलरूप बन्धमार्ग के आश्रित हैं, यह आश्रय की अपेक्षा से कर्म में अभेद-एकत्व है। (**इतिचतुर्विधस्वभावाभेदादैक्यम्**) इस प्रकार से चारों प्रकार के स्वभाव में कोई भेद न होने

से कर्म एक ही है (**तत्—तस्मात् चतुर्भिः प्रकारैरेकत्वसम्भवात्**) तिस कारण से अर्थात् पूर्वोक्त चारों प्रकार से कर्म में एकत्व की सिद्धि होने से (**कर्म**) कर्म (**एकम्**) एक (**इष्टम्-पूर्वाचार्यैर्मतं कथितमित्यर्थः**) है अर्थात् पूर्वाचार्यों के द्वारा ऐसा माना या कहा गया है (**स्वयं-स्वतः**) स्वभाव से-अपने-आप (**खलु इति-निश्चितम्**) खलु यह निश्चित अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है अर्थात् निश्चय से (**समस्तं—शुभाशुभं कर्म**) शुभ और अशुभ रूप समस्त कर्म (**बन्धहेतुः—चतुर्विधबन्धानां कारणम्**) चारों प्रकार के बन्धों का कारण है (**हेतुर्गर्भितविशेषणमिदम्**) यह हेतुर्गभित विशेषण है। (**पुनःकिम्भूतम्**) फिर कैसा (**बन्धमार्गाश्रितं—मोक्षबन्धमार्गौ-द्वौ तत्र बन्धनंदशासमाश्रितम्**) मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग ये दो मार्ग हैं, इनमें बन्धन दशा कर्म के आश्रित है ॥३॥

भावार्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों से भी कर्म में भेद नहीं आता है। कारण कि एक हेतु को छोड़कर शेष तीनों ही पुद्गल स्वरूप हैं और कर्म भी स्वयं पुद्गलमय है। अतः कर्म में भेद न होने से कर्म एक ही है। रही हेतु की बात, सो हेतु आत्मा का विकारी अज्ञानमय भाव है। आत्मा के अज्ञानमय विकारीभाव के निमित्त से ही पुद्गलकर्म वर्गणाएँ कर्मत्व दशा को प्राप्त होती है। अतः कारण के एक होने से कर्म रूप कार्य भीएक ही होगा दो नहीं। इस भांति कर्म में एकता ही सिद्ध होती है अनेकता नहीं।

(**अथ सर्वस्यापि कर्मणोबन्ध हेतुत्वमुशन्ति**) अब सभीकर्म बन्ध के हेतु हैं, यह कहते हैं—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥४॥

अन्वयार्थ—(**सर्वविदः**) सर्वज्ञ देव (**यत्**) जिस कारण से (**सर्वम्**) सभी (**कर्म**) कर्मों को (**अविशेषात्**) सामान्य रूप से (**बन्धकारणम्**) बन्ध का हेतु (**उशन्ति**) कहते हैं (**तेन**) तिस कारण से (**सर्वम्**) समस्त कर्म समूह का (**प्रतिषिद्धम्**) निषेध किया है (**ज्ञानम्**) और ज्ञान को (**एव**) ही (**शिवहेतुः**) मोक्ष का कारण (**विहितम्**) कहा है।

सं० टी०—(यत्—यस्माद्धेतोः) जिस कारण से (**उशन्ति-वदन्ति, प्रतिपादयन्तीत्यर्थः**) कहते-प्रतिपादन करते हैं (**के**) कौन ? (**सर्वविदः-सर्वज्ञभट्टारकाः जिनेन्द्र इत्यर्थः**) सर्वज्ञभट्टारक अर्थात् जिनेन्द्र देव (**किम्**) किसको (**सर्वमपि-समस्तमपि**) समस्त—सभी (**कर्म-शुभाशुभं-कर्मं**) शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप-कर्म को (**बन्धसाधनम्—चतुर्विध कर्मबन्धकारणम्**) चार प्रकार के कर्म बन्ध का कारण (**कुतः**) कैसे (**अविशेषात्—शुभाशुभयोः कर्मबन्धनकारणत्वाभेदात्**) सामान्य रूप से अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म, कर्मबन्धन के प्रति कोई भेद नहीं रखते क्योंकि दोनों ही आत्मा को संसार-बंधन में डाल रखते हैं (**तेन-कारणेन**) तिस कारण से (**तत्-कर्म**) वह कर्म (**सर्वमपि-समस्तमपि शुभाशुभम्**) सारा का सारा चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ (**प्रतिषिद्धं-निराकृतम्**) निराकरण को प्राप्त हुआ (**तर्हिकिमावृतम्**)

तो कौन आदर को प्राप्त हुआ ? (**ज्ञानमेव-भेदबोधएव**) ज्ञान ही-स्वपर भेद विज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही (**शिवहेतुः शिवस्य—मोक्षस्य हेतुः कारणम्**) जिसे मोक्ष का कारण (**विहितं-कथितम्**) कहा (**कैः**) किन्होंने (**परमागमकोविदैः**) परमागमज्ञ-गणधरादि आचार्यों ने।

भावार्थ—सर्वज्ञ प्रभु की दिव्य वाणी ने कर्ममात्र को बन्ध का कारण कहा है, और जो बन्ध का संसार में आत्मा को रोक रखने का कारण है वह सर्वथा त्याज्य है। मोक्ष का कारण तो एकमात्र आत्मज्ञान ही है, अतएव वही उपादेय—है।

(**अथ कर्ममार्गनिराकरणेमोक्षावाप्तिं विचकयति**) अब कर्ममार्ग के निराकरण से मोक्ष की प्राप्ति को प्रकट करते हैं—

निषिद्धेसर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणिकिल।
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने (ते) ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥५॥

अन्वयार्थ - (**किल**) निश्चय से (**सर्वस्मिन्**) सभी (**सुकृतदुरिते**) पुण्य और पापरूप (**कर्मणि**) कर्म के (**निषिद्धे**) निषेध करने पर (**नैष्कर्म्ये**) निष्कर्म अवस्था में (**प्रवृत्ते**) प्रवृत्त मान (**खलु**) निश्चय से (**मुनयः**) मुनिजन (**अशरणाः**) शरणरहित (**न**) नहीं (**सन्ति**) हैं। (**तदा**) निष्कर्म अवस्था में (**एषाम्**) इन मुनि महात्माओं को (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञाने**) ज्ञान में (**प्रतिचरितम्**) प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ (**शरणम्**) शरण-सहारा (**अस्ति**) है (**तत्र**) उस ज्ञान में (**निरताः**) निमग्न हुए (**एते**) ये मुनि महात्मा (**स्वयम्**) स्वतः—अपने आप (**परमम्**) सर्वोपरि श्रेष्ठ (**अमृतम्**) आत्मिक अमृत का (**विदन्ति**) स्वाद लेते हैं।

सं० टी०—(**किल-इति अगमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगम की उक्ति में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम में कहा है (**खलु-इति निश्चितम्**) खलु यह अव्यय निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चित रूप से (**मुनयः मननमात्र, भावमात्र, तया मुनयः—यतीश्वराः**) एकमात्र आत्मा के स्वरूप का मनन-चिंतन करने से मुनि अर्थात् यतीश्वर (**अशरणाः—शरण्यपथ वर्जिताः**) रक्षण मार्ग से रहित (**न सन्ति—न जायन्ते**) नहीं होते हैं (**क्व सति**) किसके होने पर (**सर्वस्मिन्—समस्ते**) समस्त (**सुकृत दुरिते—शुभाशुभे**) शुभ-पुण्य और अशुभ-पापरूप (**कर्मणि-प्रकृतौ**) कर्म-प्रकृति के (**निषिद्धे-निवृत्ते सति**) निषेध करने पर (**पुनः नैष्कर्म्ये-कर्मणः निष्कान्तं निष्कर्मं, तस्य भावः नैष्कर्म्यं तस्मिन्**) कर्मशून्यता के (**प्रवृत्ते-कर्मातीतेपथि विजृम्भिते सति**) कर्म से रहित मार्ग के वृद्धिगत होने पर (**हीति-व्यक्तम्**) हि यह अव्यय व्यक्त अर्थ में आया है अर्थात् यह बात व्यक्त-स्पष्ट है कि (**तदा कर्मरोधादिसमये**) कर्म का निषेध करने के समय (**एषां योगिनाम्**) इन योगियों का (**ज्ञानं—भेदबोध एव**) भेदज्ञान ही (**शरणं-आश्रयः**) शरण-आश्रय (**अस्ति**) है (**किम्भूतम्-ज्ञानम्**) कैसा ज्ञान (**ज्ञाने-चेतनास्वभावे**) चेतना-स्वरूप ज्ञान में (**प्रतिचरितं-प्रवृत्तं व्यापृतमित्यर्थः**) प्रवृत्त हुआ विशेष रूप से निमग्न हुआ (**एते-योगिनः**) ये योगी-

मुनिजन (**स्वयम्-प्रयासमन्तरेण**) बाह्यक्रियाकाण्ड रूप प्रयास—प्रयत्न के बिना ही (**विन्दन्ति—लभन्ते**) प्राप्त करते हैं (**किम्**) क्या (**परमम्—उत्कृष्टम्, परा-उत्कृष्टा-मा-ज्ञानाद्यतिशयलक्षणा लक्ष्मीर्यत्र तत्पर-ममितिवा**) जिसमें ज्ञानादि अतिशय लक्षण वाली लक्ष्मी विद्यमान है ऐसे (**अमृतम्-अपवर्गम्**) अमृत-अप-वर्गमोक्ष को (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए (**तत्र-तस्मिन्**) उस (**ज्ञाने**) ज्ञान के (**ज्ञाते**) जानने पर (**ज्ञाने इति पदमत्रग्राह्यं वा**) अथवा ज्ञान इस पद को यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिये अर्थात् उक्त भेदविज्ञान के जानने में (**निरताः निश्शेषभासक्ताः सन्तः**) पूर्णरूप से निमग्न होते हुए ।।५।।

भावार्थ—जब कर्ममात्र का निषेध होने से शुभ प्रवृत्ति का भी निषेध हो जाता है। तब शुभाचरण में प्रवृत्त साधुजन क्या करें ? किस रूप में प्रवृत्त करें ? यह एक समस्या साधुजनों के सामने उपस्थित होती है। जिसका समाधानात्मक निराकरण अध्यात्म योगी आचार्य ने अध्यात्मतर से समन्वित सुयुक्ति-पूर्ण ढंग से यही किया है कि शुभ प्रवृत्ति से मुक्ति सम्भव नहीं है। प्रत्युत् मुक्ति का विरोधी बन्ध ही पूर्ण रूपेण सम्भावित है। अतः उस शुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति करते हुए आत्मत्व बोध में ही साधु को निरत रहना चाहिए। उससे ही बन्ध का विरोधी मोक्ष तत्त्व सिद्ध होगा। अतः साधु पुरुषों की स्थिरता का आधार एकमात्र ज्ञान ही है। बस, उसी में ही साधु पुरुषों को संलग्न रहने की नितान्त आवश्यकता है, शुभ प्रवृत्ति में नहीं। शुभ प्रवृत्ति तो बन्ध का ही मार्ग है। मोक्ष का मार्ग नहीं है। मोक्ष का मार्ग तो स्वानुभूति अर्थात् ज्ञानानुभूति में स्थिरता है। बिना ज्ञानानुभूति की लीनता के कथमपि मुक्ति सम्भव नहीं है।

(**अथ ज्ञानस्यशिवहेतुत्वं विध्यापयति**) अब ज्ञान मोक्ष का कारण है यह विधान करते हैं—

यदेतद्‌ ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इतितत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ।।६।।

अन्वयार्थ—(**यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति**) जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव-रूप से और अचल रूप से ज्ञानस्वरूप परिणमता हुआ भासित होता है (**अयं शिवस्य हेतुः**) वही मोक्ष का हेतु है (**यतः**) क्योंकि (**तत् स्वयम् अपि शिवः इति**) वह स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है (**अतः अन्यत्**) उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है (**बन्धस्य**) वह बन्ध का हेतु है (**यतः**) क्योंकि (**तत् स्वयम् अपि बन्धः इति**) वह स्वयमेव बन्ध-स्वरूप है (**ततः**) इसलिए आगम में (**ज्ञानात्मत्वं भवनम्**) ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात्त (**अनुभूतिः हि**) अनुभूति करने का ही (**विहितम्**) विधान है।

सं० टी०—(**ध्रुवं-निश्चितम्**) निश्चित (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**शिवस्य सर्व कल्याणरूपस्य मोक्षस्य**) सर्व कल्याणरूप मोक्ष का (**भवनं-गृहम्-स्थानमितियावत्**)

भवन-गृह अर्थात्—स्थान (**किम्भूतम्**) कैसा (**अचलं-निश्चलं-अनन्तकालस्थायित्वात्**) अचल अर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त स्थिर रहने से निश्चल (**स इत्यध्याहारः**) स इस पद का अध्याहार है अर्थात् वह (**ज्ञानात्मा-ज्ञानमयात्मा**) ज्ञान स्वरूप आत्मा (**आभाति-चकास्ति-शोभते**) शोभा पाता है (**अपि-पुनः**) फिर (**यतः-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**अयं-ज्ञानात्मा**) यह ज्ञानी आत्मा (**स्वयं-स्वभावतः**) स्वयं-स्वभाव से (**हेतुः-शिवस्य कारणम्**) मोक्ष का कारण है (**तत् तस्मात्-स्वयं शिवात्मकत्वात्-शिवहेतुत्वाच्च शिव इति कीर्तितः**) तिस कारण से अर्थात् स्वयं शिवरूप होने से तथा शिव का कारण होने से शिव इस नाम से कहा गया है (**तथाऽज्ञानमभिधत्ते**) वैसे ही अज्ञान को कहते हैं (**यतः-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**अतः-ज्ञानात्मनः**) इस ज्ञान स्वरूप आत्मा से (**अन्यत्-भिन्नम्-अज्ञानात्मा**) भिन्न-अज्ञानमय आत्मा (**बन्धस्य-कर्मबन्धस्य**) कर्मबन्ध का (**भवनम्**) भवन (**आभाति**) मालूम होता है (**अपि-पुनः**) फिर (**स्वयं-स्वतः**) स्वभाव से (**बन्धस्य हेतुरपि भवतादम्**) बन्ध का हेतु भी होता है यह (**तत् तस्मात् बन्धात्मकत्वात् बन्धहेतुत्वाच्च बन्ध इति**) तिस कारण से अर्थात् बन्धस्वरूप होने से तथा बन्ध का कारण होने से बन्ध ऐसा (**कथ्यते**) कहा जाता है (**अज्ञानात्मा बन्ध इति कीर्तितः**) यह अज्ञानी आत्मा बन्ध कहा गया है (**हीति-स्फुटम् हि**) यह अव्यय स्फुट का वाचक है (**ततः-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**स्वं-स्वकीयं**) स्वरूप रूप (**भवनं-प्रवर्तनम्**) होना-प्रवृत्त करना (**ज्ञानात्मज्ञानस्वरूपम्**) ज्ञान स्वरूप आत्मा को ज्ञान स्वरूप (**विहितं-प्रतिपादितं**) प्रतिपादन किया गया है (**परमार्थपण्डितैः**) सम्यग्ज्ञानी पण्डितों के द्वारा (**किम्भूतम्**) फिर कैसा (**अनुभूतिः-स्वस्यानुभवनम्-अनुभूतिः**) अपने स्वरूप का अनुभव करना ही अनुभूति है। (**अजहल्लिङ्गवृत्तित्वात्पुल्लिङ्गे**) अजहल्लिङ्ग वृत्ति अर्थात् लिङ्ग को नहीं छोड़ने रूप वृत्ति होने के कारण पुल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है ॥६॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन मोह सहचर ज्ञान अज्ञान कहा जाता है। उस अज्ञान से युक्त आत्मा भी अज्ञानमय ही कहा जाता है। अतः अज्ञानी आत्मा स्वयं ही बन्ध का कारण एवं स्वयं ही बन्धस्वरूप है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से कहना युक्तियुक्त ही है। पर वही आत्मा जब मिथ्यादर्शन मोह का क्षय, उपशम, या क्षयोपशम कर सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब उसे ज्ञानी या ज्ञानमय आत्मा कहते हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान सम्पन्न आत्मा स्वयं ही मोक्ष का कारण या स्वयं ही मोक्ष स्वरूप है। उक्त प्रकार के सम्यग्ज्ञानी आत्मा को ही आत्मानुभूति या ज्ञानानुभूति होती है क्योंकि वह यथार्थतया ज्ञानरूपता या आत्मस्वरूपता को प्राप्त हुआ है अतएव तन्मयता ही उसका खास स्वरूप है वही उसकी साक्षात् आत्मानुभूति या ज्ञानानुभूति है।

(**अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते**) अब ज्ञान स्वयं ही चारित्र स्वरूप है यह वर्णन करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) ज्ञान का (**सदा**) हमेशा (**ज्ञानस्वभावेन**) ज्ञान स्वरूप से (**भवनम्**) होना-

रहना (**वृत्तम्**) चारित्र (**अस्ति**) है क्योंकि वह (**एक द्रव्यस्वभावत्वात्**) एक द्रव्य का स्वभाव है (**तत्**) तिस कारण से (**तदेव**) वह ही (**मोक्षहेतुः**) मोक्ष का कारण (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**सदा-निरन्तरम्**) सदा-निरन्तर-हमेशा (**वृत्तं-चारित्रम्**) चारित्र (**ज्ञानस्वभावेन-रागादिपरिहरण लक्षण बोधस्वरूपेण**) रागादि से रहित ज्ञान स्वभाव से (**ज्ञानस्य-भेदबोधस्य**) भेदज्ञान का (**आत्मनो वा**) अथवा आत्मा का (**भवनं-प्रवर्तनम् अवस्थानं वा**) होना अर्थात् तद्रूप प्रवर्तना या अवस्थित रहना है (**स्वात्मनि स्थितिः-आत्मनिचारित्रमितिवचनात्**) क्योंकि आत्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही चारित्र है, ऐसा आगम का वचन है। (**ननु ज्ञानचारित्रयोरेकत्वं कथं तयोः परस्परं भिन्नत्वात्**) यहाँ शङ्का होती है कि ज्ञान और चारित्र ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं क्योंकि दोनों आपस में भिन्न हैं (**इतिचेत्सत्यम्**) यदि ऐसी शङ्का है तो वह ठीक है, उसका उत्तर है कि (**एकद्रव्य स्वभावत्वात् –**) एक द्रव्य के स्वभाव होने से वे दोनों एक हैं (**एकद्रव्यम्—आत्मद्रव्यम्**) एकद्रव्य—अर्थात् आत्मद्रव्य (**ज्ञानचारित्रयोस्तस्यस्वभावत्वात्**) ज्ञान और चारित्र—ये दोनों उसी आत्मा के स्वभाव हैं, इसलिए एक हैं। (**ज्ञान-भवन तत्स्वभावेन भवनात्, ज्ञानपूर्वकत्वातस्य,**) क्योंकि ज्ञान का होना ज्ञानस्वभाव से सम्भव है और वह—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है, (**तत्—तस्माद्धेतोः**) तिस कारण से (**तदेव—निश्चयचारित्रमेव**) निश्चय चारित्र ही (**नान्यत्**) दूसरा नहीं (**मोक्षहेतुः-मोक्षकारणम्**) मोक्ष का कारण है ॥७॥

भावार्थ—आत्मा का आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना ही चारित्र है। ऐसा चारित्र ज्ञान पूर्वक ही हो सकता है। अतएव सम्यक् ज्ञानपूर्वक होने वाला चारित्र ही निश्चय चारित्र है और वही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है ॥७॥

(**अथान्याभिमत क्रियाकाण्डस्य वृत्तत्वं निरूणद्धि**) अब अन्य मतावलम्बियों द्वारा अभिमत-स्वीकृत-क्रियाकाण्ड को-चारित्रता का निषेध करते हैं—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**कर्मस्वभावेन**) कर्म-व्रताचरण रूप क्रिया से (**यत्**) जो (**वृत्तम्**) चारित्र (**भवति**) होता है (**तस्मिन्**) उसमें (**ज्ञानस्य**) ज्ञान का (**भवनम्**) होना (**हि**) निश्चय से (**न**) नहीं (**अस्ति**) है क्योंकि (**तत्**) वह कर्म-व्रताचरण रूप क्रियाकाण्ड (**द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्**) आत्मा से भिन्न पुद्गल दव्य का स्वभाव है अतएव (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म (**मोक्षहेतुः**) मोक्ष का हेतु-कारण (**न**) नहीं **अस्ति**) है।

सं० टीका—(**कर्मस्वभावेन-व्रततपः प्रभृतिकर्म-क्रियाकाण्डं तत्स्वभावेन**) व्रत तप आदि क्रियाकाण्ड रूप कर्म से (**वृत्तं-चारित्रं**) चारित्र (**न**) नहीं होता है (**ज्ञानस्य-बोधस्य**) ज्ञान का (**भवनम्-प्रवर्तनम्**) होना (**अनुचरणम्**) ज्ञानरूप आचरणसे (**भवेत्**) हो सकता क्योंकि (**ज्ञानभवनस्याभवनात्**) उसमें-क्रियाकाण्ड में ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। (**कुतः**) किस कारण से ? (**द्रव्यान्तर-स्वभावत्वात् द्रव्यान्तरस्य-आत्म-**

द्रव्यादन्यद्रव्यस्य स्वभावः स्वरूपं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्) आत्मा से भिन्न द्रव्य का स्वभाव होने से (**तत्-क्रियाकाण्डम्**) वह क्रियाकाण्ड (**कर्म-आचरणम्**) आचरण (**मोक्षहेतुः-मोक्षस्य हेतुः कारणम्**) मोक्ष का कारण (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकता है ।

भावार्थ—आत्मा का मोक्ष आत्मा की ज्ञानाचरणरूप क्रिया पर ही निर्भर है वह जड़ की क्रिया से कथमपि सम्भव नहीं है अतः पौद्गलिक शरीर की क्रिया भले ही वह महाव्रतादि के अनुरूप ही क्यों न हो मोक्ष का हेतु नहीं हो सकती ।

(**अथ क्रियाकाण्डस्य मोक्षहेतुत्वं कुतो नेति अंजल्प्यते**) अब क्रियाकाण्ड मोक्ष का हेतु-कारण क्यों-कैसे नहीं है यह बताते हैं—

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात् स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥६॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षहेतुतिरोधानात्**) कर्म मोक्ष के हेतु का बाधक होने से (**च**) और (**स्वयम्**) स्वभाव से (**बन्धत्वात्**) बन्धरूप होने से (**मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्**) मोक्ष के कारणों का तिरोधायी बाधक-होने से वह शुभाश्रव का साक्षात् कारण होने से मोक्ष का निवारक है अतएव (**तत्**) वह क्रिया-काण्ड (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है ।

सं० टीका--(**तत्-क्रियाकाण्डम्**) वह क्रियाकाण्ड (**निषिध्यते-निवार्यते**) निषेध-निवारण-किया जाता है (**कुतः**) कैसे ? (**मोक्षेत्यादिः-मोक्षस्य-मुक्तेः हेतुः-कारणं-स्वात्मध्यानादि-तस्य तिरोधानं-अपवारणं-तस्मात्-क्रियाकाण्डपरिणतस्य ध्यातानवकाशात्**) मोक्ष का कारण जो आत्मध्यान आदि उसका निवारक होने से क्योंकि क्रियाकाण्ड-व्रताचरण में संलग्न साधु के उस समय ध्यान का होना सम्भव नहीं है । (**स्वयमेव-स्वत एव**) स्वभाव से ही (**बन्धत्वात्-कर्मबन्धस्वभावत्वात्**) बन्धरूप होने से अर्थात् कर्मों को बांधने का ही स्वभाव होने से (**च-पुनः**) और (**मोक्षेत्यादि-मोक्षस्य हेतुः कारणं-शुद्धध्यानादिः तस्य तिरोभावं दधातीत्येवं शोलोभावः स्वभावो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्-शुभकर्मकारक परिणामाविर्भावात्**) मोक्ष के कारणरूप शुद्धध्यानादि के आवरण करने का स्वभाव होने से अर्थात् शुभकर्म को उत्पन्न करने में कारणभूत परिणामों का उत्पादक होने से ॥६॥

भावार्थ—व्रताचरणरूप क्रियाकाण्ड मोक्ष का निरोधक है । स्वभाव से बन्धस्वरूप है । मोक्ष के कारणों का विरोधक है । अतएव निषेध का पात्र है । उपर्युल्लिखित कारणों से शुभाचरणरूप क्रियाकाण्ड का मोक्ष के प्रति कारणता का निषेध किया गया है । यही निश्चयदृष्टि या आत्मदृष्टि है । वस्तुस्थिति भी यही है ॥६॥

(**अथ समस्तापि कर्मतितिक्षां संलक्ष्यति**) अब सभी कर्मों को त्यागने का उपदेश देते हैं—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्न्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।

सम्यक्त्वादि निजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्-

नैष्कर्म्यं प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षार्थिना**) मोक्ष के इच्छुक को (**इदम्**) यह (**तत्**) वह (**समस्तम् अपि**) सभी (**कर्म**) कर्म (**एव**) ही (**सन्न्यस्तव्यम्**) छोड़ देना चाहिए। (**किल**) निश्चय से (**तत्र**) उस कर्म के (**सन्न्यस्ते सति**) त्यागने पर (**पुण्यस्य**) पुण्य की (**वा**) अथवा (**पापस्य**) पाप की (**का**) क्या (**कथा**) कथा (**सम्यक्त्वादि निजस्वभावभवनात्**) सम्यक्त्व आदि आत्मा के स्वभावरूप हो जाने से (**मोक्षस्य**) मोक्ष का (**हेतुः**) कारण (**भवत्**) होता हुआ (**नैष्कर्म्यप्रतिबद्धम्**) निष्कर्मता-कर्ममात्र के अभाव से-सम्बन्धित (**उद्धतरसम्**) परिपूर्णरस-स्वभाव-वाला (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) अपने आप-स्वभावतः (**धावति**) आगे आता है—प्रकाशमान होता है।

सं० टीका—(**तदिदं-प्रसिद्धम्**) वह यह प्रसिद्ध (**समस्तमपि-निखिलमपि**) समस्त सारा-का-सारा (**कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिः**) कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप कर्म (**सन्न्यस्तव्यं-त्याज्यम्**) त्याग देना चाहिए (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**केन**) किसके द्वारा (**मोक्षार्थिना-कर्मणां मोचनं-मोक्षः स एवार्थः प्रयोजनं पदार्थो वा यस्य स तेन**) कर्मों को छोड़ने का नाम मोक्ष है वह मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा (**किलेत्यागमोक्तौ**) किल—यह अव्यय आगम के अर्थ में आया है अर्थात् आगम में कहा है कि—(**पुण्यस्य शुभकर्मणः**) पुण्य-शुभ-कर्म की (**का**) क्या-कौन-सी (**कथा-वार्ता**) कथा या बात (**न कापि**) कोई भी नहीं (**वा**) अथवा (**पापस्य-अशुभकर्मणः का वार्ता**) पाप-अशुभ-कर्म की क्या बात (**क्व सति**) किसके होने पर (**तत्र-कर्मणि**) उस कर्म के (**सन्न्यस्ते-त्यक्तेसति**) छोड़ने पर (**पुनस्तथासति**) फिर वैसा होने पर (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-भेदविज्ञान (**स्वयं-स्वतः**) स्वयमेव-अपने आप-स्वभाव से (**धावति-शुद्धयति शुद्धं-भवति**) शुद्ध होता है (**उल्लसति वा**) अथवा विकास को प्राप्त होता है। (**धावु गतिशुद्धयोरेतस्यधातोः प्रयोगः**) गति और शुद्धि में प्रयुक्त होने वाली धावु धातु का यह प्रयोग है। (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**उद्धत-रसम्-उत्कट स्वभावम्**) उत्कट स्वभाव वाला (**पुनः**) फिर (**नैष्कर्म्यं प्रतिबद्धम्-नैष्कर्म्येण कर्मातीत्वेन-प्रतिबद्धम्-सम्बद्धम्**) कर्मों के अभाव से युक्त—अर्थात् कर्मशून्य (**पुनः**) फिर (**मोक्षस्य-मुक्तेः**) मुक्ति का (**हेतुः-कारणम्**) हेतु-कारण (**भवत्-जायमानम्**) होता हुआ (**कुतः**) किससे (**सम्यक्त्वेत्यादि निजस्वभाव-भवनात्-सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानं आदिशब्दात्-ज्ञानचारित्रादि स एव निजस्वभावः-आत्मस्वरूपम् तेन भवनम् आत्मस्वरूपेण जायमानमित्यर्थः तस्मात्**) तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व तथा आदिशब्द से ज्ञानचारित्र आदि रूप निज आत्मिक स्वभाव के उत्पन्न होने से।

भावार्थ—समस्त कर्मपटल को छिन्न-भिन्न करके ही ज्ञान उदय को प्राप्त होता है। जो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है। निःप्रतिबन्ध मोक्ष का कारण है। अतः उसके उदित होने के पूर्व ही पुण्य और पाप प्रकृतियाँ सर्वथा विलुप्त हो जाती हैं अर्थात् वे अपने उदयकाल में भी ज्ञान पर अपना जरा-सा भी प्रभाव

नहीं डाल पातीं किन्तु अपना फल प्रदान कर निजीर्ण हो जाती हैं। उनके फल का आत्मज्ञानी पर कोई असर नहीं पड़ता अतएव ज्ञान मोक्ष का कारण बन जाता है। यह निर्विवाद है।

(अथ कर्माभावे ज्ञानभाव इति प्ररूपयति) अब कर्म का अभाव होने पर ज्ञान होता है यह निरूपण करते हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११॥

अन्वयार्थ—**(यावत्)** जब तक **(ज्ञानस्य)** ज्ञान की **(कर्म)** कर्म **(विरतिः)** विरति **(सा)** वह **(पाकम्)** भलीभाँति **(सम्यङ्)** परिपूर्णता को **(न)** नहीं **(उपैति)** प्राप्त होती है **(तावत्)** तब तक **(कर्म ज्ञानसमुच्चयः)** कर्म और ज्ञान का एकत्रीकरण **(विहितः)** कहा गया है **(अपि)** तो भी **(काचित्)** कोई **(क्षतिः)** हानि **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(किन्तु)** परन्तु **(अत्र)** इस विषय में **(अपि)** भी **(यत्)** जो **(कर्म)** कर्म **(अस्ति)** है **(तत्)** वह **(अवशतः)** अवशपने से **(बन्धाय)** बन्ध के लिए **(समुल्लसति)** प्रगट होता है **(किन्तु)** परन्तु **(स्वतः)** स्वभाव से **(विमुक्तम्)** कर्मों से शून्य—छूटा हुआ **(यत्)** जो **(परमम्)** श्रेष्ठ-सम्यक् **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह सम्यग्ज्ञान **(एकम्)** एक **(एव)** ही **(मोक्षाय)** मोक्ष के लिए **(स्थितम्)** स्थित **(अस्ति)** है।

सं० टी०—**(यावत्-पर्यन्तम्)** जब तक **(सा-प्रसिद्धा)** वह प्रसिद्ध **(कर्मविरतिः-कर्मणां विरतिः-विरमणम्)** कर्मों से विरत होना **(सम्यक्-यथोक्तम्)** समीचीन रूप से **(पाकं-परिपूर्णताम्)** परिपूर्णता को **(न)** नहीं **(उपैति-याति)** प्राप्त करता है **(तावत्पर्यन्तम्)** तब तक **(कर्मेत्यादि-कर्म च ज्ञानं च कर्मज्ञाने तयो समुच्चयः-समुदायः)** कर्म और ज्ञान इन दोनों का समुदाय **(विहितः-कथितः)** कहा गया है। **(अपि-पुनः)** फिर **(तावत् ज्ञानकर्ममेलापकपर्यन्तम्)** तब तक अर्थात् ज्ञान और कर्म के सम्मेलन तक **(काचित्)** कोई **(क्षतिः-कर्मणां क्षयो न भवेत्)** कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। **(अपि पुनः)** फिर **(किमु विशेषोऽस्ति)** क्या विशेषता है? **(अत्र-कर्मज्ञानसमुच्चयोर्मध्ये)** कर्म और ज्ञान के समुदाय के मध्य में **(यत्)** जो **(कर्म)** कर्म **(अस्ति)** है **(तत्)** वह कर्म **(अवशतः-अवश्यम्भावात्)** अवशता से-परवशता से **(बन्धाय-कर्मबन्धन-कृते)** कर्म बन्धनरूप कार्य के लिए **(समुल्लसति-समुल्लासं गच्छति विजृम्भत इति यावत्)** वृद्धि को प्राप्त होता है **(पुनरत्रापि)** फिर भी इस विषय में **(यदा)** जब **(एकमेव-कर्मनिरपेक्षम्)** एक ही अर्थात् कर्म से निरपेक्ष अतएव एक **(केवलम्)** सिर्फ **(यत्)** जो **(ज्ञानं-बोधः)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह ज्ञान **(मोक्षाय-मुक्तये)** मोक्ष के लिए **(स्थितम्-प्रतिष्ठितम्)** स्थित **(अस्ति)** है **(किम्भूतम्)** कैसा **(परमम्-उत्कृष्टम्)** उत्कृष्ट **(स्वतः-स्वभावेन)** स्वभाव से **(कर्मभिः-विमुक्त)** कर्मों से छूटा हुआ।

भावार्थ—जब तक कर्म पूर्णरूप से आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते हैं तब तक वे सम्यग्ज्ञान के साथ एक ही आत्मा में रह कर अपना कार्य करते रहते हैं। और ज्ञान अपना कार्य करता रहता है। कर्म का कार्य मात्र बन्ध है। और ज्ञान का कार्य एकमात्र मोक्ष है। बन्धक और मोक्षक दोनों का आधार आत्मा है यह बात मात्र संयोजक और वियोजक दृष्टि से कही गई है पर संयोजक दृष्टि परिहार्य होने से कादाचित्क है और वियोजक दृष्टि अपरिहार्य होने से शाश्वतिक है। एक जड़ को विषय करती है तो दूसरी चेतन आत्मा को विषय करती है। एक पतन का बीज है तो दूसरी उत्थान का अपूर्व कारण है। अतः जो मुमुक्षु हैं संसार बन्धन से विमुक्त होने की हार्दिक कामना करते हैं उन्हें चाहिए कि वे बन्धकता से मुँह मोड़ें और मोचकता की ओर द्रुततम गति से आगे बढ़ें तभी वास्तविक मुक्ति की उपलब्धि उन्हें हो सकेगी अन्यथा नहीं क्योंकि विभाव से बन्ध और स्वभाव से मोक्ष होता है यह निर्विवाद सिद्धान्त सम्मत तर्कारूढ़, परम निश्चल, अखण्डित, तात्त्विक चरम निष्कर्ष है।

(अथ नयावलम्बितत्वमुपशाम्यति) अब नय के अवलम्बनपन का उपसंहार करते हैं—

मग्नाः कर्म नयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयम्,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(कर्मनयावलम्बनपराः)** कर्म-व्रताचरणादिरूप क्रियाकाण्ड के आलम्बन में ही तत्पर रहते हैं **(ते)** वे **(ज्ञानम्)** ज्ञान-भेद ज्ञान को **(न)** नहीं **(जानन्ति)** जानते हैं। अतएव **(मग्नाः)** संसाररूप समुद्र में निमग्न रहते हैं—**(अपि)** और **(ये)** जो **(ज्ञाननयैषिणः)** ज्ञान नय के पक्षपाती हैं **(ते)** वे **(सततम्)** निरन्तर **(स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः)** स्वच्छन्दता से निरुद्यमी रहते हैं—अतएव **(मग्नाः)** संसार-सागर में डूबे रहते हैं। **(ये)** जो **(जातु)** कभी **(कर्म)** कर्म को **(न)** नहीं **(कुर्वन्ति)** करते हैं **(च)** और **(जातु)** कभी **(प्रमादस्य)** प्रमाद के **(वशम्)** वश-अधीन **(न)** नहीं **(यान्ति)** होते हैं **(ते)** वे **(सततम्)** निरन्तर **(स्वयम्)** स्वयं **(ज्ञानम्)** ज्ञानस्वरूप **(भवन्तः)** होते हुए—**(विश्वस्य)** विश्व-लोक के **(उपरि)** ऊपर **(तरन्ति)** तरते हैं—निवास करते हैं।

सं० टीका—**(मग्नाः-भवार्णवे निमग्नाः)** संसार रूप समुद्र में डूबे हुए रहते हैं **(के ?)** कौन **(कर्मेत्यादिः—कर्म-व्रत् तपश्चरणादि क्रियाकाण्डम्-तदेव नयः-पक्षः कर्मणैव मोक्ष साध्यत्वात्-इतिपक्षः तस्य अवलम्बनं-अङ्गीकारः तत्र परास्तत्पराः सावधानाः क्रियावादिन इत्यर्थः)** व्रत तपश्चरण आदिरूप क्रिया-काण्ड तद्रूप नय-पक्षविशेष अर्थात् कर्म क्रिया काण्ड से ही मोक्ष साध्य है अतएव उसी के आलम्बन में सावधान रहने वाले क्रियावादी एकान्ती जैसा कि कहा भी है—

क्रियाश्च शतमशीतिश्चतस्रोऽशीतिरक्रियाः।
अज्ञाना सप्तषष्टिश्च द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः ॥

अन्वयार्थ—(**क्रियाः**) क्रियावादी (**शतमशीतिः**) एक सौ अस्सी (**अक्रियाः**) अक्रियावादी (**चतस्रः**) चार अधिक (**अशीतिः**) अस्सी अर्थात् चौरासी (**अज्ञानाः**) अज्ञानवादी (**सप्तषष्टिः**) सड़सठ (**च**) और (**विनयाश्रिताः**) विनयवादी (**द्वात्रिंशत्**) बत्तीस। सब मिलकर ३६३ तीन सौ तिरेसठ एकान्ती मिथ्यात्वी कहे गये हैं उनमें उपर्युक्त १८० एक सौ अस्सी क्रियावादी हैं। ऐसा जानना चाहिए।

(**कुतः**) किससे (**यत्-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**ते**) वे (**ज्ञानं-भेद-बोधम्**) भेदज्ञान को (**न**) नहीं (**जानन्ति-विदन्ति**) जानते हैं (**अपि-पुनः**) फिर (**ज्ञानेत्यादि-ज्ञानं-बोधस्तदेव नयः, ज्ञानव्यतिरिक्तं न किञ्चदस्ति यथा इष्टं चरेत् तिष्ठेदित्यादिः ज्ञानाद्वैतवादिपक्षः, ज्ञाने सति साध्यसिद्धिर्नतु तत्र ध्यानमिति वा पक्षः तमिच्छतीत्येवं शीलाः ज्ञाननयैषिणः**) ज्ञाननय अर्थात् ज्ञान से भिन्न कुछ भी नहीं है जिसका यथेष्ट रूप से आचरण किया जाय या जिस पर स्थिति की जाय इत्यादि ज्ञानाद्वैतवादी का पक्ष है अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही साध्य-मोक्ष-की सिद्धि हो सकती है ध्यान आदि से नहीं इस पक्ष को आश्रय करने वाले (**मग्नाः-भवार्णवे**) संसार रूप सागर में निमग्न रहते हैं। (**कुतः ?**) किससे (**यत्-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**अतीत्यादिः-यं अति-स्वच्छन्देन-स्वेच्छाचारेण प्रमादमान्द्यकरणे मन्दः उद्यमः उद्योगो येषां ते, स्वं ज्ञात्वा-ध्यानेमन्दा इत्यर्थः**) अपनी इच्छानुसार प्रमाद को कम-दूर करने में स्वल्प प्रयत्न करने वाले अर्थात् अपने स्वरूप को हमने जान लिया है अतएव अब हमें अपने को जानने के लिए ध्यान की आवश्यकता नहीं है ऐसा जानकर ध्यान में उद्यम नहीं करने वाले (**तर्हि**) तो (**के उन्मग्नाः**) कौन ऊपर उठता है ? (**ते-पुरुषाः**) वे पुरुष (**विश्वस्य-जगतः**) जगत के (**उपरि**) ऊपर (**तरन्ति-जगदतिशायिनो भवन्तीति तात्पर्यम्**) लोक को अतिक्रमण करने वाले होते हैं यह इसका भावार्थ है (**ते के**) वे कौन हैं ? (**ये-पुरुषाः**) जो पुरुष (**जातु-कदाचित्**) कभी (**कर्मक्रियाकाण्डम्**) व्रताचरणादि रूप क्रियाकाण्ड को (**न**) नहीं (**कुर्वन्ति-विदधति**) पालते (**किम्भूताः सन्तः ?**) कैसे होते हुए ? (**स्वयं-कालक्षेत्राद्यनिरपेक्षत्वेन**) स्वतः—काल क्षेत्र आदि की अपेक्षा विना-अपने आप (**सततम्-प्रतिक्षणम्**) निरन्तर (**ज्ञानं-भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**भवन्त-अनुभवन्तः बोधमयाः जायमाना च**) अनुभव में लाते हुए अथवा ज्ञानरूप होते हुए (**च-पुनः**) और (**वशं-अधीनत्वम्**) अधीनता को (**न यान्ति-न प्राप्नुवन्ति**) नहीं प्राप्त होते हैं (**कस्य**) किसकी ? (**प्रमादस्य**) प्रमाद की (**सदा ज्ञानानुभवनं कर्मप्रमादपरिहरणं मोक्षार्थिन उक्तम्**) निरन्तर स्वपर भेदविज्ञान का अनुभव करना और प्रमाद को दूर करना मोक्षार्थी का कर्तव्य है।

भावार्थ—यहाँ पर दो प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का वर्णन है और दोनों ही संसार समुद्र में डूबते हैं। एक व्यवहार पक्ष को पकड़ने वाला क्रिया नय का पक्षपाती है व्रतादि का अच्छी तरह पालन करता है उनमें कोई दोष नहीं लगने देते। उनको मोक्षमार्ग मानकर करते है। व्रतों में दो कार्य होता है—एक निवृत्ति और एक प्रवृत्ति। जितनी कषाय जाती है उतनी निवृत्ति होती है जितनी कषाय रहती है उतनी प्रवृति होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति कर्म कृत अथवा कषाय का कार्य है। क्रिया का पक्षपाती उस प्रवृत्ति को कर्म का कार्य नहीं मानकर मोक्षमार्ग मानता है। जो बंध का कारण है उसको संवर निर्जरा का कारण

माना इसलिए सात तत्त्वों में भी विपरीत श्रद्धान हो गया। वह क्रियाकाण्डी की यह मान्यता है कि मैं मोक्षमार्गी हो गया इसलिए अपने स्वभाव को जानने की खोज नहीं करता। यहाँ तक कि आत्म-अनुभव प्रत्यक्ष हो सकता है यह भी मंजूर नहीं करता। मात्र सात तत्त्वों की शास्त्र के आधार जो श्रद्धा बताई है उसी को सम्यक्त्व मान लेता है। ऐसी श्रद्धा तो द्रव्यलिंगी के भी होती है। सम्यक्दृष्टि के आत्म-अनुभव होता है यह मंजूर नहीं करता। सातवाँ गुणस्थान भी क्रिया में घटा लेता है पैर उठाना छठा गुणस्थान पैर को रख देना सातवाँ ऐसा मानकर अपने को सातवें गुणस्थान वाला मानता है। परन्तु प्रवृति मार्ग में लगे रहते हैं शुद्ध चेतन वस्तु का प्रत्यक्षरूप से आस्वादन करने में असमर्थ है। अगर कोई कहे मेरे आत्म-अनुभव नहीं है परन्तु आत्म-अनुभव हो सकता है वह तो खोज करेगा जो अपने को मोक्षमार्गी मान लिया उसकी तो खोज भी बन्ध हो जाती है।

दूसरा वह है जो निश्चयावलम्बी है। आत्मस्वरूप का अनुभव तो हुआ नहीं और आगम का, समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन करके बोलने की चतुरता पाकर आत्मा का अनेक प्रकार से कथन करता है और अपने को सम्यक्दृष्टि मानता है। अनन्तानुबन्धी कषाय गयी नहीं, पर का कर्त्तापना मिटा नहीं ज्ञानस्वभाव पकड़ में आया नहीं। चाह कर विषय में लगा हुआ है और मुंह से कहता है मैं तो कर्त्ता नहीं यह सब तो कर्म के उदय का कार्य है। समस्त क्रियाओं को उखाड़ कर स्वच्छन्दी हो रहा है। ज्ञान-वैराग्य जो ज्ञानी का लक्षण है वह है नहीं। विषय भोगने की चाह मिटी नहीं। भगवान की भक्ति करूँगा तो कर्त्ता बन जाऊँगा, त्याग करूँगा तो कर्त्ता बन जाऊँगा इस प्रकार त्याग से उन्मुख हो रहा है। पहले पाप से भयभीत था अव समझता है यह तो कर्म उदय का कार्य है मैं तो इसका कर्त्ता नहीं हूँ ऐसा समझ कर पाप का भय भी नहीं रहा। जितनी क्रिया थी उनको बंध का कारण मानकर स्वच्छंदी हो रहा है यहाँ तक कि जो व्रतादि धारण जो करते हैं उनका मजाक उड़ाता है उनको मिथ्यादृष्टि मानता है। पर्याय में रागादि हो रहे हैं उनकी जुम्मेवारी अपनी नहीं समझता है वे तो कर्मकृत है मैं तो उनका ज्ञाता हूँ ऐसा मानकर कषाय करने का डर नहीं रहा। ऐसे लोग भी डूबते हैं। जिनके सम्यक्त्व तो हुआ नही अपने को सम्यक्दृष्टि मान लेते हैं ऐसे लोग स्वच्छन्दी होते हैं।

तीसरा वह व्यक्ति है जो वास्तव में सम्यक्दृष्टि है। आत्म अनुभव को मोक्षमार्ग मानता है आत्म अनुभव करता है जब नहीं कर पाता है तब तीव्र कषाय से बचने के लिए देव शास्त्र या गुरु का अवलम्बन लेता है। उनका अवलम्बन लेकर फिर स्वभाव का अनुभव करने की चेष्ट करता रहता है। प्रमादी नहीं होता शुभोपयोग और व्रतादि को बन्ध का कारण मानता है परन्तु सच्चे देव शास्त्र गुरु के आश्रित शुभोपयोग को अपने आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता के लिए बाहरी साधन भी समझता है। जो पर्याय में कषाय हो रही है उसकी जुम्मेवारी अपनी समझता है, उसको मेटने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। निरन्तर स्वभावरूप रहने की चेष्टा करता है। वही संसार समुद्र से पार होता है। जिसके अपने ज्ञानस्वभाव में ही अहमपना है पर्याय रूप कार्य में अहमबुद्धि नहीं है।

(अथ ज्ञानज्योतिषो विजृम्भणं बम्भणीति) अब ज्ञान रूप ज्योतिः-प्रकाश के महत्त्व का वर्णन करते हैं—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं-
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि-
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥१३॥

अन्वयार्थ—**(पीतमोहम्)** मोहरूप मदिरा के पीने से अतएव **(भेदोन्मादम्)** पुण्य-पाप अर्थात् शुभ और अशुभ रूप भेद वाले **(भ्रमरसभरात्)** भ्रान्तिरूप रस के भार से **(नाटयत्)** प्राणीमात्र को संसार में नचाने वाले **(तत्)** उस प्रसिद्ध **(सकलम्)** समस्त **(कर्म)** कर्म को **(अपि)** भी **(बलेन)** बल पूर्वक **(मूलोन्मूलम्)** जड़ से उखाड़ **(कृत्वा)** कर के **(कवलिततमः)** अज्ञानान्धकार को नाश करने वाला अतएव **हेलोन्मीलत्परमकलया)** क्रीड़ामात्र से प्रकट होने वाली उत्कृष्ट सर्वोपरि कला के **(सार्धम्)** साथ **(आरब्ध केलि)** प्रारम्भ हो गई है क्रीड़ा जिसकी ऐसा **(ज्ञानज्योतिः)** ज्ञानरूप महान् प्रकाश-तेज **(भरेण)** अतिशय रूप से **(प्रोज्जजृम्भे)** विकास को प्राप्त हुआ - निर्बाधरूप से उदय को प्राप्त हुआ ।

सं० टी०—**(भरेण-अतिशयेन)** अतिशय रूप से **(ज्ञानज्योतिः-समस्ताखण्डज्ञानज्योतिः)** सम्पूर्ण अखण्ड ज्ञान का तेज **(प्रोज्जजृम्भे)** उदय को प्राप्त हुआ **(रूपकालङ्कारोऽयम्)** यह रूप का अलङ्कार है। **(पुनः)** फिर **(हेलोन्मीलत्-हेलया-लीलया, उन्मीलत्-उत्प्रकटयत्)** लीला मात्र से प्रकट होने वाला **(पुनः)** फिर **(आरब्धकेलि-आरब्धा-प्रारम्भविषयीकृत केलिः क्रीडा येन तत्)** प्रारम्भ कर दी है क्रीडा जिसने **(सार्धं-समम्)** साथ **(कया)** किसके **(परमकलया-परमा उत्कृष्टा चासौ कला च दर्शनाद्यंशः, मुक्तिकला वा तया)** सर्वोत्कृष्ट दर्शनादि रूप अथवा मुक्तिरूप कला के **(किं कृत्वा)** क्या करके **(बलेन-हठात्कारेण ध्यानलक्षणेन)** बल-ध्यानरूप हठ से **(सकलमपि-समस्तमपि-प्रकृत्यादिचतुः स्वभावमपि)** प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार प्रकार के स्वभाव को धारण वाले सभी **(तत्-प्रसिद्धम्)** प्रसिद्ध **(कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिः)** ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप अष्ट कर्म को **(मूलोन्मूलं-मूलेन कृत्स्नेन, उन्मूलं-मूलतल-नाशम्)** मूलतल से नष्ट **(कृत्वा)** करके **(किम्भूतम्)** किसे **(भेदोन्मादम्-भेदेन पुण्यपापविशेषेण, उन्मादं-उन्मत्तम्)** भेद-पुण्य और पापरूप विशेष भेद से उन्मत्त **(पुनः)** फिर **(पीतमोहम्-पीतः पानविषयीकृतः मोहः-मोहनीयकर्म येन पुरुषेण)** मोहनीय कर्म का पान करने वाले को **(तम् प्राणिनम्)** उस प्राणी को—पुरुष विशेष को **(नाटयत्-भवरंगावनौ-मनुष्यतिर्यगादि विशेषेषु नृत्यं कारयत्)** संसार रूपी रंगस्थलों में अर्थात् मनुष्य और पशु आदि गति विशेषों में नचाता हुआ **(कुतः)** कैसे **(भ्रमरसभरात्-ममेदं, अहमस्ये-त्यादि भ्रान्तिरसवेगात्)** यह मेरा है और मैं इसका हूँ इत्यादि प्रकार के भ्रान्तिरूप रस के वेग से **(अन्यो-**

इमिनट:-भ्रमणादिरसावपरं नाटयति इत्युक्तिलेश:) दूसरा नट भी भ्रमण आदि रस से दूसरे को नचाता है ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ--अध्यात्म में दो भेद किये जाते हैं जैसे धर्म-अधर्म, वहां पर अधर्म के दो भेद है, एक पाप और एक पुण्य। इसी प्रकार धर्म तो वीतरागता रूप है और जो तीव्र राग है वह पापरूप है और मन्द-राग पुण्यरूप है। इसी प्रकार परिणाम भी दो प्रकार के हैं--एक शुद्ध और एक अशुद्ध भाव, अशुद्ध भाव के दो भेद हैं संक्लेश और विशुद्ध। अज्ञानी पुण्य को धर्म मानता है और शुभ क्रिया को मोक्षमार्ग मानता है। पुण्य के उदय को सुख का कारण मानता है जबकि कषाय का अभाव अथवा वीतरागता सुखरूप है। राग दु:खरूप है; राग का फल भी दु:खरूप है शुद्ध ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। जितनी क्रिया हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। ज्ञानी की समस्त क्रिया बरजोरी से होती है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है, अज्ञानी शुभ क्रिया को मोक्षमार्ग मानकर उनमें मग्न हो रहा है।

इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिणी नामधेयस्य व्याख्यायांपुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोऽङ्कः।

इस प्रकार श्री समयसार के पद्यों की, जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है, व्याख्या में पुण्य पाप की एकता का निरूपण करने वाला यह तीसरा अङ्क समाप्त हुआ।

: चतुर्थोऽङ्कः प्रारभ्यते :

आस्रव का अधिकार

शुभचन्द्रामृतचन्द्रो भिनत्ति यत्तामसं सुतत्त्वेषु।
पुण्येतरेषु तद्धि न भिद्यते दीपचन्द्रार्कैः॥

अन्वयार्थ--(**शुभचन्द्रामृतचन्द्रः**) शुभ कार्य के लिए चन्द्रमा के समान श्री अमृतचन्द्र आचार्य (**पुण्येतरेषु**) पुण्य और पापरूप (**सुतत्त्वेषु**) तत्त्वों के विषय में (**यत्**) जिस (**तामसम्**) अज्ञानान्धकार को (**भिनत्ति**) भेदन -विनष्ट-करते हैं (**तत्**) वह (**तामसम्**) अज्ञानान्धकार (**हि**) निश्चय से (**चन्द्रार्कैः**) चन्द्रमा और सूर्य से (**न**) नहीं (**भिद्यते**) भेदा जाता है अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य दोनों जड़ अन्धकार को ही विनष्ट करते हैं आत्मिक अज्ञानान्धकार को नहीं। अत: श्री अमृतचन्द्र आचार्य चन्द्रमा और सूर्य से भी बढ़कर हैं यह इस पद्य का सारांश है। (**शुभं प्रशस्तं पुण्यादि चन्द्रयति-आह्लादयति इति शुभचन्द्रः स चासौ अमृतचन्द्रश्च इति व्याख्यातं विधेयम्**) अर्थात् शुभ यानी प्रशस्त श्रेष्ठ पुण्य आदि प्रकृतियों को

जो आह्लादित करता है वह शुभचन्द्र है, वह शुभचन्द्र ही अमृतचन्द्र आचार्य है; ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

(अथास्रवमाश्रयति) अब आस्रवतत्त्व का आश्रय करते हैं अर्थात् आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हैं :

अथ महामद निर्भर मन्थरं, समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥१॥

अन्वयार्थ—**(उदारगभीरमहोदयः)** विशाल गम्भीर और महान उदय वाला **(अयम्)** यत **(दुर्जय-बोधधनुर्धरः)** अति कष्ट से जीतने योग्य सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धारी योधा **(अथ)** पुण्य और पापरूप तत्त्व के वर्णन के पश्चात् **(महामद निर्भरमन्थरम्)** महान् अहङ्कार के आधिक्य से मनोहर अर्थात् उन्मत्त **(समर रंग परागतम्)** युद्धरूपी आंगन में प्राप्त हुए **(आस्रवम्)** आस्रव तत्त्व को **(जयति)** जीतता है अर्थात् आस्रव तत्त्व का निराकरण करता है।

सं० टी०—**(अथ—पुण्यपापतत्त्वकथनादनन्तरम्)** पुण्य तत्त्व और पाप तत्त्व के कथन करने के पश्चात् **(अयं-प्रसिद्धः)** यह प्रसिद्ध **(दुर्जयबोध धनुर्धरः दुःखेन जायते इति दुर्जयः सचासौ बोधश्च ज्ञानं स एव धनुर्धरः धानुष्कः)** दुख से जीतने योग्य सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धारी **(जयति)** जीतता है **(कम्)** किसे **(आस्रवम्—आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्तं निराकरोतीत्यर्थः)** जिससे कर्म आते हैं वह आस्रव कहलाता है। उस आस्रव को दूर करता है **(किम्भूतः)** कैसा **(उदारेत्यादिः—उदारः—उत्कटः सचासौ गभीरश्च—अलंध्यमध्यः, महानुदयो यस्य सः)** उदार—उत्कट गभीर—जिसकी गहराई का पता नहीं और जिसका उदय महान है **(किम्भूतं तम्)** कैसे आस्रव को **(महेत्यादिः—महांश्चासौ मदश्च अहङ्कारस्तस्य निर्भरः—अतिशयः तेन मन्थरः, मेदुरः तम्)** महान् अन्धकार के अतिशय से परिपूर्ण **(पुनः कीदृशम्)** फिर कैसे **(समरेत्यादिः समरः सङ्ग्रामस्तस्य रंगः—अङ्गणम् तत्र आगतः समुपस्थितः तम्)** समराङ्गण में उपस्थित **(ज्ञानपराभवार्थं मुपयुक्तमित्यर्थः)** अर्थात् ज्ञान—सम्यग्ज्ञान का तिरस्कार करने के लिए उद्यमयुक्त।

भावार्थ—पुण्य तथा पाप तत्त्व का विजेता सम्यग्ज्ञानरूपी योद्धा ही आस्रव तत्त्व पर विजय प्राप्त करने का परिपूर्ण अधिकारी है क्योंकि यह उदार—विशाल है। गम्भीर—अथाह है। तथा निरन्तर उदयशील है। और है अन्य के द्वारा अजेय। इस सम्यग्ज्ञानी परमयोद्धा को आज तक किसी ने भी नहीं जीत पाया है यह सर्वथा सुस्पष्ट है। वह अन्तर्मूहूर्त में कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान उत्पन्न करता है।

(अथ ज्ञान निर्वृत्त भावं समुत्साहयति) अब ज्ञान से रचे हुए भाव को प्रोत्साहन देते।

भावो राग-द्वेषमोहैर्विना यो, जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान्द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—**(जीवस्य)** जीव का **(राग-द्वेषमोहैः)** राग-द्वेष और मोह से **(विना)** रहित **(यः)** जो

(भाव:) भाव, परिणाम (स:) वह (भाव:) भाव (ज्ञाननिर्वृत्त:) ज्ञान से निर्मित—रचा हुआ (एव) ही (स्यात्) होता है (एष:) यह ज्ञान से रचा हुआ भाव (सर्वान्) सभी (द्रव्यास्रवौघान्) द्रव्यास्रवों के समूह को (रुन्धन्) रोकता हुआ (सर्वभावास्रवाणाम्) सभी भावास्रवों के (अभाव:) अभाव-रूप (भवति) होता है।

सं० टी०—(एष:—कथ्यमान:) यह-कहा जाने वाला (अभाव:) अभाव (स्याद्–भवेत्) होता है (केषाम् ?) किनका (सर्वेत्यादि:—सर्वे च ते भावास्रवाश्च राग-द्वेष मोहाद्या: तेषाम्) सभी भावास्रव जो राग-द्वेष मोहादि स्वरूप हैं उनका (एष क:) यह कौन (य:) जो (एव निश्चयेन,) निश्चय से (जीवस्य—प्राणिन:) जीव—प्राणधारी का (ज्ञान-निर्वृत्त:—ज्ञान मय:) ज्ञान स्वरूप (भाव:—परिणाम:) भव-परिणाम विचारधारा (राग-द्वेषमोहै:—राग:-रति:, द्वेष:, अरति:, मोह:-ममत्वं द्वन्द्व: तैर्विना:-अन्तरेण) राग रतिरूप परिणाम, द्वेष-अरतिरूप परिणाम तथा मोह ममत्व-ममेदंबुद्धि के बिना—अभाव से (किं कुर्वन्) क्या करता हुआ (रुन्धन्—निवारयन्) निवारण करता हुआ (कान्) किनको (सर्वान्-समस्तान्) सभी (द्रव्येत्यादि:—द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां आस्रवौघान्—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसमूहान्) द्रव्यकर्म स्वरूप ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के आस्रव के कारणभूत मिथ्यात्व अविरति कषाय तथा योगों के समूह को (रागद्वेषमोहानामिह स्वपरिणामनिमित्तत्वात्, अजड़त्वे सति चिदाभासत्वात् भावास्रवत्वम्, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानांपुद्गल परिणामानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्, द्रव्यास्रवत्वम्) यहाँ भावास्रव के प्रकरण में आत्मा के राग-द्वेष-मोहरूप विभाव भाव निमित्त होने के कारण वे स्वयं ही भावास्रव रूप हैं क्योंकि वे स्वभावत: जड़-अचेतन नहीं हैं किन्तु चेतन के विकार स्वरूप होने से चैतन्य सदृश प्रतीत होते हैं अतएव भावास्रव हैं। यहां कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

भावार्थ—प्रकृत में रागद्वेष-मोह के अभाव में आत्मा के जो भी भाव होते हैं वे स्वभाव भाव हैं। उनमें ज्ञानरूपता की उपलब्धि होती है क्योंकि अज्ञान का कारण मिथ्यादर्शन का अभाव उनमें विद्यमान हैं अत: मिथ्यादर्शन सम्बन्धी अनन्त संसार के कारणभूत आस्रवों का अभाव ही मुख्यता से यहां समझना चाहिए। आस्रव मात्र का अभाव नहीं। यहां सर्वभावास्रवों के अभाव का निर्देश भावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से किया गया प्रतीत होता है क्योंकि अनन्त संसार के समुत्पादक मिथ्यात्व के नाश होने पर शेष कर्म जनित आस्रवों का अभाव अति सन्निकट हैं अत: सर्वभावास्रवों का अभाव कहा गया है यह उसका फलितार्थ है, जो युक्ति-युक्त और आगमोक्त है।

(अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं श्रद्दधाति) अब ज्ञानी के निरास्रवपने का श्रद्धान् होता, यह व्यक्त करते हैं।

भावास्रवाभावमयंप्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत एव भिन्न:।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैक भावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥३॥

अन्वयार्थ—(**भावास्रवाभावम्**) भावास्रव के अभाव को (**प्रपन्नः**) प्राप्त हुआ (**अयम्**) यह (**ज्ञानी**) भेद-विज्ञानी (**द्रव्यास्रवेभ्यः**) द्रव्यास्रवों से (**स्वतः**) स्वयम् (**एव**) ही (**भिन्नः**) भिन्न—जुदा (**अस्ति**) है (**ज्ञानी**) स्वपर विवेकी (**सदा**) सर्वदा—हमेशा (**ज्ञानमयैकभावः**) ज्ञानस्वरूप अद्वितीय भाव वाला (**निरास्रवः**) आस्रव से शून्य (**भवति**) ही है (**एकः**) एकमात्र—सिर्फ (**ज्ञायकः**) ज्ञाता—जानने वाला (**एव**) ही है।

सं० टी०—(**अयं ज्ञानी-भेदज्ञः**) यह ज्ञानी-स्वपर के भेद को जानने वाला (**निरास्रव एव-द्रव्यभावास्रवेभ्योनिवृत्त एव**) निरास्रव द्रव्यास्रवों से पृथक ही (**भवति**) रहता है (**एकः-अद्वितीयः**) एक अद्वितीय (**ज्ञायकः**) ज्ञायक-ज्ञाता (**किम्भूतः ?**) कैसा (**सदा-नित्यम्**) हमेशा (**ज्ञानमयैक भावः-ज्ञानेननिर्वृत्तिः ज्ञानमय स एव एको भावः स्वभावो यस्य सः**) ज्ञान से निर्मित, अतएव ज्ञानस्वरूप अद्वितीत स्वभाव वाला (**किम्भूतः**) कैसा (**भावास्रवाभावम्-भावास्रवाणां-रागद्वेषादीनां अभावम्**) भावास्रव स्वरूप रागद्वेषादि विभावों के अभाव को (**प्रपन्नः-प्राप्तः**) प्राप्त हुआ (**यावत्पर्यन्त रागद्वेषास्तावन्न न ज्ञायकत्वं अतः ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षण भावास्रवाभावः**) जब तक राग-द्वेष होते हैं तब तक ज्ञायकता नहीं होती इसलिए ज्ञायकता होने पर राग-द्वेष स्वरूप भावास्रव का अभाव होता ही है (**पुनस्तत एव स्वभाव एव**) फिर स्वभाव से ही (**द्रव्यास्रवेभ्यः-मिथ्यात्वादिभ्यो**) मिथ्यात्व आदि स्वरूप द्रव्यास्रवों से (**भिन्नः पृथग्भूतः**) पृथक् रूप (**ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो द्रव्यान्तरभूता अचेतन पुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वतः कार्माण शरीरेणैव सम्बद्धा नत्वात्मना, अतः सिद्धः स्वभावतो ज्ञानिनो-द्रव्यास्रवाभावः**) अज्ञानी ने अज्ञान के बल से जिन मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवों को बांधा था, वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के आत्मद्रव्य से पृथक् रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से पृथिवी के समान अचेतन हैं। अतएव वे स्वयमेव कार्मण शरीर से ही बंधे हुए हैं आत्मा से नहीं। इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रवों का अभाव स्वभाव से सिद्ध हुआ। (**बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपास्रवभावाभावान्निरास्रव एव**) बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह स्वरूप आस्रव भावों का अभाव होने से आत्मज्ञानी निरास्रव-आस्रव से रहित होता है ॥३॥

भावार्थ—स्वपर भेदविज्ञानी स्वभाव से दोनों प्रकार के आस्रव से रहित होता है क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष एवं मोह का उसके अभाव है। वह तो मात्र निज शुद्ध स्वभाव में ही स्थिर रहता है, विभाव भाव की तरफ उसकी जरा भी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी अनन्त संसार का कारणभूत आस्रव नहीं होता है। अथवा यों कहिए कि वह अपने को आस्रव के कारणभूत राग-द्वेषादि का स्वामी नहीं मानता; वह जानता है कि ये रागादि भाव मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं, प्रत्युत कर्मजनित औपाधिक भाव हैं।

मोह के उदय में राग-द्वेषादि भाव होते हैं यह ज्ञानी-अज्ञानी दोनों के होते हैं। अज्ञानी अपने स्वभाव को न जानकर इन भावों रूप अपने को मानता है, इनको निमित्त नैमित्तिक भाव न समझकर जैसे ज्ञानी के ज्ञान के साथ एकत्व है वैसा एकत्व इनके साथ मानता है तब वह ज्ञानी जैसे ज्ञान का कर्त्ता है

वैसे अज्ञानी राग का कर्त्ता बन जाता है। यह जीवकृत राग कहलाता है। यही अनंत संसार का कारण होता है। ज्ञानी के कर्मकृत राग तो है परन्तु जीवकृत राग नहीं है क्योंकि वह निज ज्ञानस्वभाव के साथ एकत्व को प्राप्त है इसलिए ज्ञान का कर्त्ता है राग का नहीं। जो राग पर्याय में है वह कर्मकृत है उसका वह स्वामी नहीं है अतः रागादिक से रहित कहा गया है। जीवकृत राग और कर्मकृत राग के भेद को समझना जरूरी है। ज्ञानी के जीवकृत राग नहीं है कर्मकृत है जबकि अज्ञानी के जीवकृत ही राग है, जो अनन्त संसार का कारण है। कर्मकृत राग असमर्थता का सूचक है, जो आत्मबल बढ़ाने पर खत्म हो जाता है।

(अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते) अब ज्ञानी आस्रव रहित ही होता है ऐसा नियम दिखाते हैं :

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्,
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्-
नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥४॥

अन्वयार्थ—**(आत्मा)** आत्मा **(यदा)** जब **(ज्ञानी)** ज्ञानी-स्वपर-विवेकी **(स्यात्)** होता है **(तदा)** तब **(अनिशम्)** हमेशा **(स्वयम्)** स्वभाव से **(निज-बुद्धिपूर्वम्)** अपनी बुद्धिपूर्वक होने वाले **(समग्रम्)** समस्त **(रागम्)** राग को **(संन्यस्यन्)** दूर करता हुआ तथा **(अबुद्धिपूर्वम्)** बिना जाने होने वाले **(तम्)** उस राग को **(अपि)** भी **(वारंवारम्)** बारबार-निरन्तर **(जेतुम्)** जीतने-दूर करने के लिये **(स्व-शक्तिम्)** अपनी शक्ति को **(स्पृशन्)** स्पर्श करता हुआ अर्थात् आत्मानुभव करता हुआ **(सकलाम्)** समस्त **(पर-वृत्तिम्)** पर वस्तु में होने वाली ममत्वबुद्धिरूप प्रवृत्ति को **(उच्छिन्दन्)** उच्छेद-विनाश करता हुआ **(एव)** ही **(ज्ञानस्य)** ज्ञान के **(पूर्णः)** पूर्ण **(भवन्)** भावरूप होता हुआ **(हि)** निश्चय से **(नित्यनिरास्रवः)** हमेशा आस्रव से रहित **(भवति)** है।

सं० टीका—**(हीति व्यक्तम्)** हि यत अव्यय व्यक्त-स्पष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् स्पष्ट रूप से **(आत्मा चिद्रूपः)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(यदा-यस्मिन् काले)** जिस समय **(नित्यं निरास्रवः आस्रवा-तीतः)** निरन्तर-हमेशा आस्रव से रहित **(भवति जायते)** होता है **(तदा-तस्मिन् समये)** उस समय **(ज्ञानी सकलवस्तुपरिच्छेदक ज्ञानयुक्तः)** समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले ज्ञान से सहित **(स्यात्) भवेत्)** होता है **(ननु संसारदशायां कथं निरास्रवत्वम् इति चेत् ?)** यहां यदि कोई यह शंका करे कि संसार अवस्था में आस्रव से रहितपना कैसे बन सकता है ? तो उत्तर में कहते हैं कि—**(अनिशम्-नित्यम्)** निरन्तर-हमेशा **(स्वयम्-कर्तृत्वेन्)** स्वयम् कर्ता रूप से **(समग्रं-समस्तम्)** समस्त **(राग-द्वेष-मोहग्रामं भावा-स्रवम्)** राग-द्वेष-मोह के समूहरूप भावास्रव को **(संन्यस्यन्-त्यजन्-परिहरन्)** त्यागते-परिहार करते हुए **(निजबुद्धिपूर्वकं-स्वबुद्धिपूर्वकं-स्वाभिप्रायपूर्वकम्)** अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थात् मनोगत विचार अनु-

कूल (रागम्) राग को (त्यजन्नित्यर्थः) त्यागता हुआ अर्थात् छोड़ता हुआ (अपि-पुनः) फिर (तम्-द्रव्य-मिथ्यात्वाद्यास्रवम्) उस द्रव्यरूप पुद्गल स्वरूप-मिथ्यात्व आदि आस्रव को (अबुद्धिपूर्वं-पूर्वनिबद्धाऽचेतना-स्रवं-स्वाभिप्रायातिरिक्तं, सूक्ष्मं-अज्ञानस्वरूपम, अकषायिणामास्रव सदृशं वा अबुद्धिपूर्वम्) अबुद्धिपूर्वक अर्थात् पूर्व में बांधे हुए अचेतन-जड़स्वरूप आस्रव को जो आत्मा के अभिप्राय से सर्वथा शून्य है सूक्ष्म अज्ञान स्व-रूप है, अथवा कषाय रहित-वीतराग आत्माओं के आस्रव के समान है (वारं-वारं-पुनः-पुनः) बार-बार—लगातार (जेतुम्-जयार्थम्—नाशार्थमित्यर्थः) जीतने-नाश करने के लिए (स्वशक्ति स्वस्य आत्मनः-शक्ति सामर्थ्यम्) अपनी शक्ति को (स्पृशन्-स्वसात्कुर्वन्) स्वाधीन करते हुए अर्थात् कार्यरूप में परिणत करते हुए (पुनः किंकुर्वन् ?) फिर क्या करते हुए (उच्छिन्दन्-उद्धिन्दन) उच्छेद-विनाश करते हुए (समूलं कर्षन्नित्यर्थः) अर्थात् जड़ से उखाड़ते हुए (काम् ?) किसको (सकलां-समस्ताम्) सारी (एव-निश्चयेन) निश्चय से (पर-वृत्तिम्-परेषु-आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्तिः-प्रवर्तना ताम्) आत्मा से भिन्न पदार्थों में होने वाली प्रवृत्ति को (तत्रानुवरणमितिभावः) अर्थात् परपदार्थों में होने वाली ममत्व बुद्धि को यह तात्प-यार्थ है (पुनः) फिर (पूर्ण-परिपूर्णः-समग्र इत्यर्थः) परिपूर्ण अर्थात् समग्र-भरपूर (भवन्-जायमानो भावः) पर्यायरूप होता हुआ (कस्य) किसके (ज्ञानस्य-वस्तु-विशेष ग्राहकस्यं) वस्तु-पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण-जानने वाले ज्ञान की।

भावार्थ—राग दो प्रकार का होता है, एक बुद्धिपूर्वक जो हमारे अथवा दूसरे के पकड़ में आता है, दूसरा अबुद्धिपूर्वक, जो आत्मा के आसंख्यात प्रदेशों में उदयरूप रहता है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी के ज्ञान-वैराग्य की अपूर्व शक्ति होती है। बुद्धिपूर्वक राग को वह अपनी ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के द्वारा तोड़ देता है। जैसे किसी ने खोटे शब्द कहे तब ज्ञानी विचारता है, यह तो उसका परिणाम है, वह अपने परि-णमन करने में स्वाधीन है उसका परिणाम का अवलम्बन मैं क्यों लूं ? अथवा विचारता है कि देखो कषाय की कितनी तीव्रता है, वह अपनी कषाय से आप ही दुखी है इत्यादि रूप से। कर्म के उदय से बाहर में अनुकूल अथवा विपरीत संयोग मिलते हैं उनको कर्म के उदय का कार्य जानकर हर्ष-विषाद नहीं करता। अबुद्धिपूर्वक राग मेटने को वह बार-बार अपना निज स्वभाव का अनुभव करने की चेष्टा करता है और आत्म अनुभव के द्वारा अबुद्धिपूर्वक राग को तोड़ देता है। इसलिए ज्ञानी आस्रवरहित हैं।

(अथ ज्ञानिनो द्रव्य प्रत्यये सति न निरास्रवत्वमिति पूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति) अब ज्ञानी के द्रव्यास्रव के रहते हुए निरास्रवता आस्रवशून्यता नहीं बन सकती, इस तरह से पूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करते हुए दो पद्यों द्वारा उत्तर पक्ष को प्रकट करते हैं—

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥५॥

अन्वयार्थ—(सर्वस्याम्) सब (एव) ही (द्रव्यप्रत्यय सन्ततौ) द्रव्यास्रव की सन्तति-परिपाटी के

(जीवन्त्याम्) जीते हुए-विद्यमान रहते हुए **(ज्ञानी)** स्वपर भेद विज्ञानी **(नित्यम्)** हमेशा **(एव)** ही **(निरास्रवः)** आस्रव से रहित **(कुतः)** कैसे **(स्यात्)** हो सकता है **(इति)** ऐसी **(ते)** तुम्हारी **(चेत्)** यदि **(मतिः)** बुद्धि-मान्यता **(स्यात्)** हो **(तर्हि)** तो ('उसको' उत्तर कहा जाता है)

सं० टी०—**(ननु)** यह शङ्का सूचक अव्यय है अर्थात् शङ्काकार शङ्का करता है कि **(ज्ञानी-भेदज्ञः)** आत्मा और परपदार्थों के भेद को जानने वाला अर्थात् स्वपर स्वरूप का ज्ञाता आत्मा **(नित्यम्)** सदा हमेशा **(निरास्रवः-आस्रवरहितः)** आस्रव से रहित **(कुतः)** कैसे **(स्यात्)** हो सकता है अर्थात् **(न कुतोऽपि)** किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता **(क्व-सत्याम्)** किसके होते हुए **(सर्वस्यां-समस्तायाम् अपि)** सभी **(द्रव्य प्रत्यय सन्ततौ-द्रव्यप्रत्ययानां-पुद्गलरूप निबद्ध मिथ्यात्वादीनां सन्ततिः सन्तानं तस्याम्)** पुद्गल रूप होकर आत्मा के साथ बँधे हुए मिथ्यात्वादि प्रकृतियों की परिपाटी के विद्यमान होते हुए **(जीवन्त्यां—विद्यमानायां सत्यामेव)** जीते हुए अर्थात् मौजूद रहते हुए ही **(अथ तदा तदुदयाभावान्निरास्रव इति भण्यते)** शायद तुम यह कहो कि उस समय उन मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रकृतियों का उदय न होने से ज्ञानी निरास्रव ही है **(तदप्यसत्)** उक्त कथन भी उचित नहीं है **(यतः सदवस्थायां पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि तदात्व-परिणीतबालस्त्रीवत्)** क्योंकि सदवस्था-सत्तारूप में विद्यमान तत्काल विवाही हुई बाल्यावस्था सम्पन्न स्त्री के समान—प्रारम्भ में उपभोग योग्य न होने पर भी **(विपाकावस्थायामुपभोग्यत्वात्)** फलदान की अवस्था में अर्थात् उदयकाल में उपभोग योग्य होने से **(उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्म प्राप्तयौवनपूर्व-परिणीतस्त्रीवत्)** उपभोग में लाने योग्य पुद्गल कर्म युवावस्था को प्राप्त पूर्व में विवाही हुई स्त्री के समान **(इति न निरास्रवत्वमिति चेत् ते मतिः मनीषा)** इस तरह से आस्रवशून्यता न बन सकेगी यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि हो **(तर्हि)** तो।

भावार्थ—जो कार्मण पुद्गल परमाणु मिथ्यात्वादि रूप से आत्मा के साथ सम्बन्धित हैं। उनके रहते हुए ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा जा सकता है? अगर यह कहो कि वे मिथ्यात्वादि जब तक अपना फल प्रदान नहीं करते तब तक तो ज्ञानी निरास्रव ही है। उक्त कहना भी मिथ्या ही है, क्योंकि वे ही सदवस्थापन्न मिथ्यात्वादि कुछ काल के पश्चात् उदय में आकर अपना फल देने लगेंगे। तब तो ज्ञानी के आस्रव होगा ही। जैसे तत्काल विवाही हुई बाल्यावस्था युक्त स्त्री भोगने के योग्य नहीं होती, पर वही स्त्री जब युवावस्था में आ जाती है, तब भोगी ही जाती है। प्रारम्भ में वह भले ही उपभोग में न लाई जा सके पर आगे जाकर वह भोगने योग्य होने से भोगी जाती है। वैसे ही यहाँ समझना चाहिए कि सत्ता में विद्यमान मिथ्यात्वादि भले ही आस्रव में कारण न हों, पर वे उदय काल में तो आस्रव के हेतु बन जाते हैं अतः ज्ञानी को हमेशा निरास्रव कहना समुचित नहीं है? ऐसा प्रश्न—

(तत्रोत्तरयति) उक्त शङ्का का परिहारात्मक उत्तर देते हैं—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः।
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः॥

तदपि सकल राग-द्वेष-मोह व्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥६॥

भावार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**पूर्वबद्धाः**) अज्ञानावस्था में रागादि के द्वारा बांधे हुए। (**द्रव्यरूपाः**) पुद्गलरूप (**प्रत्ययाः**) प्रत्यय–आस्रव के कारण (**हि**) निश्चय से (**समयम्**) समय का (**अनुसरन्तः**) अनुसरण करते हुए (**सत्ताम्**) सत्ता को-मौजूदगी को (**न**) नहीं (**विजहति**) छोड़ते हैं (**तदपि**) तो भी (**ज्ञानिनः**) स्वपर भेदविज्ञानी के (**सकल राग-द्वेष-मोह व्युदासात्**) समस्त राग-द्वेष-मोह का त्याग होने से (**कर्मबन्धः**) नवीन कर्म का बन्ध (**न**) नहीं (**अवतरति**) होता है।

सं० टीका- (**हि-स्फुटम्**) स्फुट रूप से अर्थात् निश्चय से (**यद्यपि ज्ञानिनः पुंसः**) यद्यपि ज्ञानी आत्मा के (**द्रव्यरूपाः-पुद्गलकर्मरूपमिथ्यात्वादयः**) पुद्गलकर्ममय मिथ्यात्वादि (**पूर्वबद्धाः-पूर्वं रागद्वेषादिभिः बद्धाः निबद्धा—आत्मसात्कृता इत्यर्थः**) पूर्व काल में रागद्वेषादि विभाव भावों से बांधे हुए अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहता को प्राप्त हुए (**प्रत्ययाः - उत्तरकर्मबन्ध कारणानि**) भविष्य में कर्मबन्ध के हेतु (**सत्ताम्-अस्तित्वम्**) सत्ता-अस्तित्व-विद्यमानता को (**न विजहति न त्यजन्ति**) नहीं छोड़ते (**समयम्-उदयकालं**) उदय काल को (**अनुसरन्तः-आश्रयन्तः, उदयमागच्छन्त इत्यर्थः**) अनुशरण-आश्रयण करने वाले अर्थात् उदय को प्राप्त होने वाले (**तदपि-तथापि**) तथापि-तो भी (**जातु-कदाचित्**) कभी (**कर्मबन्धः-कर्मणां बन्धः**) कर्मों का बन्ध (**न-अवतरति-अवतारं न प्राप्नोति न भवतीत्यर्थः**) अवतार को नहीं प्राप्त होता अर्थात् कर्मबन्ध नहीं होता है। (**कस्य ?**) किसके (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**कुतः**) किससे- (**सकलेत्यादिः-सकलाः समस्तास्ते च ते रागद्वेषमोहाश्च तेषां व्युदासः परित्यागस्तस्मात्**) समस्त राग-द्वेष मोह आदि के परित्याग से (**रागद्वेषमोहानाम्-आस्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्ध हेतुत्वात्**) द्रव्यास्रव के हेतुभूत राग-द्वेष-मोह के अभाव में मिथ्यात्वादि पौद्गलिक कारण बन्ध के हेतु नहीं होते क्योंकि (**कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्**) कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है ऐसा नियम है।

भावार्थ—पूर्व समय में अज्ञानदशा में रागादि के निमित्त से बांधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म उदयकाल में भी ज्ञानी के नवीन कर्म बन्ध के हेतु नहीं होते हैं क्योंकि ज्ञानी रागादि भावों का मात्र ज्ञाता होता है कर्ता नहीं। कर्ता तो वह अपने ज्ञानादि भावों का ही होता है और वे ज्ञानादि आत्मा के भाव बन्ध के हेतु नहीं होते प्रत्युत संवर निर्जरा और मोक्ष के हेतु होते हैं। ज्ञानी के जीवकृत रागादि भाव का अभाव है कर्मकृत रागादि का मात्र ज्ञाता है इसलिए बन्ध के कारण नहीं है।

नवीन कर्म बन्ध के कारणीभूत रागादि के अभाव से द्रव्यबन्धरूप कार्य का अभाव स्वतः सिद्ध होता है अतः ज्ञानी निर्बन्ध होता है यह इसका फलितार्थ है ॥६॥

(**अथ पुनर्बन्धाभावोविभाव्यते**) अब फिर से बन्ध के अभाव का प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
ततएव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जिस कारण से (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**रागद्वेषविमोहानाम्**) राग द्वेष मोह का (**असम्भवः**) अभाव (**अस्ति**) है (**ततः**) तिस कारण से (**एव**) ही (**अस्य**) इस आत्मज्ञानी के (**बन्धः**) नवीन कर्मों का बन्ध (**न**) नहीं (**भवति**) होता है (**हि**) क्योंकि (**ते**) वे राग द्वेष मोह ही (**बन्धस्य**) बन्ध के (**कारणम्**) कारण होते हैं।

सं० टीका—(**ततएव-तस्माद्धेतोः**) तिस कारण से ही (**निश्चयेन**) नियम से (**अस्य-ज्ञानिनः मुनेः**) इस ज्ञानी-स्वरूपज्ञ साधु के (**बन्धः कर्मणां बन्धः**) कर्मों का बन्ध (**न**) नहीं (**स्यात्**) होता है (**कुतः**) किससे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**ज्ञानिनः-ज्ञानम्-आत्मज्ञानम्-विद्यते यस्यासौ तस्य**) जिसके आत्माका ज्ञान विद्यमान है उसके (**असम्भवः-न सम्भवः**) सम्भवनहीं है (**केषाम्**) किनका (**रागद्वेषविमोहानाम्-रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेषविमोहास्तेषाम्**) राग-द्वेष और मोह का (**ननु तेषामभावे कथं बन्धाभावः**) शङ्काकार पूछता है राग आदि के अभाव में बन्ध का अभाव कैसे सिद्ध होता है? उत्तर में कहते हैं (**हीति यस्मात्**) जिस कारण से (**ते-रागद्वेषादयः**) वे राग-द्वेष आदि (**बन्धस्य-कर्मबन्धस्य कारणं हेतुः**) कर्मबन्ध के हेतु होते हैं (**हेतुत्वाभावे हेतुमदभावस्य सुप्रसिद्धत्वात्**) क्योंकि हेतु-कारण-के अभाव में हेतुमान् कार्य-का अभाव सुप्रसिद्ध है।

भावार्थ—बन्धमात्र कार्य के प्रति कारणता, राग द्वेष मोह को है। यदि राग द्वेष मोह रूप कारण नहीं हैं तो बन्धरूप कार्य भी नहीं होगा। ज्ञानी के बुद्धि पूर्वक रागादि नहीं होते। अतः उसके बन्ध भी नहीं होता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव स्वभाव सिद्ध ही है। ज्ञानी के रागादि भाव में अपनत्वपना स्वामित्वपना नहीं है अतः वे कर्मकृत् है इसलिए बन्ध का कारण नहीं है।

(**अथ बन्ध विधुरत्वं विधीयते**) अब बन्ध की विधुरता-शून्यता का विधान प्रतिपादन-करते हैं—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**उद्धतबोधचिह्नम्**) उत्कट ज्ञान स्वरूप (**शुद्धनयम्**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत वस्तु का (**अध्यास्य**) आश्रय करके (**ये**) जो ज्ञानी जन (**सदा**) हमेशा (**ऐकाग्र्यम्**) एकाग्रता का (**एव**) ही (**कलयन्ति**) अभ्यास करते हैं (**ते**) वे ज्ञानी पुरुष (**रागादि मुक्तमनसः**) रागादि से रहित चित्त वाले (**भवन्तः**) होते हुए (**सततम्**) निरन्त-हमेशा (**बन्धविधुरम्**) बन्ध तत्त्व से रहित (**समयस्य**) आत्मा के (**सारम्**) वास्तविक स्वरूप को (**पश्यन्ति**) देखते हैं-अनुभव करते हैं।

सं० टी०—(**ते योगिनः**) वे योगी-मुनि-जन (**समयस्य-पदार्थस्य-सिद्धान्तस्य वा**) समय-पदार्थ अथवा सिद्धान्त-स्याद्वाद रूप आगम के (**सारम्-आत्मानम्**) स्वरूप को-असलियत को (**पश्यन्ति-ईक्षन्ते**) देखते या जानते हैं (**किम्भूतम्**) कैसे सार को (**बन्धविधुरम्-बन्धैः-प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धैर्विधुरम्-रहितम्-बन्धशून्यमित्यर्थः**) प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-बन्ध से शून्य (**किम्भूताः?**) कैसे (**रागादिमुक्तमनसः-रागद्वेषमोहैर्मुक्तानि-रहितानि-मनांसि चेतांसि येषां ते**) राग द्वेष मोह से रहित चित्त वाले (**भवन्तः-आय-**

मानाः सन्तः) होते हुए (**सततम्-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**ते के ?**) वे कौन (**ये पुरुषाः**) जो पुरुष (**सदा-नित्यम्**) हमेशा (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**कलयन्ति-कलनां कुर्वन्ति-धारयन्तीत्यर्थः**) कलना करते धारण करते हैं (**किम्**) किसे (**ऐकाग्र्यम्-एकाग्रताम्-आत्मनासह एकता ताम्**) आत्मा के साथ एकता-अभिन्नता को (**किं कृत्वा**) क्या करके ? (**अध्यास्य-आश्रित्य-अङ्गीकृत्य-ध्यात्वेत्यर्थः**) आश्रय अङ्गीकार—करके अर्थात् ध्यान करके (**कम्**) किसका (**शुद्धनयम्-शुद्धकर्ममलकलङ्क रहितं स्वरूपं नयति-प्राप्नोति (इति) शुद्धनय-आत्मा तम् अथवा शुद्धद्रव्यार्थिक नयमाश्रित्य**) शुद्धनय का—अर्थात् कर्ममलरूप कलङ्क से रहित स्वरूपवान् आत्मा का अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का आश्रय करके (**किम्भूतम्**) कैसे **उद्धतेत्यादि-उद्धतः उत्कटः-कर्मविनाशकत्वात् स चासौ बोधः ज्ञानं च स एव चिह्नं लक्षणं यस्य स तम्**) कर्म का विनाशक होने से उत्कट ज्ञान ही जिसका लक्षण परिचायक लक्ष्य है उसका।

भावार्थ—जो आत्मस्वरूप के ज्ञाता पुरुषविशेष हैं वे नियम से अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा के साथ स्वरूपता अभिन्नता स्थापित करके अन्तर्दृष्टि से आत्मा को सर्वविध बन्ध से शून्य ज्ञान स्वरूप ही देखते और जानते हैं। यह जानना यद्यपि शुद्धनयाश्रित होने से आंशिक है क्योंकि शुद्धनयश्रुत ज्ञान का ही एक अंश है तथापि प्रमाण का एकदेश होने से प्रमाणीभूत है सत्यार्थ है और यथार्थ है ॥८॥

(**अथ बन्धत्व मनुबध्नाति**) अब बन्ध की अनुकूलता का निर्देश करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृतविचित्र विकल्पजालम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(**तु**) पुनः (**ये**) जो ज्ञानी पुरुष (**शुद्धनयतः**) शुद्ध नय से (**प्रच्युत्य**) गिर कर अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत आत्मतत्त्व को त्याग कर (**पुनः**) फिर से (**एव**) ही (**रागादियोगम्**) रागद्वेष आदि के सम्बन्ध को (**उपयान्ति**) प्राप्त होते हैं (**ते**) वे पुरुष (**विमुक्तबोधाः**) ज्ञान रहित (**सन्तः**) होते हुए (**इह**) इस संसार में (**पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः**) पूर्व काल में बंधे हुए द्रव्यास्रवों के द्वारा (**कृतविचित्र-विकल्पजालम्**) किये गये नाना तरह के विकल्पों के समूह वाले (**कर्म बन्धम्**) कर्मबन्ध को (**बिभ्रति**) धारण करते हैं।

सं० टी०—(**इह-जगति**) इस जगत में (**ते-प्राणिनः**) वे प्राणी (**कर्मबन्धम्**) कर्मों के बन्ध को (**बिभ्रति-दधते**) धारण करते हैं (**किम्भूताः**) कैसे होते हुए (**विमुक्तबोधाः-विमुक्तो बोधो ज्ञानं यैस्ते**) जिन्होंने ज्ञान को छोड़ दिया है अर्थात् अज्ञान दशा को अङ्गीकार किया है (**बोधाद्विमुक्ताः, इति वा कृति समासे क्वचित्पूर्व निपातः**) अथवा बोध सम्यग्ज्ञान से विमुक्त रहित क्योंकि कृदन्त समास में कहीं कृदन्त का पूर्वनिपात होता है।

(**किम्भूतम्-तम्**) कैसे बन्ध को (**कृतेत्यादिः-विचित्राः शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषां जालं समूहः कृतं निष्पादितं, विचित्रविकल्प जालं येन तम्**) शुभ और अशुभरूप नाना प्रकार के विकल्पों के

समूह का निष्पादक (कैः) किनसे (पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवैः-अनादिनिबद्ध पूर्वमिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवैः) अनादि से बंधे हुए पूर्व मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवों से (ते के) वे कौन (ये तु इति विशेषः) किन्तु (ये पुरुषाः) जो पुरुष (रागादि योगं-रागद्वेषादीनां योगं संयोगम्) राग-द्वेष आदि के संयोग को (उपयान्ति-प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं (पुनरेव-पूर्वज्ञानावस्थानात् पश्चादेव,) पूर्व ज्ञान की अवस्थिति के पीछे हो (शुद्धनयतः-शुद्धस्वरूपात्मनः) शुद्धस्वरूपवान् आत्मा से (प्रच्युत्य-च्युत्वा) च्युत होकर-गिर कर ॥९॥

भावार्थ—शुद्धनय से भ्रष्ट हुआ ज्ञानी भी अज्ञान की दशा में आकर पुनः राग-द्वेष मोह के वशीभूत हो विविध प्रकार के विकल्प जाल में फंसकर नवीन कर्मों का बन्ध का पात्र हो जाता है। यह शुद्धनय से च्युत हुआ अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से अनन्त संसार के कारणीभूत कर्मों का बन्ध करने वाला जीव ही मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है, क्योंकि मिथ्यात्व के साथ होने वाला बन्ध ही यहाँ बन्ध रूप से विवक्षित है। चारित्र मोह सम्बन्धी बन्ध की चर्चा यहां किसी भी प्रकार से विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह बन्ध अनन्त संसार का संवर्धक नहीं होता है साथ ही वह ज्ञानी के रुचि पूर्वक नहीं होता है। ज्ञानी के ज्ञान में रागादि ज्ञेय रूप से ही प्रतिभासित होते रहते हैं उपादेय रूप से नहीं। क्योंकि वे रागादि हेय कोटि में ही सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में विद्यमान हैं अतः सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्ग से बन्ध रहित ही होता है। उसकी दृष्टि में बन्धमात्र हेय ही है ऐसा समझना चाहिए ॥९॥

(अथ बन्धाबन्धयोस्तात्पर्यं पम्फुल्यते) अब बन्ध और अबन्ध के तात्पर्य को स्फुट करते हैं—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध नयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि ॥१०॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (अत्र) यहाँ (शुद्धनयः) शुद्ध नय अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (हेयः) हेय-त्यागने-छोड़ने योग्य (न) नहीं (अस्ति) है (इदम्) यह (एव) ही (तात्पर्यम्) तात्पर्य अर्थ (अस्ति) है (तदत्यागात्) उस शुद्ध नय के अत्याग से (बन्धः) बन्ध (न) नहीं (अस्ति) होता है (तत्त्यागात्) और उस शुद्धनय के त्यागने से (हि) निश्चय से (बन्धः) बन्ध (एव) ही (भवति) होता है।

सं० टीका—(अत्र-बन्धाबन्ध विचारणे) इस बन्ध और अबन्ध के विचार विषय में (इदमेव-वक्ष्यमाण लक्षणमेव) कही-कहा जाने वाला लक्षण ही (तात्पर्यम्-रहस्यम्) तात्पर्य-रहस्य है (इदम्-किम्?) यह क्या? (हीति-यस्मात्) जिस कारण से (शुद्धनयः-शुद्धात्मा-शुद्धद्रव्यार्थिको वा) शुद्धनय-शुद्ध आत्मस्वभाव अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय (न हेयः न त्याज्यो) त्यागने योग्य नहीं है (हितार्थिभिः) हितेच्छुओं द्वारा (बन्धः-कर्मबन्धः) कर्मों का बन्ध (नास्ति न जायते) नहीं होता है (कुतः) किससे (तदत्यागात्-तस्य शुद्धनयस्य अत्यागः-अत्यजनम्-तस्मात्) उस शुद्ध नय के नहीं छोड़ने से (हि-पुनः) फिर (बन्धः-कर्मबन्धः) कर्म का बन्ध (भवत्येव) होता ही है (कुतः) कैसे (तत्त्यागात्-तस्य-शुद्धनयस्य त्यागः त्यजनं तस्मात्) उस शुद्धनय के त्याग से।

भावार्थ—शुद्धद्रव्यार्थिक नय के विषयभूत आत्मा का आश्रयमुक्ति का कारण है तथा शुद्धनय का परिहार बन्ध का कारण है ॥१०॥

अथ शुद्धनयस्यात्याज्यत्वमामनुते) अब शुद्ध नय की उपादेयता का प्रतिपादन करते हैं—

धीरोदार महिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिम्
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥११॥

अन्वयार्थः—(**अनादिनिधने**) आदि अन्त रहित (**धीरोदारमहिम्नि**) धीर-निश्चल और उदार-विशाल-उत्कट महत्त्वशाली (**बोधे**) ज्ञान में (**धृतिम्**) धैर्य निश्चलता-सन्तोष को (**निबध्नन्**) धारण करता हुआ (**कर्मणाम्**) ज्ञानावरण आदि कर्मों का (**सर्वंकषः**) मूलोच्छेद करने वाला (**शुद्धनयः**) शुद्धद्रव्यार्थिकनय (**कृतिभिः**) धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा (**जातु**) कभी (**न**) नहीं (**त्याज्यः**) त्यागा जाना चाहिए (**यतः**) क्योंकि (**तत्रस्थाः**) उस शुद्धनय में आरूढ़ महापुरुष (**बहिः**) बाहिर (**निर्यत्**) निकलने वाले (**स्वमरीचिचक्रम्**) अपने अल्पज्ञान-क्षयोपशमिक ज्ञान की किरणों के समूह की परिपाटी को (**अचिरात्**) शीघ्र ही (**संहृत्य**) समेट करके (**पूर्णम्**) परिपूर्ण-सब तरफ से भरपूर (**ज्ञानघनौघम्**) ज्ञान-घन के समूह से युक्त (**एकम्**) अद्वितीय (**अचलम्**) निश्चल (**शान्तम्**) क्षोभ रहित अतएव प्रशान्त (**महः**) तेज को (**पश्यन्ति**) देखते हैं—अनुभव करते हैं।

सं० टीका—(**जातु-कदाचित्**) कभी (**न त्याज्यः-न हेयः**) नहीं त्यागा जाना चाहिए (**ध्यानतः क्षणान्न मोक्तव्यः**) ध्यान से क्षण भर भी नहीं छोड़ा जाना चाहिए (**कः ?**) कौन (**शुद्धनयः-शुद्धपरमात्मा, शुद्ध द्रव्यार्थिक नयो वा**) शुद्धनय-शुद्धपरमात्मा अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (**कैः**) किनके द्वारा (**कृतिभिः-संसार दशा चक्रं परिपूर्णं कृतं विद्यते येषां तैः अथवा कृतं सुकृतं विद्यते येषां तैः योगिभिः**) जिन्होंने संसार के दशा चक्र को समाप्त कर लिया है अथवा जिन्होंने धर्म का उपार्जन किया है—ऐसे योगियों के द्वारा (**किम्भूतः सः**) वह शुद्धनय कैसा है (**सर्वंकषः-सर्वं समस्तं कषति निहन्तीति सर्वंकषः**) सब का नाश करने वाला यहाँ सर्व शब्दोपपद पूर्वक कष धातु से (**सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः इत्यनेनसूत्रेण सिद्धः**) सर्व, शब्द कूल, अभ्र और करीष शब्दोपपदकष धातु से खच् प्रत्यय होता है एतदर्थक "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः" इस सूत्र से खच् प्रत्यय करके रूप सिद्ध किया गया है (**केषां**) किनके (**कर्मणां-ज्ञानावरणादि प्रकृतीनाम्**) ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के (**किं कुर्वन् ?**) क्या करता हुआ (**निबध्नन्-कुर्वन्**) धारण करते हुए (**काम् ?**) किसको (**धृतिं-सन्तोषम्**) धृति-सन्तोष-को (**क्व**) किसमें (**बोधे-ज्ञाने**) ज्ञान में (**किम्भूते**) कैसे (**धीरोदारमहिम्नि-धीरः-अक्षोभ्यत्वात्, उदारः उत्कटः-कर्मविनाशेबद्धकक्षत्वात् धीरश्चासावुदारश्च वा द्वन्द्वः महिमा, महिमानो वा यस्य तस्मिन्**) क्षुब्ध करने योग्य न होने से धीर, कर्मों के विनाश करने में समर्थ होने से उदार-उत्कट,

महिमा वाले (पुनः-किम्भूते) फिर कैसे (अनादिनिधने-आद्यन्तरहिते द्रव्यरूपेण नित्यत्वात्) द्रव्यरूप से नित्य अतएव आदि अन्त रहित (तत्रस्थाः-तत्र शुद्धनये, तिष्ठन्तीति तत्रस्थाः योगिनः) उस शुद्ध नय में स्थित योगीजन (महः-धाम) महः-धाम—तेज को (पश्यन्ति-ईक्षन्ते) देखते हैं (किंकृत्य) क्या करके (अचिरात्-शीघ्रं) जल्दी (संहृत्य-हृत्वा-विनाश्येत्यर्थः) नष्ट करके (किम्) किसे (स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः स्वस्मिन् वा मरीचिचक्रं-मृगतृष्णासमूहम्) अपनी मृग तृष्णा की परिपाटी को (किम्भूतं महः) कैसे तेज को (बहिः बाह्यं) बाहर (निर्यत्-प्रकटीभवत्) प्रकट होता हुआ (पूर्णं-परिपूर्णं-निरावरणत्वात्) आवरण रहित होने से अतिशय पूर्ण (ज्ञानेत्यादि-ज्ञानेनघनोनिरन्तरः ओघः समूहः यत्र तत्) ज्ञान से बेरुकावट समूह वाले उस (एकं-अद्वितीयं-ज्ञानसदृशस्यापरस्याभावात्) ज्ञान के समान अन्य के न होने से अद्वितीय (अचलं-अक्षोभ्यं) निश्चल-क्षोभ रहित (शान्तं-क्रोधादेरभावात्) क्रोध आदि के न होने से शान्त।

भावार्थ—जो योगी शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे शुद्धनय निरूपित-आत्मा के ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का संहार करके उस निरावरण, असहाय, अनन्त ज्ञान को प्राप्त करते हैं जो आत्मा का असली स्वरूपात्मक तेज है। जिसके होते ही आत्मा समस्त चराचर पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा बन सर्वदर्शी कहा जाता है। यह है शुद्धनय के समाराधन का सुफल।

(अथ रागादीनामभावे किं स्यादित्यभ्येति) अब रागादि के अभाव में क्या होता है, यह विचार प्रस्तुत करते हैं—

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपिपरमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सर्वतः अपि) सभी (रागादीनाम्) राग-द्वेष आदि (आस्रवाणाम्) आस्रवों के (झगिति) शीघ्र (विगमात्) विनाश होने से (नित्योद्योतम्) निरन्तर प्रकाशमान (अन्तः) अन्तरङ्ग में (किमपि) किसी अनिवर्चनीय (परमम्) अतिश्रेष्ठ (वस्तु) गुण पर्यायात्मक पदार्थ को (सम्पश्यतः) भले प्रकार से देखने-जानने वाले महापुरुष के (स्फारस्फारैः) अतिशय विस्तार वाले (स्वरस विसरैः) आत्मिक रस के विस्तार से (सर्वभावान्) सभी पदार्थों को (प्लावयत्) अपने में निमग्न करता हुआ (आलोकान्तात्) समस्त लोक पर्यन्त (अचलम्) निश्चल (अतुलम्) अनुपम (एतत्) यह (ज्ञानम्) ज्ञान—केवलज्ञान (उन्मग्नम्) प्रकट होता है।

सं० टीका—(एतत्) यह (ज्ञानं-बोधः) ज्ञान-परिपूर्ण केवलज्ञान (उन्मग्नं-प्रकटितम्) प्रकट हुआ है (किमपि-अतिशायि अनिर्वाच्यम्) कोइ अतिशय अनिवर्चनीय (वस्तु वसति गुण पर्यायानितिवस्तु) वस्तु जिसमें गुण ओर पर्यायों का निवास होता है उस पदार्थ को (कस्य) किसके (अन्तःमध्ये) अन्तः मध्य में अर्थात् अन्तरङ्ग में (सम्पश्यतः—अवलोकयतोमुनेः) देखने वाले मुनि के (किम्भूतम्) कैसा ज्ञान (नित्यो-

द्योतम्—नित्यं प्रकाशमानम्) हमेशा प्रकाशमान **(यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञाना-वरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न)** यद्यपि ज्ञानावरण कर्म से आवृत लब्ध्य पर्याप्तक निगोद जीव के नित्योद्योती—निरन्तर प्रकाशमान ज्ञान नहीं होता **(तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्याक्षरा-नन्तभागशक्तेः निरावरणत्वं नित्योद्योतत्वं आत्मनोऽस्त्येव)** तथापि अक्षर के अनन्तवें भागरूप शक्तिशाली लब्ध्यक्षर अपर नाम वाला पर्याय संज्ञक ज्ञान निरावरण होने से नित्य ही प्रकाशमान रहता है निगोद-जीव के **(पुनः—परमं-परा-उत्कृष्टा इन्द्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादि लक्ष्मीर्यस्य तत्)** फिर कैसा ? उत्कृष्ट अर्थात् इन्द्र आदि को नीचा कर देने वाली ज्ञानरूप लक्ष्मी वाला **(कुतोऽन्तरवलोकनम्)** कैसे अन्तरवलोकन को **(झिगिति-शीघ्रम्)** शीघ्र-जल्दी तत्काल **(सर्वतोऽपि-सर्वरूपेणापि)** सर्वस्वरूप से **(रागादीनां-राग-द्वेष-मोह लक्षणभावास्रवाणां प्रत्ययानाम्)** राग-द्वेष-मोह स्वरूप भावास्रवरूप कारणों के **(क्षिप्रात-अभावात्)** अभाव से **(किम्भूतं ज्ञानम्)** कैसा ज्ञान ? **(आलोकान्तात्—श्रेणिघनमात्र त्रिलोकमभिव्याप्य)** श्रेणिघन प्रमाण तीन लोक को सब तरफ से घेर करके **(सर्वभावान्-समस्तपदार्थान्)** सभी पदार्थों को **(प्लावयत्—सिञ्चयत् परिच्छिन्ददित्यर्थः)** जानता हुआ **(कैः)** किनसे ? **(स्वरस विसरैः—स्वस्य-आत्मनः, रसः, तस्य विसराः सन्दोहाः तैः)** आत्मा के रस के समूह से **(किम्भूतैः)** कैसे ? **(स्फारस्फारैः—स्फारात्-विस्तीर्णात्-आकाशात् स्फारैः-विस्तीर्णैः-ज्ञानशक्त्यर्णवे व्योमादीनां बिन्दुवदल्पत्वात्)** विस्तीर्ण आकाश से विस्तीर्ण—अर्थात् अनन्त आकाश से भी अधिक विस्तार वाले, क्योंकि—ज्ञानशक्ति रूप-समुद्र में आकाश आदि सभी द्रव्यें जल की बूंद के समान अल्प मालूम पड़ती हैं **(पुनः)** फिर कैसा **(अचलम्-अक्षोभ्यम्)** क्षोभ-रहित, चञ्चल नहीं होने वाला **(अतुलं—न विद्यते तुला-मानं यस्यतत्)** तुलना-रहित—अनुपम **(तुला-मतिक्रान्तमिति वा)** अथवा तुला—तुलना-समानता को अतिक्रमण करने वाला **(एकस्मिन्पार्श्वे—धर्मा-धर्माकाशकालानुभागयोगकषायाध्यवसायादीनां शक्तिस्तथापि ज्ञानशक्तेरनन्तैकभागः)** एक तरफ के हिस्से में धर्म, अधर्म, आकाश, काल, अनुभागयोग, कषायाध्यवसाय आदि की शक्ति है, तो भी वह शक्ति ज्ञान-शक्ति के अनन्त भागों में से एक भाग के बराबर है।

भावार्थ—शुद्ध नयानुसारी आत्मदृष्टी महात्मा के रागादि भावों का मूलोच्छेद होने पर ऐसा अविकल निरावरण अचिन्त्य महात्म्य युक्त अनन्त ज्ञानरूपी अलौकिक समुद्र उद्वेलित हो उठता है, जिसके अन्दर तीन लोक के अनन्तानन्त पदार्थ एक बूंद के समान प्रतिभासित होते हैं। उक्त प्रकार के सर्वोपरि ज्ञान को प्राप्त करने के इच्छुक महापुरुषों को सर्वप्रथम राग-द्वेष-मोह रूप आस्रवों का निरोध करने के हेतु शुद्धनय का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, जो समस्त परपदार्थों से शून्य एकमात्र शुद्ध चैतन्य का ही अवबोध कराता है और जिसका अन्तिम प्रतिफल केवल ज्ञान की प्राप्ति है।

इति श्री समयसार पद्यस्याध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां चतुर्थोऽङ्कः।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य, जिसका दूसरा नाम अध्यात्मतरङ्गिणी है, की व्याख्या में चौथा अङ्क समाप्त हुआ॥

पञ्चमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ संवराधिकारः ॥५॥

स जयतु जनघनसिन्धुं ज्ञानामृतचन्द्र एव सम्पुष्यत् ।
शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान् ॥

अन्वयार्थ—जिनका (**ज्ञानामृतचन्द्रः**) ज्ञानरूपी अमृतचन्द्र (**शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः**) शुभचन्द्र जैसी चाँदनी को प्राप्त होकर (**एव**) ही (**जनघनसिन्धुं**) जन-समूहरूपी समुद्र को (**संपुष्यत्**) संपुष्ट करता है (**सः**) वे (**सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान्**) उत्तम कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य (**जयतु**) जयवन्त हों।

(**अथ संवरं सूचयति**) अब संवर को सूचित करते हैं—

आसंसारविरोधि संवर जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध नित्यविजयं सम्पादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१॥

अन्वयार्थ—(**आसंसारविरोधि संवर जयैकान्तावलिप्तास्रवन्यक्कारात्**) अनादि संसार के विरोधी संवर को जीतने से एकान्त रूप से अहंकार युक्त आस्रव के तिरस्कार से (**प्रतिलब्ध नित्य विजयम्**) नित्य विजय को प्राप्त किया है ऐसे (**संवरम्**) संवर तत्त्व को (**सम्पादयत्**) सम्पादन करता हुआ (**पररूपतः**) पर रूप से (**व्यावृत्तम्**) पृथक्-जुदा (**सम्यक्स्वरूपे**) समीचीन निज रूप में (**नियमितम्**) निश्चित अतएव (**उज्ज्वलम्**) उज्ज्वल-देदीप्यमान (**निजरस प्राग्भारम्**) आत्मिक रस से भरपूर (**चिन्मयम्**) चैतन्य स्वरूप (**ज्योतिः**) तेज (**उज्जृम्भते**) उदय को प्राप्त हो रहा है।

सं० टी०—(**उज्जृम्भते-विलसते-प्रकाशत इत्यर्थः**) उदय को प्राप्त हो रहा है, विशेष रूप से सुशोभित हो रहा है अर्थात् प्रकाशमान है (**किम्**) क्या (**चिन्मयं-ज्ञानमयम्**) चैतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञानरूप (**ज्योतिः-तेजः**) तेज (**किम्भूतम्**) कैसा (**संवरम्-कर्मणामागन्तुकानां निरोधम्**) आगे आने वाले कर्मों के निरोध को (**सम्पादयत्-कुर्वत्**) करता हुआ (**किम्भूतं-संवरम्**) कैसे सँवर को (**प्रतीत्यादिः-प्रतिलब्धः-सम्प्राप्तः-नित्यं-निरन्तरं विजयो येन तम्**) जिसने निरन्तर-हमेशा के लिए विजय प्राप्त की है (**कुतः**) कैसे (**आसंसारेत्यादिः—संसरणं-संसारः-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः, संसारमभिव्याप्य आसंसारं कर्म-विरोधयति विनाशयति इत्येवं शीलः-आसंसारविरोधी स चासौ संवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जय एवैकः**

अद्वितीयः, अन्तः स्वभावः तेनावलिप्तः संयुक्तः स चासौ आस्रवश्चतस्यन्यक्कारः तिरस्कारः धिक्कार इत्यर्थः तस्मात्) द्रव्यक्षेत्र कालभव और भावरूप संसार को व्याप्त करके कर्म का नाश करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे संवर की विजय रूप अद्वितीय स्वभाव से गर्वित आस्रव के तिरस्कार, धिक्कार के द्वारा **(पुनः किम्भूतं संवरम्)** फिर कैसे संवर को **(पररूपतः परः-द्रव्यादि, रागादिर्वा तस्यरूपं स्वरूपं तत्)** आत्मा से भिन्न पुद्गलादि परद्रव्यों से अथवा रागादि परनिमित्तज भावों से **(व्यावृतं-निवृत्तम्)** पृथक्।

(तथोक्त माप्तपरीक्षायाम्) ऐसा ही आप्त परीक्षा में कहा है—

तेषामागमिनां तावद् विपक्षः संवरोमतः ॥१११॥ इति।

अन्वयार्थ – (आगमिनाम्) आगे आने वाले **(तेषाम्)** उन कर्म रूपी पर्वतों का **(तावद्)** सबसे प्रथम **(विपक्षः)** विरोधी-विनाशक **(संवरः)** संवर **(मतः)** माना गया है।

(पुनः) फिर **(नियमितम्-कर्मनिरोधे-नियमोजातोयस्यतम्)** जिसके कर्मों के निरोध करने का ही नियम है **(किम्भूतं ज्योतिः)** कैसी ज्योति **(सम्यक्स्वरूपे-आत्मस्वरूप इत्यर्थः)** समीचीन स्वरूप में अर्थात् आत्मा के निज रूप में **(स्फुरत्-देदीप्यमानम्)** स्फुरायमान-देदीप्यमान अर्थात् प्रकाशमान **(पूर्वोक्तो व्यावृत्तमित्यादि विशेषणौ द्वौ ज्योतिषो वा)** पूर्व में कहे हुए व्यावृत्तम् इत्यादि दो विशेषण ज्योतिष के भी हैं। **(पुनः)** फिर **(उज्ज्वलम्-सदावदातम्)** निरन्तर देदीप्यमान-स्वच्छ-निर्मल **(पुनः कीदृक्षं)** फिर कैसा **(निजरस प्राग्भारम्-स्वात्मानुभवरसेन-प्राक्-पूर्वभारः-भरणं यस्यतत्)** जो पहले से ही आत्मानुभूति रूपरस से भरपूर है।

भावार्थ—संसार का मूल आस्रव तत्त्व है और उसका बाधक एकमात्र संवर तत्त्व है। "आस्रवः निरोधः संवरः" आस्रव का निरोधी संवर है, यह तत्त्वार्थ सूत्र से सुप्रमाणित है। लेकिन प्रत्येक जीव अनादितः आस्रव तत्त्व से उपलक्षित हैं संवर से नहीं। कारण कि सँवर तत्त्व एकमात्र सम्यग्दृष्टि के ही होता है और आत्मा अनादितः अगृहीत मिथ्यात्व से युक्त होता है, इसलिये उसके सँवर का सर्वथा अभाव ही रहता है। अतः आस्रव संवर का विजेता होने से सदा ही विजय के मद से उन्मत्त रहता है। उसके उक्त उन्माद को सम्यग्दृष्टि का सँवर तत्त्व जड़ से ही उखाड़ फेंकता है। यह सँवर शुद्ध सम्यग्दृष्टि के शुद्ध नय के आश्रय से ही उत्पन्न होता है, जिसके परम साहाय्य से आत्मदृष्टि जीव अन्ततोगत्वा परमोत्कृष्ट आत्मिक ज्ञान ज्योति से प्रकाशमान हो उठता है, जिसमें लोकत्रय के समस्त चराचर पदार्थ जल की एक बूंद के समान चमकते रहते हैं। यह ज्ञान अनन्त ज्ञेयों से भी अनन्तगुणीत निर्बाध है, परनिरपेक्ष है और है परपदार्थों के परिणमनों से सर्वथा शून्य ॥१॥

(अथ ज्ञान राग योः स्वरूपं भेदिमद्यते) अब ज्ञान और राग में स्वरूप से भेद का प्रतिपादन करते हैं—

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।

भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीय च्युताः ॥२॥

अन्वयार्थः—(**चैद्रूप्यम्**) चेतनतात्मक स्वरूप को (**च**) और (**जड़रूपताम्**) जड़तात्मक स्वरूप को (**दधतोः**) धारने करने वाले (**द्वयोः ज्ञानस्य रागस्य च**) दोनों ज्ञान और राग के (**विभागम्**) विभाग में अर्थात् दोनों में स्वरूपकृत भेद को (**कृत्वा**) करके (**अन्तःदारुणदारुणेन**) अन्तरङ्ग में भेद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के द्वारा (**परितः**) सब तरफ से (**इदम्**) यह (**निर्मलम्**) निर्मल कर्म कालिमा से रहित (**भेद-ज्ञानम्**) स्वपर भेदज्ञान (**उदेति**) उदय को प्राप्त कर रहा है अतएव (**अधुना**) अब (**सन्तः**) हे सन्त पुरुषो (**यूयम्**) तुम सब (**द्वितीयच्युताः**) पर पदार्थ पुद्गलादि परद्रव्य से रहित (**एकम्**) एक अद्वितीय (**शुद्धज्ञान घनौघम्**) शुद्ध ज्ञानघन समूह में (**अध्यासिताः**) स्थित (**मोदध्वम्**) आनन्दित होओ।

सं० टी०—(**उदेति-उदयं-गच्छति-चकास्तीत्यर्थः**) उदय को प्राप्त होता अर्थात् देदीप्यमान रहता है (**किम्**) कौन (**भेदविज्ञानम्-क्रकचवद्द्विधाकारकं-ज्ञानम्**) करोंत के समान जीव और पुद्गल को पृथक्-पृथक् बताने वाला ज्ञान (**कस्य**) किसके (**ज्ञानस्य-रागस्य च, ज्ञानरागयोः परस्परमत्यन्तविलक्षणत्वादि-भिन्नत्वम्**) ज्ञान और रागके (भेद को जानने वाले) ज्ञान के और राग के परस्पर—आपसमें-एक दूसरे में लक्षणकृत भेद होने से अत्यन्त भिन्नता है (**किम्भूतम्**) कैसा (**निर्मलं—मिथ्यात्वादि कर्मकालुष्यराहित्यात्**) निर्मल अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि कर्म की कलुषता-गन्दलापन से रहित होने से अति पवित्र (**किम्भूतस्य**) कैसे ज्ञान के (**चैद्रूप्यं-चिदेव-ज्ञानमेव रूपं यस्य स तस्य भावश्चैद्रूप्यं चेतनत्वमित्यर्थः**) ज्ञान ही जिसका स्वरूप है अर्थात् चैतन्य रूप को (**दधतः-धारयतः**) धारण करने वाले (**च-पुनः**) और (**रागस्य**) राग के (**किम्भूतस्य**) कैसे राग के (**जड़रूपतां-अचेतनताम्**) जड़ता-अचेतनता को (**दधतः**) धारण करने वाले (**किंकृत्वा**) क्या करके (**द्वयोः - जीवक्रोधयोः**) जीव और क्रोध इन दोनों के (**अविभागम्-अभेदम्**) अवि-भाग—अभेद को (**अकृत्वा-अविधाय**) नहीं करके (**भेदं कृत्वेत्यर्थः**) अर्थात् भेद करके (**केन**) किससे ? (**अन्त रित्यादिः—दारयति कर्म-शत्रूनिति दारुणं ज्ञानं, अन्तः अभ्यन्तरे, दारुणं—द्विधाकारकं तच्च तद्दारुणं च तेन कारणभूतेन**) जो कर्म शत्रुओं का विदारण करे—वह दारुण अर्थात् ज्ञान अन्तरङ्ग में दारुण-भेद कारक होने से (**सन्तः ?—अहोसत्पुरुषाः ?**) हे सज्जनो (**मोदध्वं—यूयंप्रमोदंकुरुध्वम्**) तुम आनन्द करो (**अधुना—इदानीं—भेदज्ञानोदयेसति**) इस समय अर्थात् भेद-ज्ञान के (समुदय के समय) होने पर (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए (**इदं—एकं—अद्वितीयं भेदज्ञानं**) इस अद्वितीय असाधारण भेद-ज्ञान को (**अध्याश्रिताः आरूढाः प्राप्ताः सन्तः इत्यर्थः**) आरूढ़—अर्थात् प्राप्त होते हुए (**पुनः किम्भूताः**) फिर कैसे (**द्वितीयच्युताः-ज्ञान-रागयोमध्ये द्वितीयेन रागेण च्युताः रहिताः**) ज्ञान और राग इन दोनों में से द्वितीय राग से रहित होते हुए (**किम्भूतमिदम्**) यह कैसा (**शुद्धेत्यादिः—शुद्धं-निर्मलं तच्च तज्ज्ञानं बोधश्च तस्य घनं निरन्तरं अस्य ओघःसमूहः यत्र तत्**) जिसमें निर्मल ज्ञान की निरन्तरता का समूह विद्यमान है।

भावार्थ—चेतन आत्मा के सभी गुण चेतन होते हैं। तथा अचेतन पदार्थ के समस्त गुण अचेतन ही होते हैं। यह सर्वविदित नियमित सिद्धान्त है। अतः आत्मा का ज्ञान गुण चैतन्यमय है। तथा राग पुद्गल जन्य होने से, पुद्गल के अचेतन होने से, अचेतन रूप है। परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अज्ञान के बल से इन दोनों को एक रूप ही जानता है, क्योंकि अनादिकाल से जड़ को ही अपना स्वरूप मानता चला आ रहा है। जड़ से भिन्न चेतन आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, इस प्रकार का भेदपरक ज्ञान आज तक इस अज्ञानी को नहीं हुआ है। अब आत्मा में भेदज्ञान का उदय हुआ है। अतएव यह भेदज्ञानी आत्मा के ज्ञान को चेतन रूप तथा पुद्गल निमित्तज राग को अचेतन रूप मानकर एवं जानकर रागादि से सर्वथा भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ रागादि भावास्रव के विरोधी संवर तत्त्व को प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभाव से अविनाशी अनन्त शक्तिशाली, समस्त लोकालोक प्रकाशी, निरावरणी—केवलज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हुआ है ।।२।।

(अथ शुद्धात्मोपलम्भात् संवरं विवृणोति) अब शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से संवर का विस्तार से वर्णन करते हैं—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन, ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा, परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।३।।

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**कथमपि**) किसी भी प्रकार से अर्थात् महान् कष्ट सह करके भी (**धारावाहिना**) धारावाही (**बोधनेन**) ज्ञान से (**ध्रुवम्**) निश्चित रूप से (**शुद्धम्**) शुद्ध-द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित (**आत्मानम्**) आत्मा को (**उपलभमानः**) अनुभव किया करें (**तद्**) तो (**पर-परिणतिरोधात्**) पर-पुद्गलादि पर-द्रव्यों में ममत्त्व रूप परिणति के अभाव से (**उदयदात्मारामम्**) उदय को प्राप्त हो रही है, रमणीयता जिसमें ऐसे (**शुद्धम्**) शुद्ध-अतिशय पवित्र (**आत्मानम्**) आत्मा को (**एव**) ही (**अभ्युपैति**) प्राप्त करता है।

सं० टीका—(**यदि-यदा**) जब (**अयं-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**आस्ते-अवतिष्ठते**) अवस्थित होता है (**किम्भूतः**) कैसा (**ध्रुवं-निश्चितं**) निश्चय से (**कथमपि-महताकष्टेन**) किसी प्रकार से भी अर्थात् महान कष्ट से (**शुद्धम्-द्रव्यभाव नोकर्म कलङ्कविकलम्**) शुद्ध अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म तथा नोकर्म से रहित (**आत्मानं-स्व-स्वरूपम्**) अपने स्वरूप को (**उपलभमानः-आसादयन्**) प्राप्त करता हुआ (**स्वध्यानविषयीकुर्वाण इत्यर्थः**) अर्थात् अपने ध्यान का विषय करता हुआ (**केन ?**) किससे (**बोधनेन-बोध्यते-ज्ञायते-अनेनेति बोधनं ज्ञानं तेन**) जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप जाना जाय वह बोध अर्थात् ज्ञान उससे (**किम्भूतेन**) कैसे (**धारावाहिना—अनवच्छिन्नरूपत्वेन-स्वर्धुनीधारेव वहतीत्येवं शीलस्तेन**) स्वर्गगङ्गा की धाराके समान निरन्तर रूप से वहन स्वरूप ज्ञान से (**तत्-तदा**) तब (**आत्मानं-चिद्रूपम्-शुद्धमेव निष्कलङ्कमेव**) शुद्ध, निष्कलङ्क आत्मा को ही (**अभ्युपैति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**कुतः**) किससे

(पर-परिणतिरोधात्-परेषु-अचेतनादि पदार्थेषु परिणतिः ममत्वादि लक्षण परिणामः तस्य विरोधः तस्मात्) अचेतन आदि पदार्थों में ममेदं बुद्धि रूप परिणाम का निरोध - अभाव होने से **(किम्भूतं-तम्)** कैसे आत्म-स्वरूप को **(उदेत्यादिः—आत्मनः आरामं-रमणीयं-ज्ञानस्वरूपवनं वा उदयत्-उदयं गच्छत्—आत्मारामं-यथासौ तम्)** जिसमें आत्मा का सौन्दर्य अथवा ज्ञानरूप वन उदय को प्राप्त हो रहा है **(इत्येवं संवर प्रकारः)** इस प्रकार यह सँवर तत्त्व का स्वरूप निर्देश है।

भावार्थ—शुद्धनय आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म से शून्य मात्र चैतन्य का अखण्ड पिण्ड-देखता और जानता है। उक्त नय के विषयभूत आत्मा का धारावाहिक ज्ञान से जब मनन किया जाता है, तब ज्ञानी को तद्रूप आत्मा की उपलब्धि होती है। उस उपलब्ध आत्मा में वस्तुतः पर-पदार्थों के प्रति जरा भी ममत्त्व परिणाम नहीं होता है। जो आस्रव के अभावस्वरूप सँवर का संस्थापक है। इस प्रकार आत्म-दृष्टि का धारावाही आत्मस्वरूप में निरन्तर-बेरुकावट-उपयुक्त-ज्ञान जैसे आत्मा की शुद्धोपलब्धि में कारण है वैसे ही वह रागादि के निरोधक सँवर-तत्त्व के समुपलम्भ में भी कारण है। इससे यह फलित हुआ कि आत्मा का शुद्धस्वरूप आत्मस्वरूपोपलब्धि के समान सँवर के स्वरूप की प्राप्ति में भी परिपूर्ण सहायक-कारण होता है ॥३॥

(अथ कर्म मोक्षं कक्षी करोति) अब कर्मों के मोक्ष का वर्णन करते हैं—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४॥

अन्वयार्थ—**(भेदविज्ञानशक्त्या)** स्वपर भेदविज्ञान के बल से **(निजमहिमरतानाम्)** अपनी आत्मा की महिमा में अनुरक्त **(एषाम्)** इन आत्मदृष्टि महापुरुषों को **(शुद्धतत्त्वोपलम्भः)** शुद्ध-निर्मल आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि **(नियतम्)** निश्चित रूप से **(भवति)** होती है **(तस्मिन्)** उस शुद्ध आत्मोपलब्धि के **(सति)** रहते हुए **(अचलितम्)** निश्चल रूप से **(अखिलान्यद्रव्यदूरे)** समस्त पदार्थों से दूर **(स्थितानाम्)** स्थित रहने वाले पुरुषों के **(अक्षयः)** अविनाशी **(कर्ममोक्षः)** कर्मों का मोक्ष **(भवति)** होता है।

सं० टीका--**(नियतम्-निश्चितम्)** नियम-निश्चय-से **(शुद्धेत्यादिः-शुद्धतत्त्वं-परमात्मतत्त्वं, तस्योप-लम्भः-प्राप्तिः)** उत्कृष्ट-अतिशय पवित्र आत्मतत्त्व की उपलब्धि **(भवति-जायते)** होती है **(केषाम्)** किन को **(येषां निजमहिमरतानाम्-निजः-स्वात्मा तस्य महिमा-माहात्म्यं-दर्शनज्ञानादिलक्षणम्-तत्ररतानां-आसक्तानाम्)** ज्ञान दर्शन आदि लक्षणस्वरूप अपनी-आत्मा में आसक्त-स्थिर-रहने वालों को **(अचलम्-निश्चलम्-यथा भवति तथा)** निश्चल रूप से जैसे बने वैसे **(स्थितानाम्-प्रविष्टानाम्)** स्थित-प्रविष्ट **(क्व)** कहाँ **(अखिलेत्यादिः—अखिलानि समस्तानि, तानि च तानि अन्यद्रव्याणि च आत्मव्यतिरिक्तधर्मादिपञ्च-द्रव्याणि तेभ्यः दूरात् दविष्ठे)** आत्मद्रव्य से भिन्न धर्मादि पञ्च द्रव्यों से दूर **(कया-)** किससे **(भेदेत्यादिः-भेदकारक विज्ञानस्य शक्तिः सामर्थ्यं तया)** पर पदार्थों से भेद को उत्पन्न करने वाले विज्ञान की सामर्थ्य

से (**चेति भिन्नप्रक्रमे**) च शब्द क्रम की भिन्नता में प्रयुक्त हुआ है (**सति-विद्यमाने**) विद्यमान होने पर (**तस्मिन्-शुद्धतत्त्वोपलम्भे**) उस शुद्ध आत्मतत्त्व के प्राप्त होने पर (**अक्षयः-क्षयातीतः अनन्तकालस्थायी-त्यर्थः**) क्षय से रहित अर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त रहने वाला (**कर्म मोक्षः कर्मणां-प्रकृतिस्थिति, आदिरूपतया विश्लेषणं मोक्षः**) प्रकृति स्थिति आदि रूप से कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना रूप मोक्ष (**भवति-जायते**) होता है।

भावार्थ—भेदविज्ञान के बल से जो आत्मा के अचिन्त्य माहात्म्य को जान कर उसमें स्थिर रहते हैं उन्हें शुद्ध आत्मा की परिपूर्णरूप से प्राप्ति होती ही है। उसके प्राप्त होते ही आत्मा समस्त परद्रव्यों से सर्वथा और सर्वदा पृथक् हो अक्षय मोक्ष पद का स्वामी होता है ॥४॥

(**अथ संवरं विवृणोति**) अब संवर का विवरण करते हैं—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धात्मतत्त्वस्य**) शुद्ध आत्मतत्त्व की (**उपलम्भात्**) प्राप्ति से (**किल**) आगम के अनुसार (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष रूप से (**एष**) यह (**संवरः**) संवर तत्त्व (**सम्पद्यते**) सम्पन्न होता है (**सः**) वह शुद्धात्मोपलम्भ-निर्मल आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति (**भेदविज्ञानतः**) भेद विज्ञान से (**एव**) ही (**सम्पद्यते**) सम्पन्न होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान (**अतीव**) अतिशय रूप से (**भाव्यम्**) भावनीय-चिन्तनीय-मननीय है।

सं० टीका—(**तस्मात्-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानात्**) आत्मा और कर्मों में स्वरूप से भेद है ऐसा विशिष्ट ज्ञान होने से (**आस्रवभाव हेतूनामध्यवसानानां-मिथ्यात्वादीनामभावः, तदभावे च रागद्वेषमोह-रूपास्रवभावस्याभावः, तदभावे च कर्माभावः तदभावे च नोकर्माभावः तदभावे च संसाराभावः इति कारणात्**) सर्वप्रथम आस्रवभाव के कारणीभूत मिथ्यात्वादि अध्यवसान भावों का अभाव होता है और उनका अभाव होने पर द्रव्यकर्मों का अभाव होता है, और उनका अभाव होने पर संसार का अभाव होता है इस कारण से (**तत्-प्रसिद्धम्-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानम्**) वह प्रसिद्ध आत्मा और कर्मों की भिन्नता-जुदाई का ज्ञान (**अतीवभाव्यम्-अत्यन्तम्भावनीयम्**) अतिशय भावनीय भावना करने योग्य-है। (**तत् कुतः**) वह कैसे (**यतः**) जिस कारण से (**स आत्मोपलम्भः**) वह आत्मा की प्राप्ति (**भेदविज्ञानत एव नान्यतः**) भेद विज्ञान से ही होती है अन्य से नहीं (**किलेत्यागमे श्रूयते**) किल—ऐसा आगम में सुनते हैं (**शुद्धात्मतत्त्वस्य-अमलपरमात्मस्वरूपस्य**) निर्मल परमात्मा के स्वरूप की (**उपलम्भात्-प्राप्तेः**) उपलम्भ-प्राप्ति से (**एष-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) साक्षात्-प्रत्यक्ष (**संवरः—आगन्तुक कर्म निरोधः**) आने वाले कर्मों का निरोध-अभाव (**सम्पद्यते-जायते**) होता है -

भावार्थ—संवर तत्त्व की प्राप्ति में कारण, शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति है और शुद्धात्म तत्त्व की

प्राप्ति में कारण स्वपर भेद विज्ञान है अतः सर्वप्रथम भेद विज्ञान की भावना करनी चाहिए। सब का मूल कारण भेद विज्ञान ही है यह इसका तात्पर्यार्थ है। मूलतः यही वाञ्छनीय है ॥५॥

(**अथ भेदविज्ञानमाज्ञापयति**) अब भेद विज्ञान को प्राप्त करने की आज्ञा करते हैं—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥६॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) इस (**भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**अच्छिन्नधारया**) अच्छिन्नधारा-बेरुकावटरूप से (**तावत्**) तब तक (**भावयेत्**) भावना चाहिए (**यावत्**) जब तक (**ज्ञानम्**) ज्ञान-आत्मज्ञान (**परात्**) पर-पुद्गलादि परद्रव्यों से एवं परभावों से (**च्युत्वा**) च्युत-पृथक्-होकर (**ज्ञाने**) ज्ञान में-आत्मज्ञान में (**प्रतिष्ठते**) स्थित हो जाये।

सं० टी०—(**यावत्पर्यन्तं**) जब तक (**ज्ञानं-परमात्मबोधः**) परमात्मा का परिज्ञान (**ज्ञाने-स्वस्वरूप-प्रतिभासके बोधे**) अपनी आत्मा के खास स्वरूप के प्रकाशक ज्ञान में (**प्रतिष्ठते-स्थितिंकरोति**) स्थिरता को कर ले (**स्वस्वरूपे-स्वस्वरूपावस्थाने, इत्यर्थः**) अपने स्वरूप में अर्थात् अपने खास स्वरूप में अवस्थित होने पर (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**च्युत्वा-त्यक्त्वा**) त्याग कर (**कान्**) किनको (**परान्-अचेतनादिपर-पदार्थान्**) जड़स्वरूप पुद्गलादि आत्मेतर पदार्थों को (**तावत्काल पर्यन्तम्**) तब तक (**इदं-भेदविज्ञानम्—आत्मकर्मणोर्भेदकारक भावनाज्ञानम्**) आत्मा और कर्म के भेद को करने वाले भावनात्मक ज्ञान को (**अच्छिन्नधारया-अनवच्छिन्नरूपेण**) अनवच्छिन्न-निरन्तर-बेरुकावट-रूप से (**भावयेत्-ध्यायेत्**) भावना करे—ध्यान करे (**लब्धे स्वरूपे स्वरूप प्राप्ति निमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगात्**) अर्थात् आत्मा के शुद्ध-स्वरूप के प्राप्त होने पर आत्मस्वरूप की उपलब्धि में निमित्तभूत भेदज्ञान का फिर कोई खास उपयोग नहीं होता (**निष्पन्नेपटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविन्दादेरनुपयोगित्वात्**) पट-वस्त्र-के निर्मित होने पर उसके साधनीभूत तुरी, वेम, कुविन्द-जुलाहे आदि के पुनः उसी वस्त्र के निर्माण में उपयोगी न होने के समान।

भावार्थ—भेदज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय। आत्मा के सच्चे स्वरूप के प्राप्त होने पर फिर भेद ज्ञान का कोई उपयोग नहीं होता है। जैसे वस्त्र के निर्माण में तुरी, वेम, जुलाहा आदि तभी तक उपयोग में आते हैं जब तक कि वस्त्र निष्पन्न नहीं हो जाता। वस्त्र के निष्पन्न होने के बाद उनका फिर उस वस्त्र के विषय में कोई उपयोग नहीं होता है। वैसे ही यहाँ भेदज्ञान के विषय में लगा लेना चाहिए।

(**भेदज्ञानाज्ञानयोः सिद्धिं प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति**) अब सिद्ध अवस्था की प्राप्ति में भेदज्ञान की हेतुता तथा उसकी अप्राप्ति में अहेतुता का निर्णय करते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥७॥

अन्वयार्थ—(**किल**) आगम के अनुसार-निश्चय से (**ये**) जो (**केचन**) कोई (**सिद्धाः**) सिद्ध-मुक्त-कर्मबन्धन से रहित-हुए हैं (**ते**) वे (**भेदविज्ञानतः**) भेद विज्ञान से (**सिद्धाः**) सिद्ध हुए हैं और (**किल**) आगम के अनुसार-निश्चय से (**ये**) जो (**केचन**) कोई (**बद्धाः**) कर्मों से बंधे हैं (**ते**) वे (**तस्य**) उस भेद-विज्ञान के (**अभावतः**) अभाव से (**एव**) ही (**बद्धाः**) बंधे हैं।

सं० टी०—(**किलेत्यागमोक्ते-निश्चये**) किल - यह अव्यय आगमोक्त अर्थ में एवं निश्चय अर्थ में—आया है अर्थात् आगम के कहे अनुसार - निश्चय से (**ये केचन पुरुषसिंहाः**) जो कोई पुरुष सिंह (**सिद्धाः-सिद्धिं स्वात्मोपलब्धिलक्षणां प्राप्ताः उपलक्षणात् सिद्धयन्ति-सेत्स्यन्ते**) स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुए हैं उपलक्षण से सिद्ध होने वाले हैं और जो सिद्ध होंगे (**ते सर्वे भेदविज्ञानतः आत्मकर्मणोर्भेदज्ञानात्—नान्यतस्तपश्चरणादेः सिद्धपदं प्राप्ताः प्राप्नुवन्ति प्रापयिष्यन्ति,**) वे सब आत्मा और कर्म के भेदज्ञान से सिद्ध-पद को प्राप्त हुए हैं, प्राप्त हो रहे हैं और प्राप्त होंगे इसके बिना अन्य तपश्चरण आदि से नहीं (**किलेति-निश्चितम्**) यह निश्चित है (**ये केचन संसारिणः पुरुषाः**) जो कोई संसारी पुरुष (**बद्धाः-कर्मबन्धनबद्धाः**) कर्मों के बन्धन से बंधे हुए हैं (**त एव अस्य भेदविज्ञानस्य**) वे ही इस भेद विज्ञान के (**अभावतः**) अभाव से (**बद्धाः-बन्धनं प्राप्ताः**) बन्धन को प्राप्त हैं (**नात्र विचारणा**) इस विषय में अन्य कोई विचार नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक आत्मा अनादितः संसारी है। कर्मबन्धन से बद्ध है। इसका एक मात्र कारण अज्ञान है अर्थात् आत्मा और कर्म में एकत्व बुद्धि है। दोनों स्वभाव से भिन्न हैं ऐसा अज्ञान के कारण प्रतिभासित नहीं होता। यही अज्ञान संसार बन्ध का मूल हेतु है। इससे विपरीत जीव और कर्म की पृथकता का ज्ञान ही मुक्ति का कारण है क्योंकि आज तक जितने भी सिद्ध-कर्मबन्धन से मुक्त हुए हैं, वे सभी इसी भेद विज्ञान के बल से ही हुए हैं। और जो हो रहे हैं एवं भविष्य में होंगे वे सभी इस ही भेद-विज्ञान के बल से होंगे इसके बिना अन्य तपश्चरणादि से नहीं। तात्पर्य यही है कि आत्मा और कर्म एवं कर्मफल की जुदाई का स्वरूपतः ज्ञान न होना ही भेद विज्ञान का अभाव है। जो संसार बन्धन का समर्थ कारण है। अतः इसे ही प्राप्त करने का सतत उद्योग करते रहना प्रत्येक मुमुक्षु का परम लक्ष्य होना चाहिए।

(**अथ ज्ञाने ज्ञानव्यवस्थाकारणं कलयति**) अब ज्ञान में ज्ञानरूप से स्थित रहने के कारण को दिखाते हैं—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा—
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं—
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**भेदज्ञानोच्छलनकलनात्**) भेदज्ञान-आत्मा और पुद्गलादि परद्रव्यों की पृथकता

जुदाई के ज्ञान की प्रकटता के अभ्यास से (**शुद्धतत्त्वोपलम्भात्**) निर्मल आत्मतत्त्व की उपलब्धि हुई उस से (**रागग्रामप्रलयकरणात्**) राग के समूह के विनाश होने से (**कर्मणाम्**) कर्मों का (**संवरेण**) संवर-निरोध-हुआ जिससे (**परमम्**) परम-सर्वोपरि (**तोषम्**) सन्तोष को (**बिभ्रत्**) धारण करता हुआ (**अमलालोकम्**) निर्मल प्रकाशयुक्त (**अम्लानम्**) म्लानता रहित-तेजोमय (**शाश्वतोद्योतम्**) निरन्तर उद्योतमय (**उदितम्**) उदय को प्राप्त हुआ (**एतत्**) यह (**एकम्**) अद्वितीय असहाय अक्षय (**ज्ञानम्**) ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान (**ज्ञाने**) ज्ञान में (**नियतम्**) निश्चित हुआ अर्थात् प्रतिष्ठित हुआ।

सं० टी०—(**नियतं-निश्चितं**) नियत-निश्चित (**एतत्-ज्ञानम्-परमात्मज्ञानम्**) यह परमात्म-ज्ञान (**ज्ञाने-स्वरूपप्रतिभासे**) निज स्वरूप के प्रकाश में (**उदितं-उदयं-प्राप्तम्**) उदय को प्राप्त हुआ है (**किम्भूतम्**) कैसा होता हुआ (**तोषम्-परमानन्दम्**) उत्कृष्ट-सर्वोपरि आत्मिक आनन्द को (**बिभ्रत्-धारयत्**) धारण करता हुआ (**पुनः-किम्भूतम्**) फिर कैसा (**परमं-परा-उत्कृष्टा-मा-सर्ववस्तु परिच्छेदिका ज्ञानशक्तिरूपा लक्ष्मीर्विद्यते यस्य तत्**) समस्त वस्तुसमूह को जानने वाली ज्ञानरूप शक्तिरूप लक्ष्मी से युक्त (**कुतः**) किससे (**भेदेत्यादिः-भेदज्ञानस्य उच्छलनं प्राकट्यं-प्रकाशनमित्यर्थः तस्य कलनं-अभ्यसनं तस्मात्**) भेद ज्ञान की प्रकटता के अभ्यास से (**पुनः-अमलालोकम्—अमलः-निर्मलः-आलोकः जगत्प्रकाशक-प्रकाशो यस्य तत्**) जिसका निर्मल प्रकाश सारे जगत को प्रकाशित करने वाला है (**कुतः**) किससे (**शुद्धे-त्यादिः-शुद्धतत्त्वस्य-परमात्मनः, उपलम्भः-प्राप्तिः तस्मात्**) शुद्धतत्त्व अर्थात् परमात्मस्वरूप-की प्राप्ति से (**अम्लानं-कश्मलताच्युतम्**) कर्मों की मलिनता से रहित (**कुतः**) किससे (**रागेत्यादिः-रागस्य-रतेः ग्रामः समूहः तस्य प्रलयकरणं-विनाशकरणं-तस्मात्**) राग के समूह का विनाश करने से (**पुनः**) फिर कैसा ज्ञान (**एकं-कर्मादिव्यतिरिक्तत्वेनाद्वितीयम्**) कर्म आदि से सर्वथा भिन्न होने के कारण एक-अद्वितीय (**केन**) किससे (**कर्मणां संवरेण-आगन्तुक कर्म निरोधेन**) आने वाले कर्मों के निरोध से (**अत एव-शाश्वतोद्योतं-नित्यप्रकाशम्**) इसलिए ही नित्यप्रकाशयुक्त होता है।

भावार्थ—भेदज्ञान के प्रभाव से—ऐसा परमात्मज्ञान उदित हुआ है। जो परमात्मानन्द से युक्त है। भेदज्ञान से परिभावित है। शुद्ध आत्मस्वरूप की परिप्राप्ति से अति विशुद्ध है। समस्त लोकालोक का प्रकाशक है। रागादि की कलुषता से शून्य है। अतएव परम संवर रूप है। आशय यह है कि सम्य-क्त्व के काल में ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान जागरुकता को प्राप्त करता है। उसी से स्वरूप तथा पररूप की यथार्थता अवगत होती है। बस इसी का नाम भेदविज्ञान है। यही भेदविज्ञान जब तक रागादि से सहकृत रहता है, तब तक क्षयोपशम रूप में ही वर्तमान रहता है। रागादि का समूलोच्छेद होते ही वही भेदज्ञान परिपूर्णता को प्राप्त कर, मात्र ज्ञानरूप में ही अनन्तकाल स्थिर रहता है। यही ज्ञान का ज्ञानरूप में प्रतिष्ठित होना कहा जाता है।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार पद्य की, जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है—की व्याख्या में
यह पांचवां अङ्क समाप्त हुआ।

षष्ठोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ निर्जराधिकार

संवर निकरविचारोऽमृतचन्द्रोमानुभुवनह्यवः।
श्री कुन्दकुन्दशाली शुभचन्द्रकरः प्रशस्तेद्धः(?)॥

(**अथ निर्जरानिरूपणमुज्जृम्भते**) अब निर्जरा का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१॥

अन्वयार्थ— (**रागाद्यास्रवरोधतः**) राग-द्वेषादि भावास्रव के रोध से (**निजधुरां**) अपने भार को (**धृत्वा**) धारण करके (**आगामि**) भविष्य में आने वाले (**समस्तम्**) सब (**एव**) ही (**कर्म**) कर्म को (**भरतः**) अतिशय रूप से (**दूरात्**) दूर से (**निरुन्धन्**) निरोध करता हुआ (**परः**) श्रेष्ठ (**संवरः**) संवर तत्त्व (**स्थितः**) स्थित है। (**तु**) और (**अधुना**) इस समय (**प्राग्बद्धम्**) पूर्व समय में बँधे हुए (**तदेव**) उस ही कर्म समूह को (**दग्धुम्**) जलाने के लिए अर्थात् आत्मा से पृथक् करने के लिए (**निर्जरा**) निर्जरा तत्त्व (**व्याजृम्भते**) उद्यत हो रहा है (**यतः**) जिससे (**अपावृतम्**) संवर और निर्जरा से आवरण रहित होती हुई (**ज्ञानज्योतिः**) ज्ञान ज्योति (**हि**) निश्चय से (**रागादिभिः**) राग द्वेष आदि से (**न**) नहीं (**मूर्च्छति**) मूर्छित होती है।

सं० टीका- (**संवरः-संवरनामतत्त्वम्**) संवर नामक तत्त्व (**स्थितः-व्यवस्थितः**) विशेषरूप से मौजूद है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**धृत्वा-उद्धृत्य**) अपने ऊपर धारण करके (**निजधुराम्-स्वयोग्यधुर्यम्**) अपने योग्य भार को (**किम्भूतः**) कैसा (**परः-उत्कृष्टः कर्मागमनिरोधकत्वात्**) आने वाले कर्मों का निरोधक होने से उत्कृष्ट (**किंकुर्वन्**) क्या करता हुआ (**दूरात्-आरात्**) दूर से (**निरुन्धन्**) निरोध करता हुआ (**भरतः अतिशयेन**) अतिशय रूप से (**किम्**) क्या (**समस्तमेव-निखिलमेव**) सभी (**आगामि-आगन्तुकम्**) आगन्तुक (**कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिम्**) ज्ञानावरण आदि प्रकृतिरूप कर्म को (**कुतः**) किससे (**रागेत्यादिः-रागाद्याः-रागद्वेषमोहाः ते च ते आस्रवाः, तु-पुनर्भिन्नप्रक्रमे, प्रत्ययाः तेषां रोधः निरोधः तस्मात्**) राग-द्वेष मोह रूप भावास्रव के कारणों के निरोध से यह। तु शब्द पुनर-फिर रूप भिन्नक्रम में प्रयुक्त हुआ है **अर्थात्** भावास्रव के निरोध से (**अधुना-संवरानन्तरम्**) संवर तत्त्व के पश्चात् (**निर्जरा-निर्जीर्यते पूर्वनिबद्धं यया सा**

भाव निर्जरा, पूर्वनिबद्ध कर्मणां निर्जरणं निर्जरा इति द्रव्य निर्जरा सूचिता) जिन भावों से पूर्व में बंधे हुए कर्म निर्जीर्ण हों वह भाव निर्जरा तथा पूर्व निबद्ध कर्मों का आत्मा से निर्जर जाना अर्थात् दूर हो जाना यह द्रव्य निर्जरा है ऐसा निर्जरातत्त्व सूचित हुआ है (**विजृम्भते-विलसति**) विलास को प्राप्त हो रहा है। (**किं कर्तुम्**) क्या करने के लिए (**दग्धुम्-भस्मीकर्तुम्**) जलाने-भस्म करने के लिए (**विनाशयितु-मित्यर्थः**) अर्थात् विनाश करने के लिए (**किम्**) किसे (**प्राग्बद्धं-पूर्वमास्रवाद्यैर्निबद्धम्**) पूर्व में रागादि भावास्रवादि से बंधे हुए कर्म (**तदेव-द्रव्यभावकर्मैव सम्यग्दृष्ट्यादि एकादशनिर्जरया कर्मणो निर्जीर्यमाण-त्वात्**) वे ही अर्थात्—द्रव्य और भाव कर्म सम्यग्दृष्टि आदि ग्यारह निर्जरा स्थानों से निर्जीर्ण किये जाते हैं।

(**तथाचोक्तं गोम्मटसारे**) ऐसा ही गोम्मटसार में कहा गया है—

> **सम्मत्तुप्पत्तीये सावय विरदे अणंत कम्मंसे।**
> **दंसणमोहक्खवगे कषाय उवसामगे य उवसंते॥**
> **खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।**
> **तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥२८॥ (इति जीवकाण्डे)**

अन्वयार्थ—(**सम्मत्तुप्पत्तीये**) सम्यक्त्व की उत्पत्ति में, (**श्रावक विरदे**) श्रावक में, विरत में, (**अणंत कम्मंसे**) अनन्त कर्मांश में, (**दंसण मोहक्खवगे**) दर्शनमोह क्षपक में, (**कषाय उवसामगे**) कषाय उपशम के (**च**) और (**उवसंते**) उपशान्त कषाय में (**खवगे**) कषायों का क्षपण करने में (**च**) और (**खीण-मोहे**) क्षीणमोह में (**जिणेसु**) जिनेन्द्रों में (**दव्वा**) द्रव्यों की-द्रव्यकर्म (**असंखगुणिदकमा**) क्रम से असंख्यात गुणित निर्जीर्ण होते हैं। (**काला**) काल (**तव्विवरीया**) उससे विपरीत (**संखेज्जगुणक्कमा**) संख्यात गुणित क्रम वाले (**होंति**) होते हैं।

भावार्थ—सादि तथा अनादि दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव जब करणलब्धि को प्राप्त करके उसके अधःकरण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को प्राप्त करते हैं। तब से गुणश्रेणि निर्जरा शुरू हो जाती है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के जो कर्मों की निर्जरा होती है वह पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणी अधिक होती है। श्रावक अवस्था में जो कर्म की निर्जरा होती है वह सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा से असंख्यात गुणी अधिक होती है। यही क्रम विरत आदि आगे के स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा का लगा लेना चाहिए। यह क्रम द्रव्य की अपेक्षा से जानना चाहिए, काल की अपेक्षा से नहीं। काल की अपेक्षा से तो उक्त क्रम उत्तरोत्तर संख्यात गुणा हीन है ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है श्रावक की निर्जरा में उसकी अपेक्षा उससे संख्यात गुणा काल कम लगता है। यही कालक्रम आगे स्थानों में लगा लेना चाहिए। ऐसा जीवकाण्ड में कहा है—(**यतः निर्जराविधिः कर्मविनाश करणात्**) जिस कारण से निर्जरा

आदि के द्वारा कर्मों का विनाश किया जाता है तिस कारण से (**हि-इति**) हि-यह अव्यय (**स्फुटं**) स्फुट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह स्फुट-स्पष्ट है कि जीव (**न मूर्च्छति-न मोहं प्राप्नोति**) मूर्च्छा-मोह-को नहीं प्राप्त होता है। (**कैः**) किनसे (**रागादिभिः-रागद्वेष मोहैः**) राग-द्वेष मोह से (**किम्**) क्या (**ज्ञानज्योतिः-बोधतेजः**) ज्ञान की ज्योति-बोध का तेज (**किम्भूतम्**) कैसा (**अपावृतम्-निर्जरा संवरैर्निरावरणम्**) संवर और निर्जरा के कारण आवरण रहित अर्थात् संवर से तो नवीन कर्मों का आना रुक गया और निर्जरा से पूर्व सञ्चित कर्मों का आत्मा से जुदा होना शुरू हो गया। अतएव ज्ञानात्मक अलौकिक आत्मिक तेज अब कर्मों के आवरण से रहित हो गया है।

भावार्थ—संवृत आत्मा जब कर्मों से निर्जरित होता है तब आगामी कर्मों का अभाव तथा पूर्व सञ्चित कर्मों के निर्जीर्ण होने से आत्मा का ज्ञानप्रकाश पूर्णरूप से निरावरण हो जाने के कारण सदा ही प्रदीप्त रहता है जो भेदज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त होने से अविनाशी और अनन्त है। और है निश्चय की दृष्टि से स्वप्रकाशक तथा व्यवस्था की दृष्टि से परप्रकाशक।

(**अथ ज्ञान सामर्थ्यं समुत्थापयति**) अब ज्ञान की सामर्थ्य का समर्थन करते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥२॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**तत्**) वह (**ज्ञानस्य**) ज्ञान की (**एव**) ही (**वा**) अथवा (**विरागस्य**) विराग की (**अपि**) ही (**सामर्थ्यम्**) सामर्थ्य-शक्ति (**अस्ति**) है (**यत्**) जो (**कः**) कोई (**कर्म**) कर्म (**भुञ्जानः**) भोगता हुआ (**अपि**) भी (**कर्मभिः**) कर्मों से (**न**) नहीं (**बध्यते**) बंधता है।

सं० टीका—(**कलेत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगमोक्ति अर्थ में आया है अतः आगम के कथनानुसार (**यत्कोऽपि ज्ञानी, न बध्यते-बन्धनं न प्राप्नोति**) जो कोई भी ज्ञानी स्वपर स्वरूप का ज्ञाता बन्धन को नहीं प्राप्त करता है (**कैः-**) किनसे (**कर्मभिः**) कर्मों से (**किम्भूतोऽपि**) कैसा होता हुआ भी (**भुञ्जनोऽपि-वेदयमानोऽपि**) भोगता हुआ भी अर्थात् वेदन करता हुआ भी (**किम्**) किसको (**कर्म-पूर्वोपात्तं कर्म-सुखदुःखरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि**) सुख दुःख रूप से उदीर्णा को प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप रूप कर्म को वेदन करते हुए भी (**तत्सामर्थ्यं-समर्थता**) वह सामर्थ्य-समर्थता बलवत्ता (**कस्य**) किसकी (**ज्ञानस्यैव**) ज्ञान की ही (**वा-अथवा**) अथवा (**विरागस्यैव**) विराग की ही है (**यथा विषं भुञ्जनोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं तथा कर्मोदीर्यमाणमपि भुञ्जानो न बध्यते ज्ञानी**) जैसे विष को भक्षण करते हुए भी विष वैद्य मरण को नहीं प्राप्त होता है वैसे ही उदीर्ण को प्राप्त हुए कर्म को भोगते हुए भी ज्ञानी कर्मों से बन्ध को नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञानी-स्वपर विवेकी-सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप कर्म के अच्छे-सुखदायी तथा बुरे दुःखदायी—फल को भोगते हुए भी ज्ञान एवं वैराग्य की प्रबल शक्ति के कारण बन्ध को नहीं प्राप्त होता है। अर्थात् नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता है। जैसे विष-वैद्य विष का भक्षण करते हुए भी मृत्यु को प्राप्त

नहीं होता है। कारण कि वह विषमारक औषध का पूर्णरूपेण ज्ञाता ही नहीं प्रत्युत् उसका प्रयोक्ता होता है। वैसे ही ज्ञानी विरागी पुरुष कर्मों के फल का अनुभोक्ता होते हुए भी ज्ञान याने आत्मज्ञान एवं वैराग्यपने पर में अपनेपने का अभाव के प्रयोग से नवीन कर्मों को नहीं बंधने देता है अतएव अबन्धक ही है।

(अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्वं सूचयति) अब ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी उनका सेवन नहीं करता है यह सूचित करते हैं—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥३॥

अन्वयार्थ—**(यत्)** जिस कारण से **(ना)** पुरुष-सम्यक्त्वी महात्मा **(विषय सेवने)** विषयों का सेवन करने पर **(अपि)** भी **(विषयसेवनस्य)** विषयों के सेवन का **(स्वम्)** निजी-कर्म बन्धरूप **(फलम्)** फल को **(ज्ञानवैभवविरागबलात्)** ज्ञान के ऐश्वर्य तथा वैराग्य बल से **(न)** नहीं **(अश्नुते)** प्राप्त करता है **(तत्)** तिस कारण से **(सेवकः)** विषयों का सेवक **(सन्नपि)** होते हुए भी **(असौ)** यह ज्ञानी महापुरुष **(असेवकः)** विषयों का सेवक नहीं है।

सं० टीका—**(तत्-तस्माद्धेतोः)** तिस कारण से **(असौ-ज्ञानी)** यह ज्ञानी-स्वपर विवेकी सम्यक्त्वी जीव **(सेवकोऽपि विषयं सेवयन्नपि)** विषय सेवन करते हुए भी **(असेवकः-विषयसेवको न भवेत् कश्चित् केनचित् प्रकारेण व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिवत्)** विषय का सेवक नहीं होता किसी प्रकार से विषयों में प्रवृत्ति करते हुए भी विषयों में स्वामीपन के न होने से अप्रकारणिक की तरह असेवक ही रहता है। **(यत्-यस्माद्धेतोः)** जिस कारण से **(नाश्नुते-न-भुञ्जते)** नहीं भोगते हैं **(किं)** किसको **(स्व-स्वकीयं-फलं-कर्मबन्धरूपं)** अपने कर्मबन्ध रूप को **(कः)** कौन **(ना-आत्मा)** आत्मा सम्यग्दृष्टि जीव **(कस्य)** किसके **(विषय सेवनस्य-सुखदुःखाद्यनुभवस्य)** सुख-दुःखादि के अनुभवरूप-विषय सेवने के फल को **(क्व-सति)** किसके रहते हुए **(विषयसेवनेऽपि)** विषय सेवन के होते हुए भी **(कुतः)** किससे **(ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानस्य-वैभवं-सामर्थ्यं तेन-उपलक्षितं विरागतायाः बलं शक्तिस्तस्मात्)** ज्ञान की सामर्थ्य से युक्त वैराग्य की शक्ति से युक्त।

भावार्थ—ज्ञान और वैराग्य से ओतप्रोत आत्मदृष्टि जीव चारित्रमोह के उदयानुसार पञ्चेन्द्रियों के अनुकूल इष्ट-प्रिय तथा प्रतिकूल अनिष्ट-अप्रिय विषयों में प्रवृत्ति होती है लेकिन अन्तरङ्गतः उनसे उदासीन ही रहता है। अपने आत्मबल की कमी की वजह से राग की तीव्रता में प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अतएव उन्हें सदा हेय ही समझता है उपादेय नहीं। उसकी दशा तो उस चोर के समान होती है जो अज्ञान अवस्था में गलती करी थी अब उसकी वजह-कारण से जेल में रहते हुए जेलर की आज्ञा के अनुसार नहीं करने योग्य कार्यों को भी अनिच्छा पूर्वक करना पड़ता है अन्तरङ्गतः तो उन्हें करने योग्य नहीं मानता। यहां से किसी भी तरह से छूटना चाहता है। अतः शान्ति के साथ सजा को भोगने में ही मेरी

भलाई है ऐसा दृढ़ निश्चय करके सजा को भोगते हुए भी नहीं भोगता है। क्योंकि सजा को भोगने में और चोरी में उसके जरा भी राग नहीं है। यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

(**अथ सम्यग्दृष्टेः शक्तिः संयुज्यते**) अब सम्यग्दृष्टि के शक्ति की संयोजना का वर्णन करते हैं --

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्ति मुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परञ्च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतोरागयोगात् ॥४॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि-आत्मदृष्टि-के (**ज्ञानवैराग्य शक्तिः**) स्वपर भेदविज्ञान और वैराग्य-परपदार्थों से पूर्ण उदासीनता रूप शक्ति (**नियतम्**) नियम से (**भवति**) होती है (**यस्मात्**) जिस कारण से (**अयम्**) यह सम्यग्दृष्टि (**स्वम्**) अपने (**वस्तुत्वम्**) वस्तुत्व– आत्मगतधर्म-अपने खास स्वरूप को (**कलयितुम्**) अनुभव करने के लिए (**स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या**) स्वरूपप्राप्ति—अपने आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति तथा अन्यरूप मुक्ति-पर-पुद्गलादि द्रव्यों से मुक्ति के द्वारा (**तत्त्वतः**) यथार्थ रूप से (**इदम्**) यह (**स्वम्**) आत्मा (**च**) और (**इदम्**) यह (**परम्**) पुद्गलादिद्रव्य (**अस्ति**) है (**इति**) ऐसे (**व्यतिकरम्**) भेद को-दोनों की स्वरूपकृत भिन्नता को (**ज्ञात्वा**) जान करके (**स्वस्मिन्**) अपने आत्म स्वरूप में (**आस्ते**) स्थिर होता है और (**परात्**) पर-आत्मा से भिन्न (**सर्वतः**) सभी (**राग-योगात्**) राग के योग से-रागादि परपरिणति के सम्बन्ध से (**विरमति**) विरक्त होता है।

सं० टीका—(**नियतं-निश्चितम्**) नियम-निश्चय से (**ज्ञानवैराग्यशक्तिः-ज्ञानवैराग्ययोः सामर्थ्यम्**) ज्ञान और वैराग्य का बल (**भवति-अस्ति**) होता है (**कस्य**) किसके (**सम्यग्दृष्टेः-स्वतत्त्वश्रद्धायकस्य**) आत्मतत्त्व के श्रद्धानी के (**किं कर्तुम्**) क्या करने के लिए (**स्वं-आत्मानम्**) अपने (**वस्तुत्वं-वस्तुस्वरूपम्**) वस्तु स्वरूप को (**कलयितुं-अनुभवितुम्-ध्यातुमित्यर्थः**) अनुभव में लाने के लिए अर्थात् ध्यान के लिए (**तत्कुतः**) वह कैसे या कहाँ से (**यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**अयं-सम्यग्दृष्टिः**) यह सम्यग्दृष्टि (**स्वस्मिन्-आत्मनि**) अपने में—अर्थात् आत्मस्वरूप में (**आस्ते-अवतिष्ठते**) स्थिर होता है (**विरमते च विरक्ति भजति**) और विरक्ति को धारण करता है (**कुतः**) किससे (**सर्वतः-समस्तात्**) समस्त (**परात्-आत्मनः परस्वरूपात्**) आत्मा से भिन्न स्वरूप से (**रागयोगात्-रागद्वेषमोह संयोगात्**) राग-द्वेष मोह के संयोग से (**कया-**) किससे (**स्वेत्यादिः-स्वः-आत्मा, अन्यः-परद्रव्यादिः-तयोः रूपे स्वरूपे तयोर्यथाक्रमं, आप्तिः-प्राप्तिः-मुक्तिः मोचनं-स्वरूपप्राप्तिः-परस्वरूपमुक्तिरित्यर्थः तया**) आत्मस्वरूप की प्राप्ति और परस्वरूप की मुक्ति से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**ज्ञात्वा-अवबुध्य**) जान करके (**तत्त्वतः परमार्थतः**) परमार्थरूप से (**किं-**) किसे (**इदम्-स्वं-आत्मीयं-स्वात्मलक्षणम्**) इस अपनी आत्मा के स्वरूप को (**च-पुनः**) और

(परम्-परद्रव्यम्) परद्रव्य-पुद्गलादि-को **(व्यतिकरम्-अन्योऽन्यस्य भिन्नम्)** जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के दो शक्तियाँ युगपत् प्रकट होती हैं। पहली ज्ञान शक्ति और दूसरी वैराग्य शक्ति। ज्ञानशक्ति का कार्य अपने और पर के स्वरूप को निश्चित करना है। वैराग्य शक्ति का काम पर से आत्मा को पृथक् करना है। यहाँ पर से तात्पर्य मात्र पुद्गलादि परद्रव्यों से ही नहीं है किन्तु पर पुद्गलादि के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाले समस्त राग-द्वेष मोहादि रूप परभावों से भी है। क्योंकि ये परभाव आत्मा में होते हुए भी आत्मा के स्वभाव भाव नहीं है प्रत्युत पर निमित्तज होने से नष्ट हो जाते हैं। अतः पर हैं—विभाव हैं। स्वभाव नहीं हैं। अगर ये स्वभाव होते तो शुद्ध परमात्मा में अवश्य ही होते, किन्तु उनमें नहीं होते हैं। अतः पर भाव हैं ऐसा जानकर ही उन्हें यहाँ छोड़ने के हेतु जोर दिया गया है जो यथार्थ ही है।

(अथ रागिणः सम्यक्त्व राहित्यमुच्यते) अब रागी के सम्यग्दर्शन नहीं होता है यह कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातुबन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः-
आत्माऽनात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥५॥

अन्वयार्थ—**(अयम्)** यह **(अहम्)** मैं **(स्वयम्)** स्वयं **(सम्यग्दृष्टिः)** सम्यग्दृष्टि **(अस्मि)** हूँ **(मे)** मेरे **(जातु)** कदाचित्-कभी **(बन्धः)** कर्मों का बन्ध **(न)** नहीं **(स्यात्)** हो सकता है **(इति)** इस प्रकार से **(उत्तानोत्पुलकवदनाः)** ऊपर को उठाये हुए और हर्षित मुख वाले **(रागिणः)** पर में आत्मत्व का राग रखने वाले मिथ्यादृष्टि जीव **(अपि)** भी **(आचरन्तु)** महाव्रतादि का आचरण-परिपालन करो **(समिति-परताम्)** ईर्या आदि पञ्च समितियों की तत्परता का **(आलम्बन्ताम्)** आलम्बन करो **(तथापि)** तो भी **(ते)** वे **(यतः)** जिस कारण से **(आत्माऽनात्मावगमविरहात्)** आत्मा-चेतन तथा अनात्मा-अचेतन-पुद्गलादि के स्वरूप का ज्ञान न होने से **(सम्यक्त्वरिक्ताः)** सम्यग्दर्शन से शून्य **(अद्यापि)** अभी भी **(पापाः)** पापी मिथ्यादृष्टि ही **(सन्ति)** हैं।

सं० टी०—**(रागिणोऽपि पुरुषाः न केवलं तत्त्वविदः, इत्यपि शब्दार्थः)** केवल तत्त्वज्ञ-आत्मज्ञ-ही नहीं किन्तु रागी पुरुष भी **(आचरन्तु-पञ्चमहाव्रतशास्त्राध्ययनादौ प्रवर्तन्ताम्)** पांच महाव्रत और शास्त्र अध्ययन आदि में प्रवृत्ति करें **(पुनः समितिपरताम्-समितयः-ईर्याभाषैषणादयः समितिस्वभावाः, तत्र-परतां तत्परतां उत्कृष्टतां वा)** और ईर्या, भाषा, एषणा आदि समिति के स्वभाव में तल्लीनता अथवा उत्कृष्टता को- **(आलम्बन्तां-आलम्बनं कुर्वताम्)** आलम्बन करें **(किम्भूतास्ते)** कैसे होते हुए वे **(इति-उक्तप्रकारेण)** पूर्व में कहे अनुसार **(उत्तानोत्पुलकवदनाः—उत्तानं-ऊर्ध्वावलोकित्वं महाहंकारत्वात्, उत् ऊर्ध्वाः पुलकाः रोमाञ्चाः यस्य तत्, उत्तानं-उत्पुलकं वदनं वक्त्रं येषान्ते इति)** महान अहंकार के कारण

ऊपर की ओर देखने वाले हर्षित मुख से उपलक्षित **(किम्)** कैसे **(स्वयं-स्वतएव)** स्वयमेव-अपने आप ही **(अयम्-प्रत्यक्षोऽहम् सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदर्शी)** यह-साक्षात्-मैं तत्त्वदर्शी-सम्यग्दृष्टि **(मे-मम)** मेरे **(जातु-कदाचित्)** कभी **(बन्धः-कर्मणां बन्धः)** कर्मों का बन्ध **(न स्यात्-न भवेत्)** नहीं होता—नहीं हो सकता **(इत्यहंकाररूपं वाक्यम्, इति ये वदन्ति ते)** इस प्रकार के अभिमान रूप वाक्य को जो-धारण करते-बोलते-हैं वे **(अद्यापि-इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपि शब्दार्थः)** आज भी अर्थात् पूर्व में ही नहीं किन्तु अभी भी **(सम्यक्त्वरिक्ताः तत्त्वश्रद्धानमुक्ताः)** तत्त्वश्रद्धान से रहित **(सन्ति-वर्तन्ते)** हैं **(कुतः)** किस से **(आत्मेत्यादिः-आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ स्वपरद्रव्ये तयोः अवगमः-परिज्ञानं तस्य विरहः-अभावः तस्मात्)** आत्मा-चेतन और अनात्मा अचेतन-जड़ रूप—दो द्रव्यों के समीचीन ज्ञान के न होने से **(सम्यक्त्वरिक्तत्वं कुतः)** सम्यग्दर्शन से रहित कैसे **(यतः कारणात्)** जिस कारण से **(ते-पापाः-पापकर्मयुक्ताः-अहङ्कारादि अशुभकर्ममयत्वात्)** अहङ्कार आदि अशुभ कर्ममय होने के कारण वे पापी हैं।

भावार्थ—सिद्धान्त में मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा गया है। क्योंकि मिथ्यात्व के रहते कितना भी क्रियारूप आचरण, व्रतादि क्यों न किया जावे परन्तु पहला ही गुणस्थान रहता है और चारों चोकड़ी का बन्ध होता रहता है। अतः अध्यात्म में व्रतादि का पालन करते हुए भी उसे पापी कहा है। पहले अशुभ भाव और अशुभ क्रियाओं में अहमपना अपनापना, एकत्वपना मानता था अब शुभभाव और क्रिया में वैसा ही अपनापना एकत्वपना मानकर इनका कर्त्ता बन रहा है। हर हालत में कर्त्तापने का अहंकार तो बना ही रहा। अपने स्वभाव में तो अपनापना आया नहीं। अपने स्वभाव में एकत्वपना आता तब तो शुभभाव शुभक्रिया तो रहती परन्तु अहम्पना-एकत्वपना कर्त्तापना विकारी भावों में नहीं रहता। तब यह भाव ही पैदा नहीं हो सकता कि मैं मुनि हूँ, व्रतों का पालन करने वाला हूँ—मेरे कर्मो का बंध नहीं हो सकता। ज्ञानी तो पर्याय में अपने को तुच्छ समझता है कारण उसको पर्याय की हीनता दिखाई दे रही है और उसको अपनी कमी मानता है। आचार्यों ने बताया है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्व है जब तक मिथ्यात्व रहेगा तब तक अभिप्राय में अनन्त जीव पुद्गलादि के प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनी ही रहेगी। अज्ञानी वस्तु को इष्ट अनिष्ट मानता है अर्थात् इष्टपना वस्तु से आ रहा है और अनिष्टपना भी वस्तु से आ रहा है। जबकि ज्ञानी जानता है कि वस्तु में इष्ट अनिष्टपना नहीं है। यह तो मेरे भीतर से आने वाला राग भाव है वही बंध का कारण है जो वस्तु को इष्ट अनिष्ट दिखा रहा है इसलिए वह राग नष्ट हो जावे तो वस्तु जैसी है वैसी दिखने लग जावे—न इष्ट न अनिष्ट। अतः उसका पुरुषार्थ अपने राग के अभाव करने का है जबकि अज्ञानी को परवस्तु को ठीक करने का है जो सम्भव नहीं है। अतः जब तक राग रहता है तब तक सम्यक्दृष्टि तो अपनी निंदागर्हा ही करता रहता है। वह जानता है कि राग का अभाव तो शुद्धोपयोग रूप चारित्र से होगा। अतः स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं होती।

(अथ रागिणो भ्रान्ति बीभास्यते) अब रागी की भ्रान्ति को प्रकट करते हैं—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६॥

अन्वयार्थ—(**हे अन्धाः**) हे अन्ध-अज्ञानी-पुरुषो (**अमी**) ये (**रागिणः**) रागी जन (**आसंसारात्**) जब से संसार में है तब से अर्थात् अनादिकाल से (**प्रतिपदम्**) प्रत्येक पर्याय रूप-पद में (**नित्यमत्ताः**) निरन्तर उन्मत्त होते हुए (**यस्मिन्**) जिस पुद्‌गलादि परद्रव्यों में (**सुप्ताः**) अज्ञान के कारण सो रहे हैं अर्थात् अपने और पर के भेद को नहीं जान रहे हैं (**यूयम्**) तुम लोग (**तत्**) उसे (**अपदम्-अपदम्**) अपद-अपद अस्थान-अस्थान (**विबुध्यध्वम्**) जानो समझो अर्थात् वह आत्मा के रहने योग्य स्थान नहीं है ऐसा जानो। (**इतः**) उस अपद से इधर (**एत-एत**) आवो-आवो (**पदम्**) तुम्हारा पद (**इदम्-इदम्**) यह है-यह है (**यत्र**) यहाँ (**शुद्धः-शुद्धः**) शुद्ध-शुद्ध अर्थात् द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से शुद्ध (**चैतन्य-धातुः**) चैतन्यात्मक द्रव्य (**स्वरसभरतः**) अपने आत्मिक रस के समूह से (**स्थायिभावत्वम्**) स्थायीभाव-स्थिरता को (**एति**) प्राप्त होता है।

सं० टीका—(**भो अन्धाः !**) हे अन्ध पुरुषो (**हे रागिणः**) हे रागी प्राणियों (**ज्ञानदृष्टिपराङ्मुखत्वात्**) ज्ञान दृष्टि से विमुख होने के कारण (**विबुध्यध्वम्—यूयं जानीध्वम्**) तुम लोग जानो (**अमी-रागिणः-परद्रव्येषुरागो रतिर्विद्यते येषां ते**) परपदार्थों में राग रखने वाले ये रागी जीव (**यस्मिन्-चिद्रूपे-परद्रव्ये वा**) चैतन्य स्वरूप आत्मा में अथवा आत्मा से भिन्न पुद्‌गलादि परद्रव्य में (**सुप्ताः-निद्रायमाणाः, तत्स्वरूपानभिज्ञत्वान्निद्रात्वं स्थिताः वा**) निद्रायुक्त अथवा उक्त दोनों प्रकार की द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप से अपरिचित होने के कारण सुसुप्त दशा में स्थित है (**तत् अपदम्-चिद्रूपे शयनमयुक्तम्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा में बेखबर होना अयोग्य है यही अपद है (**परद्रव्ये स्थितिः स्थानम्**) आत्मा से भिन्न पुद्‌गलादि में स्थिति करना (**किम्भूतम्**) कैसा है (**अपदम्-न विद्यते पदं-रक्षणं स्थानं-लक्षणं वा—यतः-यत्र यस्य वा तदपदम्**) जिसमें आत्मा का न तो रक्षण है, न स्थान है और न स्वरूप परिचायक कोई चिह्न ही है ऐसा अपद है वह (**किम्भूतास्ते**) वे प्राणी कैसे हैं ? (**आसंसारात्-पञ्चप्रकार संसारमभिव्याप्य**) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार को व्याप्त करके (**प्रतिपदम् पदं पदं प्रतीति प्रतिपदम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणेपदे वा**) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि स्थान में अथवा परद्रव्यरूप स्थान में (**नित्य-मत्ताः—नित्यं-दृप्ताः-हर्षं गताः वा स्वस्वरूपानभिज्ञत्वात्**) हमेशा उन्मत्त अथवा निज आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान न होने से हर्ष को प्राप्त है (**इतः-परस्थानात्**) परपद से (**एत-एत पुनः पुनरागच्छत यूयम्**) तुम लोग बार-बार इधर आओ (**इदं शुद्धचिद्रूप लक्षणम्**) शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का लक्षण (**इदमेव नान्यत् इति निर्धारणार्थं वीप्सा**) यही है दूसरा नहीं ऐसा निश्चय करने के लिए वीप्साद्विरुक्ति का प्रयोग हुआ है (**पदं-स्थानम् ज्ञानिनां स्थितियोग्यत्वात्**) क्योंकि यही स्थान ज्ञानियों की स्थिति-स्थिरता के योग्य है

(अथवा-इदमिदं एकपदं अस्य चिद्रूपस्य इदं इदमिदं पदं, इत आगच्छत,) अथवा इस चैतन्यमय आत्मा का यही एक-पद स्थान है इधर आओ **(यत्र-पदे चैतन्यधातुः, चेतनालक्षणोधातुः)** जिस पद में चेतनास्वरूप धातु-द्रव्य **(स्थायिभावत्वम्-स्थैर्यम्)** स्थिरता को **(एति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(कुतः)** किससे **(स्व-रसभरतः, स्वानुभवातिशयात्)** अपने अनुभव के अतिशय से **(किम्भूतः)** कैसा चैतन्यात्मा **(शुद्धः-निर्मलः)** निर्मल-द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से शून्य होने के कारण शुद्ध मलरहित **(पुनः किम्भूतः)** फिर कैसा **(शुद्धः-परद्रव्यादतीव निर्मलः)** पर पदार्थों से अत्यन्त निर्मल **(प्रथम शुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितम्)** पहले शुद्ध पद से परद्रव्यों से भिन्नता रूप शुद्धता दिखाई और **(द्वितीयशुद्धपदेन-स्वसंसारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितम्)** दूसरे शुद्धपद से अपनी आत्मा को पञ्चप्रकार संसार के कारणीभूत पुद्गल-कार्माण वर्गणारूप अचेतन मूर्तिक पुद्गल द्रव्य से रहितता रूप शुद्धता बताई है।

भावार्थ—संस्कृत टीकाकार ने अपद, इदम्, और शुद्ध इन तीन पदों का दो दो बार प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि आत्मा के स्वरूप को न जानना-अथवा-आत्मा से भिन्न शरीरादि में आत्मत्व की कल्पना करके उसी में स्थिर होना ज्ञानी के लिए अपद—अयोग्य स्थान है।

दूसरा—इदम् पद का दो बार प्रयोग करके यह निर्धारण किया है कि जो आत्मा पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर चुका है वही आत्मा का खास स्वरूप है उसी में स्थिर होना ही आत्मा का मुख्य स्थान है।

तीसरा—शुद्ध पद का दो बार प्रयोग किया गया है - प्रथम शुद्ध पद से आत्मा से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन द्रव्यों से भिन्नता रूप शुद्धता बतलाई गई है। दूसरे शुद्धपद से अशुद्ध अवस्था के कारणीभूत द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म से शून्यता रूप शुद्धता प्रकट की गई है ऐसी शुद्ध अवस्थापन्न आत्मा की ओर ही अग्रसर होने के हेतु यहाँ प्रेरणा की गई है।

अज्ञानी तो परद्रव्य को सुख-दुःख का कारण मानता है अथवा पुण्य-पाप को सुख-दुःख का कारण मानता है इसलिए उन्हीं परपदार्थों में मतवाला हो रहा है। जबकि ज्ञानी समझता है कि सुख तो कषाय के अभाव से होता है और दुःख कषाय से। कषाय का अभाव आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेने से होता है। अतः आत्मस्वभाव को ही अपने ठहरने का स्थान समझता है और स्थिरता को बढ़ाने की चेष्टा करता है।

(अथ तत्पदास्वादनं स्तवते) अब उक्त पद की आस्वादनीयता का समर्थन करते हैं—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदम्पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥

अन्वयार्थ—**(हि)** निश्चय से **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(तत्)** वह **(एव)** ही **(पदम्)** पद-स्थान **(आस्वाद्यम्)** आस्वादन करने योग्य—अनुभव में लाने योग्य-है **(यत्)** जो **(विपदाम्)** विपत्तियों-आकुलताओं-का **(अपदम्)** अपद-स्थान नहीं **(अस्ति)** है **(यत्पुरः)** जिस पद के सामने **(अन्यानि)** दूसरे **(पदानि)** पद **(अपदानि)** अपद **(एव)** ही **(भासन्ते)** प्रतीत-मालूम-होते हैं।

सं० टीका— (**हीति व्यक्तम्**) हि यह अव्यय व्यक्त अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् व्यक्त स्पष्ट-रूप से (**एकमेवतत्-प्रसिद्धम्**) वही एक प्रसिद्ध (**पदम्-चैतन्यस्थानम्**) चैतन्य का स्थान (**पद्यते-गम्यते-ज्ञायतेऽनेनेति पदं-ज्ञानं वा**) अथवा जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाय वह ज्ञान (**स्वाद्यं-आस्वाद्यं-ध्यान-विषयी कर्तव्यमिति भावः**) आस्वादन के योग्य अर्थात् ध्यान-चिन्तन के विषय करने योग्य है (**विपदां-संसाराशर्मणां**) संसार के दुःखों का (**अपदम् अस्थानम्**) स्थान नहीं (**दुःखरहितत्वात्**) दुःखों से रहित होने के कारण (**यत्पुरः-चैतन्यधातुलक्षणस्थानाग्रे**) चैतन्य धातुरूप स्थान के आगे (**अन्यानि-पराणि-अनात्मस्वभावानि**) जड़ स्वरूप भिन्न (**पदानि-व्रतादीनि**) व्रत आदि-पद (**अपदान्येव-अस्थानानि-अज्ञान-स्वरूपाणि**) अपद-अज्ञानरूप ही (**निश्चयेन**) निश्चय से (**भासन्ते-प्रकासति**) प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—जब अपने को शरीररूप अनुभव करता है तब शरीराश्रित सभी दुःख-सुखों की आकुलता आ करके खड़ी हो जाती है। जहाँ शरीर में अपनापना है वहाँ उससे सम्बन्धित सभी विषय-सामग्री में अपनापना हो जाता है। शरीर के लिए अनुकूल में राग प्रतिकूल में द्वेष चालू हो जाता है अतः संसार की कोई आकुलता नहीं है जो वहाँ लब्धिरूप में न रहे। परन्तु जब यह अपने को चेतनारूप-ज्ञायक भावरूप अनुभव करता है तब किसी प्रकार की आकुलता नहीं रहती। चेतना का मरण नहीं, जन्म नहीं, उसका कोई सम्बन्धी नहीं, कुछ नया आने का नहीं कुछ जाने का नहीं। किसी से ईर्षा नहीं क्योंकि सभी आत्मा अपने आप में उन्नत गुणात्म परिपूर्ण है अतः अहंकार नहीं। कुछ बाहर से आने का नहीं अतः लोभ नहीं। कोई अपने स्वभाव को रोकने वाला नहीं अतः क्रोध नहीं, माया नहीं। इसका लोक नहीं-परलोक नहीं तब कौन-सा दुःख रहा जिसकी वहां सम्भावना भी हो सकती हो। अतः किसी प्रकार के दुःख की सम्भावना का नहीं रहना यही परम आनन्द है वह इसी आत्मपद में ही प्राप्त होता है यही अनुभव में लाने योग्य है।

(**अथात्मज्ञानयोरेकत्वं नेनीयते**) अब आत्मा और ज्ञान में एकत्व-अभिन्नता का ज्ञान कराते हैं—

एक ज्ञायकभाव निर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वाऽवस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(**एकज्ञायक भावनिर्भर महास्वादम्**) असाधारण ज्ञायकभाव से भरपूर महान् आस्वाद को (**समासादयन्**) प्राप्त करता हुआ (**द्वन्द्वमयम्**) द्वन्द्वमय अर्थात् आत्मा और क्रोधादिरूप जोड़े से सहित (**स्वादम्**) स्वा-अनुभवरूप रस के स्वाद को (**विधातुम्**) विधान करने के लिए अर्थात् अनुभव में लाने के लिए (**असहः**) असह-असमर्थ (**स्वांवस्तुवृत्तिम्**) अपने स्वरूप में पर-निमित्तज भावों की विद्यमानता के अभाव को (**विदन्**) जानने वाला (**आत्मानुभवानुभावविवशः**) आत्म-

स्वरूप के अनुभव के प्रभाव से प्रभावित-सहित (**प्रस्यद्विशेषोदयम्**) ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ (**सामान्यम्**) सामान्य ज्ञान का (**कलयन्**) अभ्यास करता हुआ (**एषः**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**किल**) निश्चय से-आगम के कहे अनुसार (**सकलम्**) सभी (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**एकताम्**) एक रूप में (**नयति**) प्राप्त करता है।

सं० टी०—(**किल इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय यहां आगम की उक्ति में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम के कथनानुसार (एषः) यह(**आत्मेत्यादिः-आत्मनश्चिद्रूपस्य-आत्मना-स्वरूपेण सहानुभवः अनुभवनम्-तस्य अनुभावः-प्रभावः, तेन उपलक्षितोविशिष्टोवशः ज्ञातृता "वशा स्त्री करिणी च स्याद् दृग्ज्ञाने ज्ञातरि-त्रिषु" इत्यनेकार्थः**) चैतन्यमय आत्मा के निज स्वरूप के अनुभव के प्रभाव से सहित ज्ञाता यहां वश शब्द हथिनी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग, दृग्-दर्शन, ज्ञान और ज्ञाता अर्थ में तीनों लिङ्ग हैं" ऐसा अनेकार्थ कोश है। (**सकलं-ज्ञानम्-आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं ज्ञानं**) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल-ज्ञान रूप समस्त ज्ञान की (**एकतां-एकत्वम्**) एकता को (**नयति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**ज्ञानमात्मा चैक एव पदार्थ इत्येकतां प्राप्नोति**) ज्ञान और आत्मा एक ही वस्तु है इस प्रकार की एकता को प्राप्त करता है (**किम्भूतः**) कैसा (**समासादयन्-प्राप्नुवन्**) प्राप्त करता हुआ (**कम् ?**) किसको (**एकेत्यादिः-एकः अद्वितीयः ज्ञायकभावः ज्ञातृस्वभावः तस्य-निर्भरः-अतिशयः स एव महास्वादः तम्**) असाधारण ज्ञातृ-स्वभाव के अतिशयरूप महान् स्वाद को (**पुनः किम्भूतः**) फिर कैसा (**असहः-अक्षमः**) असमर्थ (**किं कर्तुम्**) क्या करने के लिए (**द्वन्द्वमयं-आत्मक्रोधयोर्युग्मनिर्वृत्तम्**) आत्मा और क्रोध के जोड़े से बने हुए (**स्वादम्**) स्वाद-रस-को (**विधातुं-आस्वादयितुं**) आस्वाद-अनुभवन-करने के लिए (**किं कुर्वन्**) क्या करते हुए (**स्वा-वस्तुवृत्ति—स्वे-आत्मनि,-अवस्तुनः क्रोधादेः वृत्तिं-वर्तनाम्**) आत्मा में क्रोधादि के व्यापार को (**विदन्-जानन्**) जानता हुआ (**स्वां वस्तुवृत्तिमिति च क्वचित्पाठः-स्वकीयां वस्तुवृत्ति यथाख्यात चारित्रवृत्तिं**) अपनी यथाख्यात चारित्र की वृत्ति को (**जानन्**) जानता हुआ (**पुनः किं कुर्वन्**) फिर क्या करता हुआ (**सामान्यं-पूर्वोत्तर विवर्तवार्येकत्वलक्षणं ज्ञानस्वरूपमूर्ध्वता सामान्यम्**) पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय में एकता स्वरूप ज्ञानरूप ऊर्ध्वता सामान्य को (**कलयन्-कलनां कुर्वन्**) जोड़ता हुआ सम्पादन करता हुआ (**किम्भूतं तत्**) कैसा (होता हुआ) वह (**प्रस्यद्विशेषोदयम्—प्रस्यन्-गलन्-विशेषाणां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवल-रूपाणां-उदयः—प्राकट्यं यत्र तत्**) जिस में मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय केवल रूप विशेषों की उत्कटता नहीं है (**सामान्ये-विवक्षिते विशेषाणां विवक्षाभावः**) क्योंकि सामान्य के विवक्षित (मुख्य) होने पर विशेषों की विवक्षा (कहने की इच्छ) नहीं होती है।

भावार्थ—आत्मा प्रत्यक्षरूप से अपने स्वरूप को ध्यान के द्वारा प्राप्त करता है द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से रहित भाव श्रुतज्ञान के द्वारा अपने निजस्वरूप का आस्वादन करता है, यह निश्चय बात है। ऐसा अनुभव चौथे गुणस्थान वाले गृहस्थ के होता है। वह अपनी श्रद्धा को मजबूत करता जाता है—करता जाता है। जैसे मुर्गी अण्डे को सेती रहती है वह जब पूर्ण पक जाता है तो फट जाता है ऐसे ही

आत्मतत्व की श्रद्धा को सेते सेते वह जब पूर्ण मजबूत हो जाती है तब आत्म अनुभूति प्रगट होती है। आत्म अनुभूति यद्यपि ज्ञान की पर्याय है परन्तु उसका सम्यक् श्रद्धा की पर्याय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है जहां श्रद्धा की पर्याय ने सम्यक् रूप परिणमन किया वहाँ आत्म अनुभूति प्रगट हुई।

पहले स्वपर का भेदविज्ञान करे—द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित अपने स्वरूप को जाने। पीछे पर का विचार छूट जाता है केवल आत्मविचार ही रहता है। वहां अनेक प्रकार निज स्वरूप में अहंबुद्धि धारता है यह जानने वाला मैं हूँ जाननपना मेरे से उठ रहा है, ऐसा विचार करते हुए सहज ही सब विकल्प छूट जाते हैं केवल चेतनामात्र स्वरूप भासने लगता है। जैसा आगम से श्रुतज्ञान के द्वारा सविकल्पता से स्वरूप का निर्णय किया था तैसा ही अनुभव में आया उसी में व्यापक रूप होकर प्रवर्ते। वहां नयप्रमाण का विचार भी नहीं रहा आप ही आपको वेदे उसी का नाम निर्विकल्प अनुभव है। जो ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा पर में जा रहा था या विकल्पों में लग रहा था उस ज्ञान को निज स्वरूप सन्मुख करें। श्रुतज्ञान को भी नयादि के विकल्प से हटाकर स्वरूप सन्मुख किया तब अन्य विकल्प से रहित होकर ज्ञान ज्ञान में ही अपनापना स्थापित करके ज्ञानरूप रहा। जब आत्म अनुभव होता है तब यह शरीर को भूल जाता है यही शरीर से बाहर होने का उपाय है। शरीर अपने से अलग सामने पड़ा दिखायी पड़ता है। कभी-कभी यह अपने आप अपने ख्याल के बिना ही हो जाता है। अचानक पाते हैं कि शरीर से अलग हो गये। शरीर को अलग पड़ा देखते हैं। पहली दफा इस शरीर को अलग देखते हैं। एक बार जो शरीर को अलग देख लिया वह शरीर के भीतर होकर भी कभी भीतर नहीं हो पाता। वह फिर सदा बाहर ही हो जाता है फिर उसका शरीर होने का कोई उपाय नहीं है पृथक् ही बना रहता है फिर शरीर का मरण उसका मरण नहीं, जन्म उसका जन्म नहीं। शरीर के दुःख-सुख उसका दुःख-सुख नहीं। ऐसा वह आत्म अनुभव है इसी लिए उसकी ऐसी महिमा आचार्यों ने बताई है। ऐसा अनुभव आज भी हो सकता है। यह दर्शनोपयोग का विषय है दर्शनोपयोग निर्विकल्प होता है। अतः आत्म अनुभव निर्विकल्प है आचार्यों ने ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है।

विशेष ज्ञान तो सभी के पकड़ में आ सकता है पर सामान्य ज्ञान का पकड़ना कठिन है। कभी-कभी विशेषज्ञान को ही पकड़ कर यह अपने को अनुभवी मान लेता है वह तो पर्यायज्ञान है जो कर्म सापेक्ष है। अतः द्रव्यस्वभाव पकड़ में नहीं आया। सामान्य का आविर्भाव करना है और विशेष का तिरोभाव तब ज्ञान सामान्य पकड़ में आता है। उदाहरण के लिए पांच दीपक हैं एक बहुत बड़ा एक छोटा और छोटा इस प्रकार—कितनी रोशनी है और कितने पदार्थों को प्रकाशित करती है और कैसे प्रकाशित करता है यह दृष्टि तो विशेष को विषय करती है परन्तु मात्र प्रकाशत्वपना ही देखना जहाँ पांचों में कोई भेद नहीं है वह सामान्य दृष्टि है। अतः आत्मदर्शन के लिए भी मतिश्रुतादि भेदों को गौण करके सामान्य स्वभाव में एकत्वपना स्थापित करना है।

ज्ञान और आत्मा में गुण और गुणी का भेद व्यवहार नय से किया जाता है। निश्चय नय की

दृष्टि में तो दोनों एक ही हैं। जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है। ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं है और आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं है। यह निश्चय की दृष्टि है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में लेकर यहां आत्मानुभव का आस्वादन एकमात्र ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसमें मतिश्रुत अवधिमन: पर्यय और केवल रूप, ज्ञान के विशेषों-पर्यायों की विवक्षा नहीं है। मात्र ज्ञान सामान्य ही विवक्षित है जो ज्ञायक भी है और ज्ञेय भी है। पर ये दोनों भी यहां ज्ञानरूप में ही प्रतिष्ठित हैं क्योंकि सामान्य अभेद रूप ही होता है भेदरूप नहीं। इस प्रकार से ज्ञानी आत्मा ज्ञान के साथ एकत्व स्थापित करके आत्मानुभवन में प्रवृत्त होता है इसे ही आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, स्वानुभूति आदि विभिन्न पदों से व्यक्त किया जाता है ॥८॥

(**अथ संवेदनव्यक्तिमवलोस्वदते**) अब ज्ञान के विशेषों का आस्वादन करते हैं—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्य रत्नाकरः ॥९॥

अन्वयार्थ—(**यस्य**) जिस आत्मा की (**अच्छाच्छाः**) अति निर्मल (**निष्पीताखिलभाव मण्डल रस प्राग्भारमत्ताः**) निश्शेष रूप से प्रतिविम्बित हुए समस्त ज्ञेयों के समूह के रस के भार से उन्मत्त हुए के (**इव**) समान (**इमाः**) ये (**संवेदनव्यक्तयः**) ज्ञान की विशिष्ट दशाएँ (**स्वयम्**) स्वभाव से (**उच्छलन्ति**) उछल रही हैं (**अद्भुतनिधिः**) ज्ञानादि गुण रूप विचित्र निधियों वाला (**चैतन्य रत्नाकरः**) चैतन्य रूप रत्नों का-खान स्वरूप-समुद्र (**अभिन्नरसः**) एक रस वाला (**सः**) वह (**एषः**) यह (**भगवान्**) आत्मारूप-भगवान (**एकः**) एक अद्वितीय (**अपि**) होता हुआ भी (**उत्कलिकाभिः**) ज्ञानरूप विभिन्न पर्यायों से (**अनेकीभवन्**) अनेक होता हुआ (**वल्गति**) सुशोभित हो रहा है।

सं० टीका—(**वल्गति-उल्लसति**) शोभित होता है (**कः ?**) कौन (**स एषः**) वह यह (**चैतन्यरत्नाकरः-चैतन्यमेव रत्नं मणिः तस्य आकरः स्थानं आत्मा**) चैतन्यरूप रत्न का आकर-स्थान स्वरूप आत्मा (**पक्षे समुद्रः**) पक्ष में समुद्र (**काभिः**) किनसे (**उत्कलिकाभिः-ऊर्ध्वांशैः ज्ञानलक्षणैः**) ज्ञानस्वरूप ऊर्ध्वांशों में (**पानीयलक्षणैर्वा**) अथवा जलरूप (**संवेदनशक्तिभिः**) ज्ञान की शक्तियों से (**अन्यत्र**) आत्मा से भिन्न-समुद्र पक्ष में (**ऊर्मिभिरित्यर्थः**) लहरियों-तरङ्गों-से (**किम्भूतः ?**) कैसा (**अद्भुतनिधिः-अद्भुताः, आश्चर्यदाः, निधयः ज्ञानादिरूपायत्र सः**) जिसमें आश्चर्य-विस्मय-को पैदा करने वाली ज्ञानरूप निधियाँ हैं (**पुनः**) फिर (**अभिन्नरसः-अभिन्नः-भेत्तुमशक्यः, रसो यत्रोभयत्र**) जिस आत्मा में आनन्दरूप रस का भेद नहीं किया जा सकता तथा जिस समुद्र में जल का विनाश नहीं किया जा सकता (**स भगवान्-भगं ज्ञानं पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान्**) जिस आत्मा में ज्ञान और समुद्र में लक्ष्मी विद्यमान है वह भगवान्

आत्मा अथवा समुद्र (**"भगं-श्री ज्ञानमाहात्म्यवीर्यं प्रयत्न कीर्तिषु" इत्यनेकार्थः**) अनेकार्थ कोश में भग शब्द का श्री-लक्ष्मी, ज्ञान, माहात्म्य-प्रभाव, वीर्य-शक्ति, प्रयत्न और कीर्ति अर्थ में प्रयोग किया जाता है अतएव यहाँ आत्मा में भग शब्द ज्ञान अर्थ में तथा समुद्र में लक्ष्मी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (**एकोऽपि-आत्मत्व सामान्येन समुद्रत्वेन चाद्वितीयोऽपि**) आत्मा आत्मत्व सामान्य की अपेक्षा से और समुद्र-समुद्रत्व सामान्य की अपेक्षा से एक अद्वितीय है तो भी (**अनेकीभवन्-मतिश्रुतादि ज्ञानेन मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी**) मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान से मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी रूप से अनेक होता हुआ (**पक्षे-पूर्वापराविभागेन पूर्वसमुद्रः पश्चिम समुद्रः इत्यादि रूपेणानेकतां भजन्**) समुद्र के पक्ष में पूर्व अपर आदि भाग से पूर्व समुद्र पश्चिम समुद्र इत्यादि रूप से अनेकता को धारण करता हुआ (**कुतः**) कैसे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**यस्य-आत्मनः सम्बन्धिन्यः**) आत्मा सम्बन्धी (**इमाः**) ये (**संवेदन व्यक्तयः-ज्ञान विशेषाः-मतिज्ञानादयः**) मतिज्ञानादि रूप ज्ञान के विशेष परिणमन (**स्वयं-स्वतः**) अपने आप-स्वभाव से (**उच्छलन्ति-उत्कर्षं गच्छन्ति**) उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं (**अन्या अपि जलव्यक्तयः**) दूसरे जल के विशेष भी (**उच्छलन्ति**) समुद्र में तरङ्गों के रूप में उछलते रहते हैं (**किम्भूताः ?**) कैसे (**अच्छाच्छाः-निर्मलपदार्थ नैर्मल्यान्निर्मलाः**) अति स्वच्छ अर्थात् निर्मल पदार्थ की निर्मलता से निर्मल (**उत्प्रेक्षां दर्शयति**) उत्प्रेक्षा को दिखाते हैं—(**अत उत्प्रेक्षते**) इसलिए उत्प्रेक्षा करते हैं (**निष्पीतेत्यादिः-निष्पीतं-क्रोडीकृतं-ज्ञायकस्वभावेन अखिलभावानां समस्तज्ञानज्ञेयपदार्थानां मण्डलं-समूहः स एव रसः अनुभवस्वभावः, पानीयं वा सचासौ रसश्चेति वा-मदिरारूपो रसः मदहेतुत्वात् तस्य प्राग्भारः पूर्वातिशयः तेन मत्ताः मदं नीताः**) ज्ञायक स्वभाव से जाने हुए समस्त ज्ञान और ज्ञेय पदार्थों के अनुभव रूप रस के आधिक्य से उन्मत्त, समुद्रपक्ष में जलरूप रस के, अतिशय से उन्मत्त के(**इव**) समान (**यथा-केचित् मैरेयमत्ताः उच्छलन्ति तथा एता अपि**) जैसे मदिरापान से उन्मत्त कोई मदिरापायी उछलते हैं वैसे ही ये ज्ञान के विशेष और समुद्र के विशेष भी आत्मा में और समुद्र में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं। वे विशेष आत्मस्थ ज्ञान से तथा समुद्रस्थ जल से अभिन्न ही होते हैं।

भावार्थ—जैसे समुद्र रत्नों के सद्भाव से रत्नाकर कहलाता है परन्तु उसमें मुख्यता जल की ही होती है और उस जल में विभिन्न प्रकार की लहरें उठती रहती हैं, वे सब जल की विशेषताएँ हैं। अतएव जल से अभिन्न ही होती हैं वैसे ही आत्मा चैतन्यरूप रत्न का आकर है। पर उसमें प्रधानता ज्ञान की ही है। ज्ञान से ही आत्मा ज्ञायक व्यवहार को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं प्रत्युत् ज्ञान ही आत्मा का खास परिचायक चिह्न है। उस ज्ञान की मति आदि जितनी भी विशेषताएँ हैं वे सब ज्ञानरूप ही हैं। अन्य रूप नहीं। अतः वे सब ज्ञान सामान्य में अन्तर्हित-छिपकर रहती हैं। उनका ज्ञानरूप से ही अनुभव करना। मति आदि रूप से नहीं। यही ज्ञान सामान्य है।

(**अथ ज्ञानान्येषां कर्मणां क्लेशत्वमाकर्षति**) अब ज्ञान के बिना अन्य जितना भी क्रिया काण्ड है वह सब क्लेश कारक है यह दिखाते हैं—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं–
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**केचित्**) कोई (**मोक्षोन्मुखैः**) मोक्ष से पराङ्मुख (**दुष्करतरैः**) अति दुःसाध्य (**कर्मभिः**) तपश्चरणादि क्रियाओं से (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**क्लिश्यन्ताम्**) क्लेशित-दुःखी होओ (**च**) और (**परे**) अन्य-दूसरे-मोक्ष को चाहने वाले पुरुष (**महाव्रततपोभारेण**) अहिंसा महाव्रत आदि पांच महाव्रतों के तथा बाह्य और आभ्यन्तर तपों के भार से (**भग्नाः**) दुःखित (**सन्तः**) होते हुए (**चिरम्**) दीर्घ काल तक (**क्लिश्यन्ताम्**) क्लेशित होओ-दुखी रहो-(**स्वयम्**) अपने द्वारा (**संवेद्यमानम्**) सम्यक् प्रकार से जाना जा रहा (**निरामय-पदम्**) निरुपद्रव (**ज्ञानम्**) आत्मज्ञान (**हि**) निश्चय से (**साक्षात्**) प्रत्यक्षरूप से–जाहिर तौर पर (**मोक्षः**) मोक्ष स्वरूप (**अस्ति**) है (**इदम्**) ऐसे (**तत्ज्ञानम्**) इस ज्ञान को (**ज्ञानगुणम्**) ज्ञानगुण के (**विना**) बिना (**कथमपि**) किसी प्रकार से भी (**प्राप्तुम्**) प्राप्त करने के लिए (**न**) नहीं (**क्षमन्ते**) समर्थ हो सकते हैं ।

सं० टी०—(**केचित्**) कोई मुमुक्षु (**स्वयमेव-गुरूपदेशादिना विना**) गुरुजनों के उपदेश आदि के विना ही (**क्लिश्यन्तां-क्लेशं कुर्वताम्**) क्लेश करो–कष्ट सहो (**कैः ?**) किनसे (**दुष्करतरैः-दुःसाध्यैः**) दुष्कर-दुःख से करने योग्य अर्थात् दुःख से साधने योग्य (**कर्मभिः-शीतातापनवर्षायोगप्रतिक्रमणादिक्रियाभिः**) शीत योग, आतापन योग, वर्षायोग, प्रतिक्रमण आदि रूप क्रियाओं से (**किम्भूतैः ?**) कैसे (**मोक्षोन्मुखैः-कर्ममोचनं प्रतिसन्मुखैः**) कर्मों के परित्याग कराने में समर्थ (**निर्जराहेतुत्वात्**) निर्जरा के हेतु होने से (**च-पुनः**) और (**परे-पुरुषाः**) दूसरे पुरुष (**चिरं-दीर्घकालम्**) दीर्घ समय तक (**क्लिश्यन्ताम्-कायादिक्लेशं कुर्वताम्**) काय आदि के कष्ट को करें (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए– (**भग्नाः सन्तः**) पीड़ित होते हुए (**केन**) किससे (**महेत्यादिः-महाव्रतानि-अहिंसादीनि तपांसि अनशनादीनि तेषां भारः तेन**) अहिंसा आदि महाव्रतों और अनशन आदि तपों के भार से (**कर्मणां महाव्रतादिभिः निर्जरासद्भावेऽपि ततोबहुतर कर्मास्रवः ज्ञानाभावात्,**) यद्यपि महाव्रतादि से कर्मों की निर्जरा होती है तथापि आत्मज्ञान के न होने से उन्हीं महाव्रतादि से निर्जरा की अपेक्षा नवीन कर्मों का आस्रव अधिक होता है (**होति-यस्मात्**) जिससे (**कथमपि-केनापि प्रकारेण**) किसी भी तरह से (**ज्ञानगुणम्-ज्ञानमाहात्म्यं**) ज्ञान के महात्त्व के (**विना**) विना (**प्राप्तुं-मोक्षमवाप्तुम्**) मोक्ष को प्राप्त करने के लिए (**न क्षमन्ते-न समर्था भवन्ति**) समर्थ नहीं हो सकते। (**ततः**) तिससे (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष रूप से (**इदं ज्ञानम्-आत्मपरिज्ञानम्**) यह आत्मज्ञान (**मोक्षः**) मोक्ष है (**तदन्यतमस्य तत्रानुपलभ्यमानत्वात्**) क्योंकि मोक्ष के विषय में उक्त आत्म ज्ञान के सिवाय अन्य कोई समर्थ कारण उपलब्ध नहीं है (**किम्भूतम्**) कैसा आत्मज्ञान ? (**निरामयपदम्-निर्गतः**

आमयः रोगा उपलक्षणात्-क्षुत्तृष्णा जन्मजरामरणाधिदु:शर्मा स्वास्थ्योद्वेगादिर्गृह्यते) जो राग से रहित है तथा उपलक्षण से क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण आधि, (मानसिक चिन्ता) दु:ख, अस्वास्थ्य और उद्वेग-भय आदि से रहित है (**यस्मात्तत्पदम्-स्थानम्**) जिससे वह पद-स्थान (**स्वयं-स्वेन आत्मना संवेद्य-मानं-स्व संवेदन प्रत्यक्षेण ज्ञायमानम्**) अपने द्वारा स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष से जाना जा रहा है अर्थात् आत्मा के द्वारा स्वभाव से ही उस ज्ञान गुण का साक्षात्कार किया जा रहा है।

भावार्थ –जिनेन्द्र शासन के विरुद्ध अतएव मोक्ष के प्रतिकूल-व्रतों के तथा तपों के पालन एवं आचरण के कष्टों को कोई मोक्ष को लक्ष्य करके सहन करे तो करो। उस कष्ट सहिष्णुता से मोक्ष मिलना नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार से जिनेन्द्र आज्ञा के अनुसार व्यवहार चारित्र –अहिंसा आदि महाव्रतों तथा अनशन आदि तपों का परिपालन एवं आचरण भी मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि आत्म ज्ञान शून्य सभी क्रियाएँ मोक्ष के प्रतिकूल संसार को ही बढ़ावा देती हैं। मोक्ष तो आत्म ज्ञान स्वरूप है। अत: आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना सभी प्रकार के व्रताचरण रूप क्रियाकाण्ड पुण्य फलदायक ही हैं। अत: जो मोक्षेच्छु हैं उन्हें चाहिए कि वे सबसे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करें।

यहां पर बताया है वह आत्मज्ञान उन क्रियाओं से प्राप्त नहीं होगा परन्तु वह आप अपने ज्ञान-गुण के द्वारा ही प्राप्त होता है। हमारे ऐसा भ्रम है कि इतनी इतनी क्रिया करने से सम्यक्दर्शन हो जायेगा इसलिए वह इन क्रियाओं में लगे हुए हैं परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती अगर क्रिया और व्रतादि से ही सम्यक् प्राप्त होता तो कोई द्रव्यलिंगी नहीं रहता। इससे मालूम देता है उसका कारण कुछ और है। यह तो निश्चित है कि आत्मदर्शन के बिना सम्यक् नहीं हो सकता अब वह आत्मदर्शन कैसे हो यह विचार करना है—भेड़ियों में एक सिंह का बच्चा पला और वह अपने को भेड़िया ही मान बैठा। एक सिंह विपुलाचल पर्वत से धुड़का और सब भेड़िये भागे वह सिंह का बच्चा भी भागा। शेर ने देखा यह शेर का बच्चा क्यों भाग रहा है उसने आवाज दी, तू शेर है रुक जा भागना तेरे को शोभा नहीं देता वह नहीं रुका। उस शेर ने उसको जाकर पकड़ा। उसने कहा तुम शेर हो परन्तु वह नहीं माना। उस शेर के बच्चे ने शेर की बहुत स्तुति करी, हाथ जोड़ा पैर छूवे। अपने को विचार करना है क्या इतना करने पर भी वह शेरत्व को प्राप्त हुआ ? नहीं-क्यों नहीं—क्योंकि अभी तक भी उसने अपने को नहीं देखा। वह शेर उसको पकड़ कर तालाब के किनारे ले गया और अपना चेहरा दिखाया और उसका चेहरा दिखाया और दोनों का मिलान जब उसने किया तब उसके मुंह से शेर की आवाज निकल गयी। ऐसा तभी सम्भव है जब हम सच्चे देव-शास्त्र-गुरू के माध्यम से अपना स्वरूप देखने की चेष्टा करें। मात्र उनका गुण गाते रहें, पूजा करते रहें –अपने स्वरूप को देखने का आप निज में उपाय न करें तो आत्मदर्शन नहीं होता। यही कारण है कि वर्षों से व्रतादि का भी पालन करें—सच्चे देव-शास्त्र-गुरू का अवलम्बन भी लेते हैं पर आप अपने स्वरूप को देखने का उपाय नहीं करते। ऐसी गेंद होनी चाहिए कि जो दिवाल से टकरा कर फिर अपनी तरफ आ जावे, ऐसे ही उपयोग भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरू से टकरा कर

वापिस अपने सम्मुख हो जावे। इसलिए पहले यह निश्चय करना जरूरी है कि आत्मदर्शन करना है अगर और कोई अभिप्राय है तब तो पात्रता भी नहीं है।

(**अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्वं प्रदर्शयति**) अब मुक्ति की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहज बोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोध कलाबलात्-कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**ननु**) वास्तव में (**इदम्**) यह (**पदम्**) ज्ञान स्वरूप पद (**कर्मदुरासदम्**) क्रियाकाण्ड से दुर्लभ है (**किल**) निश्चय से (**सहजबोध कला सुलभम्**) आत्मज्ञान की कला-ज्योति-से सुलभ-सरलता से प्राप्त करने योग्य-है (**ततः**) इसलिए (**जगत्**) सारा संसार—तीन लोक के प्राणी (**सततम्**) निरन्तर-लगातार (**निजबोधकलाबलात्**) अपने आत्मज्ञान की कला-ज्योति-के बल से (**इदम्**) इस पद को (**कलयितुम्**) प्राप्त करने के लिए (**यतताम्**) प्रयत्न करें।

सं० टीका—(**ननु—इति-वितर्के**) ननु अव्यय वितर्क अर्थ में आया है अर्थात् यहां कोई वितर्क करता है कि (**किलेति-निश्चितम्**) किल यह अव्यय निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चित रूप से (**इदं-पदं-मोक्षलक्षणम्**) मोक्ष स्वरूप यह पद (**कर्मदुरासदम्-कर्मणा क्रियाकाण्डं तपश्चरणादिना दुरासदम्-दुष्प्राप्यम्**) तपश्चरण आदि रूप क्रियाकाण्ड से दुष्प्राप्य है (**ततः-तस्मात्कारणात्**) तिस कारण से (**जगत्-त्रिभुवनम्**) तीन लोक अर्थात् तीन लोक के मुमुक्षु जन (**इदं-पदम्**) इस मोक्ष पद को (**कलयितुम्-अवगाहयितुम्**) अवगाहन करने के लिए (**यतताम्-यत्नं कुरुताम्**) यत्न करें (**कुतः**) कैसे (**निजेत्यादिः-निजबोधः-स्वात्मज्ञानम्-तस्य कला-कलनं तस्य बलं सामर्थ्यं तस्मात्**) आत्मज्ञान की कला के बल से (**कुतस्तत्रयत्नम्**) उसमें यत्न कैसा ? (**यतः इदं पदम्**) क्योंकि यह पद (**सहजेत्यादि-सहजबोधः स्वस्वरूपज्ञानम् तस्य कला-कलनं-अभ्यसनं तया सुलभम्-सुप्रापम्**) आत्म ज्ञान के अभ्यास के बल से सुलभ है।

भावार्थ—विचारना है कि कितनी क्रिया, कितने व्रत-तप करने से आत्मदर्शन हो जाय, कितना अध्ययन करने से आत्मदर्शन हो जाय। ऐसा कोई नियम नहीं बताया गया है। ११ अंग का पाठी और उग्र से उग्र तप करने वाला, द्रव्यलिंगी तो सम्यक्त्व को न पा सके और एक साधारण गृहस्थ सम्यक्त्व का अधिकारी हो जावे। यह प्रश्न विचारणीय है। इतना शास्त्र ज्ञान-आत्मज्ञान के लिए नियम नहीं बनता। इतना आचरण भी नियम नहीं बन पाता। तब सम्यक्त्व का उपाय क्या है। उसका उपाय तो मात्र आत्मदर्शन है वह निज में दर्शन करना चहावे और आप अपने भीतर अपने निज स्वभाव को खोजे तो जरूर प्राप्त हो जाये। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता सदा त्रिकाल एकरूप है, चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी। जिसने अपने को अपने स्वभावरूप जाना वह ज्ञानी है और जिसने अपने को पर भाव रूप देखा-जाना वह अज्ञानी है। सवाल कितना ज्ञान और कितनी क्रिया का नहीं है, परन्तु अपने को अपने रूप अनुभव करने का है।

एक आत्मज्ञान है एक व्रतादि क्रियारूप आचरण है। दोनों के कारण अलग-अलग हैं एक का दर्शनमोह का अभाव कारण है एक का चारित्रमोह का अभाव। दर्शनमोह का अभाव हुए बिना चारित्र-मोह का अभाव होता नहीं। दर्शनमोह का अभाव ही चारित्रमोह के अभाव में कारण पड़ता है। यह करणानुयोग की दृष्टि है। दोनों के कारण जुदा-जुदा हैं। यह समझना जरूरी है। एक खेत को मुलायम करना है दूसरा बीज है। बीज आत्मदर्शन है। बीज को प्राप्त करने का उपाय दूसरा है। चरणानुयोग के अनुसार खेत को मुलायम, ठीक करके आत्मदर्शनरूपी बीज डाले तो फल मिले। बिना बीज के मात्र खेत को ठीक करना फल नहीं दे सकता। ऐसे ही व्रतादि क्रियारूप आचरण परहेज है और आत्मदर्शन दवाई है। दवाई के साथ में परहेज जरूरी है परन्तु मात्र परहेज रोग नहीं मेट सकता। पहाड़ पर चढ़ने के लिए कार के द्वारा अक्सलेटर से आगे बढ़ा जाता है ब्रेक से नीचे जाने से रुका जाता है दोनों के कार्य अलग-अलग हैं। आत्मदर्शन अक्सलेटर है और उसके साथ व्रतादि आचरण ब्रेक का काम करता है। मात्र व्रतादि से मोक्षरूपी पहाड़ पर नहीं चढ़ा जा सकता। यह चरणानुयोग की दृष्टि है। अध्यात्म कहता है आत्मदर्शन करने की चेष्टा करे तो मिथ्यात्व हटने लगेगा। स्वभावरूप रहने की चेष्टा कर चारित्रमोह हटने लगेगा। विकल्पों से बचने के लिए विकल्पों के आश्रय को छोड़कर निर्विकल्प स्वभाव में ठहरने का प्रयत्न कर जिससे कर्मों का नाश होगा यही तीनों दृष्टियों का समन्वय है।

(**अथ ज्ञानिनोऽपरस्या किञ्चित्करत्वं युनक्ति**) अब ज्ञानी को ज्ञान के सिवाय कुछ भी करना कार्य-कारी नहीं है यह दिखाते हैं—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेवदेवश्चिन्मात्र चिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१२॥

अन्वयार्थ— (**चिन्मात्र चिन्तामणिः**) चैतन्यरूप चिन्तामणि (**अचिन्त्यशक्तिः**) अनन्त सामर्थ्य वाला (**एषः**) यह (**ज्ञानी**) आत्मज्ञान प्रधान जीव (**यस्मात्**) जिस कारण से (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**एव**) ही (**देवः**) आत्मस्वरूप में क्रीड़ा करने वाला (**अस्ति**) है (**तस्मात्**) तिस कारण से (**सर्वार्थ सिद्धात्मतं या**) सर्व प्रयोजन से निष्पन्न आत्मस्वरूप होने से (**अयम्**) यह (**ज्ञानी**) ज्ञानी (**अन्यस्य**) परपदार्थ के (**परिग्रहेण**) परिग्रह से (**किम्**) क्या (**विधत्ते**) करेगा अर्थात् कुछ भी नहीं।

सं० टीका—(**अन्यस्य-परद्रव्यस्य**) परपदार्थ के (**परिग्रहेण-ममत्वरूपाङ्गीकारेण**) परिग्रह से-ममत्व रूप से अङ्गीकार से (**ज्ञानी-बुधः**) स्वपर विवेकी सम्यग्ज्ञानी (**किं विधत्ते**) क्या करेगा अर्थात् (**न किमपि**) कुछ भी नहीं क्योंकि (**तत्र ममत्वाभावात्**) ज्ञानी के उन परपदार्थों में ममत्व नहीं होता है। (**कुतः**) कैसे (**यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**एषः-ज्ञानी-आत्मा**) यह आत्मज्ञानी जीव (**सर्वेत्यादिः-सर्वार्थैः सिद्धः निष्पन्नः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावः तत्ता तया,**) समस्त प्रयोजनों से परिपूर्ण स्वभाव वाला होने से (**विधत्ते-स्वकार्यं करोतीत्यर्थः**) अपने प्रयोजनीभूत कार्य को करता है। (**किम्भूतः**) कैसा (**अचिन्त्यशक्तिः-**

अचिन्त्या-चिन्तितुमशक्या शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः) जिसकी शक्ति मन से विचार करने में नहीं आ सकती **(स्वयमेव-स्वरूपेणैव)** स्वरूप से ही **(देवः-दीव्यति-क्रीडति स्वस्वरूपेणेति देवः)** देव—आत्मस्वरूप में क्रीड़ा करने वाला–निरन्तर अपने में ही रमण करने वाला है **(पुनः किम्भूतः)** फिर कैसा **(चिदित्यादिः-चैतन्य-निर्वृत्तचिन्तामणिः)** चैतन्य से निर्मित चिन्तामणि अर्थात् चेतनागुण रूप चिन्तामणि है।

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा का जितना भी परिणमन होता है वह सब चैतन्यमय ही होता है। क्योंकि वह स्वभाव से अपने खास स्वरूप में ही रत रहता है पर के स्वरूप में नहीं। अतः वह पर का ग्रहण करने वाला क्यों कर होगा ? नहीं कदापि नहीं और कथमपि नहीं ॥१२॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेक हेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुनाविशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१३॥

अन्वयार्थः—(अयम्) यह **(इत्थम्)** इस प्रकार से **(सामान्यतः)** सामान्यरूप से **(समस्तमेव)** सभी **(परिग्रहम्)** परिग्रह –को **(अपास्य)** त्याग करके **(अधुना)** इस समय **(स्वपरयोरविवेकहेतुम्)** अपने और पर में अविवेक-एकत्व के हेतु-कारणभूत **(अज्ञानम्)** अज्ञान-मिथ्याज्ञान को **(उज्झितुमनः)** छोड़ने का इच्छुक **(भूयः)** पुनः **(तमेव)** उसी परिग्रह को **(विशेषात्)** विशेषरूप से **(परिहर्तुम्)** छोड़ने के लिए **(प्रवृत्तः)** उद्यत-हुआ है।

सं० टीका—**(भूयः-पुनः)** फिर **(अधुना-इदानीम्-सम्प्रति)** इस समय **(अयं-ज्ञानी)** यह ज्ञानवान आत्मा **(तमेव-परिग्रहमेव)** उस परिग्रह को ही **(परिहर्तुं-त्यक्तुम्)** त्यागनेके लिए **(प्रवृत्तः सोद्युक्तो बभूव)** प्रवृत्त हुआ है—उद्योगशील हुआ है **(विशेषात्-पूर्वं ज्ञानभावेन विमुक्तोपधिरपि इदानीं पुनर्विशेषतः)** पहले ज्ञान भाव से मैं सर्व परिग्रहों से शून्य था तो भी इस समय फिर विशेषरूप से **(किम्भूतः)** कैसा **(उज्झितुमनाः-उज्झितुं त्यक्तुं मनश्चित्तं यस्य सः)** जिसका चित्त छोड़ने के लिए तत्पर है **(किम्)** किसको **(अज्ञानम्-अहमस्य ममेदं रूपमज्ञानम्)** मैं इसका हूँ और यह मेरा है इस प्रकार के अज्ञान को **(किम्भूतम्)** कैसे अज्ञान को **(स्वपरयोः-जीवपुद्गलयोः-अविवेक हेतुम्-अविवेकस्य-अविवेचनस्य हेतुं कारणम्)** जीव और पुद्गल में जुदाई नहीं होने देने में कारण **(किं कृत्वा)** क्या करके **(इत्थम्—नाहमस्यनेदं मम-अहमेव मम स्वं-अहमेव मम स्वामीत्यादि पूर्वोक्त प्रकारेण)** "मैं इसका नहीं हूँ और यह मेरा नहीं है, मैं ही अपना स्वामी हूँ" इत्यादि पूर्व में कहे अनुसार **(सामान्यतः-स्वपर परिग्रहस्य भेदविवक्षामन्तरेण)** सामान्य रूप से अर्थात् आत्मा और पर पुद्गलादि रूप परिग्रह में भेद की विवक्षा–बताने की इच्छा के विना **(समस्तमेव-चेतनाचेतनादिकं उपधिम्)** सभी चेतन और अचेतन आदि **(अपास्य-परिग्रह)** परिग्रह को **(त्यक्त्वा)** छोड़ करके।

भावार्थ—जीव का कर्म से एकत्वबुद्धि रूप जो मिथ्यात्व है वही अज्ञान भाव है। द्रव्यकर्म भाव-कर्म रागादि, नोकर्म शरीरादिक यह तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों के है परन्तु ज्ञानी का इनमें एकत्वपना नहीं

है अज्ञानी का इनमें एकत्वपना है। अज्ञानी से ज्ञानी बनने के लिए मात्र इनमें अपनापना एकत्वपना छोड़ना है जो अपने निज स्वभाव को जाने बिना नहीं छूट सकता। इसलिए अज्ञानी से ज्ञानी बनने के लिए अपने आपको एक अकेला, चैतन्यरूप, जानने वाला, अनुभव करना जरूरी है। हरएक संसारी आत्मा में तीन भाव होते ही हैं – एक औदायिक भाव एक क्षयोपशम भाव और एक पारिणामिक भाव। बाकी दो भाव मोक्षमार्ग में होते हैं। जानने वाला भाव क्षयोपशम भाव है। वह आत्मा को औदायिक भाव रूप भी देख सकता है वह अपने को पारिणामिक भावरूप भी देख सकता है। जो सामान्य ज्ञान है वह पारिणामिक भावरूप है वही जब पर्यायरूप से देखा जाता है तब मतिश्रुति ज्ञानरूप है। वह क्षयोपसम ज्ञान अपने आपको सामान्य ज्ञानरूप अनुभव में ले सकता है। अनादिकाल से यह क्षयोपशम ज्ञान अपने को रागी-द्वेषी, शुभ-अशुभ भावरूप, शरीररूप जो औदयिकभाव है उस रूप देखता है अनुभव कर रहा है उसको कहा जा रहा है कि तू अपने आपको सामान्य ज्ञानरूप–पारिणामिक भावरूप देख ले, अनुभव कर ले। तू ही अनुभव करने वाला है तू अपने को पररूप तो अनुभव कर रहा है जिस रूप तू नहीं है। जैसा तू अनादि अनन्तरूप है उस रूप अपने को अनुभव करना चाहे तो अनुभव कर सकता है। औदयिक भाव रूप अपने को अनुभव करने से कर्मों की बढ़वारी होती है और ज्ञानरूप अनुभव करने से ज्ञान केवलज्ञान रूप हो जाता है। दोनों चीजें तेरे पास हैं तू ही अनुभव करने वाला है यह तेरा चुनाव है, यह तेरा निर्णय है कि संसार में रहना है अथवा परमात्मा होना है। तू अपने को सामान्यज्ञान-पारिणामिक भावरूप अनुभव करे तो समस्त दुःखों से रहित हो जावे। अनुभव करने की शक्ति तेरे में है—पारिणामिक भाव त्रिकाल रहने वाला निज भाव है और औदयिक भाव-कर्म के फलरूप है। एक को अपने रूप अनुभव का फल मोक्ष और एक को अनुभव करने का फल अनंत संसार है निर्णय तेरा है।

(**अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्व मुल्लिखति**) अब ज्ञानियों के परिग्रह के अभाव का उल्लेख करते हैं—

पूर्वबद्ध निजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदिभवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रह भावम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वबद्ध निजकर्म विपाकात्**) पूर्व में बांधे हुए अपने ही कर्मों के उदय से (**यदि**) यदि (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**उपभोगः**) सुख-दुःखादि का अनुभवरूप उपभोग (**भवति**) होता है तो (**भवतु तत्**) वह होओ (**अथ च**) परन्तु (**रागवियोगात्**) राग का वियोग-अभाव-होने से (**ज्ञानी**) आत्मविवेकी (**नूनम्**) निश्चय से (**परिग्रह भावम्**) परिग्रहभाव-नवीन कर्मबन्ध रूप उपाधि-को (**न**) नहीं (**एति**) प्राप्त करता है।

सं० टी०—(**यदि-यदा**) जब (**ज्ञानिनः-पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**उपभोगः-कर्मोदयजनितसुखदुःखादिनोकर्माद्युपभोगः**) कर्मों के उदय से उत्पन्न-प्राप्त सुख-दुःख आदि के कारणीभूत नोकर्म-बाह्य सामग्री का उपभोग (**भवति अस्ति**) होता है (**कुतः**) किससे (**पूर्वेत्यादिः-पूर्वं-ज्ञानावस्थतः प्राग्बद्धानि योगकषा-**

अवशादात्मसात्कृतानि तानि च तानि कर्माणि च तेषां विपाकः उदयः तस्मात्) ज्ञान अवस्था से पहले योगों और कषायों के वश से बांधे हुए अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित किए हुए कर्मों के विपाक-उदय-से (**तत्-तर्हि**) तब (**भवतु-अस्तु**) होवे (**उपभोगः**) उपभोग-सेवन (**अथ च-उपभोगकथनाद-नंतरम्**) उपभोग के कहने के बाद (**नूनं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**ज्ञानिन उपभोग-इत्यध्याहार्यम्**) उपभोग शब्दका अध्याहार करके तो भी ज्ञानीका उपभोग (**परिग्रहभावम्-कर्मबन्धनाद्युपाधिस्वभावम्**) कर्मबंध आदि रूप उपाधि-परिग्रह-स्वभाव को (**नैति न प्राप्नोति**) नहीं प्राप्त करता है (**कुतः**) किससे (**रागवियोगात् रागस्य-ममत्वादिपरिणामस्य वियोगः राहित्यं तस्मात्**) ममत्वादिरूप परिणाम के अभाव से (**कर्मोदयोपभोगस्तावत् ज्ञानिनः अतीतो न स्यात् प्रणष्टत्वात्-प्रत्युत्पन्नानागतौन स्तः, तत्रममत्वाभावात् इति तात्पर्यम्**) ज्ञानी के अतीत कर्मोदय का उपभोग इसलिए नहीं होता है कि वे नष्ट हो चुके हैं तथा वर्तमान और भविष्यत् कर्मोदय का उपभोग इस कारण से नहीं होता है कि उनमें उसका ममत्व नहीं है। अर्थात् ज्ञानी के तीनों कालों में कर्मोदय का उपभोग नहीं होता है यह इसका तात्पर्य है।

भावार्थ—ज्ञानी के परपदार्थो के प्रति स्वभावतः राग-द्वेष नहीं होता है। अतएव नवीन कर्मबन्ध भी नहीं होता है। क्योंकि बन्ध के मूल कारण रागादि विभाव भाव हैं। कर्मों का उदय तो होता ही है। वह किसी न किसी निमित्त को प्राप्त कर सुख-दुःख की कारणीभूत सामग्री को उपस्थित करता है। लेकिन अज्ञानी अपने को उस रूप मानकर नवीन कर्मों को बांध लेता है। परन्तु ज्ञानीजन कर्मोदय को एवं तन्निमित्त सामग्री को मात्र कर्म के फल रूप से जानता है। उसमें राग-द्वेषादिरूप से आसक्त नहीं होता है। अतएव नवीन कर्म बन्ध का भाजन नहीं होता है। यही ज्ञानी में अज्ञानी से सर्वोपरि विशेषता है जो कर्मों की निर्जरा एवं मुक्ति में साधक सिद्ध होती है ॥१४॥

(**अथ विरक्तिं गृह्णाति**) अब ज्ञानी समस्त भोगों से विरक्त रहता है यह दिखाते हैं—

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**वेद्यवेदक विभाव चलत्वात्**) वेद्य—वेदन करने योग्य-विभाव तथा वेदक-वेदन करने वाला-विभाव दोनों स्वभाव से विरोधी विभाव चल-विनश्वर-हैं अतएव (**खलु**) निश्चय से (**कांक्षितम्**) इष्ट-इच्छित भाव का (**न**) नहीं (**वेद्यते**) अनुभव होता (**तेन**) तिस कारण से (**विद्वान्**) ज्ञानी (**किञ्चन**) कोई इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु को (**न**) नहीं (**कांक्षति**) वांछा करता है (**अपि**) किन्तु (**सर्वतः**) सबसे (**अति विरक्तिम्**) अति विरक्ति-अत्यन्त उदासीनता को (**उपैति**) प्राप्त होता है।

सं० टीका—(**तेन-कारणेन**) तिस कारण से (**विद्वान्-धीमान्-पुमान्**) बुद्धिमान् पुरुष (**किञ्चन-किमपि-शुभाशुभम्**) शुभ और अशुभ रूप किसी भी भाव को (**न**) नहीं (**कांक्षति-आकाङ्क्षा विषयं न करोति**) चाहता है अर्थात् इच्छा का विषय नहीं बनाता है (**अपि-पुनः**) किन्तु (**विद्वान्**) विवेकी प्राणी (**सर्वतः-संसारदेहभोगतः**) संसार शरीर और भोग सभी मे (**अतिविरक्तिम्-अतिवैराग्यम्**) अत्यन्त

विरागता-उदासीनता-को (**उपैति-भजते-प्राप्नोतीति यावत्**) प्राप्त होता है-भजता है-सेवन करता है (**तेन केन**) उस कौन से भाव से (**येन**) जिससे (**खल्विति वाक्यालङ्कारे**) खलु-यह अव्यय वाक्य के अलङ्कार अर्थ में आया है (**काङ्क्षितं-वाञ्छितम्-भावम्**) इच्छित भाव को (**न वेद्यते-मानुभूयते**) नहीं-वेदता-अनुभव करता (**कुतः**) किससे (**वेद्येत्यादिः-वेदनयोग्योवेद्यः-वेद्यतेऽनेनेतिवेदकः, तौ च तौ विभावौ च तयोश्चलत्वं क्षणिकत्वं तस्मात्**) अनुभवन योग्य भाव और अनुभावक भाव दोनों ही क्षण नश्वर होने से (**तथाहि यौ वेद्य वेदक भावौ तौ क्षणिकौस्तः, विभावभावानामुत्पन्नप्रध्वंसित्वात्**) इसी को 'तथाहि' से स्पष्ट करते हैं अर्थात् जो वेद्य वेदक भाव हैं वे दोनों क्षणिक-क्षणनश्वर हैं क्योंकि सभी विभाव भाव जनन और विनशन शील हैं चिरस्थायी नहीं है (**अथ च यो भावः वेद्यं भावं वेदयते स वेदको यावद्भवति तावत्कांक्ष्यो वेद्यो-भावो नश्यति, तद्विनाशे वेदकभावः किं वेदयते ?**) अर्थात् जो भाव, वेद्य भाव को वेदन करता है वह वेदक भाव जब उत्पन्न होता है तब तक वाञ्छनीय वेद्य भाव नष्ट हो जाता है उसके विनष्ट होने पर वेद्यकभाव किसको वेदन करें ?

(**अथ कांक्ष्यवेद्यभावानन्तरभाविनमपरं भावं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेदकोनश्यति तं को वेदयते ?**) अर्थात् आप यह कहें कि वाञ्छनीय वेद्यभाव के अनन्तर होने वाले दूसरे वेद्यभाव को वेदक भाव वेदन करता है तो हम कहते हैं कि—उस समय उस वेद्यभाव के उत्पन्न होने के पहले क्षण में ही वह वेदक भाव विनष्ट हो जाता है अतः उस उत्तर क्षणवर्ती वेद्यभाव को कौन वेदन करेगा ? (**अथ वेदक भावानन्तरभावी भावोऽपरस्तं वेदयते तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो नश्यति स किं वेदयते, इति चलत्वान्न कांक्षति**) शायद आप यह कहें कि—वेदक भाव के बाद होने वाला दूसरा वेदक भाव उस वेद्य भाव को वेदन करेगा तो हम कहते हैं कि—उस वेदक भाव के उत्पन्न होने के पहले ही वह वेद्य भाव नष्ट हो चुका है अतः वह वेदक किसको वेदन करेगा ? इस प्रकार से वेद्य वेदकभाव के चञ्चल-क्षणविध्वंसी होने से ज्ञानी उन्हें चाहता ही नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक वेद्य वेदक भाव एक दूसरे से कभी मिलता ही नहीं है क्योंकि उन दोनों का जन्म-क्षण अतिशय भिन्न है जब एक जन्म लेता है तो वह पहला विनाश को प्राप्त होता है। यही क्रम प्रवाह रूप से अनादितः चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता ही रहेगा। इसमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन-रद्दोबदल करने में समर्थ नहीं हैं। यह तो वस्तुस्थिति है जो अलङ्घ्य है। यह दोनों भाव विभाव भाव है—पर्यायरूप है विनाशशील है अतएव ज्ञानी इन वेद्य वेदक भावों से सर्वथा विरक्त ही रहता है।

(**अथ ज्ञानिनोऽपरिग्रहित्वं चेतति**) अब ज्ञानी परिग्रही नहीं है यह विचार प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**रागरसरिक्ततया**) राग रूपी रस से शून्य होने के कारण (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**कर्म**)

कर्म (**हि**) निश्चय से (**परिग्रहभावम्**) परिग्रह दशा को (**न**) नहीं (**एति**) प्राप्त होता है (**इह**) जैसे (**अकषायितवस्त्रे**) अकषैले वस्त्र में (**स्वीकृता**) स्वीकृत हुई-लगाई गई (**रंगयुक्तिः**) रंग की योजना (**हि**) निश्चय से (**बहिः**) बाहिर (**एव**) ही (**लुठति**) लोटती-रहती है, अन्तरङ्ग में नहीं प्रविष्ट होती।

सं० टीका—(**हि निश्चितं**) निश्चित रूप से (**ज्ञानिनः पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**कर्म**) कर्म (**परिग्रह-भावम्-उपधिस्वभावम्**) उपधिस्वभाव को (**नैति-न प्राप्नोति**) नहीं प्राप्त होता है (**कथा ?**) किससे (**रागेत्यादिः-रागः-रसिकत्वम्-तेन रिक्तस्तस्यभावस्तया या**) राग-रसिकता से रहित होने से (**हीत्यव्रा-र्थान्तरोपन्यासे**) हि-यह अव्यय यहां अर्थान्तर में उपन्यस्त है (**इह लौकिकयुक्तौ**) यहां लौकिक युक्ति है (**रङ्गयुक्तिः-लोहितादि रागयोगः**) लोहित आदि रंग का प्रयोग (**अकषायितवस्त्रे-बिभीतकादि कषाय-द्रव्यैरकषायीकृते चीवरे**) हरड़ आदि कषायले पदार्थ से कषायले नहीं किये गये कपड़े पर (**स्वीकृता-गृहीता-आरोपिता**) स्वीकृत-ग्रहण की गई-चढ़ाई की गई (**रङ्गयुक्तिः-लोहितरागयोगः**) लाल रंग की राशि (**बहिर्लुठति-अन्तर्भेत्तुमशक्यत्वात् कषायरागादि कारणाभावात्**) बाहिर ही-लोटती-स्थित रहती है क्योंकि वह अन्तरङ्ग में कषाय एवं रागादि का अभाव होने से आत्मा में एवं वस्त्र में भेदन करने में असमर्थ होने से प्रवेश नहीं कर सकती।

भावार्थ—समर्थ कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव देखा जाता है। प्रकृत में कर्म ग्रहण का मुख्य हेतु भोगासक्ति है। वह ज्ञानी के है ही नहीं। अतः ज्ञानी कर्म परिग्रही नहीं है। उदाहरण जैसे लोकव्यवहार में रंग का पक्कापन, और कच्चापन, कषैले पदार्थ के प्रयोग और अप्रयोग पर निर्भर करता है। यदि कषैले पदार्थ का योग होगा तो वस्त्र पर रंग का पक्कापन अवश्य ही होगा। नहीं तो नहीं होगा। वैसे ही आत्मा में यदि राग होगा तो कर्म परिग्रह होगा ही होगा। नहीं तो नहीं होगा। ज्ञानी के राग का अभाव ही भोगों से उदासीनता का जनक है जो उसे कर्म परिग्रह से अतिशय दूर रखता है। बन्ध का कारण परवस्तु नहीं है परन्तु परवस्तु के प्रति जीव का दृष्टिकोण है। ज्ञानी तो परवस्तुका ज्ञायक है ॥१६॥

(**अथ ज्ञानिनः कर्म न लिप्यति**) अब ज्ञानी के कर्म का लेप नहीं होता है यह बताते हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) जिस कारण से (**ज्ञानवान्**) आत्मविवेकी ज्ञानी (**स्वरसतः**) अपने आत्मिक रसानुभव से (**अपि**) ही (**सर्वरागरसवर्जनशीलः**) समस्त राग रूप रस से शून्य स्वभाव वाला (**स्यात्**) होता है (**ततः**) तिस कारण से (**कर्ममध्य पतितः**) कर्मों के बीच में पड़ा हुआ (**अपि**) भी (**एषः**) यह ज्ञानी (**सकलकर्मभिः**) सभी कर्मों से—अर्थात् द्रव्य, भाव और नो कर्म से (**न**) नहीं (**लिप्यते**) लिप्त होता है।

सं० टी०—(**ततः-तस्मात्कारणात्**) तिस कारण से (**एषः-ज्ञानी**) यह ज्ञानी (**सकलकर्मभिः-समस्त**

द्रव्यभाव नोकर्मभिः) सभी द्रव्लकर्म भावकर्म और नोकर्मों से (**न लिप्यते नोपदह्यात नाश्रयत इत्यर्थः)** लेप-वृद्धि अर्थात् आश्रय को नहीं प्राप्त होता है (**कीदृशोऽपि)** कैसा होता हुआ भी (**कर्ममध्यपतितोऽपि)** कर्मों के बीच में पड़ा हुआ भी (**कर्मणां उदयाविरूपाणां मध्ये अन्तः, पतितोऽपि अपि शब्दासन्नापतितस्य कथं बन्धः)** उदय उदीरणा आदिरूप कर्मों के विविध रूपों के बीच में रहता हुआ भी यहां अपि शब्द से यह विशेषार्थ सूचित किया है कि जो कर्मों के मध्य में नहीं रह रहा है ऐसे शुद्ध स्वभावापन्न जीव के कैसे वन्ध होगा अर्थात् नहीं कदापि नहीं और कथमपि नहीं। (**यथा कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेपः)** जैसे कीचड़ के मध्य में पड़े हुए सुवर्ण के कीचड़ का लेप नहीं होता है वैसे ही ज्ञानी के भी नहीं होता है। यह इसका तात्पर्य है। (**कुतः)** किससे (**यतः-यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से (**स्वरसतोऽपि-स्वभावत एव)** स्वभाव से ही (**ज्ञानवान्-पुमान्)** ज्ञानी पुरुष (**सर्वेत्यादिः-सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेषमोहाः तेषां रसः तस्य वर्जने शीलं स्वभावो यस्यसः)** राग-द्वेष मोहरूप सभी विभावों का स्वभाव से परित्याग वाला (**ईदृग्विधः)** इस प्रकार का (**स्यात्-भवेत्)** होता है।

भावार्थ—यदि खालिस-शुद्ध-सुवर्ण कदाचित् कीचड़ में पड़ जाय तो भी वह कीचड़ के परमाणु को भी नहीं ग्रहण करता है क्योंकि वह शुद्ध है। स्वभाव सम्पन्न है। वैसे ही ज्ञानी अपने को शुद्ध सिद्ध के समान स्वरूपवान् जानता है, मानता है और अनुभव में लाता है। अतएव यह कर्मों के बीच में रहते हुए भी अपनी स्वाभाविक ज्ञान परिणति के बल से कर्मों से लिप्त नहीं होता है किन्तु उत्तरोत्तर मुक्ति की ओर ही अग्रसर होता है।

(**अथ वस्तुस्वभावं निर्णेनेक्ति)** अब वस्तु के स्वभाव की निश्शेष शुद्धि दिखाते हैं—

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं—
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराध जनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**इह)** इस लोक में (**यस्य)** जिस वस्तु का (**यादृक्)** जैसा—(**यः)** जो (**स्वभावः)** स्वभाव (**अस्ति)** है (**तस्य)** उस वस्तु के (**वशतः)** वश से-स्वाधीनता से (**तादृक्)** वैसा (**सः)** वह (**एष)** ही (**स्वभावः)** स्वभाव (**स्यात्)** होता है-रहता है (**परैः)** दूसरों के द्वारा (**एषः)** यह (**स्वभावः)** स्वभाव (**अन्यादृशः)** दूसरे के समान (**कर्तुम्)** करने के लिए (**कथञ्चनापि)** किसी प्रकार से भी (**न)** नहीं (**शक्यते)** समर्थ हो सकता है (**हि)** इसलिए (**सततम्)** निरन्तर (**ज्ञानम्)** ज्ञानरूप (**भवत्)** परिणमित होता हुआ (**हि)** निश्चय से (**कदाचनापि)** कभी भी (**अज्ञानम्)** अज्ञान (**न)** नहीं (**भवेत्)** हो सकता है अतएव (**हे ज्ञानिन्)** हे विवेकिन् (**भुङ्क्ष्व)** तुम भोगों को भोगो (**तव)** तुम्हारे (**इह)** इस लोक में (**परापराधजनितः)** आत्मा से भिन्न पुद्गल द्रव्य के अपराध से उत्पन्न हुआ (**बन्धः)** बन्ध (**न)** नहीं (**अस्ति)** है।

सं० टीका—**(इह-जगति)** इस जगत् में **(यस्य-वस्तुनः)** जिस वस्तु का **(यादृक्-यादृशः)** जैसा **(स्वभावः-स्वरूपम्)** स्वभाव-स्वरूप **(अस्ति-वर्तते)** है **(हीति-स्फुटम्)** स्फुट-स्पष्ट रूप से **(तस्य-वस्तुनः)** उस वस्तु का **(वशतः-ज्ञानस्य नियमवशाद्वा)** ज्ञान के वश से अथवा नियम के वश से **(तादृक्-तादृश एव स्वभावो भवेत् नान्यथा)** वैसा ही स्वभाव स्वरूप होता है दूसरे प्रकार का नहीं। **(हीति-यस्मात्)** जिससे-निश्चय से **(यः-एषः-स्वभावः)** जो यह स्वभाव है **(स परैः-अन्यपदार्थैः)** वह दूसरे पदार्थों से **(कथञ्चनापि-केनापिप्रकारेण देशान्तरे कालान्तरे द्रव्यान्तरसंयोगे)** किसी भी प्रकार से देशान्तर में कालान्तर में किसी अन्य द्रव्य का संयोग होने पर भी **(अन्यादृशः-अन्यस्वभाव सदृशः)** अन्य पदार्थ के स्वभाव के समान **(कर्तुं न शक्यते)** करने के लिए नहीं समर्थ हो सकता है **(हीति-यस्मात्)** कारण कि **(सततं-निरन्तरम्)** हमेशा **(कदाचनापि-कस्मिन्नपिकाले)** किसी भी काल में **(भवत्-विद्यमानम्)** विद्यमान **(ज्ञानं-बोधः)** ज्ञान **(अज्ञानं-न भवेत्-न जायेत)** अज्ञान नहीं हो सकता। **(हे ज्ञानिन्)** हे ज्ञानी जीव **(भुङ्क्ष्व-परद्रव्यमनुभव)** परपदार्थ का अनुभव कर **(कुतः)** कैसे **(यतः)** जिससे **(इह-जगति)** इस जगत् में **(परेत्यादिः-परेषां-पुद्गल-द्रव्याणां-अपराधः-आगः तेन जनितः-उत्पादितः)** पुद्गल द्रव्यों के अपराध से पैदा हुआ **(तव-ज्ञानिनः)** तुम ज्ञानी के **(बन्धः-कर्मबन्धः)** कर्मों का बन्ध **(नास्ति-न भवत्येव)** नहीं होता है।

भावार्थ—पर में अपनापना है वह बन्ध का कारण है। बाहरी सामग्री का संयोग होना-न होना यह पुण्य-पाप के उदय का कार्य है, रागादि भाव मोह का कार्य है—शरीरादि नामकर्म और आयुकर्म का कार्य है और उनमें अपनापना मानना, न मानना तेरा कार्य है। अगर निज स्वभाव में अपनेपना का निर्णय किया है तब ये कर्मजनित सामग्री चाहे ज्यादा हो या कम, इनका सद्भाव हो या अभाव जीव को ज्ञानी अज्ञानी नहीं बना सकती परन्तु जब यह निज में अपने स्वभाव को भूल कर कर्मकृत में अपना-पना मानता है तब स्वमेव अज्ञानी हो जाता है। इसलिए परवस्तु तेरे को अज्ञानी नहीं बना सकती, तू परवस्तु में अपनापना मानता है तब अज्ञानी बनता है। परवस्तु का अपराध नहीं है अपराध तेरा ही है।

एक आदमी धन की तरफ भाग रहा है और एक आदमी धन से भाग रहा है दोनों ही भाग रहे हैं। दोनों की दृष्टि धन पर ही है अपने ज्ञान स्वभाव पर नहीं है। ठहरा हुआ वही है जो ज्ञानरूप है। धन का संयोग तेरे को धनिक नहीं बना सकता, धन का मालिकपना धनिक बनाये बिना छोड़ता नहीं। अतः परवस्तु से द्वेष क्यों करता है वह बन्ध का, अज्ञानता का कारण नहीं है वह अज्ञानता पैदा नहीं करा सकती। अज्ञानता तो तभी होगी जब तू अपने स्वभाव को भूल कर पर में अपनापना मानेगा।

अगर यह कर्मकृत नाटक ही है तब किसी का भी पार्ट करना पड़े—तबीयत से कर, जब तक तू अपने को जानता रहेगा यह नाटक तेरे को सुखी-दुःखी नहीं बना सकेगा। नया बंध नहीं होगा पुराना खत्म होता जा रहा है जहाँ अपने को भूला, नाटक के पार्ट में असलियतपना आवेगा और तू सुखी-दुःखी होगा तब नया बंध भी होगा। यह अपराध तेरा है। परवस्तु को अनिष्ट मानकर त्याग भी करेगा तो द्वेष बुद्धि का प्रसंग आयेगा। अतः यहां पर भोगने को नहीं कहा जा रहा है यहाँ पर तो यह

समझाया है कि जो बंध हो रहा है वह तेरे अपराध से होता है परवस्तु का अपराध नहीं है इसलिए उससे द्वेष क्यों करता है। छोड़ना तो कषाय है परन्तु कषाय छोड़ने के लिए कषाय के अवलम्बन को भी छुटाया है। जब तक आत्मबल की कमी रहती है यह पर का अवलम्बन लेकर कषाय कर लेता है। इसका कारण आत्मबल की कमजोरी है ऐसी स्थिति में ऐसे वातावरण से हटने का भी उपदेश है जो व्यवहार दृष्टि का विषय है।

(अथ ज्ञानिनः कर्म क्रियां प्रतिरुणद्धि) अब ज्ञानी के क्रिया का निषेध करते हैं—

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते।
भुङ्क्ष्वे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत् किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हे ज्ञानिन्) हे स्वपर विवेकिन् (त्वया) तुम्हें (जातु) कभी (कर्म) कर्म-शुभ और अशुभ क्रिया (कर्तुम्) करना (उचितम्) योग्य (न) नहीं (अस्ति) है (तथापि-) तो भी (किञ्चित्) कुछ थोड़ा-सा (उच्यते) कहते हैं यदि तुम यह कहो कि (परं मे जातु न, भुंक्षे) "पर द्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" (भोः दुर्भुक्तः एव असि) तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकार से भोगने वाला है (हन्त) जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है यह महा खेद है (यदि) यदि (उपभोगतः) कर्म के फल के भोगने से (ते) तुम्हारे (बन्धः) बन्ध (न) नहीं (स्यात्) होता है (तत्-तर्हि) तो (ते) तुम्हारे (किम्) क्या (कामचारः) भोगने की इच्छा (अस्ति) है? अतएव हे ज्ञानिन् (त्वम्) तुम (ज्ञानम्) ज्ञान रूप (सन्) होते हुए (वस) निज स्वरूप में वसो-स्थिर रहो (अपरथा) अन्यथा (त्वम्) तुम (स्वस्य) अपने (अपराधात्) अपराध से (ध्रुवम्) अवश्य ही (बन्धम्) बन्ध को (एषि) प्राप्त होओगे।

सं० टी०—(हे ज्ञानिन्) हे आत्मज्ञ (जातु-कदाचित्) कभी (तव) तुम्हारे द्वारा (किञ्चित्-किमपि) कुछ भी (कर्म-शुभाशुभ लक्षणं कार्यम्) शुभरूप और अशुभरूप कार्य को (कर्तुं-विधातुम्) करना (उचितं-युक्तम्) योग्य-युक्त (न) नहीं है (तथापि-कर्माकर्तृत्वेऽपि) तो भी—कर्म का कर्तापन न होने पर भी (उच्यते-अस्माभिः किञ्चित् प्रतिपाद्यते) हम कुछ कहते हैं (यदि-चेत्) यदि (जातु-कदाचित्) कभी (मम कर्म न) मेरे कर्म-क्रिया नहीं है (हन्त इति-निश्चयेन) हन्त—यह निश्चय वाचक अव्यय है अर्थात् निश्चय से (भुङ्क्ष्वे कर्मफलं भुङ्क्ष्यामि) मैं कर्मों के फल को नहीं भोगूंगा अर्थात् मैं कर्मों के फल का भोक्ता नहीं हूँ (तर्हि भो ज्ञानिन्) तो हे ज्ञानी (परं-केवलम्) सिर्फ (दुर्भुक्त एव बन्धनमन्तरेण तत्फलानुभवनाद् दुर्भोजकः, असि-भवति) तुम बन्ध के बिना ही कर्म के फल का अनुभव करने से दुर्भोजक-नहीं भोगने वाले हो। (न तु-अस्माकं तत्फलानुभवनात्कर्मबन्ध इति) अर्थात् कर्म के फल का अनुभव होने पर भी हमारे

कर्म का बन्ध नहीं है ऐसा (**यदि उपभोगतः कर्म फलानुभवनात्**) यदि उपभोग से-कर्मों के फल को अनु-भवन करने से (**बन्धः-कर्म संश्लेषः**) कर्मों का आत्मा के साथ एकत्वरूप सम्बन्ध-संयोग (**ते न स्यात्-न भवेत्**) तुम्हारे नहीं होता है (**तत्-तर्हि ते तव कामचारः कामं चरतीति कामचारः-स्वेच्छाचारः किमस्ति अपि तु नास्ति**) तो तुम्हारे स्वेच्छाचार क्या है ? अर्थात् नहीं है। (**हे ज्ञानिन्**) हे ज्ञानी तुम (**ज्ञानं सन्-ज्ञानस्वरूपेण भवन्-सन्**) ज्ञानस्वरूप होते हुए (**वस-तिष्ठ**) वसो-स्थित रहो। (**अपरथा-अन्यथा-ज्ञानस्वरूपेण न स्थास्यति चेत्**) यदि तुम ज्ञानस्वरूप में स्थित नहीं रहोगे (**तदा**) तब (**ध्रुवम्-निश्चितम्**) निश्चित ही (**बन्धम्-कर्म संश्लेषम्**) कर्म संयोग को (**एषि-प्राप्नोषि**) प्राप्त करोगे (**कुतः**) कैसे (**स्वस्य-आत्मनः**) अपने (**अपराधात्-ज्ञानाभाव लक्षणदोषतः**) अपराध से, ज्ञान का अभावरूप दोष से।

भावार्थ—जो ज्ञानी-स्वपर विवेकी है, उसका कर्तव्य है कि वह शुभ तथा अशुभ कोई भी क्रिया न करे। यदि वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होकर भी कोई क्रिया करता है तो वह नियम से बन्ध का भागी होता है। क्योंकि वस्तु के स्वरूप को जानते हुए भी यदि इच्छा पूर्वक—भोग आदि में प्रवृत्ति की जायगी तो वह महान् अपराध-दोष होगा। और जहाँ अपराध-दोष है, वहाँ बन्ध से बचना कथमपि सम्भव नहीं है। कर्मोदय की प्रेरणा से अनिच्छापूर्वक अर्थात् विवश हो—भोगने की चाह न रखते हुए-यदि विषयभोगों में प्रवृत्ति करना ही पड़े तो वह बन्ध का कारण नहीं होगी।

(**अथ कर्म योजनं वियोजयति**) अब कर्म के योग का वियोग कैसे हो सकता है यह दिखाते हैं--

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैक शीलो मुनिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जिस कारण से-निश्चय से (**कर्म**) कर्म (**एव**) ही (**बलात्**) बलपूर्वक-जबरन (**स्वफलेन**) अपने सुख-दुःखरूप-फल से (**कर्तारम्**) कर्म के करने वाले को (**न**) नहीं (**योजयेत्**) युक्त करता है किन्तु (**यत्**) कर्म को (**कुर्वाणः**) करने वाला (**एव**) ही (**फललिप्सुः**) कर्म के फल को प्राप्त करने की इच्छा वाला (**सन्**) होता हुआ (**कर्मणः**) कर्म के (**फलम्**) फल-सुख-और दुःख को (**प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**तत्**) तिस कारण से (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**सन्**) होता हुआ (**अपास्तरागरचनः**) राग की रचना से शून्य (**तत्फल परित्यागैकशीलः**) उन कर्मों के-सुख-दुःखरूप—फल को त्यागना ही जिसका एकमात्र स्वभाव है ऐसा (**मुनिः**) मुनि (**कर्म**) कर्म को (**कुर्वाणः**) करता हुआ (**अपि**) भी (**कर्मणा**) कर्म से (**न**) नहीं (**बध्यते**) बंधता है।

सं० टीका—(**किल-इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगमोक्त कथन में आया है अर्थात् आगम में कहा है कि (**यत्-प्रसिद्धं कर्म**) प्रसिद्ध कर्म (**बलात्-हठात्**) बल-हठ-अवर्दस्ती से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय पूर्वक (**स्वफलेन-स्वस्य-स्वकीयस्य-फलेन सुखदुःख रूपेण**) अपने सुख-दुःखरूप फल से (**कर्तारम्-**

पुरुषम्) करने वाले पुरुष को (**न योजयेत्-न संयोजयेत्-स्वफलभाजिनं न कुर्यादित्यर्थः**) अपना फलभागी नहीं करता है (**तर्हि कथं फलं प्राप्नोति ?**) तो फल कैसे प्राप्त करता है ? (**हीति स्फुटं**) हि—यह अव्यय स्फुट अर्थ में आया है अर्थात् यह बात स्फुट-स्पष्ट है कि (**यत् कर्म-कुर्वाणः—चेक्रीयमाणः सन् पुरुषः**) कर्म को बार बार अथवा अतिशयरूप से करने वाला पुरुष (**कर्मणः-शुभाशुभप्रकृतेः**) शुभ और अशुभ प्रकृति-रूप कर्म के (**फलं-सुखदुःखरूपम्**) सुख और दुःखरूप फल को (**प्राप्नोति-लभते**) प्राप्त करता है (**हेतुगर्भित विशेषणमाह**) यहां हेतु है गर्भ-मध्य में जिसके ऐसे विशेषण को कहते हैं (**फललिप्सुरेव-फलं कर्मणः सुख-दुःखरूपं फलं लिप्सुः-लब्धुं-प्राप्तुमिच्छुरेव नान्यः**) कर्म के सुख-दुःख रूप फल को प्राप्त करने की इच्छा वाला ही दूसरा नहीं। (**तत्-तस्माद्धेतोः**) तिस कारण से (**ज्ञानं-ज्ञानस्वरूपं**) ज्ञानमय (**सन्-भवन्**) होते हुए (**कर्मणा**) कर्म से (**न**) नहीं (**बध्यते**) बंधता है (**किम्भूतः सन्**) कैसा होता हुआ (**अपास्तेत्यादिः-अपास्ता-निराकृता रागस्य रचना येन सः**) जिसने राग की रचना का निराकरण कर दिया है (**हीति स्फुटम्**) हि–यह अव्यय स्फुट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् स्फुटरूप से (**कर्म-क्रियाकाण्डम्-ज्ञानावरणादि वा**) क्रिया काण्ड को अथवा ज्ञानावरणादिरूप कर्म को (**कुर्वाणोऽपि वा निर्मापयन्नपि**) करता हुआ अथवा रचता हुआ (**अकुर्वाणस्य का कथा**) क्रियाकाण्ड को नहीं करने वाले अथवा ज्ञानावरणादि का निर्माण नहीं करने वाले की तो कथा ही क्या ? (**मुनिः-ज्ञानवान् यतिः**) आत्मेतर स्वरूपज्ञ मुनि (**तदित्यादिः-तेषां कर्मणां फलं अनुभागः तस्य परित्यागे एकं अद्वितीयं शीलं स्वभावो यस्य सः रागद्वेषाभावात्**) राग-द्वेष के होने से कर्मों के फल को त्यागने में अद्वितीय स्वभाव वाला। (कर्मों से नहीं बंधता है)

भावार्थ—कर्म तो स्वभावतः जड़ हैं अतएव वे किसी जीव को जबरन अपने सुख-दुःखरूप फल से संयुक्त नहीं करते हैं। अज्ञानी ही उनके फल स्वरूप प्राप्त हुए पदार्थों के प्रति राग-द्वेष के कारण इष्ट-प्रिय तथा अनिष्ट-अप्रिय कल्पना करके स्वयं ही सुखी और दुःखी होता रहता है। परन्तु ज्ञानी स्वपर-स्वरूपविवेकी के पर के प्रति न तो राग होता है और न द्वेष ही। ऐसी स्थिति में वह उदयागत कर्म के फल स्वरूप पर पदार्थों से अपने को सदा जुदा रखता है—अर्थात् उदय की प्रबल प्रेरणा से उनमें अनिच्छा पूर्वक प्रवृत्ति करता है अतएव तन्मय नहीं होता है इसलिए कर्मों से भी बंधता नहीं है। यही तो ज्ञान और विराग का अचिन्त्य एवं अनुपम माहात्म्य है। अज्ञानावस्था में बंधा कर्म उदय में आता है परन्तु ज्ञानी के उसके फल की चाह नहीं है। अतः ज्ञानी उसके फल को नहीं लेता है।

(**अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते**) अब ज्ञानी कर्म नहीं करता यह दिखाते हैं—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयम्
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिसने (**फलम्**) कर्म के सुख-दुःखरूप फल को (**त्यक्तम्**) त्याग कर दिया है (**सः**) वह ज्ञानी (**कर्म**) कर्म को (**कुरुते**) करता है (**इति**) ऐसा (**वयम्**) हम (**न**) नहीं (**प्रतीमः**) प्रतीति करते (**किन्तु**) परन्तु (**अस्य**) इस ज्ञानी के (**अपि**) भी (**कुतः**) कहीं से (**अपि**) भी (**कदा-चित्**) कभी (**अपि**) भी (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म (**अवशेन**) विवशता से-बिना इच्छा के (**आपतेत्**) आ पड़ता है (**तस्मिन्**) उस के (**आपतिते**) आ पड़ने पर (**तु**) भी (**अकम्प परम ज्ञानस्वभावे**) निश्चल श्रेष्ठ ज्ञान स्वभाव में (**स्थितः**) स्थित (**ज्ञानी**) विवेकी (**किम्**) किस (**कर्म**) कर्म को (**कुरुते**) करता है (**किम्**) किस (**कर्म**) कर्म को (**न**) नहीं (**कुरुते**) करता है (**इति**) ऐसा (**कः**) कौन (**जानाति**) जानता है ? अर्थात् (**कोऽपि न जानाति**) कोई भी नहीं जानता है।

सं० टी०—(**इति-एवम्**) ऐसा (**वयं-ज्ञानार्थिनः**) ज्ञानेच्छु हम (**प्रतीमः-प्रतीतिं कुर्मः**) प्रतीति-निश्चय करते हैं (**इति किम्**) ऐसा क्या ? (**येन ज्ञानिना-पुंसा**) जिस ज्ञानी पुरुष के द्वारा (**फलं-कर्मानु-भागः**) कर्म के फल का रसानुभव (**त्यक्तम्-ज्ञानभावाद्विमुक्तम्**) ज्ञान भाव से छोड़ा जा चुका है (**सः-ज्ञानी**) वह ज्ञानी-वस्तुतत्त्वज्ञ (**कर्म-क्रियाकाण्डं-ज्ञानावरणादि वा**) क्रियाकाण्ड को-अथवा ज्ञानावरणादि को (**न कुरुते-न विधत्ते**) नहीं करता है (**किन्तु विशेषोऽस्ति**) तो भी कुछ विशेषता है (**अस्यापि-ज्ञानिनोऽपि**) ज्ञानी के भी (**कुतोऽपि-बहिरभ्यन्तरकारणकलापात्**) बाह्य और अन्तरङ्ग कारण के समूह-बल से (**अवशेन-अनीहितवृत्त्या**) विवशता से-अनिच्छित-वृत्ति-व्यापार से (**तत्-प्रसिद्धं**) वह प्रसिद्ध (**किञ्चिदपि-अनिर्दिष्टम्**) जिसका नाम निर्देश नहीं किया गया है ऐसा कुछ भी कर्म—(**शुभाशुभं-कर्म**) शुभ-सुखदायक और अशुभ दुखदायक कर्म- (**आपतेत्-आगच्छेत्**) आ पड़ता है-उपस्थित होता है (**तु-पुनः**) फिर (**तस्मिन्-कर्मणि**) उस कर्म के (**आपतिते-उदयागते सति**) उदय में आने पर (**ज्ञानी-पुमान्**) ज्ञानवान् पुरुष (**तत्परिहारार्थम्**) उसके परिहार-दूर करने के लिए (**किं कर्म-क्रियाकाण्डम्**) किस क्रियाकाण्ड को (**कुरुते-विधत्ते**) करता है (**अथवा किं न कुरुते-किं न विधत्ते**) अथवा किस क्रियाकाण्ड को नहीं करता है (**इति-एवम्**) ऐसा (**कर्तव्याकर्तव्यम्**) कर्तव्य-करने योग्य और अकर्तव्य-नहीं करने योग्य को (**कः अपरः पुरुषः जानाति वेत्ति**) दूसरा कौन पुरुष जानता है (**तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्**) क्योंकि उसका स्वरूप जानने में नहीं आ सकता है (**किम्भूतो ज्ञानी**) कैसा ज्ञानी ? (**अकम्पेत्यादिः-अकम्पंकेनापि चालयितुम-शक्यत्वात्-अचलं-परमं-उत्कृष्टं तच्च तज्ज्ञानं च तस्य स्वभावे-स्वरूपे**) किसी के द्वारा न चलाये जा सकने से अकम्प अचल अतएव सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप में (**स्थितः-लयं प्राप्तः**) स्थित-लय को प्राप्त—तन्मयता को धारण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञानी अपने स्थिर ज्ञान स्वरूप में लीन रहता है। अतएव कर्म के उदय में आने पर भी वह उसे जानता तो है, पर उसके द्वारा होने वाले सुख और दुःख का अनुभवन नहीं करता है। क्यों कि उसके राग-द्वेष का अभाव है। अथवा उसको परिणति को वही ज्ञानी जानता है। अज्ञानी उसकी परिणति को कैसे जान सकते हैं—यहां ज्ञानी से तात्पर्य आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि आदि से है। उसी का

प्रकरण यहाँ चल रहा है।

(अथ सम्यग्दृष्टेः साहसं कलयति) अब सम्यग्दृष्टि के साहस का प्रतिपादन करते हैं—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्तेपरम्—
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं—
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥२२॥

अन्वयार्थः—(इदम्) इस (परम्) महान् (साहसम्) साहस-धैर्य को (कर्तुम्) करने में (सम्यग्दृष्टयः) सम्यग्दृष्टि (एव) ही (क्षमन्ते) समर्थ होते हैं। (यत्) कारण कि (अमी) ये सम्यग्दृष्टि महापुरुष (भयचलत्त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि) भय से चञ्चल अतएव इधर-उधर भागने वाले त्रैलोक्य के प्राणियों द्वारा छोड़ा गया है मार्ग जिससे ऐसे (वज्रे) वज्र के (पतति) पड़ने पर (अपि) भी (निसर्ग निर्भयतया) स्वाभाविक निर्भीकता से (सर्वाम्) सब (एव) ही (शङ्काम्) शङ्का-सन्देह को (विहाय) छोड़कर-निशङ्क होकर- (स्वम्) अपने को (स्वयम्) स्वभाव से (अवध्य बोधवपुषम्) अविनाशी ज्ञानस्वरूप शरीरवान् (जानन्तः) जानते हुए (हि) निश्चय से (बोधात्) सम्यग्ज्ञान से (न) नहीं (च्यवन्ते) च्युत होते हैं।

सं० टीका—(क्षमन्ते-सहन्ते-समर्था भवन्तीत्यर्थः) सहते हैं-समर्थ होते हैं। (किं कर्तुम्) क्या करने को? (इदम्-वक्ष्यमाण लक्षणं) जिसका स्वरूप आगे कहा जाने वाला है ऐसे इस (साहसम्-लक्षणया धैर्यम्) साहस-लक्षणों से-धैर्य को (के) कौन (सम्यग्दृष्टयः-निश्चय सम्यक्त्वं प्राप्ताः) निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव (एव-निश्चयेन) निश्चय से ही (किम्भूतं-साहसम्) कैसे साहस को (परम्-उत्कृष्टम्-परं केवलमिति व्याख्येयं वा) उत्कृष्ट अथवा केवल-सिर्फ (यत्-यस्मात्कारणात्) जिस कारण से (अमी-सम्यग्दृष्टयः) ये सम्यग्दृष्टि जीव (हि-निश्चितं) निश्चय से (न च्यवन्ते-न क्षरन्ते) नहीं च्युत होते हैं अर्थात् क्षरण-पतन को प्राप्त नहीं होते हैं (कुतः) किससे (बोधात्-ज्ञानात्) ज्ञान से- (उपलक्षणात्-ध्यान-तपोऽनुष्ठानादेः) उपलक्षण से ध्यान तपश्चरण आदि आत्मसाधक क्रियाओं से (ज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्र वर्तन्ते) अर्थात् ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र-अज्ञान में प्रवृत्ति नहीं करते हैं। (क्वसति) किसके होने पर (वज्रे-अशनौ) वज्र के (पतति-मूर्ध्निपातं कुर्वति सति) मस्तक पर गिरने पर (अपि) भी (किम्भूते?) कैसे वज्र के (भयेत्यादिः-भयेन-तद्घोष-पाताद्युत्थभीत्या-चलत्-स्वस्थानात्इतस्ततः परिलुठत् च तत्त्रैलोक्यं च भुवनत्रयवासी जनः, तेन मुक्तः त्यक्तः अध्वामार्गः स्थानं च यस्मिन् तस्मिन्) उस वज्र की ध्वनि-पतन आदि से उत्पन्न भीति से अपने स्थान को छोड़कर इधर-उधर भागने वाले तीन लोक के प्राणियों द्वारा स्वीकृत मार्ग जिससे छोड़ दिया गया है ऐसे वज्र के (किम्भूता अमी) कैसे ये-सम्यग्दृष्टि (स्वयम्-स्वेन आत्मना) अपने द्वारा (स्वं-आत्मानम्) अपने को (जानन्तः-निश्चिन्वन्तः) जानने-निश्चय करने वाले (कीदृक्षं-स्वम्) कैसी आत्मा को (अवध्येत्यादिः-अवध्यः न केनापि हन्तुं शक्यते शाश्वत इत्यर्थः स चासौ बोधश्च स एव

वपुः शरीरं यस्य तम्) किसी के द्वारा भी हनन करने के योग्य नहीं अर्थात् अविनाशी बोध ही जिसका एकमात्र शरीर है ऐसी आत्मा को (**किं कृत्वा**) क्या करके (**विहाय-त्यक्त्वा**) छोड़ करके (**काम्**) किसको (**सर्वाम्-समस्ताम्**) समस्त (**इहलोकादिभवाम्**) इस लोक आदि में उत्पन्न होने वाली (**एव-निश्चितम्**) निश्चित (**शङ्का-पराशङ्काम्**) पर की आशङ्का को (**कया**) किससे (**नीत्यादि:-निसर्गेण-स्वभावेन निर्भयतया-साध्वसा भावता तया**) नैसर्गिक निर्भीकता से।

भावार्थ—जिस वज्र की भयङ्कर आवाज को सुनकर तीन लोक के प्राणी भयभीत हो अपनी रक्षा के हेतु मार्ग को छोड़कर इधर-उधर छिपने का प्रयत्न करते हैं उसी आवाज को सुनते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप से जरा भी विचलित नहीं होते हैं कारण कि उन्हें अपने आत्मस्वरूप की अविनश्वरता-नित्यता पर पूर्ण भरोसा है। वे जानते हैं—मैं अमूर्त, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ। अजर-अमर हूँ। निरामय और निर्भर हूँ। अतएव इस वज्रपात से मेरी आत्मा का कुछ भी बिगाड़ होना सम्भव नहीं है। हाँ, यह शरीर जड़ विनश्वर है। अतएव इसका विनाश हो सकता है इसके विनाश से मेरा कुछ बनता-बिड़ता भी नहीं है अतएव मैं तो पूर्ण निश्शंक हूँ, निर्भय हूँ यही मेरा स्वभाव है।

(**अथ भयसप्तक निवारणार्थं ज्ञानिन: इहलोक परलोक भयमुत्त्रस्यति**) अब सात प्रकार के भयों का निवारण करने के हेतु ज्ञानी के इस लोक और परलोक के भय का निरसन करते हैं—

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तवपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(**विविक्तात्मनः**) शरीरादि पर पदार्थों से सर्वथा पृथक् आत्मा का (**सकलव्यक्तः**) सर्व काल में पृथक् दिखाई देने वाला (**एषः**) यह (**शाश्वतः**) नित्य स्थाई (**लोकः**) लोक जगत् (**चिन्मयलोकः**) चित्स्वरूप (**एकः**) अद्वितीय (**अस्ति**) है। (**यम्**) जिस (**लोकम्**) लोक को (**अयम्**) यह (**एककः**) एक अद्वितीय (**चित्**) आत्मा (**केवलम्**) सिर्फ (**स्वयमेव**) स्वतः ही-अपने आप ही (**लोकयति**) देखता है (**हे ज्ञानिन्**) हे ज्ञानी (**तव**) तुम्हारा (**अयम्**) यह चैतन्यमय (**लोकः**) लोक (**अस्ति**) है (**अपरः**) इस चैतन्य-स्वरूप लोक से भिन्न (**लोकः**) लोक (**तव न**) तेरा नहीं (**अस्ति**) है (**तस्य**) उस आत्मा के (**तद्भीः**) उस चैतन्य लोक से भिन्न लोक से भय (**कुतः**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**न कुतोऽपीत्यर्थः**) अर्थात् किसी तरह से भी नहीं। (**सः**) वह ज्ञानी (**सततं**) निरन्तर (**स्वयम्**) स्वभाव से (**निश्शङ्कः**) निश्शङ्क निर्भय (**सन्**) होता हुआ (**सदा**) निरन्तर (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**विन्दति**) अनुभव करता है।

स० टी०—(**एष शास्त्रादिना प्रसिद्धः**) यह शास्त्र आदि से प्रसिद्ध (**लोकः-श्रेणिघनप्रचयरूपस्त्रि-लोकः**) श्रेणिघन प्रचयरूप तीन लोक (**शाश्वतः-निश्चितः**) नित्य (**अस्ति**) है (**इतीश्वरकर्तृत्वं निरस्तम्-अवि-नाशित्वं च सूचितम्**) इस कथन से इश्वर कर्तृत्व—लोक का बनाने वाला ईश्वर है—का खण्डन हो जाता

है और लोक का अविनाशीपन भी सूचित होता है अर्थात् लोक अनादिनिधन है यह सिद्ध होता है। **(एकः-अद्वितीयः)** एक अद्वितीय **(अस्ति)** है **(इत्यनेन ब्रह्मणः प्रतिलोमानेकब्रह्माण्ड प्रतिपादनं-प्रत्याख्यातम्)** इससे ब्रह्मा के प्रतिलोम अनेक ब्रह्माण्डों का प्रतिपादन खण्डित होता है **(विविक्तात्मनः-सर्वज्ञस्य)** सर्वज्ञ के **(सकलव्यक्तः-समस्तोविशदः)** सब का सब विशद-स्पष्ट है **(इत्यनेन तस्य गहनत्वमपास्तम्)** इस कथन से उस लोक की गहनता-अज्ञेयता का खण्डन हो जाता है अर्थात् यह लोक किसी के ज्ञान का विषय नहीं है इसका खण्डन सामने आ जाता है। **(अयं-चित्-ज्ञानम्)** यह चैतन्यमय ज्ञान **(स्वयमेव-स्वभावादेव)** स्वभाव से ही **(यम्)** जिन **(प्रसिद्धं लोकं-भुवनत्रयम्)** प्रसिद्ध तीनों लोकों को **(केवलं-परम्)** पर **(लोकयति-पश्यति)** देखता है। **(कीदृशः ?)** कैसा **(एककः-शरीरदार दरकागाराहारादि निरपेक्षः एक-एव, अयं-प्रत्यक्षः चराचररूपो लोकः-लोकवासी जनः, त्रिलोको वा इहलोक इत्यर्थः)** शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, आहार आदि से निरपेक्ष अद्वितीय यह प्रत्यक्ष चराचर-जंगमस्थावर रूप लोक, लोकवासी-मनुष्य जन अथवा तीन लोक ही इह लोक कहा जाता है **(अपरः त्वत्तोभिन्नः)** तुम से भिन्न **(तव-ते)** तुम्हारा **(न भवेत्)** नहीं हो सकता है **(तदपरः-तस्मादिहलोकादपरः परलोकः)** उक्त इह लोक से भिन्न परलोक **(तस्य-आत्मनः)** उस आत्मा के **(नास्ति)** नहीं है **(तद्भीः-ताभ्यामिह परलोकाभ्याम्-भीः-भयम्)** उन दोनों से अर्थात् इहलोक और परलोक से भय **(कुतः-कस्मात्)** कैसे हो सकता है अर्थात् **(न कुतोऽपि)** कैसे भी नहीं **(तयोरात्मनो भिन्नत्वख्यापनात्)** क्योंकि उन दोनों—इहलोक और परलोक को आत्मा से सर्वथा भिन्न कहा गया है **(स ज्ञानी)** वह ज्ञानी **(सदा-नित्यम्)** सर्वथा **(स्वयं-स्वरूपेण)** स्वरूप से **(सहजं-स्वाभाविकम्)** स्वाभाविक **(ज्ञानं-बोधम्)** ज्ञान-बोध को **(विन्दति-जानाति)** जानता है **(सततं-निरन्तरम्)** निरन्तर-हमेशा **(निश्शङ्कः-इहपरलोक भयशङ्कारहितः)** निश्शङ्क—अर्थात् इहलोक और परलोक के भय की शङ्का से रहित होता है **(इति भयद्वयस्य ज्ञानिनो निरासः)** इस तरह से ज्ञानी के इहलोक और परलोक के भय का निराकरण होता है।

भावार्थ—ज्ञानी विचार करता है कि मेरा लोक तो चैतन्यमय है। इससे भिन्न लोक तो मेरा नहीं है। जो मेरा लोक है उसमें ज्ञान ही ज्ञान भरा हुआ है। उसमें भय के लिए जरा-सा भी स्थान नहीं है। अतएव मैं तो निर्भय हो अपने ज्ञानलोक में ही विचरण करूँगा। ज्ञान से भिन्न लोक के साथ मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं है अतएव मैं उससे क्यों डरूँ। इस तरह से ज्ञानी के इस लोक और परलोक का भय नहीं होता है।

(अथ वेदनाभयं बध्नाति) अब वेदना के भय का निषेध करते हैं—

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदित वेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदाविन्दति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**अनाकुलैः**) आकुलता रहित ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषों द्वारा (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**निर्भेदोदितवेद्यवेदक बलात्**) अभिन्नरूप से उदय को प्राप्त हुए वेद्य वेदक के बल से (**यत्**) जो (**एकम्**) एक-अद्वितीय (**अचलम्**) अचल-अविनाशी (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) स्वभाव से (**वेद्यते**) वेदा जाता है अर्थात् अनुभवन किया जाता है (**हि**) निश्चय से (**एषा**) यह (**एका**) एक (**एव**) ही (**वेदना**) वेदना-ज्ञान वेदना (**अस्ति**) है। (**अन्या**) इससे भिन्न दूसरी (**आगत वेदना**) पुद्गलादि परद्रव्य से प्राप्त हुई वेदना (**एव**) नियम से (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**हि**) निश्चय से (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**तद्भीः**) उस अन्यागत वेदना का भय (**कुतः**) कैसे (**भवेत्**) हो सकता है अर्थात् (**न कुतोऽपि**) कैसे भी नहीं। अतएव (**सः**) वह ज्ञानी (**निश्शङ्कः सन्**) निश्शङ्क-निर्भय होता हुआ (**एव**) ही (**सततम्**) सदा-निरन्तर (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**एव**) ही (**सदा**) हमेशा (**स्वयम्**) स्वभाव से (**विन्दति**) वेदन करता है। अनुभवन करता है।

सं० टीका—(**यत्-प्रसिद्धम्**) जो प्रसिद्ध (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) स्वयम् स्वभाव से (**वेद्यते-ज्ञायते**) जाना जाता है (**कैः ?**) किनसे ? (**अनाकुलैः-आकुलतारहितैः-ज्ञानिभिः**) आकुलता रहित ज्ञानियों से (**एषा-प्रसिद्धा**) यह प्रसिद्ध (**एका-अद्वितीया**) अद्वितीय (**वेदना-वेद्यते-ज्ञायते-आत्मा-अनया इति वेदना आत्मानुभवं एव नान्या**) वेदना—जिसके द्वारा आत्मा जाना जाता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है वही वेदना कहाती है अन्य नहीं। (**किम्भूतम्**) कैसा ज्ञान (**अचलम्-निश्चलम्**) निश्चल-अविनाशी (**पुनः-कीदृशम् ?**) फिर कैसा (**एकं-द्रव्यार्पणात्**) द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक अद्वितीय—(**तत्कुतः**) वह कैसे (**निरित्यादिः-वेद्यते ज्ञायते इति वेद्यं-स्वरूपं वेदयतीति वेदकः-आत्मावृन्दः, निर्भेदेन यो वेद्यः स एव वदकः-इत्येकत्वेन उदितौ-उदयं प्राप्तौ वेद्यवेदकौ तयोर्बलं तस्मात्**) जो जाना जाय वह वेद्य – और जो जाने वह वेदक अर्थात् आत्मा, वेद्य और वेदक में अभेद सम्बन्ध होने से जो वेद्य है वही वेदक है अतएव एकत्वरूप से उदय को प्राप्त हुए वेद्य वेदक के बल से (**हि-स्फुटम्**) निश्चय से— स्फुट-स्पष्टरूप से (**अन्या-आत्मनः सकाशात्**) आत्मा के सम्बन्ध से भिन्न (**एव-निश्चयेन**) एव-निश्चय से (**आगतवेदना-पुद्गलादागतवेदना रोगः**) पुद्गल से आई हुई वेदना—अर्थात् रोग (**न भवेत् आत्मनोभिन्नत्वादेव**) नहीं हो सकता हैक्योंकि वह आत्मा से बिलकुल ही जुदा है (**ज्ञानिनः-पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**तद्भीः-वेदनाभयम्**) वेदना-भय (**कुतः**) कहां से हो सकता है (**न कुतोऽपि**) अर्थात् कहीं से भी नहीं (**तुर्यंचरणं-पूर्ववत्**) चौथा चरण का अर्थ पहले के समान जानना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहार दृष्टि से वेदना का अर्थ पुण्य और पाप कर्म के उदय से प्राप्त हुई भोगोपभोग की सामग्री के निमित्त से सुख और दुःख का भोगना-अनुभव करना है। परन्तु निश्चय दृष्टि से वेदना का अर्थ आत्मस्वरूप का अनुभव करना है। यहां निश्चय दृष्टि की मुख्यता से वेदना का अर्थ आत्मस्वरूप का वेदन करना ही विवक्षित है क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्वभाववेदी ही होता है परभाववेदी नहीं। अतः सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी के परपदार्थों के निमित्त से होने वाली सुख-दुःखरूप वेदना का भय नहीं होता है

क्योंकि वह ज्ञान स्वभाव से नित्य निराकुल है।

(**अथात्राणभयं निरस्यति**) अब अत्राण भय का निरसन करते हैं—

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेतिवस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो वस्तु (**सत्**) सत्-उत्पाद व्यय और ध्रौव्ययुक्त (**अस्ति**) है। (**तत्**) वह वस्तु (**नियतम्**) नियम से (**नाशम्**) नाश को (**न**) नहीं (**उपैति**) प्राप्त करती (**इति**) ऐसी (**वस्तु-स्थितिः**) पदार्थ की मर्यादा (**व्यक्ता**) स्पष्ट है (**तत्**) वह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) स्वभाव से (**एव**) ही (**सत्**) सत्—सत्तात्मक वस्तु है (**ततः**) तिस कारण से (**अस्य**) इस सत्स्वरूप ज्ञान का (**अपरैः**) दूसरों के द्वारा (**त्रातम्**) रक्षण (**किम्**) क्या है अर्थात् कुछ भी नहीं है। (**अतः**) इसलिए (**अस्य**) इस ज्ञान का (**किल**) निश्चय से (**किञ्चन**) किञ्चित-जरा सा (**अत्राणम्**) अरक्षण-विनाश (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकता है (**तत्**) तिस कारण से (**तद्भीः**) ज्ञान की अरक्षा का भय (**ज्ञानिनः**) ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि के (**कुतः**) कैसे-कहां से (**भवेत्**) हो सकता है अर्थात् (**कुतोऽपि न**) कहीं से भी नहीं। (**सः**) वह ज्ञानी (**सततम्**) निरन्तर (**निश्शङ्कः सन्**) निर्भय होता हुआ (**स्वयम्**) स्वयम से (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**सहजम्**) सहज (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**विन्दति**) वेदन-अनुभवन करता है।

सं० टीका -(**इति-अमुनाप्रकारेण**) इस प्रकार से (**वस्तुस्थितिः-वस्तुव्यवस्था**) वस्तु व्यवस्था—पदार्थ की मर्यादा (**व्यक्ता-स्पष्टा**) स्पष्ट (**अस्ति**) है (**इति किम्**) इति-यह-किम्-कैसे (**यत्-वस्तु सत्-द्रव्यरूपेण सत्ताप्रतिबद्धम्, तत्-वस्तु**) जो वस्तु-सत्-द्रव्यरूप से सत्ता से युक्त है वह वस्तु (**नियतम्-निश्चितम्**) निश्चितरूप से (**नाशं-विनाशम्**) विनाश को (**न उपैति-न प्राप्नोति**) नहीं प्राप्त करती है (**द्रव्यार्पणया वस्तुनो नित्यत्वाभ्युपगमात्**) क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वस्तु को नित्य स्वीकार किया गया है। (**प्रसिद्धं ज्ञानम्**) प्रसिद्ध ज्ञान (**स्वयमेव-स्वरूपतएव-स्वस्वरूपचतुष्टयापेक्षयैव न तु परचतुष्टयापेक्षया**) स्वरूप से ही अर्थात् अपने स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से ही पर के स्वरूप के चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं (**सत्-सत्स्वरूपम्-विद्यमानम्**) सत् स्वरूप अर्थात् विद्यमान (**किल-अहो**) अहो (**ततः-स्वरूपेणास्तित्वात्**) अपने स्वरूप से विद्यमान रहने के कारण (**अपरैः कौक्षेयक कुन्तमुद्गराश्वगज पदाति स्वजनादिभिः पुद्गलपर्यायैः**) पुद्गल स्वरूप तलवार, भाला, मुद्गर, घोड़ा, हाथी, पैदल चलने वाले तथा कुटुम्बी आदियों से (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**किम्**) क्या (**त्रातम्-त्राणम्**) त्राण (**किं रक्षणम्—न किमापीत्यर्थः**) क्या रक्षण अर्थात् कुछ भी नहीं। (**अतः-कारणात्**) इस कारण से (**अस्यज्ञा-नस्य**) इस ज्ञान का (**किञ्चन-किमपि**) कुछ भी (**अत्राणं-कुतोऽपि रक्षणं न भवेत्**) अत्राण-अरक्षण-विनाश

कहीं से भी नहीं हो सकता है। (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**तद्भीः-अत्राणभयम्**) अत्राण-अरक्षा का भय (**कुतः**) कहां से हो सकता है (**न कुतोऽपि**) अर्थात् कहीं से भी नहीं। (**शेषं पूर्ववत्**) शेष पहले के समान समझना चाहिए।

भावार्थ—जो पदार्थ सत्स्वरूप-उत्पादव्यय और ध्रौव्य से सहित है। उसका द्रव्यतः कभी नाश नहीं होता है। उत्पाद—नवीन पर्याय की उत्पत्ति तथा व्यय-पूर्व पर्याय का विनाश अवश्य ही होता है क्योंकि यह वस्तु का स्वभाव है। कूटस्थ नित्य कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान भी वस्तु है। अतएव वह भी सत्तात्मक है। जो सत्ता स्वरूप है उसका विनाश सर्वथा असम्भव है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के अत्राण की आशंका होना अस्वाभाविक है अतएव सम्यग्दृष्टि के अत्राण-अरक्षा का भय स्वभाव से नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानी अपने को ज्ञानस्वरूपी जानता है।

(**अथास्यागुप्तिभयं गोपयति**) अब ज्ञानी के अगुप्ति भय का अभाव दिखाते हैं—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमागुप्तिः स्वरूपेण य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपञ्च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से आगमानुसार (**वस्तुनः**) वस्तु-पदार्थ का (**स्वम्**) अपना (**रूपम्**) स्वरूप (**परमा**) सर्वोपरि-सर्वोत्तम (**गुप्तिः**) गुप्ति सुरक्षा (**अस्ति**) है। (**यत्**) कारण कि (**स्वरूपे**) आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान में (**परः**) दूसरा-पुद्गल आदि (**कोऽपि**) कोई भी पदार्थ (**प्रवेष्टुं**) प्रवेश करने में (**शक्तः**) समर्थ (**न**) नहीं (**स्यात्**) हो सकता। (**नुः**) आत्मा का (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**अकृतम्**) स्वाभाविक (**स्वरूपम्**) स्वरूप (**अस्ति**) है (**अतः**) इसलिए (**अस्य**) इस ज्ञानी के (**काचन**) कोई (**अगुप्तिः**) अरक्षा (**न**) नहीं (**अस्ति**) है अतएव (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के (**तद्भीः**) अरक्षा अगुप्ति का भय (**कुतः**) कैसे-कहाँ से (**भवेत्**) हो सकता है? अर्थात् कहीं से भी नहीं। (**सः**) वह ज्ञानी (**सततम्**) निरन्तर (**निश्शङ्कः**) निश्शङ्क (**सन्**) होता हुआ (**सदा**) सर्वदा (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**विन्दति**) प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान में ही लीन रहता है।

सं० टी०—(**किल-इत्यागमोक्तौ**) किल-यह अव्यय आगमोक्ति में आया है अर्थात् आगम के कथनानुसार (**वस्तुनः-आत्मादि द्रव्यस्य**) वस्तु-आत्मा आदि-द्रव्य का (**यत्**) जो (**स्वम्-आत्मीयम्**) स्व-कीय अपना (**रूपम्-स्वरूपम्**) स्वरूप (**अस्ति-विद्यते**) है (**सा-परमा**) वह श्रेष्ठ (**निस्सीमा**) सीमा रहित अर्थात् अनन्त (**गुप्तिः-गोपनम्-स्वरूपान्तरेणगोपनाभावात्**) गुप्ति है क्योंकि स्वरूपान्तर से किसी वस्तु की सुरक्षा सम्भव नहीं है। (**कोऽपि-कश्चिदपि**) कोई भी (**परः पुद्गलादिः**) पर-पुद्गल आदि परपदार्थ (**प्रवेष्टुम्-ज्ञानस्वरूपे प्रवेशं कर्तुम्**) ज्ञानस्वरूप में प्रवेश करने के लिए (**शक्तः-समर्थः**) समर्थ है (**अपि तु**

न समर्थः) किन्तु समर्थ नहीं है। **(स्वरूपे स्वरूपान्तरस्य प्रवेशाभावात्)** क्योंकि स्वरूप में अन्य स्वरूप का प्रवेश नहीं होता है। **(च-पुनः)** और **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(नुः-आत्मनः)** आत्मा का **(अकृतम्-स्वाभाविकं-)** स्वाभाविक अनादिनिधन **(स्वरूपं-स्वभावः)** स्वभाव है। **(स्वरूपं द्वेधा-कृतमकृतं च)** स्वरूप दो प्रकार का है—एक कृत और एक अकृत **(कृतं-तावन्मति ज्ञानादि स्वरूपमात्मनः दण्डी देवदत्त इत्यादिवत्-पुद्गलादिभिः क्रियमाणत्वात्)** कृत बनावटी तो मतिज्ञान आदि स्वरूप है क्योंकि वह आत्मा में पुद्गलादि के द्वारा किया जाता है जैसे दण्ड के सम्बन्ध से देवदत्त को दण्डी कहा जाता है इत्यादि लोक व्यवहार की तरह। **(अकृतं-ज्ञानसामान्यम्)** और अकृत-नैसर्गिक-स्वभाव आत्मा का ज्ञान सामान्य है। **(अग्नेरौष्ण्यं च)** और अग्नि का स्वाभाविक स्वभाव उष्णता। **(अतः-कारणात्)** इस कारण से **(अस्य आत्मनः)** इस आत्मा के **(काचन-काऽपि)** कोई भी **(निर्दिष्टा वा)** अथवा निर्दिष्ट **(अगुप्तिः-अगोपनम्)** अगुप्ति-असुरक्षा **(न भवेत्)** नहीं हो सकती **(तद्गोपकस्य चिद्भावात्)** क्योंकि आत्मा का रक्षक चिद्भाव-ज्ञान है **(तद्भीः-तस्या अगुप्तेः भीः भयम्)** उसके अगुप्ति का भय **(कुतः)** कहाँ से हो सकता है **(न कुतोऽपि)** अर्थात् कहीं से भी नहीं। **(शेषं पूर्ववत्)** बाकी के पदों का अर्थ पूर्व के समान लगा लेना चाहिए।

भावार्थ - आत्मा के ज्ञान स्वभाव में किसी का प्रवेश नहीं है चाहे वह कृत्रिम-कर्मकृत हो और चाहे अकृत्रिम-स्वाभाविक हो। वस्तुतः स्वभाव तो परनिरपेक्ष ही होता है क्योंकि वह वस्तुगत धर्म है लेकिन टीकाकार ने परोपाधिजन्य मतिज्ञानादि को कृत्रिम स्वभाव स्वीकार किया है उसका कारण व्यवहार दृष्टि ही है निश्चयदृष्टि नहीं। निश्चयदृष्टि में तो अभेद ही है और जो अभेद स्वरूप है वही वास्तविक स्वभाव है उसमें अन्य का परमाणु के प्रमाण भी प्रवेश नहीं है न था और न होगा यही वस्तु की वस्तुता है। अतः ज्ञानी अपने विषय में पूर्णरूपेण निःशङ्क ही है उसे अगुप्ति की जरा-सी भी अशङ्का नहीं है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अगुप्ति भय भी नहीं होता है।

(अथ ज्ञानिनो मरण भयं हरति) अब ज्ञानी के मरण के भय का परिहार करते हैं—

> **प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो**
> **ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।**
> **तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो**
> **निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२७॥**

अन्वयार्थ—**(प्राणोच्छेदम्)** इन्द्रिय आदि प्राणों के उच्छेद-विनाश को लोग **(मरणम्)** मरण **(उदाहरन्ति)** कहते हैं **(किल)** निश्चय से **(अस्य** इस **(आत्मनः)** आत्मा का **(प्राणाः)** प्राण **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह ज्ञान **(स्वयमेव)** स्वभाव से ही **(शाश्वततया)** शाश्वत-नित्य होने के कारण **(जातुचित्)** कभी **(नोच्छिद्यते)** नहीं नष्ट होता है **(अतः)** इसलिए **(तस्य)** उस आत्मा का **(किञ्चन)** कोई **(मरणम्)** मरण **(न)** नहीं **(भवेत्)** होता है अतएव **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी के **(तद्भीः)** उस मरण का भय **(कुतः)** कहाँ से **(भवेत्)** हो सकता है **(कुतोऽपि न)** अर्थात् कहीं से भी नहीं। **(सः)** वह ज्ञानी **(सततम्)** निरन्तर **(निश्शङ्कः)** निश्शङ्क

(**सन्**) होता हुआ (**सदा**) हमेशा (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान का (**विन्दति**) अनुभव करता है।

सं० टीका—(**प्राणोच्छेदं-पंचेन्द्रिय मनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणां-उच्छेदं-विनाशम्**) पांच इन्द्रिय प्राण और मनोबल, वचनबल तथा कायबल रूप तीन बलप्राण आयु औ श्वासोच्छ्वास स्वरूप प्राणों के विनाश को (**मरणम्-पञ्चत्वम्**) मरण (**उदाहरन्ति-प्रतिपादयन्ति-पूर्ववृद्धाः आबालगोपालादयश्च**) पुराने बूढ़े और बालगोपाल आदि सभी कहते हैं (**अस्यात्मनः-चिद्रूपस्य**) इस चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**किल-निश्चितम्**) निश्चय से (**सत्तादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्दः**) यह किल शब्द सत्ता अवबोध आदि तीनों प्राणों को सूचित करता है (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-बोध (**प्राणाः-असवः**) प्राण (**तत् ज्ञानम्**) वह ज्ञान (**स्वयमेव-स्वरूपेणैव**) स्वरूप से ही (**जातुचित्-कदाचिदपि-कालत्रयेऽपि**) कभी भी अर्थात् तीन काल में भी (**नोच्छिद्यते-नोच्छेदं याति-द्रव्यार्पणया न विनश्यन्तीत्यर्थः**) अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से नहीं नष्ट होते हैं (**कया-**) किससे- (**शाश्वततया-नित्यत्वात्**) नित्य होने से (**अतः-कारणात्**) इस कारण से (**तस्य-आत्मनः**) उस आत्मा के (**किञ्चन-किमपि**) कोई भी (**मरणं-प्राणोच्छेदम्**) मरण-प्राणों का विनाश (**न भवेत्**) नहीं होता है (**ज्ञान लक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावात्**) क्योंकि ज्ञान स्वरूप प्राणों का विनाश नहीं होता है (**ज्ञानिनः-पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**तद्भीः-मरणभयम्**) मरण का भय (**कुतः**) कहाँ से हो (**न कुतोऽपि**) अर्थात् कहीं से भी नहीं (**शेषं पूर्ववत्**) बाकी के पदों का अर्थ पहले के समान समझना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहारीजन इन्द्रिय आदि प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं पर इन्द्रिय आदि प्राण-आत्मा के न होकर पुद्गल के हैं क्योंकि उनकी रचना पुद्गलकृत है अतएव वे जड़ हैं अचेतन हैं विनश्वर हैं। और आत्मा के प्राण ज्ञान स्वरूप हैं जो नित्य हैं चेतनामय हैं और अनाद्यनन्त हैं। यह निश्चय दृष्टि है जो यथार्थ वस्तुतल को स्पर्श करती है। इस दृष्टि से आत्मा का मरण सर्वथा असम्भव ही है अतएव ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता है क्योंकि वह चेतना के स्तर पर खड़ा है। अतः वह तो निर्भय रहता हुआ ही अपने स्वभावभूत ज्ञान में निमग्न रहता है इस तरह से ज्ञानी के मरण का भय भी नहीं है ॥२७॥

(**अथाकस्मिकभयं कुन्थति**) अब आकस्मिक भय का निषेध करते हैं—

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो-
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिन-
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**एतत्**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**एकम्**) एक (**अनाद्यनन्तम्**) अनादि और अनन्त (**अचलम्**) अचल (**स्वतः**) स्वभाव से (**सिद्धम्**) सिद्ध (**अस्ति**) है। (**किल**) निश्चय से (**इदम्**) यह ज्ञान (**यावत्**) जब तक (**अस्ति**) है (**तावत्**) तब तक (**इदम्**) यह ज्ञान (**सदैव**) सदा वही (**अस्ति**) है। (**हि**) निश्चय से (**अत्र**) इस ज्ञान से (**द्वितीयोदयः**) द्वितीय पदार्थ का उदय (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकता है। (**तत्**) तिस कारण से (**अत्र**) इस ज्ञान में (**आकस्मिकम्**) अकस्मात् होने वाला (**किञ्चन**) कुछ (**न**) नहीं

(**भवेत्**) हो सकता है अतएव (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**तद्भीः**) अकस्मात् भय (**कुतः**) कहाँ से (**भवेत्**) हो सकता है अर्थात् कहीं से भी नहीं। इसलिए (**सः**) वह ज्ञानी (**सततम्**) हमेशा (**निश्शङ्कः**) निश्शङ्क-निर्भय (**सन्**) होता हुआ (**स्वयम्**) स्वभाव से (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**सदा**) हमेशा (**विन्दति**) अनुभव में लाता है।

सं० टी० —(**किल इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगम के कथन में आया है अर्थात् आगम के कहे अनुसार (**यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**तत्-प्रसिद्धम्**) यह-प्रसिद्ध (**एकं-कर्मादिद्वितीयरहितम्**) कर्म आदि दूसरे पदार्थ से शून्य (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान (**स्वतः-स्वभावेन**) स्वभाव से (**सिद्धम्-निष्पन्नम्-कृतकृत्यं च**) सिद्ध-निष्पन्न और कृतकृत्य (**किम्भूतम्**) कैसा (**अनाद्यनन्तम्-उत्पत्तिविनाशरहितम्**) उत्पत्ति और विनाश से रहित (**अचलम्-अक्षोभ्यम्**) निश्चल अर्थात् क्षोभ रहित (**हि-स्फुटम्**) स्फुटरूप से है (**तावत्पर्यन्तम्**) तब तक (**इदं-ज्ञानम्**) यह ज्ञान (**सदैव-अविच्छिन्नम्**) विच्छेद रहित अर्थात् सर्वदा (**भवेत्**) है। (**अत्र-ज्ञाने**) इस ज्ञान में (**द्वितीयोदयः-सहसा द्वितीयस्य द्रव्यभवनायतनाहिदर्शनादि पौद्गलिकस्योदयः**) अकस्मात्-अचानक अतर्कितोपनत किसी दूसरे पौद्गलिक द्रव्य, क्षेत्र और सर्प दर्शन आदि का उदय (**न**) नहीं (**भवेत्**) हो सकता है (**तत्-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**अत्र-आत्मनि**) इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में (**किंचन-किमपि**) कुछ भी-कोई भी (**आकस्मिकं-अकस्मात्सहसा भवम्-आकस्मिकम्**) आकस्मिक-सहसा होने वाला (**भयम्**) भय (**न**) नहीं (**भवेत्**) होता है (**ज्ञानिनः-पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**तद्भीः-तस्य-आकस्मिकस्य भीः भयम्**) उस आकस्मिक का भय (**कुतः-**) कहाँ से हो सकता है (**न कुतोपि**) अर्थात् कहीं से भी नहीं। (**सः-ज्ञानी**) वह ज्ञानी (**निश्शङ्कः-सप्तभयशंकारहितः**) सातों भयों की शङ्का से रहित (**सन्**) होता हुआ (**सततम्-नित्यम्**) हमेशा (**सहजम्-स्वाभाविकम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**सदा-नित्यम्**) नित्य-निरन्तर (**विन्दति-जानाति**) जानता है अर्थात् ज्ञानमय रहता है। (**इति ज्ञानिनः,**) इस प्रकार से ज्ञानी के (**इह परलोक वेदनाऽत्राणागुप्तिमरणाकस्मिकभयसप्तकाभावात्-सदानिर्जरैव**) इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय और आकस्मिकभय ये सात भय न होने से सर्वदा कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२८॥

भावार्थ - जो आज तक न तो देखने में आया न सुनने में आया और न अनुभव ही में आया ऐसा विलक्षण भय ही आकस्मिक भय कहा जाता है। यह आकस्मिक भय एक मात्र पुद्गलकृत ही होता है और पुद्गल का एक अणु भी आत्मा में नहीं आ सकता है ऐसा निष्कम्प-अचल सुदृढ़ श्रद्धान सम्यग्दृष्टि के होता ही है। अतएव ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आकस्मिक भय से भी शून्य ही रहता है। शरीर के स्तर पर सभी प्रकार के भय रहते हैं चाहे कोई भी हो। क्योंकि वह नाशवान है परन्तु चेतना के स्तर पर कोई भय हो ही नहीं सकता। ज्ञानी चेतना के स्तर पर खड़ा है। अतः सातों भयों का अभाव सर्वथा सम्यग्दृष्टि के स्वभाव ही से सिद्ध है।

(अथ सम्यग्दृष्टेर्निर्जराप्रकारं प्रणीते-प्रणयति) अब सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का प्रकार-क्रम-प्रकट करते हैं—

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितः ज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्तिबन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥२६॥

अन्वयार्थ—**(यत्)** जिस कारण से **(टंकोत्कोर्णस्वरस निचित ज्ञान सर्वस्व भाजः)** टङ्कोत्कीर्ण—टांकी से खोदे हुए के समान अविचल आत्मिक रस-आनन्द से परिपूर्ण-ओतप्रोत ज्ञान की परिपूर्णता को धारण करने वाले—अर्थात् स्वभावगत अनन्त ज्ञान को श्रद्धा में लाने वाले **(सम्यग्दृष्टेः)** सम्यग्दृष्टि-आत्मश्रद्धानी-महापुरुष के **(लक्ष्माणि)** निश्शङ्कितत्व आदि आठ चिह्न **(इह)** इस लोक में **(सकलम्)** समस्त **(कर्म)** कर्मों को **(घ्नन्ति)** नाश करते हैं **(तत्-** तिस कारण से **तस्य** उस ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के **(पुनः)** फिर से **(अस्मिन्)** कर्म का उदय होने पर **(अपि)** भी **(पुनः)** फिर **(मनाक्)** जरा **(कर्मणः)** कर्म का **(बन्धः)** बन्ध अर्थात् कर्मों का नवीन बन्ध **(न)** नहीं **(अस्ति)** होता है। **(पूर्वोपात्तम्)** पूर्वोपार्जित **(तद्)** उस कर्म को **(अनुभवतः)** अनुभव करने वाले-कर्म के फल को भोगने वाले **(सम्यग्दृष्टेः)** सम्यग्दृष्टि के **(निश्चितम्** निश्चित रूप से **(निर्जरा)** उस कर्म की निर्जरा **(एव)** ही **(भवति)** होती है।

सं० टी०—**(यत्-यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(इह-जगति)** इस जगत् में **(घ्नन्ति-विनाशयन्ति)** विनाश करते हैं **(किम्)** किसे **(सकलं-समस्तम्)** सब **(कर्म-मिथ्यात्वादि)** मिथ्यात्व आदि कर्म को **(कानि)** कौन **(लक्ष्माणि-चिह्नानि-संवेगनिर्वेदनिन्दागर्होपशमभक्तिवात्सल्यानुकम्पालक्षणानि-निश्शंकितादीनि वा)** संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा स्वरूप अथवा निश्शङ्कितत्व आदि रूप चिह्न **(कस्य)** किसके **(सम्यग्दृष्टेः-निश्चयसम्यक्त्वधारिणः)** निश्चय सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले ज्ञानी के **(किंभूतस्य)** कैसे **(टंकोदित्यादिः-टंकोत्कीर्णश्चासौ स्वश्च आत्मा तस्य रसः अनुभवः तेन निचितं युक्तं तच्च-तज्ज्ञानं च तस्य सर्वस्वं-साकल्यं भजति सेवते इति टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञान-सर्वस्वभाक् तस्य)** स्वाभाविक आत्मिक-अनुभवरूप रस से सहित-परिपूर्ण ज्ञान स्वभाव को सेवन करने वाले **(तत्-तस्मात्कारणात्)** तिस कारण से **(कर्मघातनादनन्तरम्)** अर्थात् कर्मों का घात कर चुकने के पश्चात् **(तस्य-ज्ञानिनः)** उस ज्ञानी के **(पुनः-भूयः)** फिर **(अस्मिन्-पूर्वोक्त स्वरूपे)** पुर्व में कहे हुए ज्ञान स्वरूप में **(मनागपि-एकांशेनापि)** एक अंशरूप से भो **(कर्मणः)** कर्म का **(बन्धः-संश्लेषः)** बन्ध-एक क्षेत्राव-गाह रूप सम्बन्ध **(नास्ति-न विद्यते)** नहीं होता है **(तत्-कर्म)** उस कर्म को **(पूर्वोपात्तम्-पूर्वं सम्यग्दृष्टेः-प्राक्-उपात्तं बद्धं च)** जो सम्यग्दर्शन होने के पहले बांधा हुआ था **(अनुभवतः-सुखदुःखादिरूपेणानुभुंजतः)** सुख और दुःख के रूप में भोगने पर **(निश्चितम्-नियमेन)** नियम से **(निर्जरैव-खलु निर्जरा—भवत्येव कर्मणाम्)** कर्मों की निर्जरा होती है।

भावार्थ—दर्शन मोहनीय कर्म आदि कर्म प्रकृतियों का नाश करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के पुनः उन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है यह तो निश्चित ही है साथ ही सम्यग्दर्शन प्रकट होने के पहले अर्थात् मिथ्यात्व दशा में जो कर्मों का बन्ध किया था उसके उदय में आने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव करने पर भी नवीन बन्ध नहीं होता है किन्तु कर्मों की निर्जरा ही होती है। कर्म का उदय होते हुए भी ज्ञानी के उस कर्म फल में अपनापना नहीं है यह सम्यग्दर्शन का अनिर्वचनीय माहात्म्य है।

(**अथ सम्यग्दृष्टेरङ्गानि लक्षयति**) अब सम्यग्दृष्टि के अंगों को दिखाते हैं—

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धन्तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तम्-
ज्ञानंभूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**निजैः**) अपने (**अष्टाभिः**) आठ (**अंगैः**) अंगों से (**सङ्गतः**) सहित (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**नवम्**) नवीन (**बन्धम्**) बन्ध को (**रुन्धन्**) रोकता हुआ (**तु**) और (**प्राग्बद्धम्**) पूर्व में बांधे हुए कर्म को (**निर्जरोज्जृम्भणेन**) निर्जरा की वृद्धि से (**क्षयम्**) विनाश को (**उपनयन्**) प्राप्त कराता हुआ (**स्वयम्**) स्वभाव से (**अतिरसात्**) आत्मिक आनन्दरूप रस के आधिक्य से (**आदिमध्यान्तमुक्तम्**) आदि-मध्य और अन्त से रहित (**ज्ञानम्**) ज्ञानरूप (**भूत्वा**) होकर (**गगनाभोग-रङ्गम्**) आकाशमण्डलरूप रङ्गस्थल को (**विगाह्य**) व्याप्त-बिलोडन-करके (**नटति**) नृत्य करता है।

सं० टीका—(**सम्यग्दृष्टिः-आत्मश्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व परिणतोमुनिः**) आत्मश्रद्धान स्वरूप सम्यग्-दर्शन से संयुक्त साधु (**स्वयं-स्वरूपेण**) स्वरूप से (**ज्ञानं-भूत्वा ज्ञानमयो भूत्वा**) ज्ञानस्वरूप होकर (**नटति-नृत्यं करोति**) नृत्य करता है। (**ज्ञानेन सह तन्मयत्वं प्राप्नोतीति यावत्**) अर्थात् ज्ञान के साथ तद्रूपता को प्राप्त करता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**गगनाभोगरङ्गम्-गगनं व्योम तस्य आभोगः परिपूर्णता स एव रंगः-नाट्यावताररंगभूमिः तम्**) आकाश के विस्तार की परिपूर्णता रूप रंग भूमि को (**विगाह्य-गाहयित्वा-ज्ञानेनसर्वं गगनमण्डलमभिव्याप्य हर्षतोनृत्याविरोधात्**) ज्ञान से सारे आकाशमण्डल को व्याप्त करके अर्थात् आनन्द से सारे आकाश में व्याप्त होने का कोई विरोध नहीं है। (**कुतः**) किससे (**अतिरसात्-स्वानुभवनोत्थरसोद्रेकेण**) आत्मानुभूति से उत्पन्न आनन्दरूप रस की अधिकता से (**अन्योऽपि यो नटति स रङ्गभवनाद्य भृङ्गारादिनवरसोद्रेकत एव इत्युक्तिलेशः**) दूसरा जो कोई भी नृत्य करता है वह भृंगार आदि नव रसों के आधिक्य से ही करता है यह कहने का तात्पर्य है। (**तु-पुनः**) और (**प्राग्बद्ध-प्राक् सम्यक्त्वोत्पत्तेः पूर्वं बद्धं-कर्मरूपेणात्मसात्कृतम्**) सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पहले कर्मरूप से आत्मा के साथ एकमेक किये गये कर्म के (**क्षयं-विनाशम्**) क्षय-विनाश को (**उपनयन्-प्रापयन्-सन्**) प्राप्त कराता हुआ (**केन-**) किससे (**निर्जरोज्जृम्भणेन-असंख्यात गुणनिर्जरायाः उज्जृम्भणम्-उत्सर्पणं-प्राकट्यं तेन**) असं-ख्यातगुणी निर्जरा की उत्कटता से (**अष्टाभिः-वसुसंख्यैः**) आठ (**अङ्गैः-निश्शंकितादिसम्यक्त्वावयवैः**)

निःशङ्कित आदि सम्यग्दर्शन के अवयवरूप अङ्गों से (सङ्गतः-युक्त) सहित (किम्भूतः ?) कैसे (निजैः-निश्चय-सम्यक्त्व सम्बन्धीयैः) अपने अर्थात् निश्चय-सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले इति-पूर्वोक्त-प्रकारेण) पूर्व में कहे अनुसार (नवं-नवीनम्) नवीन (बन्धं-कर्मबन्धम्) कर्म बन्ध को (रुन्धन्-निवारयन्) निवारण करता हुआ (प्रत्यधिकारं नटतीत्यादिशब्दः नाटकत्वमुद्योतयति) प्रत्येक अधिकारों में नटति-इत्यादि शब्द नाटक के धर्म को प्रकट करते हैं ॥३०॥

भावार्थ लोक में कोई भी नाटककार शृङ्गार आदि नव रसों में से किसी भी विवक्षित रस की उत्कटता से नृत्य करता है। यहां सम्यग्दृष्टि भी आत्मगत ज्ञानादि गुणों की तल्लीनता रूप शान्त रस में निमग्न-विभोर हो नृत्य करता है। दोनों की भूमिका भिन्न ही है। एक की भूमिका कर्मबन्ध का कारण तो उससे भिन्न की भूमिका संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण है। एक संसार की सन्तति का संवर्धक है तो दूसरा संसार की परिपाटी को छिन्नभिन्न कर मोक्ष का प्रापक है। एक दुःख की ओर प्रस्थित है तो दूसरा परिपूर्ण आत्मिक सुख की ओर।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानस्वभाव का मालिक है- कर्म और कर्मफल का मालिक नहीं है, उसमें अपनापन, एकत्वपना नहीं है। कर्म का उदय भी आता है वह अपना फल भी देता है परन्तु ज्ञानी ज्ञान का ही भोग करता है वह कर्म फल को वैसा ही देखता है जैसे किसी नाटक में पार्ट करने वाला धनिक गरीब का पार्ट करते हुए अपने को उस रूप नहीं समझता। उस समय भी उसको अपने स्वभाव का ज्ञान विद्यमान है जब स्वांग ही है तो कर्मबन्ध कैसे हो। ज्ञानी के भी कर्म का उदय है और अज्ञानी के भी। परन्तु ज्ञानी के आत्मज्ञान के बल पर वह नाटक के स्वांग तुल्य है अज्ञानी के वह कर्मकृत नाटक वास्तविकता को प्राप्त है। अतः सुखी-दुःखी होता है। ज्ञानी के आठ अंग होते हैं। अब वह शरीर के स्तर से चैतन्य के स्तर पर आ गया है अतः सात प्रकार का भय नहीं है। चैतन्य के स्तर पर न मरण है, न लोक है, न परलोक, न रक्षा का सवाल है, न अगुप्ति का भय है, न अकस्मात् कुछ होने का है, न कोई वेदना है। अतः चेतना के स्तर पर कोई भय होता ही नहीं। ऐसा भय तो होता नहीं कि मेरा नाश हो जायेगा और पर्याय का नाश होता है वह नाशवान स्वभाव ही है। भय प्रकृति के उदय से जो भय होता है वह कर्मकृत है ज्ञानी उसका मालिक नहीं बनता है जब तक निबलाङ्ग है तब तक होता है। ज्ञानी तो ज्ञानरूपी शरीर का धारी है जहां कोई भय को जगह ही नहीं है। वह अपने ज्ञान-श्रद्धान में निशंक है वह भय के निमित्त से स्वरूप से चलायमान नहीं होता है अथवा सन्देहयुक्त नहीं होता यह निःशंकित गुण है।

(२) वह ज्ञान स्वभाव का मालिक है अतः कर्म के फल की वांछा नहीं होती। वह तो कर्म को विकार समझता है रोग समझता है तब कर्म की वांछा कैसे हो। संसार के वैभव को कर्म का फल समझता है, ज्ञान स्वभाव को ही अपना वैभव समझता है यह निःकांक्षित गुण है।

(३) जब पुण्य के उदय को भी कर्म का कार्य जानता है तब पाप के उदय को भी कर्म का कार्य मानता है। अतः पाप का उदय चाहे अपने आवे या पर के कोई ग्लानि का सवाल नहीं उठता यह निर्विचिकित्सा गुण है।

(४) वह ज्ञानी है उसकी दृष्टि सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी मूढ़रूप नहीं है अपने स्वरूप के प्रति भी मूढ़रूप नहीं है। देखा-देखी से नहीं मानता है, रूढ़िवादी नहीं है। उनका निर्णय करके सही श्रद्धान करता है। यह अमूढ़दृष्टिगुण है।

(५) आत्मशक्ति को बढ़ाने का और आत्म स्वरूप में लगने का निरन्तर उपाय करता है। यह उपगूहन अंग है। (६) अपने आप को स्वरूप से च्युत होने पर अपने स्वरूप में स्थापित करता है यह स्थिति करण गुण है। (७) अपने स्वरूप के प्रति, अपने आत्मिक गुणों के प्रति अत्यन्त अनुराग रखता है। यह वात्सल्य गुण है। (८) आत्मगुणों को प्रकाशित करता है यह प्रभावना गुण है।

असली बन्ध का कारण मिथ्यात्व ही है उसके अभाव में जो बन्ध होता है वह नहीं होने के तुल्य ही है जैसे दूसरे का पैसा घर में रखा है नियत समय पर उसके मालिक को देना है। नियत समय के आने तक वह घर में भी रखा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से - उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है। इस प्रकार ज्ञानी कर्म कार्य को पराया मानता है इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं है। अतः उसके रहते हुए भी वह न रहने के समान ही है। अतः ज्ञानी के आठ अंग निर्जरा के कारण हैं।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यों की व्याख्या में जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है यह छठवां अङ्क समाप्त हुआ।

सप्तमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ बन्धाधिकारः

वारयति निर्जराख्यं तामस्यं भव्यजीवनिचयस्तु।
अमृतेन्दु वाङमयमयूखैः श्रीकुन्दसमैः परैः सारैः॥

अन्वयार्थ—**(श्री कुन्दसमैः)** श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के समान **(परैः)** परम **(सारैः)** श्रेष्ठ **(अमृतेन्दु वाङमयमयूखैः)** श्री अमृतचन्द्राचार्य के वचनरूप किरणों से **(भव्य जीवनिचयः)** भव्य जीवों का समूह **(निर्जराख्यम्)** निर्जरा को रोकने वाले **(तामस्यम्)** अन्धकार को **(वारयति)** वारण-दूर करता है।

(ननु संवरनिर्जरे निरन्तरं ज्ञानिनो निरूपिते पुनः कस्य तु न ते द्वे ! प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वात्— इति विचिन्त्य बन्धतत्त्वं निबध्यते) कोई शंकाकार कहता है कि संवर और निर्जरा हमेशा ज्ञानी-सम्यग्-ज्ञानी के ही निरूपण किये गये हैं फिर **(ते)** वे दोनों **(कस्य)** किस के **(न)** नहीं **(स्तः)** होते हैं क्योंकि प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है ऐसा विचार करके बन्ध तत्त्व का निरूपण करते हैं -

रागोद्‌गार महारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहा नाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटय-
द्धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१॥

अन्वयार्थ—(**रागोद्‌गारमहारसेन**) राग की प्रकटतारूप महारस से (**सकलम्**) समस्त (**जगत्**) जगत को (**प्रमत्तम्**) उन्मत्त (**कृत्वा**) करके (**रसभारनिर्भरमहानाट्येन**) राग, रूप, रस के भार से परिपूर्ण महा नाटक से (**क्रीडन्तम्**) क्रीड़ा करने वाले (**बन्धम्**) बन्ध को (**धुनत्**) कम्पित-नष्ट करता हुआ (**आनन्दामृत नित्यभोजि**) आत्मिक आनन्दरूप अमृत का भोजन करने वाला (**सहजावस्थाम्**) अपनी ज्ञातृ क्रियारूप स्वाभाविक अवस्था को (**स्फुटम्**) स्पष्टरूप से (**नाटयत्**) प्रकट करता हुआ (**धीरोदारम्**) धीर-निश्चल और उदार-विशाल (**अनाकुलम्**) आकुलता रहित (**निरुपधि**) उपाधि-ममत्व से रहित (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**समुन्मज्जति**) प्रकट होता है—अभ्युदय को प्राप्त करता है।

सं० टीका—(**समुन्मज्जति-समुच्छलति चकास्तीत्यर्थः**) प्रकट होता है अर्थात् प्रकाशित होता है। (**किम्**) क्या (**ज्ञानम्-आत्मबोधः**) आत्मज्ञान (**किम्भूतम्**) कैसा (**निरुपधि-निर्गत उपाधिः-ममत्वादि विकृति-र्यस्मात् तत्**) ममेदं बुद्धिरूप विकार से रहित (**पुनः-कीदृशम्**) फिर कैसा (**अनाकुलम्-उपाधिविजृम्भित-चिन्ताच्युतम्**) रागादिरूप उपाधि से वृद्धिगत-बढ़ने वाली-चिन्ता से रहित (**धीरम्-धैर्यगुणयुक्तम्**) धीरता-निर्विकारतारूप गुण से सहित (**तच्चतत्-उदारमुत्कटं च-**) विशालता रूप (**सहजावस्थां स्वाभाविकदशाम्**) स्वाभाविक अवस्था को (**स्फुटं-व्यक्तं यथा भवति तथा**) स्फुट-व्यक्तरूप से जैसे बने वैसे (**नाटयत्प्रकाशयत्**) प्रकाशित करता हुआ (**धातूनामनेकार्थत्ववचनात्-द्योतकत्वमत्र**) क्योंकि धातुओं के अनेकार्थता कही गई है अतएव यहाँ द्योतक-प्रकाशक अर्थ लिया गया है (**पुनः**) फिर (**आनन्देत्यादिः-आनन्दं स्वात्मोत्थं सुखं तदेवामृतं सुधा ताम्**) आत्मा से प्रकटित सुखरूप अमृत को (**नित्यम्-अनवच्छिन्नतया**) नित्य अर्थात् निरन्तर-व्यवधान रहित-लगातार रूप से (**भुनक्तीत्येवं शीलम्**) भोगने का स्वभाव वाला (**पुनः**) फिर (**बन्धं-कर्माश्लेषं**) कर्म के सम्बन्ध को (**धुनत्-स्फोटयत्**) नष्ट करता हुआ (**किम्भूतम्-बन्धम्**) कैसे बन्ध को (**क्रीडन्तम्-स्वेच्छया सर्वत्र क्रीडयापरिणतम्**) अपनी इच्छानुसार सर्व जगह क्रीडा से युक्त (**केन**) किससे (**रसेत्यादिः-रसस्य-कर्मानुभागस्यभारः-अतिशयः स एव निर्भरं अतिमात्रम्-महानाट्यं-महानटनम्**) कर्म के अनुभाग-फलदान रूप रस के आधिक्यरूप महान् नाटक से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**सकलं-समस्तम्**) समस्त (**जगत्-लोकनिवासिजनवृन्दम्**) जगत् अर्थात् लोक में निवास करने वाले प्राणियों के समूह को (**प्रमत्तम्-मदाक्रान्तम्**) मद से आक्रान्त (**कृत्वा-विधाय**) करके (**केन ?**) किससे (**रागेत्यादिः-रागस्य-उद्‌गारः-उद्गिरणम्-स एव महारसः-मैरेयादिरूपः तेन**) राग की उत्पत्तिरूप महारस से जो मद्य आदि मादक पदार्थ के समान आत्मा को विह्वल-बेखबर कर देता है (**अन्योऽपि यः परं मदिरया प्रमाद्य माद्ये**

नाटय तीत्युक्तिलेश:) जैसे कोई दूसरा मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को मदिरा से प्रमादी-नशायुक्त करके नाटक में नचाता है वैसे ही यहां समझना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता-प्रतिष्ठा यही है कि वह जब आत्मा में आत्मिक-आनन्द के साथ प्रकाशित होता है तब वह बन्ध तत्त्व का संहार करके ही उदित होता है। और होता है सर्व व्यापक।

(अथ कथं मुच्यते जगत. कर्मात्मकत्वादितिवदन्तम्प्रत्याचष्टे) जगत् कर्ममय है इसलिए आत्मा कर्म बन्ध से कैसे मुक्त-छूट सकता है ऐसी आशङ्का करने वाले के प्रति आचार्य उत्तर देते हैं—

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककारणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—**(नृणाम्)** प्राणियों का **(बन्धहेतुः)** बन्ध का कारण **(कर्मबहुलम्)** कर्म-कार्माण वर्गणाओं के समूह से भरपूर **(जगत्)** लोक **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(वा)** और **(चलनात्मकं)** चञ्चल **(कर्म)** कर्म **(बन्धहेतुः)** बन्धका कारण **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(नैक कारणानि)** अनेक इन्द्रियां **(वा)** भी **(बन्धहेतुः)** बन्ध का कारण **(न)** नहीं **(अस्ति)** हैं **(चिदचिद्वधः)** चेतन और अचेतन का वध-विनाश **(बन्धकृत्)** बन्ध करने वाला **(न)** नहीं **(अस्ति)** है किन्तु **(यदा)** जब **(उपयोगभूः)** आत्मा-अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का आधारभूत आत्मा **(रागादिभिः)** रागद्वेष मोह आदि रूप विभावों के साथ **(यद्)** जो **(ऐक्यम्)** ऐक्य-एकता-तन्मयता को **(समुपयाति)** प्राप्त होता है **(सः)** वह **(एव)** ही **(किल)** निश्चय से **(केवलम्)** सिर्फ **(बन्धहेतुः)** बन्ध का कारण **(भवतु)** होता है।

सं० टीका—**(ननु)** शंकासूचक-अव्यय **(जगत्-त्रिभुवनम्)** तीन जगत् **(कर्म बहुलम्-कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलम्-प्रचुरम्)** कर्म योग्य पुद्गलों से प्रचुर-भरपूर **(बन्धकृत्-बन्धं करोतीति बन्धकृत्-बन्धकारणं)** बन्ध को करने वाला—अर्थात् बन्ध का कारण **(न)** नहीं **(भवेत्)** हो सकता **(अन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गात् तत्र कर्मपुद्गलानां अवस्थानाविशेषात्)** यदि ऐसा न माना जायेगा तो सिद्धों के भी कर्म बन्ध का प्रसङ्ग होगा क्योंकि जहां सिद्ध रहते हैं वहां भी कर्मपुद्गलों का अवस्थान-सद्भाव है। **(अथ-कायवाङ्मनसां कर्म-बन्धकृन्न चलात्मकानां कर्मणां बन्धहेतुत्वाभावात्)** और शरीर वचन और मन की क्रिया भी बन्ध करने वाली नहीं है क्योंकि चञ्चल स्वरूप कर्म-क्रियाओं को बन्ध के प्रति कारण नहीं माना है **(अपरथा यथाख्यात संयतानामपि कर्मबन्ध प्रसङ्गात्)** यदि ऐसा न माना जाय तो यथाख्यात संयतों के भी कर्म बन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(ननु वा-अथवा)** शङ्काकार कहता है कि अथवा **(तत्कारणं मा भवतु)** वह पूर्वोक्त कारण बन्ध के करने वाले न हों तो न सही किन्तु **(नैककरणानि-**

अनेक स्पर्शनादीन्द्रियाणां बन्ध हेतुत्वम्–"भवतु") स्पर्शन आदि अनेक इन्द्रियां तो बन्ध के कारण हों (**तन्न**) अर्थात् ये इन्द्रियां भी बन्ध के कारण नहीं हो सकती (**अन्यथा**) इनको बन्ध का कारण मानने पर (**केवलिनामपि तत्प्रसङ्गात्**) केवलियों के भी बन्ध का प्रसङ्ग होगा क्योंकि (**तस्य तत्सद्भावात्**) केवलियों के उन इन्द्रियों का सद्भाव है।

(ननु) शङ्काकार कहता है कि (**चिदचिद्वधः-चिदचितां-सचित्ताचित्तानां वस्तूनां वधः घातः**) सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात तो (**बन्धकृत्**) बन्ध को करने वाला (**स्यात्**) हो (**तन्न**) यह भी नहीं हो सकता क्योंकि (**तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात्**) सचित्ताचित्त का वध भी बन्ध का निमित्त नहीं बन सकता (**अन्यथा**) यदि सचित्ताचित्त का वध ही बन्ध का कारण मान लिया जाय तो (**समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात्**) समितियों में तत्पर-संलग्न साधुओं को भी बन्ध का प्रसङ्ग आ जायगा क्योंकि समिति काल में भी उक्त प्रकार का बन्ध हो सकता है (**ननु सर्वस्यबन्धनिमित्तस्यनिषेधे जगतोनिर्बन्धत्वमेवेतिचेत्**) शङ्काकार कहता है कि सभी बन्ध के निमित्तों का निषेध होने पर तो जगत-प्राणिमात्र के निर्बन्धता-बन्धशून्यता सिद्ध होगी—यदि ऐसा तुम्हारा मन्तव्य हो तो (**न**) वह ठीक नहीं है, क्योंकि (**तत्सद्भावात्**) बन्ध के निमित्तों का सद्भाव है (**तथाहि**) उनको स्पष्ट करते हैं (**किल-इत्यागमोक्तौ**) किल–यह अव्यय आगम के कथन में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगमानुसार (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**नृणां-प्राणिनाम्**) प्राणियों के (**केवलम्-परम्**) सिर्फ (**सः-रागयोगः**) वह राग का योग (**अनिर्दिष्टः**) जिसका यहां निर्देश नहीं किया गया है (**बन्धहेतुः-बन्धस्य कारणम्**) बन्ध का कारण (**भवति-अस्ति**) है (**स कः**) वह कौन ? (**यः**) जो (**उपयोगभूः-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः (भूमिः) स्थानं-आत्मेत्यर्थः**) ज्ञानदर्शन स्वरूप उपयोग का स्थान है अर्थात् आत्मा (**रागादिभिः-रागद्वेष मोहैः सह**) राग-द्वेष मोह के साथ (**ऐक्यं-एकताम्**) एकता को (**उपयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**सः**) वह एकत्वपना (**एव**) ही (**बन्धकारणम्**) बन्ध का कारण (**अस्ति**) है।

भावार्थ—यहां मिथ्यात्व को मुख्य करके बन्ध के कारण का कथन है। ज्ञान और राग में एकपना मानना ही मिथ्यात्व है वही बन्ध का कारण है और अनन्त संसार का कारण है। अन्य बन्ध के कारणों को यहां गौण किया गया है। अतः उनका सर्वदा निषेध नहीं मानना ॥२॥

(**अथ कर्म बहुलादीनां कर्म हेतुत्वं मीमांसते**) अब कर्मबहुल जगत् आदिकों को कर्म के प्रति कारता का विचार प्रस्तुत है—

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् कारणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनञ्चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोग भूमिमनयन् ज्ञानं भवेन्केवलम्
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्माध्रुवम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(**कर्मततः**) कार्मण वर्गणारूप पुद्गल बन्धों से व्याप्त (**सः**) वह प्रसिद्ध (**लोकः**) जगत् (**अस्तु**) रहो (**च**) और (**परिस्पन्दात्मकम्**) आत्मा के प्रदेशों का हलन-चलन रूप (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म**) कर्म-योग विशेष (**अस्तु**) रहो (**अस्मिन्**) इस आत्मा में (**तानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि**) स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ (**सन्तु**) रहें (**च**) और (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**चिदचिद्व्यापादनम्**) चेतन अचेतन पदार्थों का विघात (**अस्तु**) रहो (**रागादीन्**) राग आदि को (**उपयोग भूमिम्**) उपयोगरूपी भूमि में (**अनयन्**) नहीं प्राप्त करता हुआ (**केवलम्**) सिर्फ (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**भवन्**) होता हुआ (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा**) सम्यग्दृष्टि महापुरुष (**कुतोऽपि**) किसी भी कारण से (**ध्रुवम्**) दृढ़ निश्चय से (**बन्धम्**) बन्ध को (**न**) नहीं (**एव**) ही (**उपैति**) प्राप्त करता है (**अहो**) यह महान् आश्चर्य है।

सं० टीका (**सः-प्रसिद्धः**) वह प्रसिद्ध (**लोकः-श्रेणिघनप्रदेशमात्रं-त्रिभुवनम्**) श्रेणिघनप्रदेश प्रमाण तीन जगत् (**कर्मततः-कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्तः**) कर्मरूप होने की योग्यता वाले पुद्गलों से भरपूर (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनः कर्मबन्धो न**) तो भी आत्मा में कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म-कायवाङ्मनोयोगः**) शरीर, वचन और मन की क्रिया (**परिस्पन्दात्मकम्-आत्मप्रदेश परिस्पन्दस्वरूपम्**) आत्मा के प्रदेशों का कम्पन रूप व्यापार (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनो न बन्धः**) तो भी आत्मा में कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता (**अस्मिन्-आत्मनि**) इस आत्मा में (**तानि-प्रसिद्धानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि-इन्द्रियाणि**) इन्द्रियां (**सन्तु-भवन्तु**) रहो (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**चिदित्यादिः-चित्-सचित्तः, अचित्-प्रासुकः-चिच्चाचिच्च तयोर्व्यापादनं-पीडनं-विनाशनम्**) चेतन और अचेतन का विनाश (**अस्तु-भवतु**) रहो (**अहो-इति-आश्चर्ये**) अहो यह अव्यय आश्चर्य वाचक है अर्थात् आश्चर्य है कि (**तथापि**) तो भी (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा-सम्यग्दर्शन परिणतचिद्रूपः**) सम्यग्दर्शन सहित चैतन्य स्वरूप आत्मा (**कुतोऽपि जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेः**) जगत्, कर्म, करण, चित् और अचित के घात आदि रूप किसी भी कारण से (**अन्यतरादपि**) उनमें से किसी एक से भी (**ध्रुवम्-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**बन्धं-कर्मबन्धम्**) कर्मबन्ध को (**नैव उपैति-न प्राप्नोति**) नहीं प्राप्त होता है (**किम्भूतः सन्**) कैसा होता हुआ (**केवलं-रागादिनिरपेक्षम्**) रागादि की अपेक्षा से रहित (**ज्ञानम्-बोधमयो भवन् जायमानः**) ज्ञानमय होता हुआ (**पुनः**) फिर (**उपयोगभूमिम्-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनस्य भूमिः-आत्मा, उपयोगोलक्षणमितित सूत्रकारवचनात् तम्**) ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग की भूमि स्वरूप आत्मा को क्योंकि "उपयोगो लक्षणम्" ऐसा सूत्रकार—उमा स्वामी का वचन है (**रागादीन्-रागद्वेषमोहान्**) राग, द्वेष, मोह आदिकों को (**अनयन्-अप्रापयन्-रागमयमात्मानमकुर्वन्**) नहीं प्राप्त करता हुआ अर्थात् आत्मा को रागमय नहीं करता हुआ (**न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यम्**) यह आत्मा किसी से भी नहीं बंधता है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—कार्माण स्कन्धों से परिव्याप्त लोक, परिस्पन्दात्मक कर्म, इन्द्रियरूप करण, चेतन और अचेतन का व्याघात आदि बन्धरूप कार्य को पैदा नहीं कर सकते हैं वे स्वतन्त्र रूप से बन्ध के

प्रयोजक नहीं हैं। जब आत्मा रागादि के साथ एकता को प्राप्त होता है तब बन्ध होता ही है। अतः रागादि के साथ ज्ञान की एकता ही बन्ध का समर्थ कारण है। सम्यग्दृष्टि तो ज्ञानमय निज स्वरूप में अपनापना मानता है अतएव रागादि के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता। अतः राग रूप न होने से अबन्ध ही है। यहां अबन्ध से तात्पर्य दर्शनमोहनीय जनित अनन्त संसार का कारणीभूत बन्धन ही होता है ऐसा समझना चाहिए। बन्ध मात्र का निषेध तो इसलिए नहीं बन सकता है कि अभी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय तो हो ही रहा है उसके रहते हुए रागादि भाव भी होते ही हैं। अतः बन्ध भी होता ही है किन्तु वह बन्ध अनन्त संसार का कारण न होकर किञ्चित्कालिक ही होता है अतः वह बन्ध होते हुए भी अबन्ध ही कहा जायगा, ऐसा समझ कर ही सम्यग्दृष्टि के बन्ध का निषेध किया गया है।

(अथ तथापि ज्ञानिनां निरर्गलत्वं विद्वेषयति) अब तो भी ज्ञानियों के निरर्गलता-स्वच्छन्दता का निषेध करते हैं—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम्
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥४॥

अन्वयार्थ—**(तथापि)** तो भी अर्थात् कर्मबहुल जगत् आदि को बन्ध के कारण का निषेध करने पर भी— **(ज्ञानिनाम्)** ज्ञानी-सम्यग्दृष्टियों को **(निरर्गलम्)** निरंकुश-स्वच्छन्द **(चरितुम्)** प्रवृत्ति **(न)** नहीं **(इष्यते)** इष्ट होती है **(किल)** क्योंकि **(सा)** वह **(निरर्गला)** स्वच्छन्द-शास्त्रविरुद्ध **(व्यापृतिः)** व्यापार-प्रवृत्ति- **(एव)** निश्चय से **(तदायतनम्)** बन्ध का स्थान **(अस्ति)** है। **(ज्ञानिनाम्)** ज्ञानियों का **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(अकामकृतकर्म)** बिना इच्छा के किया हुआ कर्म-शरीर वचन और मन का व्यापार **(अकारणम्)** बन्ध का कारण नहीं **(मतम्)** माना गया है **(हि)** निश्चय से **(करोति)** करना **(च)** और **(जानाति)** जानना **(द्वयम्)** यह दोनों क्रिया **(किमु)** क्या **(न)** नहीं **(विरुध्यते)** विरोध को प्राप्त होती **(अर्थात् विरुध्यते एव)** अर्थात् अवश्य ही विरोध को प्राप्त होती है।

सं० टी०—**(तथापि-कर्मबहुलकर्मकरणादिनामबन्धकत्वे)** तो भी अर्थात् कर्म बहुल, कर्म, करण आदि को बन्ध का कारण नहीं मानने पर भी **(रागादीनां बन्धहेतुकत्वे च सत्यपि)** और रागादिकों को बन्ध का हेतु मानने पर भी **(ज्ञानिनां-पुंसाम्)** ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी-पुरुष **(निरर्गलं-निरङ्कुशम्)** निरंकुश-स्वच्छन्द-मनमानी **(चरितुं-प्रवर्तयितुम्)** प्रवृत्ति करना **(न इष्यते-न वाञ्छयते)** नहीं इष्ट करते हैं नहीं चाहते हैं। **(किलेति-कस्मात्)** किल-यह अव्यय किम् अर्थ में आया है अर्थात् क्योंकि **(सा-प्रसिद्धा)** वह प्रसिद्ध **(निरर्गला-निरंकुशा)** निरंकुश-स्वच्छन्द **(व्यापृतिः-सर्वत्र कायादिव्यापारे-प्रवृत्तिः)** सभी शरीर आदि के व्यापार में प्रवृत्ति-प्रवर्तना **(तदायतनं-तस्य-बन्धस्य-आयतनम्-स्थानम्)** बन्ध का स्थान **(एव-**

निश्चयेन) निश्चय से माना है (**ज्ञानिनां-पुंसाम्**) ज्ञानी पुरुषों के (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**अकामेत्यादिः-अकामेन-अवाञ्छयाकृतं निष्पादितम्-कर्म-क्रिया-कायवाङ्मनसां कर्म च**) बिना इच्छा के किया गया—शरीर, वचन और मन का व्यापार (**अकारणम्-अबन्धहेतुकम्**) बन्ध का अकारण (**मतं-कथितं-पूर्वाचार्यैः**) मान गया है अर्थात् पूर्वाचार्यों ने उसे बन्ध का कारण नहीं कहा है। (**हीति-यस्मात्**) हि—यह अव्यय यद् शब्द के अर्थ में आया है अर्थात् जिससे (**करोति-क्रिया जानाति लक्षण क्रिया**) करना और जानना स्वरूप क्रिया (**एतद्द्वयम्-च**) ये दोनों (**किमु-कथम्**) कैसे (**न विरुध्यते-विरोधं न प्राप्नोतीत्यर्थः**) नहीं विरोध को प्राप्त होते हैं अर्थात् होते ही हैं।

भावार्थ—यहां ज्ञानी के स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निषेध किया गया है। अर्थात् बन्ध के जो बाह्य निमित्त कहे गये हैं, वे बन्ध के कारण नहीं हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी जन बिलकुल निरंकुश हो मनमानी प्रवृत्ति नहीं करते हैं। क्योंकि मनमानी प्रवृत्ति ही तो संसार में इस प्राणी को चतुर्गति में परिभ्रमण कराकर विविध प्रकार की यातनाओं का पात्र बनाती है। ज्ञानी के जानना और करना ये दो क्रियाएं परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नहीं होती हैं। क्योंकि जो जानता है सो जानता ही है करता नहीं है। और जो करता है वह करता ही है जानता नहीं है। अतः ज्ञानी बुद्धिपूर्वक ज्ञायक ही है कारक नहीं। क्योंकि कर्ता का अर्थ कर्म के फल का कर्ता बनना और जानना का अर्थ कर्म के फल का ज्ञाता रहना है। जो कर्म के फल का कर्ता बनता है वह ज्ञान का मालिक नहीं है और जो ज्ञान का मालिक है वह कर्म के फल का कर्ता नहीं होता ॥४॥

(**अथ कर्तृज्ञात्रोः पृथक्त्वं विधीयते**) अब कर्ता और ज्ञाता में जुदाई का प्रतिपादन करते हैं—

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु—
मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥५॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) निश्चय से (**यः**) जो (**जानाति**) जानता है-ज्ञाता है (**सः**) वह (**करोति**) करता (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**तु**) किन्तु (**यः**) जो (**करोति**) करता है (**अयम्**) वह (**जानाति**) जानता-ज्ञायक (**न**) नहीं (**अस्ति**) है। (**किल**) निश्चय से (**तत्**) वह करना (**कर्म**) कर्म का (**रागः**) राग (**अस्ति**) है। (**तु**) क्योंकि जिनेन्द्रदेव (**रागम्**) राग को (**अबोधमयम्**) अज्ञान स्वरूप (**अध्यवसायम्**) अध्यवसाय (**आहुः**) कहते हैं। (**सः**) वह (**मिथ्यादृशः**) मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीव के (**नियतम्**) नियम-निश्चितरूप से (**भवति**) होता है (**च**) और (**सः**) वह (**बन्धहेतुः**) बन्ध का कारण (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**खल्विति-निश्चयार्थे**) खलु-यह अव्यय निश्चय अर्थ में आता है अर्थात् निश्चय से

(यः-चिद्रूपः) जो चैतन्य स्वरूप आत्मा **(जानाति-स्वपरस्वरूपं वेत्ति)** अपने और पर के स्वरूप को जानता है **(सः-चिद्रूपः)** वह चैतन्यमय आत्मा **(न करोति-कर्मादि न विधत्ते)** नहीं करता है—कर्म आदि को नहीं बनाता है **(यस्तु कश्चित्-ज्ञानादन्यः)** और जो कोई ज्ञान से भिन्न **(करोति-कर्मनिर्मापयति)** कर्म का निर्माण करता है **(तु-विशेषे)** तु-अव्यय विशेष अर्थ में आया है अर्थात् विशेष रूप से **(अयं-कर्मकर्त्ता)** यह कर्म करता है **(न जानाति-न परिच्छिनत्ति)** वह जानता नहीं है **(तस्याज्ञानरूपत्वात्)** क्योंकि वह अज्ञानरूप-अज्ञानी है **(किल-इति निश्चितम्)** किल-यह अव्यय निश्चित अर्थ में आया है अर्थात् निश्चितरूप से **(तत्-करोति क्रियावच्छिन्नं कर्मरागः,)** वह करोति क्रिया से युक्त कर्म रूप राग **(राग एव करोतीत्यर्थः)** अर्थात्—राग ही करता है **(तु-पुनः)** और **(रागम्-अध्यवसायम्)** अध्यवसाय-कषायरूप परिणाम को राग **(आहुः)** कहते हैं **(रागस्य कषायानुभागाध्यवसायेति संज्ञां प्रतिपादयन्ति जिनाः)** अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान राग को कषाय अनुभाग अध्यवसाय इस संज्ञा से प्रतिपादन करते हैं **(इति स्वरूप विरचितत्वं संज्ञाया निरस्तम्)** इसलिए रागरूप संज्ञा आत्मस्वरूप से उद्भूत होती है यह कथन खण्डित हो जाता है। **(कीदृक्षं-रागम्)** कैसे राग को ? **(अबोधमयम्-अज्ञानस्वरूपम्)** अबोधमय—अर्थात् अज्ञान स्वरूप **('हन्मि-हन्ये' जीवामि जीव्येऽहममनेनेत्यादीनामज्ञानरूपत्वात्)** क्योंकि 'मैं इसे मारता हूँ और इसके द्वारा मैं मारा जाता हूँ', मैं इसे जिन्दा करता हूँ और इसके द्वारा मैं जिन्दा किया जाता हूँ, इत्यादि रूप विचारधारा अज्ञान रूप ही है। **(सः-रागः)** वह राग **(नियतम्-निश्चितम्)** नियत-निश्चयरूप से **(कस्य)** किसके **(भवति)** होता है ? **(मिथ्यादृशः-मिथ्यादृष्टेः,)** मिथ्यादृष्टि के **(नत्वन्यस्यसम्यग्दृष्टेः)** अन्य सम्यग्दृष्टि के तो नहीं। **(च-पुनः)** और **(सः-रागः)** वह राग **(बन्धहेतुः-कर्मबन्धकारणम्)** कर्मबन्ध का कारण है ॥५॥

भावार्थ—निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञाता-ज्ञाता ही है कर्ता नहीं। और कर्ता-कर्ता ही है ज्ञाता नहीं। ज्ञाता सम्यग्दृष्टि ही होता है मिथ्यादृष्टि नहीं। और कर्ता मिथ्यादृष्टि ही होता है सम्यग्दृष्टि नहीं। कर्म के कार्य का अपने को कर्ता मानना यह मिथ्यात्व सम्बन्धी राग है जो अज्ञानी के होता है अतः अज्ञानी कर्ता ही है—ज्ञानी ज्ञान का मालिक है अतः कर्म के कार्य का कर्ता नहीं बनता है तब वह ज्ञाता ही रहता है। जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह कर्म के कार्य का कर्ता नहीं है। जो कर्त्ता बनता है वह रागी है। अतः बन्ध को प्राप्त होता है।

(अथाहं मरणादीनां कारक इत्यभिप्रेतस्य मिथ्यादृष्टित्वं दरीदृश्यते पद्यद्वयेन) अब मैं मरण आदि का कर्ता हूँ, इस प्रकार के अभिप्राय से युक्त जीव मिथ्यादृष्टि है यह दो पद्यों द्वारा दिखाते हैं—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥६॥

अन्वयार्थ—**(इह)** इस संसार में **(सर्वम्)** सभी **(मरण जीवित दुःख सौख्यम्)** मृत्यु, जन्म, दुःख और सुख **(सदा)** हमेशा **(नियतम्)** नियम से-निश्चयरूप से **(स्वकीय कर्मोदयात्)** अपने कर्मों के उदय से

(एव) ही **(भवति)** होते हैं **(तु)** किन्तु **(परस्य)** किसी दूसरे के **(मरण जीवित दुःखसौख्यम्)** मरण, जीवन, दुःख और सुख को **(परः)** अन्य कोई **(पुमान्)** पुरुष **(कुर्यात्)** करता है अथवा कर सकता है **(एतत्)** यह **(अज्ञानम्)** अज्ञान-मिथ्याज्ञान **(अस्ति)** है।

सं० टी०—**(इह-जगति)** इस जगत् में **(एतत्-वक्ष्यमाणम्)** यह आगे कहा जाने वाला **(अज्ञानम-ज्ञानभाव व्यतिरिक्तम्)** ज्ञानभाव से शून्यतारूप-अज्ञान से **(एतत्किम्)** यह क्या-कैसा **(यत्तु)** जो कि **(परः-अन्यः)** दूसरा **(पुमान्)** पुरुष **(परस्यततोऽन्यस्य कस्यचिदिष्टानिष्टस्य पुंसः)** विवक्षित पुरुष से भिन्न किसी प्रिय और अप्रिय पुरुष के **(मरणेत्यादिः-मरणं-प्राणवियोजनम्-मरणं च जीवितं च दुःखं च सौख्यम् च तेषां समाहारो मरणजीवितदुःखसौख्यम्)** प्राणवियोग रूप मरण, जोवन, दुःख और सुख को **(कुर्यात्)** कर सकता है अर्थात् **(यो मन्यते हिनस्मि, जीवयामि, दुःखिनं करोमि, सुखिनं करोमि, इति क्रियां निर्मा-पयेत्)** जो मानता है कि मैं मार सकता हूँ, जिन्दा कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ इत्यादि क्रिया को कर सकता या करा सकता हूँ ऐसा दम्भ भरता है **(एतत्-अज्ञानम्)** यह अज्ञान **(अस्ति)** है **(कुतः)** कैसे **(नियतम्-निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(सर्वं-समस्तम्-मरणजीवित दुःख सौख्यम्)** समस्त मरण, जीवन, दुःख और सुख **(सदैव-संसारदशायाम्)** सदा ही-संसार अवस्था में **(भवति-जायते)** होता है **(स्वकीयेत्यादिः-स्वकीयस्यात्मोपार्जितस्य कर्मणः उदयात्-आयुःक्षयेण जीवानां मरणं सत्यायुषि जीवितव्यम् आयुर्हरणाभावात् कथं तत् परेण कृतम्)** अपने द्वारा उपार्जित-सञ्चित कर्म के उदय से अर्थात् आयुकर्म के क्षय से जीवों का मरण होता है तथा आयु कर्म के रहते हुए जीवन होता है क्योंकि आयु का किसी दूसरे के द्वारा हरण होना सम्भव नहीं है। अतएव पूर्वोक्त मरणादि दूसरे के द्वारा किये हुये कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। **(शुभाशुभ कर्मोदयात् सुखदुःखिनः जीवा भवन्ति तत्कर्मदानाभावात् कथं ते तादृशाः कृताः परेणेति भावः)** शुभ-पुण्य और अशुभ पाप-कर्म के उदय से जीव सुखी तथा दुःखी होते हैं। वे पुण्य और पापकर्म किसी दूसरे के द्वारा देने में नहीं आते हैं। अतः दूसरे के द्वारा वे जीव सुखी और दुःखी कैसे किये जा सकते हैं। अर्थात् किसी भी तरह से नहीं।

भावार्थ—संसारी प्राणी के जो कुछ भी जीवन, मरण, सुख, दुःख, यश, अपयश, लाभ, हानि आदि होते हैं वे सब अपने द्वारा उपार्जित पुण्य और पाप रूपकर्मों के उदय के अनुसार ही होते हैं। जो लोग ऐसा कर्त्ता बनने का अहंकार करते हैं कि मैं अपने से भिन्न किसी भो मनुष्य को मार सकता हूँ, जिन्दा कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ यह अज्ञान है अतएव वह अज्ञानी है। वस्तुस्वरूप से सर्वथा अपरिचित हैं अतएव मिथ्यादृष्टि हैं। क्योंकि पर का कर्ता बनना और अहंकार करना अज्ञान-भाव है ॥६॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥

अन्वयार्थ—**(एतत्)** इस-पूर्वोक्त प्रकार के **(अज्ञानम्)** अज्ञान को **(अधिगम्य)** जान करके **(अपि)**

भी (ये) जो जीव (परस्य) दूसरे के (मरणजीवित दुःख सौख्यम्) मरण जीवित दुःख और सुख को (परात्) किसी दूसरे से (कृतम्) किया हुआ (पश्यन्ति) देखते-जानते हैं (ते) वे (मिथ्यादृशः) मिथ्या-दृष्टि जीव (अहङ्कृतिरसेन) अहंकाररूप रस से (कर्माणि) कर्मों को (चिकीर्षवः) करने की इच्छा करने वाले (नियतम्) नियम से (आत्महनः) आत्मा का घात करने वाले (भवन्ति) होते हैं।

सं० टी०—(ते-पुरुषाः) वे पुरुष (नियतम्-निश्चितम्) नियत-निश्चितरूप से (मिथ्यादृशः-मिथ्यादृष्टयः) मिथ्यादृष्टि (भवन्ति-जायन्ते) हैं (किम्भूताः ?) कैसे (आत्महनः-आत्मानं हन्तीति-आत्महनः-स्वरूपघातकाः-स्वस्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात्) स्व – अपने खास स्वरूप के घातक हैं क्योंकि वे अपने खास स्वरूप से विपरीत परिणमन कर रहे हैं (पुनः) फिर (कर्माणि-शुभाशुभानि) शुभ पुण्य और अशुभ-पाप रूप कर्मों को (चिकीर्षवः-स्वसात्कर्तुमिच्छवः) अपने आप में एकमेक करने के इच्छुक हैं (केन ?) किससे (अहङ्कृतिरसेन—मयाऽयं हतो जीवितश्चेत्यादिविकल्पेनाहंकाररसेन) मेरे द्वारा यह मारा गया और जिन्दा किया गया है इत्यादि प्रकार के अहंकार-अभिमानरूप रस से (ते के) वे कौन हैं (ये-नराः) जो मनुष्य (परात्-भिन्नात्) पर-दूसरे से (परस्य-ततोऽन्यस्य) किसी दूसरे के (पश्यन्ति-ईक्षन्ते) देखते हैं (किम् ?) क्या (मरणजीवित दुःखसौख्यम्) मरण, जीवन, दुःख और सुख को (किं कृत्वा) क्या करके (एतत्-पूर्वोक्तम्-मयायं हत इत्यादिविकल्पमज्ञानम्) मेरे द्वारा यह मारा गया इत्यादि पूर्व में कहे गये अज्ञान को (अधिगम्य-प्राप्य) प्राप्त करके अर्थात् निश्चय करके ॥७॥

भावार्थ—निमित्त को कर्त्ता मानना ही अनन्तानुबन्धि का जन्म है। आत्मस्वरूप को जब नहीं जानता है तब शरीर में अपनापना आता है वहां एक शरीर में ही अपनापना नहीं है परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा ८४ लाख योनि में से कोई भी मिल जाती तो वह उसमें अपनापना मान लेता अथवा सबकी सब एक साथ मिल जाती तब सबमें अपनापना आ जाता। इस प्रकार इसके अपनेपने का विस्तार अभिप्राय में अनंत पदार्थों में रहता है, व्यक्तता जो सामने में मौजूद है उसमें हो रही है।

इसी प्रकार जब निमित्त को कर्त्ता मानता है तब अनंतों जीव हैं और अनन्तानंत पुद्गल सब हमारे सुख-दुःख के निमित्त हो सकते हैं अर्थात् सुख-दुःख के कर्त्ता हो सकते हैं इसलिए उन सबके प्रति राग-द्वेष करने का अभिप्राय बन जाता है अर्थात् अनंतानंत पदार्थों के प्रति राग-द्वेष का अभिप्राय बन गया, इस-लिए अनंतानुबन्धि राग-द्वेष है। अपने से भिन्न अनंतानंत पदार्थों के लिए हम निमित्त हो सकते हैं इस-लिए हम उन अनंतानंत पदार्थों का बुरा-भला कर सकते हैं। अतः अभिप्राय में अनंतगुणाकार अभिमान से यह ग्रस्त हो जाता है। यह निमित्त का कर्त्तापना अपने स्वभाव को जानने से और यह मानने से मिटता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को दुःखी-सुखी नहीं कर सकता, राग-द्वेष नहीं करा सकता। सभी द्रव्य अपना-अपना परिणमन करते हैं। एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में निमित्त मात्र होती है परंतु कर्त्ता नहीं हो सकती। अनंतानुबंधि कषाय का सम्बन्ध तीव्र और मंद क्रोधादिक से नहीं है परन्तु कषाय करने के अभिप्राय से है। अन्यथा द्रव्यलिंगी शुक्ललेश्या के धारी के तो अनंतानुबंधि चालू है और

नरक के नारकी सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबन्धि नहीं है यह सम्भव नहीं हो सकता ।

जब वह पर का कर्त्ता अपने को मानता है तो अहंकार से ग्रसित हो जाता है और पर को अपने सुख-दुःख, जीवन-मरण का कर्त्ता मानता है तो राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है। अतः निमित्त को कर्त्ता मानने का सर्वथा निषेध है। कोई कहे कि उपादान रूप से निमित्त को कर्त्ता नहीं मानते परन्तु निमित्त रूप से कर्त्ता माने तो ठीक है कि नहीं ? इसका उत्तर है कि निमित्त निमित्तरूप से कर्त्ता होता ही नहीं वह अपनी परिणति का कर्त्ता है पर का नहीं। निमित्त में तो पर के कर्त्तापने का उपचार किया जाता है जो असत्यार्थ है। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य पर के कर्त्तापने का अहंकार मेटना है जो निमित्त को कर्त्ता मानने से ज्यादा मजबूत होता है।

अगर निमित्त को कर्त्ता माना तो भगवान में भी कर्त्तापना आये बिना नहीं रह सकता जो तत्त्वज्ञान से सर्वथा विपरीत है। यह अज्ञानी का अहंकार कम नहीं है उसकी व्यक्तता के लिए जितना क्षेत्र मिला है वहां तक व्यक्त है अगर और ज्यादा क्षेत्र मिल जावे तो तीन लोक में और अनंत पदार्थों तक फैल सकता है। आचार्यों ने भगवान के कर्त्तापने के निषेध के द्वारा समस्त ही निमित्तों के कर्त्तापने का निषेध किया है ॥७॥

(अथाध्यवसायस्य बन्धहेतुत्वं पापठ्यते) अब अध्यवसाय-कषायरूप अभिप्राय बन्ध का कारण है यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं—

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥८॥

अन्वयार्थ—**(अस्य)** इस **(मिथ्यादृष्टेः)** मिथ्यादृष्टि का **(यः)** जो **(अयम्)** यह **(अज्ञानात्मा)** अज्ञान-स्वरूप **(अध्यवसायः)** अभिप्राय **(दृश्यते)** दिखाई देता है **(विपर्ययात्)** विपर्ययात्—आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण **(सः)** वह **(एव)** ही **(अस्य)** इस मिथ्यादृष्टि के **(बन्ध हेतुः)** बन्ध का कारण **(अस्ति)** है।

सं० टीका—**(अस्य-मिथ्यादृष्टेः)** इस मिथ्यादृष्टि के **(य एव प्रसिद्धः अध्यवसायः—अहं परान् हन्मीत्यादिरूपः परिणामः स एव अध्यवसाय एव)** मैं दूसरों को मारता हूँ इत्यादि रूप जो परिणाम है वह अध्यवसाय ही **(बन्धहेतुः-कर्मबन्धकारणम्)** कर्मबन्ध का कारण **(अस्ति)** है। **(कुतः)** कैसे **(विपर्ययात्-ज्ञानाद्विपर्ययस्वभावत्वात्)** क्योंकि वह अध्यवसाय ज्ञान से विपरीत अज्ञानमय भाव है **(अस्य मिथ्यादृशो-ऽध्यवसायः बन्धहेतुः कथम्)** इस मिथ्यादृष्टि का अध्यवसाय बन्ध का कारण कैसे है ? **(यतः अयं अध्यवसायः-अज्ञानात्मा-अज्ञानमेव आत्मा स्वरूपं यस्य सः)** कारण कि यह अध्यवसाय—अज्ञानस्वरूप है अतएव बन्ध का कारण है **(दृश्यते-अवलोक्यते)** ऐसा दिखाई देता है—समझ में आता है।

भावार्थ—पर को मारने तथा जिन्दा करने का जो अहंकार है वही जीव को मिथ्यादृष्टि सिद्ध करता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह स्वपर स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है अतएव उसके जितने परिणाम हैं वे सब अज्ञानमूलक हैं इसलिए बन्ध के ही कारण हैं यह निश्चय है।

(**अथाध्यवसायमाहात्म्यमारभते**) अब अध्यवसाय के महत्त्व को प्रकट करते हैं—

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥९॥

अन्वयार्थ—(**अनेन**) इस-पूर्वोक्त- (**निष्फलेन**) फल शून्य (**अध्यवसानेन**) अध्यवसान से (**विमोहितः**) मोह को प्राप्त हुआ (**आत्मा**) आत्मा (**तत्**) वह-वैसा (**किञ्चन**) कुछ (**अपि**) भी (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**यत्**) जिसको (**आत्मानम्**) आत्मारूप (**न**) नहीं (**करोति**) करता है।

सं० टीका—(**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तत्-वस्तु**) वह वस्तु (**किञ्चनापि-किमपि, महदल्पं वा**) बड़ी अथवा छोटी कोई भी (**नास्ति-न विद्यते**) नहीं है (**यत्**) जिसे (**आत्मा-जीवः**) जीव (**आत्मानम्-स्वकीयम्**) आत्मा-स्वकीय (**अध्यवसायेनैव**) अध्यवसान से ही (**न करोति-न विधत्ते**) नहीं करता है (**किम्भूतः**) कैसा (**अनेन-हन्मीत्यादिरूपेण**) 'इससे मारता हूँ' इत्यादि रूप (**पूर्वोक्तेन अध्यवसानेन-कषायाध्यवसायेन**) पूर्व में कहे हुए कषायरूप अध्यवसान से (**विमोहितः-मोहं प्राप्तः**) मोह को प्राप्त हुआ (**किम्भूतेन**) कैसे परिणाम से (**निष्फलेन-बन्ध मोक्ष लक्षणफलरहितेन**) बन्ध और मोक्षरूप फल से रहित (**जीवस्य सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावे बन्धमोक्षसद्भावात्**) क्योंकि जीव के सराग तथा वीतराग रूप अपने ही परिणामों के सद्भाव में बन्धमोक्ष का सद्भाव होता है। (**तदभावे-तयोरभावात्**) सराग और वीतरागरूप परिणाम के अभाव में बन्ध और मोक्ष का अभाव होता है। (**अतस्तयोरेव स्वार्थं क्रियाकारित्वम्**) इसलिए उक्त दोनों-सराग और वीतराग भावों को बन्ध और मोक्ष रूप अपने-अपने कार्य को करने की क्षमता है (**अनध्यवसायस्याकिञ्चित्करत्वात्**) क्योंकि अध्यवसाय से शून्य व्यक्ति कुछ भी नहीं करता है।

भावार्थ—बन्ध और मोक्ष परस्पर विरोधी तत्त्व हैं अतः इनके उत्पादक कारण भी एक दूसरे के विरोधी होना ही चाहिए। टीकाकार ने उक्त दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए यह पुष्ट कर दिखाया है कि बन्ध का मुख्य कारण राग भाव है जो वीतराग भाव का नितान्त विरोधी है और मोक्ष का मूल कारण वीतराग भाव है जो रागभाव का तीव्र प्रतिपक्षी है अतः दोनों अपने-अपने कार्य के करने में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अतः जो जीव मोक्षभिलाषी हैं उन्हें चाहिए कि वे रागभाव का त्याग कर वीतराग भाव को प्रश्रय दें तभी उन्हें सर्वतोऽभोष्ट मुक्ति की प्राप्ति अवश्य ही होगी ॥९॥

(**अथ तथाप्यध्यवसायं बीभत्सते**) तो भी अब अध्यवसाय के प्रति ग्लानि का भाव प्रकट करते हैं—

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एषः नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**विश्वात्**) विश्व-समस्त द्रव्यों से (**विभक्तः**) पृथक् (**सन्**) होता हुआ (**अपि**) भी (**आत्मा**) आत्मा-चेतन तत्त्व (**यत्प्रभावात्**) जिसके प्रभाव से (**विश्वम्**) समस्त परपदार्थों को (**आत्मानम्**) आत्मस्वरूप-स्वकीय-अपने (**विदधाति**) करता है-मानता है (**एषः**) ऐसा-यह

(अध्यवसायः) अध्यवसान जिसका **(मोहैक कन्दः)** मोह-अज्ञान स्वरूप राग-द्वेष आदि ही एक अद्वितीय कन्द है वह **(इह)** इस लोक में **(येषाम्)** जिन महात्माओं के **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(ते)** वे **(एव)** ही **(यतयः)** यति-मुनि **(सन्ति)** हैं।

सं० टी०—**(इह-जगति)** इस जगत् में **(त एव प्रसिद्धाः)** वे ही प्रसिद्ध हैं **(यतयः-यतन्ते कर्मादौ-नीति यतयः मुनयः)** जो कर्म-ईर्या समिति आदि रूप प्रशस्त क्रियाओं के करने का यत्न करते हैं वे यति हैं-मुनि हैं **(येषां-यतीनाम्)** जिन यतियों के **(एषः-इदानीमुक्तः)** अभी-अभी कहा हुआ **(अध्यवसायो नास्ति)** अज्ञानता रूप परिणाम नहीं है **(किम्भूतः)** कैसा **(मोहैककन्दः-मोहस्य राग द्वेषस्य-एकः-अद्वितीयः कन्दः-मूलकारणम्-यः-सः)** जो राग-द्वेषरूप मोह का अद्वितीय-असाधारण कारण है वह **(मोहनीयकर्मोत्पादकत्वात्)** क्योंकि वह मोहनीय कर्म का उत्पादक है **(हीति-स्फुटम्)** हि-यह अव्यय स्फुट अर्थ में आया है अर्थात् स्फुटरूप से **(यत्प्रभावात्-यस्य अध्यवसायस्य प्रभावः माहात्म्यं तस्मात्)** जिस अध्यवसाय-अज्ञानरूप परिणाम के माहात्म्य से **(विश्वं-चेतनाचेतनं—लोकालोकं शुभाशुभं-चराचरम्)** चेतन और अचेतन, लोक और अलोक, शुभ और अशुभ, चर और अचर रूप विश्व को **(आत्मानम्-स्वकीयम्)** आत्मरूप-अपना **(करोति विधत्ते)** करता है-समझता है **(यथा हिंसाध्यवसायात् हिंसकः तथा विपच्यमान नारक तिर्यङ्मनुष्यदेव पुण्यपापाध्यवसायान्नारकं तिर्यञ्चम्-मनुष्यं देवं पुण्यं पापं चात्मानं करोति)** जैसे हिंसा के अभिप्राय से आत्मा हिंसक होता है वैसे ही विपच्यमान-उदयागतरूप से अनुभव में आने वाले नारक तिर्यंच मनुष्य देव, पुण्य और पापरूप अध्यवसाय-परिणामों से यह आत्मा अपने को नारक तिर्यंच मनुष्य देव पुण्य और पापरूप मान बैठता है **(किम्भूतः)** कैसा **(विश्वात्-चेतनाचेतनादिपदार्थात्)** चेतन और अचेतन आदि पदार्थों से **(विभक्तोऽपि-भिन्नोऽपि)** भिन्न होता हुआ भी अथवा जुदा है तो भी **(तदध्यवसायवशात्तन्मयोभवति)** पूर्वोक्त अभिप्राय के वश से तद्रूप होता है **(विश्वशब्दस्य-त्रिलोकार्थवाचकत्वाभावात् चेतनादि पदार्थ वाचकत्वाच्च न सर्वादिगणत्वम्)** विश्व शब्द तीन लोक रूप अर्थ का वाचक न होने से तथा चेतनादि पदार्थों का वाचक होने से सर्वादिगण का नहीं है।

भावार्थ—वस्तुतः यह आत्मा सभी चेतन और अचेतन पदार्थों से स्वरूपतः सर्वथा पृथक्-जुदा है परन्तु अज्ञानी मिथ्याध्यवसाय के वशीभूत हो उन समस्त चेतन और अचेतन पदार्थों को अपने ही मानता है यहां तक कि जड़ शरीर को भी आत्मस्वरूप समझता है यह सब मिथ्याध्यवसाय का ही महत्त्व है। वस्तु तो जैसी है वैसी ही है परन्तु अज्ञानी अपने मिथ्या अध्यवसाय की सामर्थ से तीन लोक को अपने रूप कर लेता है उस अध्यवसाय की सामर्थ तीन लोक तक व अनंत जीव पुद्गलों में राग-द्वेष करने तक फैलने की है व्यक्तता जितना मौका मिलता है उतनी होती है। बंध तो सामर्थ के अनुसार पड़ता है। जिन्होंने इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपने को पहिचाना है वे ही सच्चे साधु हैं, मुनि हैं, यति हैं और हैं ऋषि।

(अथाध्यवसायस्य व्यावहारिकत्वं व्यवहरति) अब अध्यवसाय की व्यवहारिकता सिद्ध करते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।

सम्यक्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जिस कारण से (**जिनैः**) जिनेन्द्र देव ने (**सर्वत्र**) सभी पदार्थों में (**अखिलम्**) समस्त (**अध्यवसानम्**) अध्यवसान को (**त्याज्यम्**) त्यागने योग्य (**एव**) ही (**उक्तम्**) कहा है (**तत्**) तिस कारण से (**अहम्**) मैं (**मन्ये**) मानता हूँ कि (**अन्याश्रयः**) पराश्रित (**निखिलः**) समस्त (**अपि**) ही (**व्यवहारः**) व्यवहार (**एव**) मात्र (**त्याजितः**) छुड़ा दिया है। (**तत्**) तव फिर (**अमी**) ये (**सन्तः**) सत्पुरुष (**एकम्**) एक-अद्वितीय (**सम्यक्निश्चयम्**) शुद्ध निश्चय नय को (**एव**) ही (**निष्कम्पम्**) निश्चल रूप से (**आक्रम्य**) प्राप्त करके (**निजे**) अपने (**महिम्नि**) महान् महिमा वाले (**शुद्धज्ञानघने**) निर्मल ज्ञानसमूह में (**धृतिम्**) धैर्य-स्थिरता को (**किम्**) क्यों (**न**) नहीं (**बध्नन्ति**) धारण करते हैं।

सं० टीका—(**जिनैः-केवलज्ञानिभिः**) जिन-केवल ज्ञानियों ने (**उक्तं-प्रतिपादितम्**) प्रतिपादन किया है (**किम्**) क्या ? (**सर्वत्र-निखिलपरवस्तुनि**) सभी परवस्तुओं में (**यत्**) जो (**अखिलं-समस्तमेव**) सारे का सारा (**अध्यवसानं-व्यवसायः**) पर को अपना माननेरूप व्यवहार (**त्याज्यं त्यजनीयम्**) त्यागने योग्य है (**तत्-व्यवसायहापनम्**) वह व्यवहार का छुड़ाना (**मन्ये-अहम् जाने**) मैं जानता हूँ (**निखिलोऽपि-समस्तोऽपि**) समस्त-सब का सब (**व्यवहार एव-व्यवहारनय एव**) व्यवहार नय ही (**त्याजितः**) छुड़ा दिया है (**हेतु गर्भित विशेषणमाह**) हेतुगर्भित विशेषण-जिसके मध्य में हेतु पड़े हुए हैं ऐसे विशेषण को कहते हैं (**अन्याश्रयः-पराश्रितः-निश्चयनयेन पराश्रितमध्यवसायं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहार नय एव प्रतिषिद्धः**) निश्चयनय से-पराश्रित अध्यवसाय-पराधीन विचारधारा को बन्ध का कारण होने से मुमुक्षु-मुक्ति होने की इच्छारखने वालों के लिए निषेध करने वाले भगवान ने व्यवहार मात्र का निषेध कर दिया है (**तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्**) क्योंकि वह सारा ही व्यवहार पराधीन ही है (**तत्-तर्हि**) तो (**किं कर्तव्यम्**) क्या करना चाहिए ? (**अमी-एते**) ये (**सन्तः-सत्पुरुषाः**) महापुरुष (**निजे-आत्मीये**) आत्मीय-अपने (**महिम्नि-माहात्म्ये**) महत्त्व में (**धृतिं-सन्तोषम्**) सन्तोष को (**स्थिरतां वा**) अथवा स्थिरता को (**किम्-किम्**) क्यों (**न**) नहीं (**बध्नन्ति**) बांधते हैं (**अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः**) किन्तु बांधते हैं (**किम्भूते**) कैसे ? (**शुद्धज्ञानघने-कर्ममलकलङ्करहित बोधनिरन्तरे**) कर्ममलरूप कलङ्क से रहित अविनश्वर ज्ञान में (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**आक्रम्य-सम्प्राप्य**) अच्छी तरह से प्राप्त करके (**किम्**) क्या (**एकम्-अन्यनिरपेक्षम्**) अन्य की अपेक्षा से रहित अतएव एक-अद्वितीय (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**सम्यग्निश्चयम्-शुद्धनिश्चय-नयम्**) शुद्ध निश्चय नय को (**किम्भूतम्**) कैसे (**निष्कम्पम्-अचलम्**) निश्चल (**स्वरूपे स्थिरत्वात्**) स्वरूप में स्थिरता होने से।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्र प्रभु ने समस्त पर पदार्थों में "अहंपने-ममता" का परित्याग कराया है इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने पराधीन सारा व्यवहार ही छुड़ा दिया है और शुद्ध ज्ञानस्वरूप

आत्मा में ही स्थिर रहने का उपदेश दिया है। व्यवहार की प्रवृत्ति संयोग में, विकार में और भेद के द्वारा होती है वह समस्त ही पराश्रित होता है अतः समस्त पराश्रितपने को छुड़ाकर स्वाश्रित बनने को कहा है पराश्रितपना ही संसार है। आचार्यश्री ने सत्पुरुषों का आत्मिक स्वरूप में निमग्न न होने का महान् आश्चर्य प्रकट करते हुए उस ओर अग्रसर होने की हार्दिक प्रेरणा की है।

(**अथ रागादीनां किं कारणम् ? इति साक्षेपं प्रश्नोत्तरं पद्यद्वयेन निर्मिमीते**) अब राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति का कारण क्या है ? इस प्रकार के आक्षेप के साथ किये गये प्रश्न का दो पद्यों द्वारा उत्तर देते हैं—

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्तेशुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो (**रागादयः**) राग-द्वेष आदि (**बन्धनिदानम्**) बन्ध के कारण (**उक्ताः**) कहे गये हैं (**ते**) वे रागादि (**शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मिक तेज से बिलकुल ही जुदे (**सन्ति**) हैं। (**तन्निमित्तम्**) उन रागादि का निमित्त (**किमु**) क्या (**आत्मा**) आत्मा (**अस्ति**) है (**वा**) अथवा (**परः**) आत्मा से भिन्न कोई दूसरा (**इति**) इस प्रकार से (**प्रणुन्नाः**) प्रेरणा किये गये—अर्थात् पूछे गये (**पुनः**) फिर से (**एवम्**) इस प्रकार से (**आहुः**) कहते हैं अर्थात् उत्तर देते हैं।

सं० टीका—(**इति-साक्षेपम्**) आक्षेप सहित (**प्रणुन्नाः-शुद्धनयावलम्बिनः-पृष्टाः सन्तः**) पूछे गये शुद्ध नय का अवलम्बन करने वाले ज्ञानी आचार्य महाराज (**पुनः-भूयः**) फिर से (**एवं अग्रे वक्ष्यमाणम्**) इस प्रकार से—आगे कहे जाने वाले (**परं-उत्तरम्**) श्रेष्ठ उत्तर को (**आहुः-कथयन्ति**) कहते हैं (**इति किम्**) वह कैसा (**ते-प्रसिद्धाः**) वे-प्रसिद्ध (**रागादयः-रागद्वेषमोहाः**) राग-द्वेष मोह (**बन्धनिदानम्-कर्मबन्धकारणम्**) कर्म बन्ध के कारण (**उक्ताः-प्रतिपादिताः**) प्रतिपादन किये गये हैं (**किम्भूतास्ते**) वे कैसे ? (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धचिदेव मात्रा प्रमाणं यस्य तत् तच्च तन्महः परमज्योतिः तेन तस्माद्वा**) शद्ध चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट तेज से (**अतिरिक्ताः-भिन्नाः**) भिन्न-जुदे (**तन्निमित्तं-रागादीनां-निमित्तं-उत्पादककारणम्**) उन रागादि की उत्पत्ति के कारण (**किमु-अहो**) क्या है ? (**आत्मा-चेतनः**) चैतन्य आत्मा (**रागादीनामुत्पादकः**) राग आदि का उत्पादक-उत्पन्न करने वाला है (**वा**) अथवा (**परः-पुद्गलः**) आत्मा से पर-भिन्न-पुद्गल (**तद्धेतुः**) उन राग आदि की उत्पत्ति का कारण (**अस्ति**) है (**इत्युक्ते**) ऐसा कहने पर (**आहुः**) उत्तर में कहते हैं—

भावार्थ—कोई शिष्य जिज्ञासु-जानने की इच्छा वाला आचार्यश्री से प्रश्न करता है कि आपने पूर्व में बन्ध के मूल कारण रागादि कहे हैं और यह भी कहा है कि वे रागादि विभाव भाव चितविकार होते हुए भी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के नहीं है क्योंकि वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप में नहीं पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनका निमित्त कौन है ? आत्मा है कि आत्मा से अलग कोई दूसरा पदार्थ है ?

आचार्य उक्त प्रश्न का उत्तर नीचे के श्लोक में दे रहे हैं—

न जातुरागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव-वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**आत्मनः**) अपने (**रागादिनिमित्तभावम्**) रागादि के निमित्त भाव को (**जातु**) कभी (**न**) नहीं (**याति**) प्राप्त होता (**यथा**) जैसे (**अर्ककान्तः**) सूर्यकान्तमणि। अर्थात्—सूर्य कान्तमणि स्वयं ही अग्निरूप नहीं होता है किन्तु उसमें सूर्य का निमित्त होता है। वैसे ही (**तस्मिन्निमित्तम्**) रागादि में निमित्त (**परसङ्गः**) पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध (**एव**) ही (**अस्ति**) है। (**अयम्**) यह (**वस्तुस्वभावः**) वस्तु का स्वभाव (**उदेति तावत्**) सदा उदय को प्राप्त है।

सं० टी०—(**जातु-कदाचित्**) कभी (**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य आत्मा (**आत्मनः-स्वस्य**) अपने (**रागेत्यादिः-रागादीनां रागद्वेषमोहानाम्**) राग-द्वेष मोह के (**निमित्तभावम्-उपादानकारणत्वम्**) निमित्तभाव को उपादान कारण होने से (**न**) नहीं (**याति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**तर्हि तन्निमित्तम्**) तो उन रागादि का निमित्त (**किम्**) क्या (**अस्ति**) है? (**तस्मिन्-आत्मनि**) उस आत्मा में (**परसङ्गः-परेषां पुद्गलादीनां सङ्गः-संयोगः**) पुद्गलादि परद्रव्यों का संयोग-सम्बन्ध (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तन्निमित्तं-तेषां रागादीनां निमित्तं कारणम्**) उन रागादि का कारण (**अस्ति**) है (**इममेवार्थमुपमीयते**) इस ही अर्थ को उपमा देकर प्रकट करते हैं (**अर्ककान्तः-स्फटिकोपलः**) अर्ककान्त-सूर्यकान्त-स्फटिकमणि (**यथा-इव**) जैसे (**तथाहि**) वैसे हो (**यथा स्फटिकोपल परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव रागादिनिमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य रागादिभिः परिणम्यते**) जैसे स्फटिकमणि परिणमनशील है तो भी शुद्धस्वभाव से स्वयम विकार रूप परिणमन नहीं करता है क्योंकि वह विकार का निमित्त नहीं है किन्तु विकार के निमित्तभूत परद्रव्य के द्वारा ही अपने खास स्वरूप से च्युत कराकर विकाररूप से परिणमन कराया जाता है। (**तथा केवलः-आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव तन्निमित्तभूतेनस्वस्वरूपात्प्रच्याव्य तैः परिणम्यते**) वैसे आत्मा परिणाम स्वभावरूप है तो भी रागादि का निमित्त नहीं है क्योंकि वह स्वतः ही रागादिरूप परिणमन नहीं करता है किन्तु रागादि के निमित्तभूत पुद्गलादि परद्रव्य के द्वारा ही अपने असली स्वरूप से पतित करके रागादि रूप से परिणमन कराया जाता है। (**इति**) ऐसा (**तावत्-प्रथमम्**) सबसे पहले (**अयं पूर्वोक्त एव वस्तुस्वभावः**) यह पूर्व में कहा हुआ वस्तु का स्वभाव ही (**समस्तं वस्तुस्वरूपम्**) समस्त वस्तु के स्वरूप को (**उदेति**) प्रकट करता है। (**उदयं-गच्छति**) वस्तु का स्वरूप उदय को प्राप्त करता है।

भावार्थ—किसी भी द्रव्य का स्वभाव स्वयं ही प्रकट होता है किसी दूसरे के द्वारा प्रकट नहीं किया जाता है। हां, विभाव की उत्पत्ति में परद्रव्य का अवलम्बन कारण होता है क्योंकि बिना पर के अवलम्बन के विभाव भाव नहीं होते हैं। विभाव भाव भी दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन रूप और एक अचेतन रूप। चेतनरूप आत्मा के विभाव हैं जो पुद्गल द्रव्य के निमित्त से बनते और बिगड़ते हैं। अचेतनरूप विभाव रागादि आत्मा की रागरूप परिणति के निमित्त से पुद्गल में बनते और बिगड़ते हैं। दोनों ही संयोजक भाव हैं अतएव क्षणनश्वर हैं अनित्य हैं।

(अथ ज्ञानिनस्तदकर्तृकत्वमुद्भावति) अब ज्ञानी उन रागादि भावों का कर्ता नहीं है यह प्रकट करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादींनात्मनः कुर्यान्नतो भवति कारकः ॥१४॥

अन्वयार्थ—**(इति)** पूर्वोक्त प्रकार के **(स्वम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्)** वस्तुस्वभाव को **(ज्ञानी)** ज्ञानी **(जानाति)** जानता है **(तेन)** इसलिए **(सः)** वह **(रागादीन्)** राग-द्वेष आदि को **(आत्मनः)** निज रूप **(न)** नहीं **(कुर्यात्)** करता है **(अतः)** अतः **(कारकः)** रागादि का कारक–करने वाला **(न)** नहीं **(भवति)** होता है ।

सं० टीका— **(इति-पूर्वोक्तप्रकारेण)** पूर्व में कहे अनुसार **(ज्ञानी-पुमान्)** ज्ञानी-वस्तुस्वरूप का ज्ञाता पुरुष **(स्वम्-आत्मीयम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्-रागादि व्यतिरिक्तं स्ववस्तुस्वरूपम्)** रागादि शून्य-अर्थात् रागादि से पृथक् अपनी आत्मा के असली स्वरूप को **(जानाति-वेत्ति)** जानता है **(येन-कारणेन वेत्ति तेनैव-कारणेन)** जिस कारण से जानता है तिस कारण से ही **(सः-ज्ञानी)** वह ज्ञानी **(रागादीन्)** राग आदि को **(आत्मनः-स्वस्य)** अपने **(न कुर्यात्-स्वसात्-न करोति)** रूप नहीं करता है । **(यतः)** जिससे **(अतः)** इससे **(कारकः-कर्मणां कर्ता न भवति)** कर्मों का कर्ता नहीं होता है ॥१४॥

भावार्थ—ज्ञानी वस्तुतः अपने ज्ञानादि भावों का ही कर्ता होता है । क्योंकि वे उसके स्वभाव भाव है । जैसा ज्ञान के साथ आत्मा का एकपना है वैसा रागादि के साथ नहीं है । ज्ञान के अभाव में– आत्मा का अभाव है परन्तु रागादि के अभाव में आत्मा का अभाव नहीं है । अतः शुद्धदृष्टि में आत्मा अपने ज्ञानदर्शन का ही कर्त्ता है । रागादि तो पर्याय में होने वाले कर्मसापेक्ष विकारी भाव हैं । राग-द्वेष मोह आदि कर्मजनित संयोजक भाव हैं उनका कर्ता एकमात्र अज्ञानी ही होता है । ज्ञानी तो उनका मात्र ज्ञाता ही है कर्ता नहीं । क्योंकि परद्रव्य का कर्ता वही परद्रव्य होता है जिसका वह भाव है उससे भिन्न कोई भी द्रव्य उसका कर्ता नहीं होता है यह वस्तुगत स्वभाव है जो त्रिकाल अबाधित है, अपरिहार्य है और हैं अखण्डनीय ।

(अथाज्ञानं स्फूर्जति) अब अज्ञान का वर्णन करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१५॥

अन्वयार्थ—**(इति)** पूर्वोक्त प्रकार के **(स्वम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्)** रागादि से भिन्न आत्मपदार्थ के स्वभाव को **(अज्ञानी)** अज्ञानी **(न)** नहीं **(वेत्ति)** जानता है **(तेन)** इसलिए **(सः)** वह **(रागादीन्)** राग-द्वेष आदि को **(आत्मनः)** अपने **(कुर्यात्)** करता है **(अतः)** अतः **(कारकः)** रागादि का करने वाला **(भवति)** होता है ।

सं० टीका—(इदं-पद्यम्-पूर्वतो विपर्यस्तं व्याख्येयं सुगमं च) यह पद्य पूर्व पद्य से सर्वथा विपरीतार्थक है अतएव उससे बिलकुल विपरीत रूप से व्याख्या करने योग्य है और सरल है।

भावार्थ—स्वपर स्वरूप का ज्ञान न होने से अज्ञानी रागादि को अपने मानता है अतएव उनका कर्त्ता बन जाता है। जैसा ज्ञानी के साथ ज्ञान का एकपना है अत: वह ज्ञान का कर्त्ता है वैसा ही अज्ञानी का विकारी भावों के साथ एकपना है अत: वह उनका कर्त्ता बन जाता है ॥१५॥

(अथ परद्रव्यमुद्धर्तु कामं समभिष्टौति) अब परद्रव्य का परित्याग करने की इच्छा करने वाले की प्रशंसा करते हैं—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१६॥

अन्वयार्थ—(इति) पूर्वोक्त प्रकार से (आलोच्य) अच्छी तरह विचार करके (किल) निश्चय से (तत्) उस (समस्तन्) समस्त (परद्रव्यम्) परपदार्थ को (विवेच्य) अपने से पृथक् करके (तन्मूलाम्) पर द्रव्यमूलक (इमाम्) इस (बहुभाव सन्ततिम्) विविध प्रकार के रागादि रूप भावों की परिपाटी को (बलात्) बल पूर्वक (समम्) एक साथ (उद्धर्तुकामः) उद्धार-दूर करने की इच्छा वाला (एषः) यह (भगवान्) भगवान (आत्मा) आत्मा (येन) जिस ज्ञान से (उन्मूलितबन्धः) मूल से ही बन्धन को उखाड़ फेंका है (तेन) उस ज्ञान से (निर्भरवहत्पूर्णैकसंवित् युतम्) अत्यन्त रूप से एक संवेदन से युक्त परिपूर्ण अद्वितीय ज्ञान से सहित (आत्मानम्) आत्मा को (समुपैति) प्राप्त करता है (अतएव) और (आत्मनि) आत्मा में-अपने ही स्वरूप में (स्फूर्जति) स्फुरायमान-प्रकाशमान रहता है।

सं० टीका—(एषः-सः) यह (आत्मा-चिद्रूपः) चैतन्य स्वरूप (कर्ता) कर्ता (आत्मनि-स्वस्वरूपे अधिकरणभूते) आधारभूत अपने आत्मस्वरूप में (स्फूर्जति-गर्जति-प्रकटीभवति वा) स्फुरायमान रहता है अथवा प्रकट रहता है। (किम्भूतः ?) कैसा (उन्मूलितबन्धः-उन्मूलितनिराकृतो बन्धो येन सः) जिसने बन्ध का उन्मूलन-निराकरण कर दिया है अर्थात् जो बन्ध रहित है (सः) वह (पुनः) फिर (भगवान्-ज्ञानवान्) भगवान् ज्ञानवान् (पुनः) फिर (कीदृक्षः) कैसा (बलात्-ध्यानादिलक्षणात् ठात्) बल-ध्यान आदि स्वरूप-हठ से (इमां-प्रसिद्धाम्) इस-प्रसिद्ध (बह्वित्यादिः-बहूनां भावानां-विभावपरिणामानां सन्ततिः-परम्परा ताम्) बहुत से राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि विभाव भावों की परम्परा को (रागद्वेषमोहपरम्परामित्यर्थः) अर्थात् राग-द्वेष मोह रूप विभावों की परम्परा को (समम्-युगपत्) एक साथ (उद्धर्तुकामः-उद्धर्तुं निराकर्तुं कामः वाञ्छा यस्य सः) निराकरण करने की इच्छा वाला (कुतः) किससे (स्वस्मात्-इत्यनुक्तमप्यपादानं ज्ञेयम्) अपने से—यहां नहीं कहा हुआ-स्वस्मात्—यह अपादान पद उपस्कार से ग्रहण

किया गया है ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् स्वयं-आत्मा से (**किम्भूताम्**) कैसी (**तन्मूलाम्-तदेव परद्रव्य-मेव तस्यैव वा मूलं कारणं या ताम्**) वह पर द्रव्य ही जिसका कारण है। अथवा जो परद्रव्य का ही मूल कारण है (**सः कः**) वह कौन (**येन-ज्ञानरूपेण करणभूतेन**) करणरूप जिस ज्ञान से (**आत्मानं-कर्मतापन्नम्**) कर्मत्व को प्राप्त-आत्मा को (**समुपैति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**किम्भूतं-तम्**) कैसी उस आत्मा को (**निर्भरेत्यादिः-निर्भरेण अतिशयेन-वहन्ती-समस्तवस्तुग्रहणाय प्रवर्तमाना सा चासौ पूर्णा अखण्डा सा चासा वेका संवित्-ज्ञानं तया युतं संयुतम्**) अतिशय रूप से समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति करने वाले परिपूर्ण ज्ञान से सहित (**किं कृत्वा**) क्या करके (**किलेति निश्चितम्**) निश्चित रूप से क्योंकि किल यह अव्यय निश्चित अर्थ में आया है (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह-प्रसिद्ध (**समग्रं-निखिलम्**) समस्त (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य (**कस्येत्याकांक्षायाम्-**) किसके-ऐसी आकांक्षा में (**स्वस्येतिसम्बन्धोऽनुक्तोऽप्यूह्यः**) 'स्वस्य' इस पद का सम्बन्ध यद्यपि नहीं कहा गया है तो भी समझ लेना चाहिए अर्थात् अपने से (**विवेच्यपृथक्कृत्य**) पृथक् करके (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्व में कहे अनुसार (**आलोच्य-सम्यग्विचार्य**) भले प्रकार विचार-विमर्श करके (**किमर्थम्**) किस लिए (**स्वस्मै**) अपने लिए (**इत्यप्यत्रज्ञेयम्**) यह भी यहां जानना चाहिए ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का निमित्त राग-द्वेष मोह आदि भाव कर्म हैं तथा भावकर्मों का कारण द्रव्य कर्मों का उदय है। इस प्रकार से इन दोनों में परस्पर में निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है। यह निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध अनादितः प्रवाह रूप से चलता चला आ रहा है। इसका मूलकारण पर-द्रव्य का संयोग है। अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है क्योंकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से अन्धा बना हुआ है। हां, ज्ञानी-स्वपर विवेकी जब अन्तर्मुखो दृष्टि से देखता है तब उसे यह स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि राग-द्वेष आदि का मूल कारण पर-पुद्गल-द्रव्य का संयोग है यदि इस संयोग का जड़मूल से उन्मूलन कर दिया जाय तो निस्सन्देह आत्मा आत्मस्वरूप में सदा के लिए निमग्न हो जाय। अतः ज्ञानी अपनी ज्ञानशक्ति से उक्त पर द्रव्य को आत्मा से जुदा करने की तीव्र अभिलाषा ही नहीं करता है प्रत्युत् ध्यानादि के द्वारा बलपूर्वक उसे दूर कर एकमात्र आत्मस्वरूप में ही रत हो जाता है जो ज्ञानी का मुख्य लक्ष्य था ॥१६॥

(**अथ रागादीनां दारकत्वं दिशति**) अब ज्ञानी राग-द्वेष मोह का विदारण करने वाला है यह दिखाते हैं—

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञान ज्योतिः क्षपिततिमिरं साधुसन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**क्षपिततिमिरम्**) अज्ञानान्धकार का विनाशक (**रागादीनाम्**) राग-द्वेष आदि (**कार-**

नानाम्) कारणों के (**उदयम्**) उदय को (**अदयम्**) निर्दयता पूर्वक (**दारयत्**) विदारण करने वाला (**ज्ञानज्योतिः**) ज्ञानरूप प्रकाश (**अधुना**) इस समय (**विविधम्**) नाना प्रकार के (**बन्धम्**) बन्धरूप (**कार्यम्**) कार्य को (**सद्यः**) शीघ्र (**एव**) ही (**प्रणुद्य**) विनाश करके (**एतत्**) यह ज्ञानरूप महाज्योति (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**सन्नद्धम्**) सज्ज हुई (**तद्वत्-यद्वत्**) ऐसी सज्ज हुई कि (**अपरः**) दूसरा (**कः**) कोई (**अपि**) भी (**अस्य**) इस ज्ञानज्योति के (**प्रसरम्**) विस्तार को (**न**) नहीं (**आवृणोति**) आवरण कर सकता है।

सं० टीका—(**तद्वत्-तथा**) उस प्रकार से (**एतत्**) यह (**ज्ञानज्योतिः-बोधतेजः**) ज्ञान का प्रकाश (**अपरम्-न विद्यते परं अन्यत्-यस्य तत्**) जिसमें किसी दूसरे का सद्भाव नहीं है ऐसे (**प्रसरम्-प्रस्तारं-विस्तारम्**) विस्तार को (**यातीत्याध्याहार्यम्**) प्राप्त करता है। यहाँ 'याति' इस क्रिया पद का अध्याहार करना चाहिए। (**यद्वत्-यथा**) जैसे-जिस प्रकार से (**अस्य-ज्ञानज्योतिषः**) इस ज्ञानरूप प्रकाश के (**विस्तरम्**) विस्तार को (**कोऽपि अपरः कर्मादिः**) कोई दूसरा कर्म आदि (**नावृणोति-नाच्छादयति**) आवरण-आच्छादन न करे। (**कीदृक्षम्-तत्**) वह ज्ञानरूप प्रकाश कैसा ? (**क्षपिततिमिरम्-क्षपितं-निराकृतं तिमिरं-अज्ञानम्-येन तत्**) जिसने अज्ञानरूप तिमिर का निराकरण कर दिया है (**अपरमपि ज्योतिः नाशितान्धकारम्**) दूसरा जड़ प्रकाश भी जड़रूप अन्धकार का विनाशक होता है। (**पुनः**) फिर (**साधुसन्नद्धम्-साधुभिः-योगीश्वरैः**) योगीश्वरों के द्वारा (**पक्षे-सत्पुरुषैः**) पक्षान्तर में सज्जनों द्वारा (**सन्नद्धम्-आरूढम्**) प्राप्त किया गया पक्षान्तर में प्रशंसा किया गया-अर्थात् (**स्तुतं च साधुभिः स्तूयमानत्वाज्ज्योतिषः**) साधु मुनिजनों के द्वारा ज्ञान ज्योति की स्तुति-प्रशंसा की जाती है (**पुनः**) फिर (**रागादीनां-रागद्वेषमोहानाम्**) राग-द्वेष मोह के (**उदयम्-प्राकट्यम्**) उदय-प्रकट रूप से फलदान शक्ति को (**अदयं-निर्दयं यथा भवति तथा**) निर्दयतापूर्वक (**भवति तथा**) जैसे बने वैसे (**सद्य एव तत्कालमेव**) तत्काल ही-उसी समय (**दारयत्-विदारणं कुर्वत्**) विदारण करता हुआ (**अन्यदपि ज्योतिः**) दूसरा प्रकाश भी (**प्रातर्जानां रागादीनां दारकमित्युक्तिलेशः**) प्रातःकाल में उत्पन्न होने वाले राग-लालिमा-ललाई आदि का विनाशक होता है यह इस कथन का तात्पर्यार्थ है। (**किं कृत्वा**) क्या करके (**अधुना-इदानीम्**) इस समय (**विविधं-प्रकृतिस्थित्यनुभागादि भेदे-नानेकविधम्**) प्रकृति-स्थिति और अनुभाग आदि के भेद से अनेक प्रकार के (**बन्धम्**) बन्ध को (**प्रणुद्य-निराकृत्य**) निराकरण करके—(**किम्भूतम्**) कैसे बन्ध को (**कारणानां-उपादानरूपपुद्गलानाम्**) कारण-उपादान कारणरूप पुद्गलों के (**कार्यं-फलम्-कर्मरूपम्**) कर्मरूप फल को।

भावार्थ—जैसे पौद्गलिक प्रकाश पौद्गलिक अन्धकार को नष्ट कर देता है वैसे ही आत्मिक ज्ञान-प्रकाश आत्मिक अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देता है। आशय यह है कि दर्शनमोहनीय कर्म के सम्बन्ध से आत्मा का ज्ञान-अज्ञान-विपरीत ज्ञान हो जाता है। उसकी विपरीतता का विनाश भी ज्ञान से ही होता है। अतएव जब आत्मा स्वयं ही ज्ञान की स्थिति में आता है तब अज्ञान का कारण मिथ्यात्व का विनाश करके ही आता है। पश्चात् जो चारित्रमोहनीय कर्म सम्बन्धी राग-द्वेष आदि बन्ध के कारण शेष रह

जाते हैं। ज्ञानी उनका भी विनाश करने में सतत् प्रयत्नशील रहता है। उनका विनाश कर चुकने पर पूर्वसञ्चित कर्मों का भी विनाश करता है जो बन्ध के कार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार से ज्ञानी तब तक ज्ञानप्रकाश के विस्तार में सोद्यम रहता है जबतक कि वह पूर्णरूप से आवरण रहित नहीं हो जाता है।

आठ कर्मों में मोह कर्म ही रागादिक रूप परिणमन में निमित्त होता है और उस रागादि के परिणमन से ही आठों कर्मों का बंध होता है। इसलिए यही विचार करना है कि जब मोह कर्म का उदय है तब रागादिक परिणमन होगा ही ऐसा मानकर जीव अपने पुरुषार्थ से वंचित हो रहा है उसका क्या उपाय है ? करणानुयोग में जो कथन है वह अज्ञानी की अपेक्षा है। जैसे एक लकड़ी पानी के बहाव में पड़ी है उसका अपना कोई पुरुषार्थ नहीं है पानी जिधर ले जाता है, जोर से, अथवा धीरे से उधर ही चलती रहती है। ऐसी ही दशा अज्ञानी की है जैसा कर्म का उदय है उस रूप परिणमन करता जा रहा है कभी तीव्र आता है तब तीव्ररूप, कभी मंद आता है तब मंदरूप। जब ज्ञानी हो जाता है अपने स्वभाव को समझता है तब मोह कर्म का खिचाव तो कर्म की अपनी तरफ होता है। परन्तु आत्मा अपना पुरुषार्थ करके अपना झुकाव अपने स्वभाव की तरफ लगाता है तब कर्म के खिचाव में से जीव का जितना पुरुषार्थ अपने स्वभाव की तरफ लगा उतना कम होकर बाकी का ही विभाव परिणमन होता है। अज्ञानावस्था में जिधर कर्म का खिचाव था उधर ही अज्ञानी की भी जाने की रुचि थी अत: कर्म का खिचाव और आत्मा का खिचाव दोनों मिलकर विभाव होता था शास्त्री भाव में इसको उदीरणा कहते हैं और पहले को उदयाभावी क्षय कहते हैं। कर्म तो फल देने को आया परन्तु जीव लेने को तैयार नहीं था। यह तभी सम्भव होता है जब यह स्वभाव का आश्रय ले—कर्म का आश्रय न ले। गुणस्थानों के अनुसार जितना फल लेना पड़ा उतना उदय कहलाया बाकी का उदयाभावी क्षय कहलाया। इस प्रकार आत्मा की यहाँ भी स्वतंत्रता रही, जितना आत्मबल था उतना उदयाभावी क्षय और जितनी आत्मबल की कमी उतना खिचाव कहे अथवा विभाव परिणमन कहे अथवा कर्म का उदय कहे। इसी वजह से पंचास्तिकाय प्रवचनसार और समयसार में कई जगह आचार्यों ने कहा है कि द्रव्यमोह का उदय होते हुए भी जीव भावमोह रूप न परिणमन करे। परन्तु कितना ? गुणस्थानों के अनुसार ही आत्मबल होगा। गृहस्थ चौथे गुणस्थान वाला बिल्कुल भी राग-द्वेष रूप परिणमन न करे—ऐसा नहीं हो सकता वैसा आत्मबल श्रेणी माण्डे हुए मुनि में ही हो सकता है। इसी प्रकार से सर्वार्थसिद्धि की टीका में लिखा है कि द्रव्यादि निमित्त के वश से कर्मों की फल प्राप्ति, वह उदय है। यहाँ पर जितना फल मिला उतना उदय कह रहे हैं। यह नहीं कहा है कि जितना उदय उतनी फल प्राप्ति। इससे सिद्ध होता है कि देने वाला देने को आया परन्तु लेने वाले ने जितना लिया उतना उदय बाकी का उदयाभावी क्षय हो गया अर्थात् बिना फल दिए निर्जर गया।

जितने उदाहरण दिये जाते हैं सब पुद्गल के दिये जाते हैं उसमें अपना निज में पुरुषार्थ करने की बात लागू नहीं होती जैसा निमित्त मिलता है वैसा नैमेत्तिक कार्य हो जाता है। परन्तु जीव में अपनी निज की पुरुषार्थ शक्ति है वह चाहे तो निमित्त बनावे चाहे तो कम या ज्यादा अथवा नहीं बनावे।

जितना आत्मबल है उतना मोहकर्म को निमित्त न बनावे, तब उतना नैमेत्तिक कार्य भी न हो और अपने आत्मबल की कमी की वजह से जितना कर्म का अवलम्बन लेना पड़े उतना नैमेत्तिक कार्य भी होगा ही। अतः नैमेत्तिक कार्य निमित्त के सम्बन्ध से हुआ यह ठीक है परन्तु असली कारण हमारे आत्मबल की कमी है। जो आत्मानुभव के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। मोहकर्म के अलावा अघातिया कर्मों का कार्य तो ज्यादातर पुद्गलविपाकी है अतः कर्म उदय के अनुसार कार्य होता रहता है वह आत्मकल्याण में कोई खास बाधक नहीं है।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यों की व्याख्या में जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है यह सातवां अङ्क समाप्त हुआ।

अष्टमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ मोक्षाधिकारः

नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः कुन्दकुन्दविधुवर्यः।
विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो भाति गुरुर्ज्ञानभूषाढ्यः॥

अन्वयार्थ— **(विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो)**...............अमृतचन्द्र आचार्य "के कलशों" से वृद्धि को प्राप्त तथा **(ज्ञानभूषाढ्यः)** ज्ञानरूपी भूषण से युक्त **(नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः)** विविध कर्म बंध के ध्वंस के लिए क्रीडा करने वाले **(गुरुः)** दिगम्बर आचार्यश्री **(कुन्दकुन्दविधुवर्यः)** कुन्दकुन्द रूपी श्रेष्ठचन्द्र **(भाति)** सुशोभित होते हैं।

(अथ मोक्षतत्त्वं क्रम प्राप्तमाक्रामति) अब क्रम प्राप्त मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात् पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं—
परं पूर्णं ज्ञानं कृत सकलकृत्यं विजयते॥१॥

अन्वयार्थ—**(इदानीम्)** अब बन्ध पदार्थ के बाद **(प्रज्ञाक्रकचदलनात्)** भेद विज्ञानरूप कैंची के द्वारा विदारण करने से **(बन्धपुरुषौ)** बन्ध और आत्मा को **(द्विधाकृत्य)** दो करके अर्थात् पृथक् करके **(उपलम्भैकनियतम्)** आत्मस्वरूप की प्राप्ति में अद्वितीय रूप से निश्चित **(पुरुषम्)** आत्मा को **(साक्षात्)**

प्रत्यक्ष रूप से (**मोक्षम्**) मोक्ष की ओर (**नयन्**) प्राप्त कराता हुआ (**उन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसम्**) उदीयमान-स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्द से भरपूर (**कृतसकलकृत्यम्**) सकल कर्तव्य कर्म को कर चुकने के कारण कृतकृत्य (**परम्**) सर्वोत्कृष्ट (**पूर्णम्**) परिपूर्ण (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**विजयते**) जयवंत प्रवर्तता है।

सं० टी० —(**इदानीम्-अधुना, मोक्ष तत्त्व कथनावसरे**) इस समय अर्थात्—मोक्ष तत्त्व के निरूपण के अवसर पर (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते**) सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभित होता है (**किम्भूतम्**) कैसा ? (**कृत्येत्यादिः-कृतं-निष्पादितम्-सकलं कृत्यं संसारावस्थाकर्तव्ये येन तत्**) जिसने संसार अवस्था के समस्त कर्तव्यों को कर लिया है अतएव कृतकृत्य (**पुनः**) और (**पूर्णं-सम्पूर्णम्-प्रकर्षप्राप्तत्वात्**) प्रकर्ष-चरम सीमा को प्राप्त होने के कारण सम्पूर्ण (**परम्-उत्कृष्टम्-सर्वप्रकाशकत्वात्**) समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से सर्वोत्कृष्ट (**सहजेत्यादिः-सहजः अकृत्रिमः, परमानन्दः-परमसुखम्-तेन सरसं-रसाढ्यम्**) स्वाभाविक परम सुख रूप रस से व्याप्त (**उन्मज्जत्-उदयं गच्छत्**) उदय को प्राप्त होता हुआ (**पुरुषम्-आत्मानम्**) पुरुष-आत्मा को (**साक्षात्-अक्रमेण**) प्रत्यक्ष रूप से (**मोक्षं-मुक्तिसम्पदम्**) मोक्षरूप सम्पत्ति को (**नयत्-प्रापयत्**) प्राप्त कराता हुआ (**किम्भूतम्-तत्**) कैसा वह ज्ञान (**उपेत्यादिः-उपलम्भः स्वस्वरूप-प्राप्तिः तत्र-एकेनस्वभावेननियतं-स्थितं-तत्र लीनमित्यर्थः**) अपनी आत्मा के निज स्वरूप की प्राप्ति में स्वभाव से संलग्न (**किं कृत्वा**) क्या करके (**द्विधाकृत्य-पृथक् कृत्वा**) पृथक् करके (**कौ**) किनको (**बन्ध-पुरुषौ-बन्धः-कर्माश्लेषः-पुरुषः-आत्मा, द्वन्द्वः, तौ परस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थः**) कर्म सम्बन्धरूप बन्ध तथा पुरुष—अर्थात् आत्मा ये दोनों अनादितः परस्पर में दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं इनको जुदा करके (**कुतः**) किससे (**प्रज्ञेत्यादिः-प्रज्ञा-भेदविज्ञानं सैव क्रकचः-करपत्रं-तेन दलन तस्मात्**) भेदविज्ञान रूप करोंत के द्वारा दलने से।

भावार्थ—आत्मा अनादितः अज्ञानी है। अज्ञान के कारण ही कर्मपुद्गलों को अपनी आत्मा के साथ बांधता रहता है इसी का नाम बन्ध है। यह बन्धतत्त्व की सन्तति तब तक बराबर चलती रहती है जब तक कि भेदविज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान का उदय नहीं होता है। इसके उदित होते ही आत्मा अपने को तथा अपने से भिन्न कर्म पुद्गलों के बन्ध विशेष को जान लेता है। पश्चात् बन्ध को छिन्न-भिन्न कर आत्मा को परिपूर्ण ज्ञानी बना कर मुक्तिधाम का पात्र बनता है।

(**अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति**) अब प्रज्ञा-भेदविज्ञान-रूप छैनी की प्रशंसा करते हैं—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मज्जमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥

अन्वयार्थ—(**सावधानैः**) सावधान-एकाग्रचित्त वाले (**निपुणैः**) सम्यग्ज्ञानियों के द्वारा (**कथमपि**)

किसी भी प्रकार से अर्थात् महान् कष्ट से भी **(आत्मकर्मोभयस्य)** आत्मा और कर्म दोनों के **(सूक्ष्मे)** सूक्ष्म-अल्पज्ञानियों के ज्ञान में नहीं आने वाले **(अन्तः सन्धिबन्धे)** अन्त:-मध्यवर्ती सन्धि-जोड़ के बन्ध में **(पातिता)** पटकी हुई-डाली गई **(इयम्)** यह **(शता)** तीक्ष्ण-पैनी धार वाली **(प्रज्ञाछेत्री)** भेदविज्ञान रूप छेनी **(यदा)** जब **(निपतति)** गिरता है–पड़ती है **(तदा)** तब **(रभसात्)** वेग पूर्वक-शीघ्रता से **(अभितः)** सब तरफ से-लक्षण भेद से **(भिन्नभिन्नौ)** जीव और पुद्गल को पृथक् पृथक् **(कुर्वती)** करती हुई **(आत्मज्ञानम्)** आत्मा को **(अन्त: स्थिरविशदलसद्धाम्नि)** अन्तरङ्ग में स्थिर-निश्चय निर्मल शोभायमान तेजस्वी **(चैतन्यपूरे)** चैतन्य के प्रवाह में **(मग्नम्)** निमग्न **(कुर्वती)** करती है। **(च)** और **(बन्धम्)** बन्ध-कर्मपुद्गल के सम्बन्धविशेष को **(अज्ञानभावे)** अज्ञानभाव-राग-द्वेष मोह रूप भाव में **(नियमितम्)** निश्चित **(कुर्वती)** करती है।

सं० टीका—**(इयं-प्रसिद्धा)** यह प्रसिद्ध **(प्रज्ञा छेत्री-बुद्धि छेत्री)** प्रज्ञा-भेदकबुद्धि रूप छेनी **(शिता-अतितीक्ष्णा)** अत्यन्त तीक्ष्ण-पैनी धार वाली **(रभसात्-वेगेन)** वेग से **(निपतति-भिन्नकरणार्थं पतनं करोति)** पृथक् करने के लिए पतन करती है—गिरती है **(क्व)** कहां पर **(सूक्ष्मे-अत्यन्तं प्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्य चेतकभावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मे)** अतिशय समीपवर्ती होने के कारण चैतन्यभाव और चेतकभाव के साथ एकता होने से सूक्ष्म **(अन्तः सन्धिबन्धे-अन्तः अभ्यन्तरे कर्मात्मनः सन्धिबन्धे-सन्धानश्लेषे)** अन्तरङ्ग में कर्म और आत्मा के एकत्वरूप सम्बन्ध में **(कस्य ?)** किस के **(आत्मकर्मोभयस्य-चिद्रूप कर्मयुग्मस्य)** चैतन्य स्वरूप आत्मा तथा कर्म इन दोनों के **(कीदृक्षा सा ?)** वह कैसी **(कथमपि-महताग्रहेण)** किसी प्रकार से भी अर्थात्—महान् आग्रह से **(पातिता-तयोर्मध्ये भिन्नकरणकृते मुक्ता सती)** आत्मा और कर्म पुद्गलों को पृथक् करने के लिए बीच में छोड़ी हुई—पटकी गई **(कैः)** किन से **(निपुणैः-धीमद्भिः)** सम्यग्ज्ञानी **(सावधानैः-एकाग्रचित्तैः)** एकाग्र मन वाले पुरुषों से **(अभितः-सामस्त्येन)** समस्त रूप से **(लक्षण-भेदात्-भिन्न-भिन्नौ-परस्परं तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ)** लक्षण के भेद से आपस में वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं उनको भिन्न-भिन्न पृथक्-पृथक् **(कुर्वती-निर्मापयती)** निर्माण करती हुई **(कम्)** किसको **(आत्मानं-चिद्रूपम्)** चिन्मय-आत्मा को **(च-पुनः)** और **(बन्धं कर्मबन्धम्)** कर्मों के बन्ध को **(कीदृक्षम्-चिद्रूपम्)** कैसे चैतनन्यस्वरूप को **(चैतन्यपूरे-समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तस्य पूरः समूहः तत्र)** आत्मा से भिन्न सभी द्रव्यों में—असाधारण नहीं पाये जाने वाले चैतन्यस्वरूप निज लक्षण के समूह में **(मग्नम्-तन्मयतामापन्नम्)** तन्मयता को प्राप्त **(अन्तरित्यादिः-अन्तः-अभ्यन्तरे चिद्रूपे स्थिरं-अन्यत्रगमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च सद्विशदं च निर्मलं लसत्-देदीप्यमानं धाम महो यस्य तस्मिन्)** अन्यत्र गमन न होने से अपने चैतन्यस्वरूप में स्थितिशील निर्मल और देदीप्यमान तेज वाले **(कीदृशं बन्धम्)** कैसे बन्ध को **(अज्ञानभावे-अज्ञानस्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे)** अज्ञानमय रागादिरूप अपने स्वरूप में **(नियमितं-निश्चितं-निश्चयीभूतम्)** निश्चित **(तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थः)** अर्थात् रागादिरूपता को प्राप्त **(अन्यापि छेत्री द्वयोर्धात्वोः स्वलक्षणभिन्नयोः अन्तः पातिता सती भिन्नत्वं चर्करीति तथा प्रज्ञा छेत्रीति विज्ञेयम्)** जैसे जड़ लोहे की छेनी जुदे-जुदे स्वरूप

को धारण करने वाली दो धातुओं के एकत्वरूप बन्ध के मध्य में पड़ती हुई दोनों को अत्यन्त ही भिन्न जुदा कर देती है वैसे ही यह प्रज्ञा-बुद्धिरूपी छैनी जड़ पुद्गल तथा चेतन आत्मा के एकत्वरूप बन्ध के मध्य में पटकी हुई दोनों को सर्वथा पृथक् कर देती है ऐसा समझना चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे छैनी का कार्य मुख्यतया दो बंधे हुए पदार्थों को छिन्नभिन्न करना है। वैसे ही यहाँ प्रज्ञा-भेदविज्ञान रूप छैनी का काम भी प्रधानरूप से जीव और पुद्गल को पृथक् करना ही है क्योंकि दोनों ही पदार्थ विजातीय हैं और अनादितः बन्ध दशा में हैं। आत्मा के अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्म का बंध है उनका कार्य भावबंध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिए बुद्धि के द्वारा आत्मा को शरीर से, द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न करके एक चैतन्यभावमात्र को अनुभव करना और उसी में लीन रहना चाहिए ॥२॥

(**अथ तथोर्भेदकं प्रलपति**) अब आत्मा तथा कर्मपुद्गलों के भेदक का कथन करते हैं—

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कित निर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (यत्) जो (भेत्तुम्) भेदा (शक्यते) जा सकता है अर्थात् जो भिन्न होने की योग्यता रखता है (तत्) उस (सर्वम्) सब को (स्वलक्षणबलात्) अपने स्वरूप के बल से (भित्त्वा) भेद करके-जुदा करके (अहम्) मैं (चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा) चैतन्य स्वरूप आकारमय अभेद महिमावान् (शुद्धः) समस्त परद्रव्यों से शून्य (चित्) चैतन्य (एव) ही (अस्मि) हूँ (यदि) यदि-अगर च (कारकाणि) कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप षट्कारक (वा) अथवा (यदि) यदि-अगर च (धर्माः) धर्मों के (वा) अथवा (यदि) यदि-अगर च (गुणाः) गुणों के (भिद्यन्ते) भेद प्राप्त होते हैं (तर्हि) तो (ते) वे स्वभाव आदि (भिद्यन्ताम्) भेद को प्राप्त हों (किन्तु) परन्तु (विभौ) व्यापक (विशुद्धे) पर पदार्थों से रहित (चिति) चैतन्य स्वरूप (भावे) आत्मभाव में (काचन) कोई (भिदा) भेद (न) नहीं (अस्ति) है।

सं० टीका—(हि-स्फुटम्) हि-अव्यय स्फुट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् स्फुटरूप से (अहं-अहकम्) मैं (शुद्धः-द्रव्यभाव नोकर्म मलमुक्तः) शुद्ध द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि, भावकर्म-राग-द्वेषमोहादि तथा नोकर्म-शरीरादि से रहित होने से शुद्ध (चिदेव-चेतनास्वरूपमेव) चेतना स्वरूप ही (अस्मि-भवामि) हूँ (किम्भूतः) कैसा (चिदित्यादिः-चिदेव मुद्राचिह्नं तया अङ्कितः चिह्नितः निर्विभागः-भेत्तुमशक्यो दुर्लक्ष्यत्वात्, महिमा-माहात्म्यं यस्य सः) चैतन्यरूप चिह्न से चिह्नित सर्वसाधारण की दृष्टि में न आ सकने के कारण विभाग-रहित माहात्म्य वाला (किं कृत्वा) क्या करके (यत्-पुद्गलादिकं कर्म) पुद्गलादिरूप कर्म को (भेत्तुं-द्विधा-

कर्तुम्) भेदने के लिए-दो करने के लिए (**शक्यते-शक्यानुष्ठानं भूयते स्वलक्षणानां भेत्तुमशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानाभावः, परलक्षणानां भेत्तुं शक्यत्वात् शक्यानुष्ठानम्**) शक्यानुष्ठान सम्भव है क्योंकि अपने स्वरूप का भेदन शक्य न होने के कारण अशक्यानुष्ठान है परन्तु पर के स्वरूप का अपने से भेदन शक्य होने से शक्यानुष्ठान है (**तत् सर्वमपि-समस्तमपि कर्मबन्धं भित्त्वा-द्विधा विधाय**) उस समस्त कर्म बन्ध को भेदन-दो करके अर्थात् आत्मा से पृथक् करके (**कुतः**) कैसे (**स्वेत्यादि-स्वस्य आत्मनः पुद्गलस्य च लक्षणं असाधारण स्वरूपं चैतन्यमचैतन्यं च तस्य बलात्-सामर्थ्यात्**) आत्मा के असाधारण लक्षण चैतन्य के तथा पुद्गल के असाधारण लक्षण अचैतन्य के बल से (**यदि कारकाणि-कर्तृकर्मादीनि-चेतयमानः एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानाय चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये इति कारकाणि**) मैं जानने वाला ही जानता हूँ, मैं जानने वाले के द्वारा ही जानता हूँ, मैं जानने वाले के लिए जानता हूँ, मैं जानने वाले से ही जानता हूँ, मैं जानने वाले में ही जानता हूँ और मैं जानने वाले को ही जानता हूँ इत्यादि रूप छह कारक यदि (**भिद्यन्ते**) भेद को प्राप्त होते हैं (**तर्हि भिद्यन्ताम्-भेदं प्राप्नुवन्तु**) तो भेद को प्राप्त होवो (**वा अथवा**) अथवा (**धर्माः-स्वभावाः-चैतन्याचैतन्यादयः**) चैतन्य और अचैतन्य आदि स्वभाव (**भेदं-प्राप्नुवन्ति**) भेद को प्राप्त करते हैं (**तर्हि भिद्यन्ताम्**) तो भेद को प्राप्त करो (**यदि वा गुणाः-मतिश्रुतादयः-अनन्तज्ञानादयो वा**) अथवा मतिश्रुत आदि अथवा अनन्त ज्ञानादि गुण (**भिद्यन्ते**) भेद को प्राप्त करते हैं (**तर्हि भेदं प्राप्नुवन्तु**) तो भेद को प्राप्त करो (**पुनः**) किन्तु (**चिति-चिद्रूपे**) चैतन्यरूप (**भावे-पदार्थे**) पदार्थ में (**काचन कापि**) कोई भी (**भिदा-भेदः**) भेद (**नास्ति**) नहीं है (**कारक-धर्मगुणभेदो न**) अर्थात्—कारक धर्म और गुणकृत भेद नहीं हो सकता है (**किम्भूते-चिति**) कैसे चैतन्य में (**विभौ-वि-विशेषेण भवति ज्ञानादि स्वभावेनेति विभुः तस्मिन् विभौ**) जो विशेषतया ज्ञानादि स्वभाव से परिणमनशील होने के कारण विभु है यहाँ विभु-उक्तार्थ भूव के भू धातु से (**"भुवो डुर्विसंप्रेषु च"**) इति इस सूत्र से (**डुप्रत्ययः**) डु प्रत्यय हुआ है (**विशुद्धे-कर्ममलातीते**) कर्मरूप मल से रहित होने के कारण—विशुद्ध है।

भावार्थ—कर्म पुद्गल परमाणुओं में और आत्मा में भेद्य भेदक सम्बन्ध है अर्थात् कर्म पुद्गल परमाणु स्वभावतः आत्मा से भेद्य पृथक्-जुदा होने की योग्यता रखता है अतएव भेदक है। भेद्य की अपेक्षा भेदक का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि वह ज्ञाताद्रष्टा है वह अपने विज्ञान के बल से स्वयं-खुद को जानता है और पर पुद्गल को भी जानता है और यह भी जानता है कि मैंने ही अज्ञान की अवस्था में इन जड़ अचेतन कर्म पुद्गलों को जिनमें कर्मरूप होकर आत्मा के साथ बंधने की वैभाविकी योग्यता है अपने ही विभाव भावों से अपने साथ बांधा है। अतएव वे कर्म पुद्गल परमाणु भेद्य हैं और मैं उनका भेदक हूँ इस प्रकार का सुदृढ़ निश्चय करने के बाद ही आत्मा उन्हें अपने से पृथक् करके स्वयं चैतन्यमय आत्मस्वरूप में निरत हो जाता है। भेदक नय-व्यवहार नय की अपेक्षा से यद्यपि आत्मा में भी गुण आदि का भेद होता है परन्तु अभेदकनय-निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा में कोई भेद नहीं है वह तो एकमात्र

अखण्ड चैतन्य का पिण्ड है। अतएव ज्ञानी स्वपर विवेकी अपने आत्मा को एकमात्र चैतन्य स्वरूप ही जानता है मानता है देखता है और अनुभव में लाता है।

(अथ चेतनाया एकानेक रूपं विवक्षति) अब चेतना के एक तथा अनेक रूपों को विवक्षा भेद से प्रकट करते हैं—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥३॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**जगति**) जगत में (**चेतना**) चेतना (**अद्वैता**) अद्वैतरूप-अद्वितीयरूप (**अस्ति**) है (**अपि**) किन्तु (**चेत्**) यदि (**सा**) वह चेतना (**दृग्ज्ञप्तिरूपम्**) दर्शनज्ञानस्वरूप को (**त्यजेत्**) छोड़ दे (**तर्हि**) तो (**सा**) वह चेतना (**सामान्यविशेषरूपविरहात्**) सामान्य और विशेष स्वरूप के त्याग से (**तत्**) उस प्रसिद्ध (**अस्तित्वम्**) अस्तित्व-सत्तागुण को (**एव**) ही (**त्यजेत्**) छोड़ देगी (**तत्त्यागे**) उस अस्तित्व-सत्तात्मक गुण के त्याग-छोड़ने पर (**चितः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**जड़ता**) अचेतनता (**अपि**) भी (**भवति**) होगी (**च**) और (**व्यापकात्**) व्यापक चेतनागुण के (**विना**) विना-अभाव से (**व्याप्यः**) व्याप्य-आत्मा (**अन्तम्**) विनाश को (**उपैति**) प्राप्त होगी (**तेन**) तिस कारण से (**चित्**) आत्मा (**नियतम्**) निश्चित रूप से (**दृग्ज्ञप्तिरूपा**) दर्शन ज्ञान स्वरूप (**अस्तु**) रहो।

सं० टी०—(**हीति-ननु**) यहाँ हि-यह अव्यय ननु के अर्थ में आया है अर्थात् कोई ब्रह्माद्वैतवादी यहाँ शङ्का करता है कि (**जगति-भुवने**) इस जगत्-लोक में (**चेतना-प्रतिभास रूपा**) प्रतिभास स्वरूप-चेतना (**अद्वैता-एकरूपा**) अद्वैत-एक रूप (**अस्ति**) है (**सर्वेषां प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वेन एकरूपत्व साधनात्**) क्योंकि सभी पदार्थ-प्रतिभास स्वरूप चेतना के मध्य में प्रविष्ट हैं अतएव चेतना की एकरूपता को सिद्ध करते हैं (**तथाहि यत्प्रतिभासते-यत्प्रतिभासान्तः प्रविष्टं यथा प्रतिभासस्वरूपम्**) अर्थात् जो प्रतिभासमान होता है अर्थात् प्रतिभास के मध्य में प्रविष्ट होता है वह प्रतिभास स्वरूप है उससे भिन्न नहीं है (**प्रतिभासन्ते चामी विवादापन्नाः पदार्थाः**) और ये विवादग्रस्त-विवाद कोटि में आये हुए पदार्थ प्रतिभासित होते हैं अतः प्रतिभासरूप ही हैं। (**सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामेकत्वसाधनाच्चैकैव चेतना**) यह सब निश्चय से एक ब्रह्म रूपी ही है इत्यादि अर्थ वाले वाक्य भी चेतना की एकरूपता के साधक हैं अतएव चेतना भी एक ही है (**इति चेत्**) यदि ऐसा-पूर्वोक्त प्रकार से तुम्हारा कहना है ? तो (**तदा दृग्ज्ञप्ति रूपं सा दर्शनज्ञानस्वभावं त्यजेत्**) उस समय वह चेतना अपने दर्शन ज्ञान स्वभाव को छोड़ देगी (**अथ तत्स्वभावं त्यजतु का नो हानिः**) यदि तुम यह कहो कि वह चेतना अपने उस दर्शन ज्ञान स्वभाव को छोड़ दे तो तुम्हारी क्या हानि ? (**इतिवदन्तमद्वैतिनं निराकरोति**) इस प्रकार से कहने वाले अद्वैतवादी का

निराकरण करते हैं (**सा-चेतना**) वह चेतन-दर्शन ज्ञानरूप वस्तु (**तत्-प्रसिद्धम्**) उस प्रसिद्ध (**अस्तित्वं-सत्ताम्**) अस्तित्व सत्ता को (**एव**) ही (**त्यजेत्**) छोड़ देगी (**कुतः**) कैसे (**सामान्येत्यादिः-सामान्यं दर्शनं विशेषो ज्ञानं तयोरूपं तस्य विरहः तस्मात्**) सामान्यरूप दर्शन, विशेषरूप ज्ञान इन दोनों के अभाव से (**सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः**) क्योंकि सभी वस्तुएँ सामान्यविशेष स्वरूप होती हैं (**सामान्य-विशेषात्मा तदर्थोविषयः इति वचनात्**) क्योंकि "सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा सूत्रकार का सूत्रात्मक वचन हैं। (**इति वचनात् दृग्ज्ञानयोः सामान्यविशेषात्मकत्वात्**) उक्त सूत्रात्मक वचन से दर्शन और ज्ञान दोनों यथाक्रम से सामान्य और विशेष स्वरूप है अतएव आत्मा चेतना भी सामान्यविशेष-रूप है (**तदभावे तदभावात्**) दर्शन ज्ञान रूप सामान्यविशेष के अभाव में सामान्यविशेष स्वरूप चेतना का भी अभाव हो जायगा (**अपि दूषणद्वयम्**) दो दूषण और भी हैं (**तस्यागे-तस्य-अस्तित्वस्य त्यागे-अभावे-अथवा दर्शनज्ञानअभावे**) उस अस्तित्व के अभाव में अथवा दर्शनज्ञान के अभाव में (**चितः-चिद्रूपस्यापि**) चैतन्यस्वरूप आत्मा के भी (**जड़ता-अचेतनत्वम्**) जड़ता-अचेतनता आ जायगी (**चेति दूषणान्तरे**) च-यह शब्द दूषणान्तर में आया है अर्थात्— (**व्यापकात्-अस्तित्वरूपात् दर्शनरूपाद्वा**) अस्तित्वरूप अथवा दर्शनरूप व्यापक के (**विना-ऋते**) विना-अभाव में (**व्याप्यः-आत्मा**) व्याप्य-आत्मा (**अन्तं-विनाशम्**) विनाश को (**उपैति-प्राप्नोति**) प्राप्त होगी (**व्यापकाभावे व्याप्यस्याभावात्**) क्योंकि व्यापक-दर्शनज्ञान के अभाव से व्याप्य-चैतन्य स्वरूप आत्मा का भी अभाव हो जायगा। (**प्रकाशाभावे प्रदीपवत्**) प्रकाश के अभाव में दीपक के अभाव के समान (**तेन-जड़त्वात्माभाव दूषणसद्भावेन**) जड़रवरूप आत्मा के होने से आत्मा का अभावरूप दूषण उपस्थित होने के कारण (**चित्-चेतना**) चेतना (**नियतं-निश्चितम्**) नियत-रूप से (**दृग्ज्ञप्तिरूपा-दर्शनज्ञानस्वरूपा**) दर्शन ज्ञान स्वरूप (**अस्तु-भवतु**) हो-रहो ॥४॥

भावार्थ—यहां ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि इस जगत में मात्र चेतना एक ही है क्योंकि "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेहनानास्तिकिञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" अर्थात् यह सब जो कुछ दिखाई देता है वह सब का सब एक ब्रह्म ही है अन्य नाना तरह के कोई भी पदार्थ नहीं हैं। मनुष्य जो कुछ भी देखते हैं वह सब उस ब्रह्म की माया ही है। अन्य कोई पदार्थान्तर नहीं है। उस ब्रह्म की माया को ही सब देखते हैं उसे कोई नहीं देखता है क्योंकि वह चर्म चक्षुओं से किसी को भी कभी भी दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार से सिर्फ अद्वैत चेतना को मानने वाले ब्रह्माद्वितवादी के मत का खण्डन करते हुए आचार्य सर्वप्रथम यह कहते हैं कि—यदि तुम चेतना को केवल चेतना ही मानोगे तो वह दर्शन रूप सामान्य तथा ज्ञान रूप विशेष चेतना से शून्य हो जायगी। यदि तुम यह कहो कि उक्त दोनों प्रकार की चेतनाओं से शून्य चेतना रही आवे तो तुम्हारी क्या हानि होगी, तब आचार्य कहते हैं कि—यदि चेतना सामान्य और विशेषरूप दर्शन और ज्ञान को छोड़ देगी तो वह अपनी सत्ता से भी हाथ धो बैठेगी। ऐसी दशा में चेतना जड़ हो जायगी। चेतना के अभाव होने पर चेतनस्वरूप आत्मा का भी अभाव हो जायगा क्योंकि व्यापक के न रहने पर व्याप्य का रहना कथमपि सम्भव नहीं है। अतएव चेतना को दर्शन ज्ञान

स्वरूप मानना ही श्रेयस्कर होगा। तभी सारी तत्त्व व्यवस्था व्यवस्थित हो सकेगी ॥४॥

(अथ चेतनाचेतनयोः परत्वापरत्वं प्रपूर्यते) अब चेतन और अचेतन में परत्व और अपरत्व का प्रतिपादन करते हैं—

एकश्चितश्चिन्मय एवभावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एवभावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥५॥

अन्वयार्थ—**(चितः)** चैतन्यमय आत्मा का **(चिन्मयः)** चैतन्यमय **(एकः)** एक-अद्वितीय **(एव)** ही **(भावः)** भाव **(अस्ति)** है **(ये)** जो **(परे)** चैतन्य से भिन्न **(भावाः)** भाव-परिणाम **(सन्ति)** हैं **(ते)** वे **(किल)** निश्चय से **(परेषाम्)** आत्मा से भिन्न जड़ पुद्गल के **(भावाः)** परिणमन **(सन्ति)** हैं। **(ततः)** इसलिए **(चिन्मयः)** चैतन्यमय **(एव)** ही **(भावः)** भाव **(ग्राह्यः)** ग्रहण करने योग्य **(अस्ति)** है **(परे)** आत्मा से भिन्न **(भावाः)** भाव-परिणाम **(सर्वतः)** सर्वथा **(एव)** ही **(हेयाः)** त्याग करने योग्य **(सन्ति)** हैं।

सं० टीका- **(चितः-चिद्रूपस्य)** चैतन्य स्वरूप आत्मा का **(एकः)** एक **(चिन्मयः-तद्दर्शनज्ञानमयः)** चेतन-दर्शन ज्ञानस्वरूप **(एव)** ही **(भावः-स्वभावः)** स्वभाव **(अस्ति)** होता है **(ये-प्रसिद्धाः)** जो प्रसिद्ध **(परे-दृग्ज्ञप्तेः परे)** दर्शनज्ञान से भिन्न-पर **(भावाः-रागादयः)** रागादि भाव **(सन्ति)** हैं **(किलेति निश्चितम्)** किल-यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से **(परेषां-कर्मणां)** कर्मों के **(ते-भावाः)** वे भाव **(सन्ति)** हैं **(ततः-आत्मीयस्वभावत्वात्)** इसलिए अर्थात् आत्मीय स्वभाव होने से **(चिन्मय एव दृग्ज्ञप्ति-निर्वृत्त एव स्वभावः)** दर्शन ज्ञान से रचित स्वभाव ही **(ग्राह्यः-आदेयः)** ग्रहण-आदान करने योग्य **(अस्ति)** है **(परभावाः-रागद्वेषादयः)** किन्तु राग-द्वेष आदि पर भाव **(सर्वत एव-सामस्त्येनैव)** समग्ररूप से ही **(हेयाः-त्याज्याः)** त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा के चैतन्यमय ही भाव होते हैं। चैतन्य से भिन्न जितने भी भाव हैं, वे सबके सब परभाव हैं अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से होते हैं अतएव पर भाव हैं, नैमित्तिक भाव हैं, अनित्य भाव हैं, विभाव भाव हैं, स्वभाव भाव नहीं हैं इसलिए हेय हैं छोड़ने योग्य हैं। और जो स्वभाव भाव हैं वे शुद्ध चैतन्यमय हैं अतएव उपादेय-ग्रहण करने योग्य हैं उन्हें ही ग्रहण करना चाहिए। शेष सभी परभावों को पर जानकर हेय होने से छोड़ना चाहिए।

(अथ रहस्यं-सिद्धान्तं साधयितुमुपक्रामति) अब रहस्यभूत सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं—

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेवपरमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधाभावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम पर द्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

अन्वयार्थ—(**उदात्तचित्तचरितैः**) उज्ज्वल मन से आचरण करने वाले (**मोक्षार्थिभिः**) मोक्षाभिलाषियों को (**अयम्**) यह (**सिद्धान्तः**) सिद्धान्त (**सेव्यताम्**) सेवन करना चाहिए मानना-पालना चाहिए (**यत्**) जो (**अहम्**) मैं (**सदा**) सदा-हमेशा (**शुद्धम्**) शुद्ध-परद्रव्य से शून्य (**चिन्मयम्**) चैतन्य स्वरूप (**एकम्**) अद्वितीय (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**ज्योतिः**) ज्ञानस्वरूप-प्रकाश का पुञ्ज (**एव**) ही (**अस्मि**) हूँ। (**तु**) किन्तु (**पृथग्लक्षणाः**) चैतन्य से जुदे चिह्न वाले (**ये**) जो (**एते**) ये (**विविधाः**) नाना प्रकार के (**भावाः**) भाव (**अत्र**) इस आत्मा में (**समुल्लसन्ति**) प्रतिभासित होते हैं—मालूम पड़ते हैं (**ते**) वे (**अहम्**) मैं (**न**) नहीं (**अस्मि**) हूँ (**यतः**) क्योंकि (**ते**) वे (**समग्राः**) सब (**अपि**) भी (**मम**) मेरे लिए (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य (**सन्ति**) हैं अर्थात् मेरे स्वभाव से भिन्न परद्रव्यरूप हैं।

सं० टीका - (**अयम्**) यह (**सिद्धान्तः-सिद्धाः-निष्पन्नाः, अन्तः धर्मः-स्वभावो वा यस्य सः**) सिद्धान्त-स्वभाव सिद्धधर्म (**तात्पर्यं वा**) अथवा तात्पर्य-फलितार्थ (**सेव्यताम्-आश्रीयताम्**) सेवन-आश्रय किया जाय (**कैः**) किनके द्वारा (**मोक्षार्थिभिः-मुमुक्षुभिर्योगिभिः**) मोक्ष चाहने वाले योगियों के द्वारा (**किम्भूतैः**) कैसे मुमुक्षुओं द्वारा (**उदात्तचित्तचरितैः-उदात्तं-उत्तमं यत् चित्तं-ज्ञानं तदेव चरितं-आचरणं येषां तैः**) निर्मल ज्ञानात्मक आचरण वाले साधुओं द्वारा (**अयम्**) यह (**कः**) कौन सा सिद्धान्त (**सदैव-नित्यमेव**) नित्य ही-हमेशा हो (**अहम्**) मैं (**परमं ज्योतिः-परंधाम**) उत्कृष्ट तेज (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**किम्भूतं तत्**) वह उत्कृष्ट तेज कैसा है (**शुद्धं-कर्ममलरहितत्वात्**) कर्मरूप मल से रहित होने के कारण-शुद्ध-अतिपवित्र (**चिन्मयं-ज्ञप्तिरूपत्वात्**) ज्ञानरूप होने से चिन्मय (**एकमेव-परभावरहितत्वात्**) पर पदार्थ से रहित होने के कारण-एक ही-अद्वितीय ही है (**तु-पुनः**) और (**एते-प्रसिद्धाः**) ये-प्रसिद्ध (**विविधाः-नानाप्रकाराः**) नाना प्रकार के (**असंख्यातलोकमात्रत्वात्**) असंख्यात लोक के बराबर होने से (**भावाः-रागद्वेषादयः परिणामाः**) राग-द्वेष आदि रूप परिणाम (**समुल्लसन्ति-प्रादुर्भवन्ति**) उत्पन्न होते हैं (**ते भावाः**) वे भाव-परिणाम (**अहं-चिद्रूपः**) मैं (**नास्मि-न भवामि**) नहीं हूँ (**कुतः**) कैसे (**यतः-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**पृथग्लक्षणाः-आत्मनः विपरीत लक्षणाः अज्ञानस्वभावत्वात्**) अज्ञान स्वरूप होने के कारण आत्मा से प्रतिकूल स्वभाव वाले (**अत्र-इह-स्वस्वरूपविचारणे**) यहाँ-आत्मा के निज स्वरूप के विचार में (**ते-भावाः**) वे भाव (**समग्रा अपि समस्ता अपि कषायाध्यवसायाः**) सबके सब कषायरूप हैं (**मम-चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप मेरे (**परद्रव्यं-पुद्गलकर्मोत्पादितत्वात्**) पुद्गल स्वरूप कर्मों से उत्पन्न होने के कारण परद्रव्यरूप है (**अतः सर्वथा चिद्भाव एव ग्रहीतव्यः**) इसलिए सर्वथा—सब तरह से चैतन्यमय भाव ही ग्रहण करना चाहिए (**शेषाः सर्वे भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः**) बाकी के सभी भाव त्यागना चाहिए यह सिद्धान्त है।

भावार्थ—आत्मा के जो स्वभाव भाव हैं, वे ही आत्मा के द्वारा उपादेय हैं। शेष सभी विभाव-भाव हेय हैं। यह सिद्धान्त है। आत्मा का परमपारिणामिक भाव निज भाव है जो किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रखता और त्रिकाल रहता है उसी भावरूप आत्मा का अनुभव करना है बाकी भाव कर्म सापेक्ष है ॥६॥

(अथ सापराधिनो बन्धं द्योतते) अब अपराधी के बन्ध का विधान करते हैं—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥७॥

अन्वयार्थ—**(परद्रव्यग्रहम्)** परपदार्थ के ग्रहण को **(कुर्वन्)** करने वाला **(अपराधवान्)** अपराधी **(भवति)** होता है **(ततः)** अपराधी होने से **(बध्यते)** कर्मों से बंधता है **(च)** और **(स्वद्रव्ये)** आत्म-द्रव्य में-निज स्वरूप में **(संवृतः)** संवृत-निमग्न **(यतिः)** मुनि **(अनपराधः)** अपराध रहित **(भवति)** होता है **(अतः)** इसलिए **(न)** नहीं **(बध्येत)** बंधता है।

स० टी०—**(अपराधवान्-सापराधः पुमान्)** अपराधी मनुष्य **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(बध्येत-कर्मबन्धनं-प्राप्नुयात्)** कर्मबन्ध को प्राप्त करता है **(सापराधत्वं-लक्षयति)** सापराधता को दिखाते हैं **(परद्रव्यग्रहं-परद्रव्याणां ममेति बुद्धया ग्रहं-ग्रहणं)** परपदार्थ मेरे हैं इस प्रकार की बुद्धि से उनका ग्रहण करना अपराध है ऐसे अपराध को **(कुर्वन्-चिन्तयन्)** करने वाला मन से चिन्तन करने वाला **(अन्योऽपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बन्धं प्राप्नोति-किम्पुनर्नान्य इत्युक्तिलेशः)** लोक में जो कोई दूसरा मनुष्य भी किसी दूसरे की वस्तु को अपनी मान कर ले लेता है तो वह भी बन्धन कारागृह आदि के दण्ड को प्राप्त करता तो फिर यहाँ परवस्तु को अपनी स्वीकार करने वाला साधु क्यों नहीं बन्ध को प्राप्त करेगा ? अर्थात् करेगा ही। **(अनपराधः-परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितः)** परद्रव्य के ग्रहण स्वरूप अपराध से रहित अनप-राधी **(यतिः-स्वयत्नचारित्वात् योगी)** अपने स्वरूप में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करने से यति-योगी **(न बध्येत न बन्धनं याति)** बंधन को नहीं प्राप्त होता है **(स्वद्रव्ये-चिद्रूपे)** अपने चैतन्य स्वरूप में **(संवृतः-संवरणं कुर्वन् स्थितः)** संवरण-निमग्नता को करता हुआ स्थित अतएव—**(तदपराधरहितः)** उक्त प्रकार के अपराध से रहित **(बन्धनम् न याति)** कर्म बन्ध को नहीं प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो साधु, साधु मुद्रा को धारण करके भी परपदार्थ को अपना मानता है वह नियम से अपराधी बनता है क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु को अपनी मानना ही सबसे बड़ा अपराध-दोष है। ऐसा अपराधी अनन्त संसार के कारणीभूत मिथ्यादर्शनमोह का बन्ध करने वाला होता है। लेकिन जो यति अपने स्वरूप में ही संवृत रहता है परपदार्थ के प्रति जरा-सा भी मोह नहीं करता है अर्थात् पर को अपना नहीं मानता वह निरपराधी है अतएव बन्ध को नहीं प्राप्त होता है। व्यवहार भी ऐसा ही देखने में आता है कि जो मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की चीज को अपनी समझ कर अपना लेता है तो वह भी अप-राधी के दण्ड का भागी होता है वैसे ही यहाँ अध्यात्म शास्त्र के विषय में पर वस्तु को अपनी मानकर ग्रहण करने वाला महान् बन्ध में पड़ता है।

(अथ सापराधापराधयोः बन्धाबन्धौ बिभर्ति) अब अपराधी और अनपराधी क्रम से बन्ध और अबन्ध को धारण करते हैं यह निरूपण करते हैं—

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो-
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥८॥

अन्वयार्थ—(**सापराधः**) अपराध सहित आत्मा (**अनवरतम्**) निरन्तर (**अनन्तैः**) अनन्त कर्म पुद्गल परमाणुओं से (**बध्यते**) बंधता है (**निरपराधः**) अपराध रहित (**जातु**) कभी (**बन्धनम्**) बन्धन को (**एव**) ही (**न**) नहीं (**स्पृशति**) स्पर्श करता है (**अयम्**) यह साधु (**अशुद्धम्**) राग-द्वेष आदि से कलुषित (**स्वम्**) अपने को (**भजन्**) सेवन करता हुआ अर्थात् रागादि स्वरूप अपनी आत्मा को मानता हुआ (**सापराधः**) अपराध सहित (**नियतम्**) नियम से (**भवति**) होता है किन्तु (**यः**) जो (**शुद्धात्मसेवी**) शुद्ध-परद्रव्य और परभावों से रहित अपनी आत्मा का सेवन-आराधन करता है (**सः**) वह (**नियतम्**) निश्चित ही (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**निरपराधः**) अपराध रहित (**भवति**) होता है।

सं० टी०—(**सापराधः-परद्रव्य परिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः-साधनं वा राधः अपगतो राधोयस्य चेतयितुर्भावस्य वा सोऽपराधस्तेन सह वर्तत इति सापराधो यतिः**) परपदार्थ के परित्याग के साथ शुद्ध आत्मा के स्वरूप का साधन करने का नाम राध है ऐसा राध जिस आत्मा के नहीं है वह आत्मा अपराध कहा जाता है ऐसी आत्मा का होना ही सापराध है ऐसा सापराध साधु (**अनवरतं-निरन्तरं-प्रतिसमयम्**) निरन्तर-प्रतिसमय (**अनन्तैः-अनन्त संख्यावच्छिन्नैः**) अनन्त-अनन्त संख्या से युक्त (**बन्धनैः**) कर्म बन्धनों से (**बध्यते-बन्धनं याति**) बंधता है—बंधन को प्राप्त होता है (**ननु कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कषायाध्यवसायानां चासंख्यातलोकत्वघटनादनन्तत्ववचनं विरुध्यते**) शंकाकार कहता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के कषायाध्यवसाय-कषायरूप परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण ही हैं अतः उन्हें अनन्त कहना शास्त्र विरुद्ध है (**इति चेत्सत्यम्**) यदि उक्त प्रकार से तुम्हारा कहना है तो वह कथञ्चित् सत्य-ठीक है क्योंकि (**कर्मणामध्यवसायानामसंख्याततत्वे सत्यपि कर्मपरमाणूनामनन्तत्वघटनात्**) कर्मों के अध्यवसायों के असंख्यात होने पर भी कर्मपरमाणुओं की संख्या अनन्त है अतएव अनन्त कहना भी शास्त्र सम्मत ही है विरुद्ध नहीं (**निरपराधः-उपयोगोन्मुखः-परद्रव्यग्रहणापराधरहितः**) निरपराध—अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग के सम्मुख अतएव परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध से रहित (**जातु-कदाचित्**) कभी (**बन्धनं-कर्मबन्धनम्**) कर्मबन्ध को (**नैव स्पृशति-न प्राप्नोति**) नहीं स्पर्श करता अर्थात् नहीं प्राप्त होता। (**अयं-यतिः**) यह यति (**नियतम्-निश्चितम्**) नियत-निश्चित-रूप से (**अशुद्धं-रागद्वेष कलुषीकृतम्**) अशुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरूप कलुष-पापरूप मैल से मलिन (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**भजन्-सन्**) सेवन करता हुआ (**सापराधो भवति**) अपराध सहित होता है (**स्वस्वरूपपराङ्मुखत्वात्**) क्योंकि अपने खास स्वरूप से विमुख है (**साधु-समीचीनं यथा भवति तथा**) साधु-समीचन जैसे हो वैसे (**शुद्धात्मसेवी-**

शुद्धमात्मानं सेवत इति शुद्धात्मसेवी-मुनिः) शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला मुनि **(निरपराधः-परद्रव्य-ग्रहणापराधरहितः)** निरपराध-परद्रव्य के ग्रहण रूप अपराध से रहित **(स्वद्रव्यसेवितत्वादाराधकएव)** अर्थात् आत्मद्रव्य का सेवक होने से आराधक ही है।

भावार्थ—जो आत्मा स्वोन्मुख है, अपने ज्ञानदर्शनमय उपयोगों में तन्मय रहता है वह निरपराध है। आत्मस्वरूप का साधक है अतएव वह सर्वतः निर्बन्ध है। लेकिन जो परोन्मुख वृत्ति है। अपने स्वरूप से च्युत हो पर में ही स्वत्व-आत्मत्व की विभ्रान्ति से विभ्रान्त है वह सापराध है अतएव वह सर्वथा सर्वदा और सर्वतः सबन्ध है कर्मबन्धन से सहित ही है।

(अथ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणं विवेचयति) अब प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण का विवेचन करते हैं—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधाकुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥६॥

अन्वयार्थ—**(यत्र)** जहां **(प्रतिक्रमणम्)** प्रतिक्रमण को **(एव)** ही **(विषम्)** विष **(प्रणीतम्)** कहा गया है **(तत्र)** वहां **(अप्रतिक्रमणम्)** अप्रतिक्रमण **(एव)** ही **(सुधा)** अमृत **(कुतः)** कैसे **(स्यात्)** हो सकता है। **(तत्)** इसलिए **(अधः-अधः)** नीचे नीचे **(प्रपतन्)** गिरता हुआ **(जनः)** मनुष्य **(किम्)** क्यों **(प्रमाद्यति)** प्रमाद करता है **(निष्प्रमादः)** प्रमाद रहित **(सन्)** होता हुआ **(ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वम्)** ऊपर ऊपर **(किम्)** क्यों **(न)** नहीं **(अधिरोहति)** आरोहण करता है।

सं० टी०—**(यत्र-शुद्धात्मस्वरूपे)** जिस शुद्धात्मा के स्वरूप में **(प्रतिक्रमणमेव द्रव्यरूपः-प्रतिक्रमणादिरेव-अज्ञानजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिस्तावदास्तामित्येवशब्दार्थः)** अज्ञानी मनुष्यों में साधारण रूप से पाये जाने वाले अप्रतिक्रमण आदि तो दूर रहे द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि ही **(विषं-हलाहलम्)** विष-हलाहल है **(प्रणीतम्-स्वकार्यकरणासमर्थत्वात् तद्विपक्षशुभबन्धनकार्यकारित्वाच्च)** अपने शुद्धोपयोगरूप कार्य के करने में समर्थ न होने से तथा शुद्धोपयोग के विरोधी शुभबन्ध रूप कार्य का करने वाला होने से कहा गया है **(तत्र-आत्मस्वरूपे)** उस आत्मा के स्वरूप में **(अप्रतिक्रमणमेव-पूर्वोक्त प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणद्वयरहितं तृतीयशुद्धात्मोपयोगरूपाप्रतिक्रमणम्)** अप्रतिक्रमण ही अर्थात् पूर्व में कहे हुए प्रतिक्रमण तथा अप्रतिक्रमण इन दोनोंसे रहित तीसरी शुद्धात्माका उपयोगरूप अप्रतिक्रमण ही **(सुधाकुटः अमृतकुम्भः)** अमृत का कुम्भ **(स्यात्)** होता है **(स्वकार्यकारित्वात्)** क्योंकि वह अपने शुद्धात्म स्वरूप कार्य का करने वाला है **(तत्-तस्माद्धेतोः)** तिस कारण से-इसलिए **(जनः लोकः)** मनुष्य **(प्रमाद्यतिकिं-कथं प्रमादं करोति)** क्यों प्रमाद करता है **(अधोऽधः-प्रतिक्रमणेतरद्वयाधोभूमौ प्रपतन् सन्)** प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण इन दोनों रूप अधोभूमि में पड़ता हुआ **(निष्प्रमादः-प्रमादरहितः सन्)** प्रमाद रहित होता हुआ **(ऊर्ध्वमूर्ध्वम्-उपर्युपरि-अप्रतिक्रमणरूपं तार्तीयकम्)** ऊपर ऊपर अर्थात् अप्रतिक्रमणरूप तृतीय शुद्धात्मोपयोगरूप भूमि पर **(किं-कथं नाधिरोहति न चटति)** क्यों नहीं आरोहण करता है अर्थात् क्यों नहीं चढ़ता है। **(इति स्वरूप-**

व्यतिरिक्तस्य न किमपि प्रतिक्रमणादि नेति सूचितम्) इस प्रकार से—आत्मस्वरूप से भिन्न प्रतिक्रमण आदि का कोई महत्त्व नहीं यह बात सूचित हुई।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति से भ्रष्ट अज्ञानी जीव मोक्ष का अधिकारी नहीं है इसलिए उसको धिक्कार कहा है। जो कर्म के फल में लगा हुआ, कर्मफल की वांछा करता है कर्म का कर्त्ता बन रहा है वह मोक्ष का अधिकारी कैसे हो। पढ़ना, विचार करना, चिन्तवन करना, स्मरण करना भी मोक्ष का कारण नहीं है मोक्ष का कारण तो मात्र शुद्ध स्वरूप में एकाग्र होना है। आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष प्राप्ति हो मोक्ष का कारण है। तीन तरह के परिणाम हैं और तीन ही जगह हैं और उनका तीन प्रकार का ही फल है। एक संसार-शरीर-भोग उसमें लगने का फल तीव्र अशुभ कषाय है जिसका फल नरक निगोद है। दूसरे सच्चे देवशास्त्रगुरू जिसमें लगने का फल मंद कषाय है और पुण्य का बंध है जिससे देवादि गति की प्राप्ति है। तीसरा अपना निज स्वरूप है जिसमें लगने का फल शुद्धोपयोग है और कर्म की संवर पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। जब पहले दूसरे की तुलना की जाती है तब पहले को पाप और दूसरे को पुण्य कहते हैं परन्तु जब दूसरे और तीसरे की तुलना की जाती है तब दूसरा पाप और तीसरा धर्म कहा जाता है। तीसरे में ठहरने के लिए दूसरे का निषेध है अज्ञानी पहले दूसरे को समान समझकर तीसरे की चेष्टा नहीं करके पहले को ग्रहण कर लेता है। यह अज्ञानता है ऐसे अज्ञानी को धिक्कारा है ॥९॥

(अथ प्रमादमापश्यति) अब प्रमाद का प्रतिपादन करते हैं—

अतोहताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा—
सम्पूर्ण विज्ञानघनोपलब्धेः ॥१०॥

अन्वयार्थ—**(अतः)** इस पूर्वोक्त कथन से **(सुखासीनताम्)** सुख पूर्वक स्थिरता को **(गताः)** प्राप्त हुए **(प्रमादिनः)** प्रमादीलोग **(हताः)** ताड़ित हुए। **(चापलम्)** चपलता-स्वच्छन्द प्रवृत्ति **(विलीनम्)** विनष्ट हुई **(आलम्बनम्)** आलम्बन को **(उन्मीलितम्)** उखाड़ फेंका है **(आसम्पूर्ण विज्ञान घनोपलब्धेः)** जब तक परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो तब तक **(चित्तम्)** चित्त को **(आत्मनि)** आत्मा में **(एव)** ही **(आलानितम्)** बांधा है—उपयुक्त किया है।

भावार्थ—जो लोक निश्चयाभाषी बनकर प्रमादी हो रहे थे अर्थात् निश्चय नय से आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है अतएव अब हमें कुछ भी करना योग्य नहीं है ऐसा मानकर जो प्रमादी हो रहे थे, आत्मशुद्धि के मार्ग से विमुख हो रहे थे उन्हें तो ताड़न कर आत्मशुद्धि के मार्ग में लगाया और स्वच्छन्द प्रवृत्ति कर रहे थे उन्हें उस स्वच्छन्द-प्रवृत्ति से छुटाया। जो प्रतिक्रमण आदि में ही सन्तुष्ट थे आत्मशुद्धि का प्रमुख साधन प्रतिक्रमण आदि का परिपालन ही है ऐसा समझ रहे थे उन्हें उससे हटाकर आत्मस्वरूप

की प्राप्ति के प्रबलतम साधन शुद्धोपयोग की ओर झुकाया। पश्चात् जब तक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक आत्मस्वरूप में ही लीन रहने का उद्यम करो यह समझाया।

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**प्रमादकलितः**) प्रमाद से सहित (**मुनिः**) साधु (**अलसः**) आलस्यवान् (**भवति**) होता है (**सः**) वह (मुनि **शुद्धभावः**) शुद्ध भाववान् (**कथम्**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**यतः**) क्योंकि (**कषायभरगौरवात्**) कषाय के भार की गुरुता से (**अलसता**) आलस्य का (**भवति**) होना (**प्रमादः**) प्रमाद (**अस्ति**) है। (**अतः**) इसलिए (**स्वरसनिर्भरे**) आत्मिक आनन्दरूप रस से भरपूर (**स्वभावे**) स्वभाव में (**नियमितः**) निश्चित-स्थिर (**भवन्**) होने वाला (**मुनिः**) साधु (**परमशुद्धताम्**) उत्कृष्ट निर्मलता को (**व्रजति**) प्राप्त करता है (**वा**) और (**अचिरात्**) शीघ्र ही (**मुच्यते**) कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

सं० टी०—(**प्रमादकलितः-सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रभेदप्रमादयुक्तः**) साढ़े सैंतीस हजार भेद वाले प्रमाद से सहित (**मुनिः**) मुनि (**अलसः-आलस्यवान्**) आलस्य से युक्त (**सन्**) होता हुआ (**शुद्धभावः-शुद्धोभावः-स्वभावो यस्य सः-परमात्मा**) शुद्ध स्वभाववान् परमात्मा (**कथं भवति ?**) कैसे हो सकता है (**न कथमपि**) अर्थात् किसी भी तरह से नहीं। (**कुतः**) कैसे (**कषायेत्यादिः-कषायाणां-क्रोधादीनां भरः समूहः तस्य गौरवः माहात्म्यं तस्मात्**) क्रोधादि कषायों के समूह के माहात्म्य से (**कषायेन्द्रियविकथादि परावृत्तिजत्वात् प्रमादानाम्**) क्योंकि प्रमाद, क्रोधादि कषायों, स्पर्शन आदि इन्द्रियों और भोजन कथा आदि विकथाओं के व्यापार से ही उत्पन्न होते हैं (**यतः-कारणात्**) जिस कारण से—कारण कि (**अलसता-आलस्यमेव प्रमादः,**) आलस्य का नाम ही प्रमाद है (**तयोरेकार्थत्वात्**) क्योंकि प्रमाद और आलस्य ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं (**अतः-कारणात्**) इस कारण से (**परममननात्-मुनिः-योगी**) शुद्ध आत्मस्वरूप का मनन-चिन्तन करने वाला होने से मुनि अर्थात् योगी-ध्यानी साधु (**परम शुद्धतां-अत्यन्तविशुद्धिम्**) अतिशय निर्मलता को (**व्रजति-प्राप्नोति**) प्राप्त होता है (**च-पुनः**) और (**अचिरात्-शीघ्रम्**) शीघ्र (**मुच्यते-संसार बन्धनात् मुक्तो-भवति**) संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है (**किम्भूतः**) कैसा (**सन्**) होता हुआ (**नियमितः-नियन्त्रितः**) नियमित-नियन्त्रित (**सन्**) होता हुआ (**क्व**) किसमें (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः रसः तस्य निर्भरः-अतिशयः तस्मिन्**) आत्मिक रस के अतिशय में (**पुनः**) पश्चात् (**स्वभावे आत्मस्वरूपे**) आत्मा के स्वरूप में (**भवन्-स्थितः सन्**) स्थि त होता हुआ।

भावार्थ- प्रमाद और कषाय में परस्पर में जन्य जनक सम्बन्ध है। जहां प्रमाद होगा वहां कषाय अवश्य होगा क्योंकि इन दोनों में कार्य कारण भाव है। कार्य के होने पर कारण तो होगा ही। अतः जिस

साधु के प्रमाद है उसके कषाय भाव अवश्य है और जिसके कषाय भाव है उसके शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है अर्थात् कथमपि नहीं। अतः जो साधु कषाय भाव को त्याग कर निष्प्रमादी होता है वह ही आत्मिक आनन्दरूप रस में निमग्न हो परम विशुद्धि को प्राप्त कर अन्ततोगत्वा कर्मबन्धन से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

(**अथ सर्वापराधं च्योतति**) अब समस्त अपराध को छुड़ाते हैं—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्व-ज्योतिरच्छोच्छल—
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**अशुद्धिविधायि**) अशुद्धि को करने वाले (**समग्रम्**) समस्त (**पर-द्रव्यम्**) परद्रव्य को (**यः**) जो साधु (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**त्यक्त्वा**) त्याग करके (**स्वद्रव्ये**) आत्मद्रव्य में (**रतिम्**) लीन (**एति**) होता है (**सः**) वह साधु (**नियतम्**) नियम से निश्चित रूप से (**सर्वापराधच्युतः**) सब-समस्त अपराधों-दोषों से रहित (**सन्**) होता हुआ (**बन्धध्वंसम्**) बन्ध के विनाश को (**उपेत्य**) प्राप्त करके (**नित्यम्-**) निरन्तर (**उदितः**) उदित-उदय को प्राप्त अतएव (**स्वज्योति-रच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा**) आत्मिक प्रकाशरूप ज्योति से निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण-भरपूर महत्त्वशाली (**शुद्धः**) परद्रव्य तथा परभावों से रहित (**भवन्**) होता हुआ (**मुच्यते**) मुक्त होता है।

सं० टीका—(**किलेति-आगमोक्तौ**) किल—यह अव्यय आगम के कथन में आया है अर्थात् आगम के कथनानुसार (**यः योगी**) जो योगी (**स्वयं-स्वरूपेण कृत्वा**) स्वरूप से-स्वभाव से (**स्वद्रव्ये-स्वात्मद्रव्ये**) अपनी आत्मा में (**रतिं-रमणम्**) क्रीड़ा को (**एति-गच्छति**) प्राप्त करता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**तत्-प्रसिद्धम्**) उस-प्रसिद्ध (**समग्रं-निखिलम्**) समस्त (**परद्रव्यं-कर्मादिद्रव्यम्**) कर्म आदि परद्रव्य को (**त्यक्त्वा-हित्वा**) त्याग करके (**किम्भूतम्**) कैसे परद्रव्य को (**अशुद्धिविधायि-रागाद्यशुद्धिकारकम्**) रागादि रूप अशुद्धि को करने वाले (**सः मुनिः**) वह मुनि (**मुच्यते-कर्मबन्धनात्**) कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है (**कीदृशः सन्**) कैसा होता हुआ (**नियतं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**सर्वेत्यादिः-पूर्वोक्तैः-समस्तापराधैः च्युतः रहितः सन्**) पूर्वोक्त सभी अपराधों से रहित होता हुआ (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**बन्धध्वंसम्**) बन्ध के विनाश को (**उपेत्य**) प्राप्त करके (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः ज्योतिः प्रकाशः तेन अच्छं-निर्मलम्, उच्छ-लत्-उदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्यं च तदेवामृतपूरः सुधासमूहः तेन पूर्णः सम्पूर्णः महिमा माहात्म्यं यस्य सः**) आत्मप्रकाश से निर्मल उदीयमान चैतन्यमय अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण महिमावान् होकर ॥१२॥

भावार्थ—जो साधु सर्वप्रथम आत्मिक अशुद्धि के मूल कारण परद्रव्य में अपनेपने का त्याग करता है

वही आत्मस्वरूप में रत होता है और जो आत्मा में लीन रहता है वह सभी प्रकार के अपराधों से भी रहित हो जाता है। पुनः नवीन कर्म बन्ध से रहित हो पूर्व सञ्चित कर्म बन्ध का विनाश करके अनन्त ज्ञानी हो जाता है। और पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करके संसार से सदा के लिए छूट जाता है अर्थात् मुक्त-आत्माओं में जा मिलता है।

(अथ मोक्षं महते) अब मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं—

> **बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत**
> **न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।**
> **एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरम्—**
> **पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१३॥**

अन्वयार्थ—(बन्धच्छेदात्) कर्मबन्ध के विनाश से **(अतुलम्)** अनुपम **(अक्षय्यम्)** अविनाशी **(मोक्षम्)** मोक्ष तत्त्व को **(कलयत्)** प्रकट करता हुआ **(नित्योद्योत स्फुटित सहजावस्थम्)** निरन्तर प्रकाश से प्रकाशित स्वाभाविक अवस्था वाला **(एकान्त शुद्धम्)** एकान्त-अद्वितीय रूप से शुद्ध **(एकाकार स्वरस-भरतः)** ज्ञानरूप आकारमय निजरस के समूह से **(अत्यन्त गम्भीरधीरम्)** अतिशय अगाध और निश्चल **(अचले)** अविनाशी **(पूर्णम्)** अविकल परिपूर्ण **(ज्ञानम्)** ज्ञान-केवलज्ञान **(ज्वलितम्)** प्रकाशमान हो उठा है **(स्वस्य)** और अपनी **(महिम्नि)** महिमा में **(लीनम्)** लीन हुआ है।

सं० टी०—(एतत्) यह **(पूर्णं-सम्पूर्णम्)** परिपूर्ण **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्वलितं-दीपितम्-प्रकाशं प्राप्त-मित्यर्थः)** प्रदीप्त अर्थात् प्रकाश को प्राप्त हुआ है **(कीदृक्षम्)** कैसा **(स्वस्य-आत्मनः)** अपने **(महिम्नि-माहात्म्ये)** माहात्म्य में **(लीनम्-एकतामापन्नम्)** लीन हुआ अर्थात् एकता अभेदता को प्राप्त हुआ है **(किम्भूते)** कैसे माहात्म्य में **(अचले-निष्कम्पे)** कम्पन रहित **(पुनः कीदृक्षम्)** फिर कैसा ज्ञान **(अत्यन्ते-त्यादि:-अत्यन्तं गम्भीरं-अतलस्पर्शम् तच्च तद्धीरं च)** अतिशय अगाध एवं धीर-निर्विकार **(कुतः)** कैसे **(एकेत्यादि:-एकाकारेण-सर्वत्र ज्ञानाकारेण-स्वस्य-आत्मनः रसः तस्यभरः-अतिशयः तस्मात्)** सर्व व्यापक ज्ञानाकार रूप अपने रस के अतिशय से **(पुनः मोक्षम्-कर्ममोचनमोक्षम्)** पश्चात् कर्ममोचनरूप मोक्ष को **(कथम्भूतम्)** कैसे मोक्ष को **(अक्षय्यम्)** अक्षय्य-अविनश्वर **(पुनः कथम्भूतम्)** फिर कैसे **(अतुलम्-अनुपमम्)** अतुल—तुलना रहित अर्थात् अनुपम **(किं कुर्वत्)** क्या करता हुआ **(कलयत्-सम्पादयत्)** सम्पादन करता हुआ **(कस्मात्)** किससे **(बन्धच्छेदात्-कर्मबन्धविनाशात्)** कर्मबन्ध के उच्छेद से **(पुनः कथम्भूतं-ज्ञानम्)** फिर कैसा ज्ञान **(नित्येत्यादि:-नित्योद्योतेन-निरावरण ज्ञानप्रकाशेन स्फुटिता-प्रकाशिता सहजा-स्वाभाविकी अवस्था-दशा लक्षणया स्वरूपं यत्र तत्)** निरावरणज्ञान-केवलज्ञान-रूप प्रकाश से प्रकाशित स्वाभाविक स्वरूपवान् **(पुनः-किम्भूतम्)** फिर कैसा **(एकान्तशुद्धम्-एकान्तेन-एकधर्मेण-कर्ममुक्तिलक्षणेन शुद्धं निर्मलं-समस्तपदाधिक्याद्अत्यन्तविशुद्धम्)** कर्म मुक्तिरूप एकान्त-एकधर्म से निर्मल अर्थात् समस्त पदों से अधिक होने के कारण अत्यन्त विशुद्ध अतिशय पवित्र ॥१३॥

भावार्थ—ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं। एक क्षायिक अवस्था। दूसरी क्षायोपशमिक अवस्था। क्षायिक अवस्था का ज्ञान, परिपूर्ण-केवलज्ञान कहा जाता है। यही ज्ञान अर्हंतपरमेष्ठी से लेकर सिद्धपरमेष्ठी तक अनन्तकाल पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। इससे पहले की क्षायोपशमिक अवस्था का ज्ञान विकल ज्ञान -अपरिपूर्ण ज्ञान या अधूरा ज्ञान कहलाता है। साथ ही कर्माधीन होने के कारण नश्वर होता है। यह अपने आप में अधूरा होते हुए भी सम्यग्दर्शन के साहाय्य से आंशिक निर्मल होता है। यही निर्मल ज्ञान सप्ततत्त्व की यथार्थ व्यवस्था को अपनी योग्यता से जानता है और अपने आवरण कर्म को छिन्न-भिन्न करके स्वयं ही परिपूर्ण अवस्था रूप-क्षायिक अवस्था को प्राप्त कर अनन्तकाल तक उसी में लीन रहता है। क्योंकि यही अवस्था इसकी स्वाभाविक अवस्था है जो अत्यन्त ही शुद्ध है। इस अवस्था के प्रकट होने पर ही आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। अन्यथा नहीं।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां अष्टमोऽङ्कः समाप्तः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यों की व्याख्या में जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है

यह आठवां अङ्क समाप्त हुआ।

नवमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकारः

सकलाशर्म विमुक्तं युक्तं सुज्ञानसम्पदासारम्।

भजते मुक्तिं वचसाऽमृतचन्द्रोऽमृतमयो जन्तुः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**अमृतमयः**) अविनश्वर स्वभावमय (**अमृतचन्द्रः**) अमृतचन्द्र नामक (**जन्तुः**) जन्मधारी प्राणी (**सकलाशर्म विमुक्तम्**) सभी-समस्त दुःखों से रहित (**सुज्ञानसम्पदा**) सम्यग्ज्ञान-परिपूर्ण केवलज्ञान रूप सम्पदा से युक्त-सहित (**सारम्**) सर्वश्रेष्ठम् (**मोक्षम्**) मोक्ष को (**वचसा**) वचन से (**भजते**) सेवन करते हैं अर्थात् वचन से मोक्ष की स्तुति करते हैं।

(**अथ सर्वविशुद्धं ज्ञानमुदेति**) अब सर्वविशुद्ध ज्ञान-केवलज्ञान उदय को प्राप्त करता है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृ भोक्त्रादिभावान्

दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्ष प्रक्लृप्तेः।

शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-

ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमास्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**अयम्**) यह (**ज्ञानपुञ्जः**) ज्ञान का पुञ्ज अर्थात् आत्मा (**अखिलान्**) अखिल-समस्त (**कर्तृभोक्त्रादिभावान्**) कर्ता भोक्ता आदि भावान्-भावों अर्थात् कर्तापन भोक्तापन आदिरूप विकारी परिणामों को (**सम्यक्**) समीचीन रूप से (**प्रलयम्**) विनाश को (**नीत्वा**) प्राप्त कराके (**प्रतिपदम्**) क्षयोप-शम के निमित्त से होने वाली प्रत्येक पर्याय में (**बन्धमोक्ष प्रक्लृप्तेः**) बन्ध और मोक्ष की विशिष्ट कल्पना से (**दूरीभूतः**)दूर रहने वाला। (**शुद्धः**) द्रव्य से शुद्ध अर्थात् परद्रव्य से रहित (**शुद्धः**) भाव से शुद्ध अर्थात्-परभावों से रहित (**स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः**) आत्मानुभवरूप रस के समूह से परिपूर्ण ऐसा अचल, पवित्र आत्मतेज (**टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा**) टङ्कोत्कीर्ण प्रकट महिमावान् (**सन्**) होता हुआ (**स्फूर्जति**) स्फुरायमान-देदीप्यमान होता है।

सं० टीका—(**अयम्-ज्ञानपुञ्जः-बोधस्यानन्तसंख्यावच्छिन्नाविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमूहः**) यह ज्ञान का पुञ्ज अर्थात् ज्ञान के अनन्त संख्या से युक्त विभागों से परिशुद्ध होता हुआ प्रतिच्छेद समूह (**प्रतिपदम्-एकेन्द्रियादिस्थानम्-प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थानं प्रति**) एकेन्द्रिय आदि पर्याय में तथा प्रथम द्वितीय आदि गुणस्थानों में (**स्फूर्जति-गर्जति द्योतत इत्यर्थः**) प्रकाशमान रहता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**नीत्वा-प्राप्य**) प्राप्त करके (**कम्**) किसको (**सम्यक् प्रलयम् निश्शेषविनाशम्**) पूर्ण विनाश को (**कान्**) किनको (**निखिलान्-समस्तान्**) सभी (**कर्त्रेत्यादिः-कर्ता-कर्मकारकः भोक्ता-कर्मफलभोक्ता, कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेवादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीनां ते तथोक्ताः, ते च ते भावाश्चपरिणामाः तान्**) कर्ता—कर्मों को करने वाला, भोक्ता—कर्मों के फल को भोगने वाला आदि शब्द से उत्पाद्य-उत्पन्न करने योग्य तथा उत्पादक-उत्पन्न करने वाला आदि रूप-परिणामों से (**किम्भूताः**) कैसा होता हुआ (**दूरीभूताः**) दूर होता हुआ (**कुतः**) किससे (**बन्धेत्यादिः-कर्मबन्धमोचनयोः प्रक्लृप्तिः-कल्पना तस्याः**) कर्मों के बन्ध एवं मोक्ष की कल्पना से (**पुनः**) फिर (**शुद्ध-निर्मलः**) शुद्ध-निर्मल परोपाधि से शून्य (**पुनः कीदृक्षः**) फिर कैसा (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः रसः-अनुभवः तस्य विसरः समहः स एव आपूर्णः सम्पूर्णः पुण्याचलः-प्रशस्ताचलः-उदयाचलः तत्रार्चिः तेजः यस्य सः टङ्केन उत्कीर्णः-प्रकटः महिमा माहात्म्यं यस्य सः**) आत्मा के अनुभव रूप रस के समूह से भरपूर उदयाचल पर अतिशय रूप से प्रकट हुई है महिमा जिसकी (**स्वरसेत्यादिरेकपदं वा**) अथवा स्वरस इत्यादि एक ही पद है (**स्वरसविसरापूर्ण पुण्याचलार्चि-श्चासौ टङ्कोत्कीर्ण प्रकटमहिमा च**) अर्थात् स्वात्मानुभूति रस के विस्तार से परिपूर्ण पवित्र अचल तेजरूप टङ्कोत्कीर्ण प्रकटित महिमावान् होता है।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय का विषय शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह परभावों का कर्ता एवं भोक्ता नहीं है। वह तो मात्र अपने ही ज्ञान स्वभाव का कर्ता तथा भोक्ता है। वह बन्ध तथा मोक्ष आदि की विविधकल्पनाओं से भी शून्य है। वह एकेन्द्रिय आदि पर्यायों से तथा गुणस्थानादि से भी अतीत है। वह परद्रव्यों से तथा परभावों से भी सर्वथा रहित है। वह तो मात्र चैतन्य का अक्षुण्ण निधान है। ऐसा

द्रव्यदृष्टि का विषयभूत यह आत्मा है। यह आत्मा का स्वभाव त्रिकाल इसी रूप है। आत्मा का असाधारण धर्म चैतन्य है वह चैतन्य ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार है। वह ज्ञान और दर्शन प्रत्येक संसारी प्राणी के अपनी-अपनी पर्याय योग्यता के अनुसार सर्वदा विद्यमान रहता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम के प्रकाश में सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भी वह ज्ञान और दर्शन उपलब्ध होता है जो सबसे हीन पर्याय है। उससे उठकर यह जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय होकर ज्यों ज्यों आत्मानुभव करता है त्यों त्यों इस जीव का वह ज्ञान और दर्शन भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता रहता है। वही ज्ञानदर्शन बढ़ते-बढ़ते किसी उन्नतिशील जीव के वृद्धि की चरमसीमा को प्राप्त कर लेता है। जिस जीव के उक्त ज्ञान और दर्शन अपनी परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं बस वही जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो परमात्मा कहा जाता है। यह परमात्मा ही परिपूर्ण आत्मानुभूति रूप रस में सराबोर रहता है इसकी महिमा अचिन्त्य है वचनागोचर होने से अगम्य है।

(**अथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वं कीर्तयति**) अब आत्मा के कर्तृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृत्व-भोक्तापन का कीर्तन-वर्णन करते हैं—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥२॥

अन्वयार्थ—(**अस्य**) इस (**चितः**) चित्-चैतन्यमय आत्मा का (**वेदयितृत्ववत्**) वेदयितापन-भोक्तापन की तरह (**कर्तृत्वम्**) कर्तापन—कर्मों का करनारूप (**स्वभावः**) स्वभाव (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह आत्मा (**अज्ञानात्**) अज्ञान से-मिथ्याज्ञान के कारण (**एव**) ही (**कर्ता**) कर्मों का कर्ता-करने वाला (**भवति**) होता है (**तदभावात्**) उस मिथ्याज्ञान के अभाव से (**अकारकः**) अकारक-अकर्ता ही है।

सं० टीका—(**अस्य-चितः-चिद्रूपस्य**) इस चिद्रूप आत्मा का (**कर्तृत्वं-कर्मकारकत्वम्**) कर्मों का करना रूप कर्तृत्व-कर्तापन (**न स्वभावः-न स्वरूपम्**) स्वभाव-स्वरूप नहीं (**अस्ति**) है (**किमिव**) किसके समान (**वेदयितृत्ववत्-यथा वेदयितृत्वं-भोक्तृत्वम्**) जैसे—वेदयितृत्व-वेदयितापन अर्थात् भोक्तृत्व-भोक्तापन (**आत्मनो न सम्भवति तथा कर्तृत्वमपि**) आत्मा के सम्भव नहीं है वैसे ही कर्तृत्व-कर्तापन भी सम्भव नहीं है (**अयम्-आत्मा**) यह आत्मा (**कर्ता-कर्मणां कारकः**) कर्मों का करने वाला (**अस्ति**) है (**इति प्रतीतिर्दृश्यते**) ऐसी प्रतीति देखी जाती है (**तत्कथम्**) वह कैसे (**स्यात्**) होगी ? (**आत्मा कारकः-कर्मणां कर्ता भवेत्**) आत्मा कर्मों का कर्ता हो सकता है (**कुतः**) कैसे (**तदभावात्-तस्य ज्ञानस्य अभावः-विनाशस्तस्मात्**) उस ज्ञान अभाव से (**अज्ञानतोमया कृतमिति मनुते**) अज्ञान से मैंने किया ऐसा मानता है (**तदभावादकर्तृत्वमेव**) उस पूर्वोक्त अज्ञान के अभाव से तो अकर्ता ही है।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से आत्मा पर से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म, भावकर्म से रहित ज्ञानदर्शनमयी है। इस दृष्टि में जब रागादि भाव और शरीरादिक ही नहीं हैं तब उनके कर्तापने का और भोक्तापने का सवाल ही नहीं रहता। इस दृष्टि में क्योंकि आत्मा

ज्ञान दर्शनमयी है और उसी के साथ एकरूप है और अपने ज्ञातापने का ही कर्त्ता और ज्ञातापने का ही भोक्ता है। इस दृष्टि में जो विकारी पर्याय हो रही है वह भी गौण हो जाती है क्योंकि वह द्रव्यदृष्टि का विषय नहीं है। तब द्रव्य कर्मों के कर्त्तापने का तो सवाल ही नहीं रहता। यहां पर तो जाननपने रूप परिणमन को ज्ञानगुण में गर्भित किया और ज्ञानगुण को चेतन द्रव्य में गर्भित करके एक अकेले चेतन का ही अनुभव कराया है। अज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं जानता और रागादि और शरीरादिक के साथ एकत्व को प्राप्त हो रहा है इसलिए अपने को कर्मों का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता मानता है। जैसा ज्ञानी का ज्ञानस्वभाव के साथ एकत्वपना है वैसा अज्ञानी का रागादि और शरीरादिक के साथ एकत्वपना है। वह उनको पर्याय में होने वाला विकार नहीं समझता परन्तु अपना स्वभाव ही समझता है अतः अपने को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानता है देखता है। उसकी श्रद्धा में पर्यायदृष्टि का विषय ही द्रव्यदृष्टि के विषयरूप है अर्थात् व्यवहार ही परमार्थपने को प्राप्त है।

(**अथाकर्तृकत्वं चिन्तयति**) अब अकर्तापन का चिन्तन करते हैं—

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥३॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिः**) प्रकाशमान चैतन्य ज्योति से (**छुरितभुवनाभोगभवनः**) जिसने लोकरूपी विस्तृत भवन को व्याप्त-प्रकाशित कर दिया है ऐसा (**स्वरसतः**) स्वभाव से (**विशुद्धः**) अति पवित्र (**अयम्**) यह (**जीवः**) जीव (**अकर्ता**) कर्मों का कर्ता नहीं हैं (**इति**) ऐसा (**स्थितः**) स्थित-सिद्ध हो चुका है (**तथापि**) तथापि (**अस्य**) इस आत्मा के (**इह**) इस संसार में (**किल**) निश्चय से (**यत्**) जो (**प्रकृतिभिः**) कर्म प्रकृतियों से (**बन्धः**) बन्ध (**स्यात्**) होता है (**सः**) वह (**असौ**) यह (**खलु**) निश्चय से (**अज्ञानस्य**) अज्ञान की (**अपि**) ही (**कः**) कोई (**गहनः**) अति गम्भीर (**महिमा**) महिमा-महत्ता (**स्फुरति**) वृद्धिगत हो रही है।

सं० टी०—(**अमुना-प्रकारेण स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्य जीवस्य तेन स कारणभावाभावः सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेणोत्पाद्योत्पादक भावाभावात् इति प्रकारेण**) पूर्वोक्त प्रकार से अपने ही परिणामों से उत्पन्न होने वाले जीव का कर्मों के साथ कारणभाव का अभाव है क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने से भिन्न द्रव्यों के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव का अभाव है इस प्रकार से (**अयम्**) यह (**जीवः**) जीव (**चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप (**अकर्ता-कर्मणामकारकः सन्**) कर्मों का नहीं करने वाला होता हुआ (**स्थितः-सुस्थः**) स्थित रहो। (**किम्भूतः**) कैसा (**स्वरसतः-स्वभावतः कर्मोपाधिनिरपेक्षतः**) स्वभाव से-कर्मरूप उपाधि की अपेक्षा न रखने से (**विशुद्धः-निर्मलः**) विशुद्ध-निर्मल (**स्फुरदित्यादिः-स्फुरन्ति-प्रकाशमानानि तानि च तानिचिज्ज्यो-**

तांसि च ज्ञान तेजांसि च तैः छुरितेत्यादिः—छुरितं-प्रकाशितं भुवनमेव विष्टपमेव भोगभवनं परिपूर्णं गृहं येन सः) देदीप्यमान ज्ञानरूप तेज से लोकरूप भवन को प्रकाशित करने वाला **(तथापि-आत्मनः समस्त विज्ञानमयत्वेनाकर्तृकत्वेसत्यपि)** आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप होने से कर्मों का कर्ता नहीं है तो भी **(किल इति निश्चितम्)** किल—यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से **(इह-जगति)** इस जगत में **(ज्ञानावरणादि कर्मभिः)** ज्ञानावरण आदि कर्मों से **(स्यात्-भवेत्)** होता है **(खलु इति निश्चितम्)** खलु—यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से **(यत्-यस्माद्धेतोः)** जिस कारण से **(अस्य-आत्मनः)** इस आत्मा के **(असौ-बन्धः संश्लेषः)** बन्ध-संश्लेष-दोनों का एकत्व सम्बन्ध **(प्रकृतिभिः)** ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों से **(सः कोऽपि-अनिर्दिष्टः)** वह कोई अनिर्वचनीय **(गहनः-अज्ञातान्तः स्वरूपः)** गहन-गम्भीर जिसके असली स्वरूप की थाह नहीं **(अज्ञानस्य-ज्ञानाभावस्य)** अज्ञान की **(महिमा-माहात्म्यम्)** महत्ता **(स्फुरति-विजृम्भते)** वृद्धिगत हो रही है—बढ़ रही है **(अतिशयाऽलङ्कारोऽयम्)** यह अतिशय अलङ्कार है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावतः ज्ञानी है। परद्रव्यों से तथा परभावों से सर्वथा शून्य है। अपने ज्ञान-गुण से लोक और अलोक का साक्षात्कारक होने से सर्व व्यापक है अतएव पर का कर्ता नहीं है तो भी ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के साथ इसका सम्बन्ध रूप जो कुछ भी बन्ध होता है वह सब अज्ञान का ही प्रभाव है अतएव अज्ञानी ही कर्मों का कर्ता होता है ज्ञानी नहीं। कर्मों का कार्य ज्ञानी के भी होता है और अज्ञानी के भी होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को जानता है अतः कर्म के कार्य को जानता तो है परन्तु उसके साथ एकत्व नहीं करता अतः कर्ता नहीं होता और भोक्ता नहीं होता। अज्ञानी आत्म-स्वभाव को नहीं जानता अतः कर्म के कार्य के साथ एकत्व मानकर उनका कर्ता और भोक्ता बन जाता है ॥३॥

(अथभूयः कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति) अब कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व पर फिर से विचार करते हैं—

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥४॥

अन्वयार्थ—**(अस्य)** इस **(चितः)** चैतन्यमय-आत्मा का **(भोक्तृत्वम्)** भोक्तापन-कर्म के फलों को भोगने का **(स्वभावः)** स्वभाव **(कर्तृत्ववत्)** कर्तापन के समान **(न)** नहीं **(स्मृतः)** स्मरण किया गया है अर्थात् नहीं है **(अयम्)** यह चिद्रूप आत्मा **(अज्ञानात्)** आज्ञान-मिथ्याज्ञान से **(एव)** ही **(भोक्ता)** भोक्ता-कर्मों के फलों का भोगने वाला है **(तदभावात्)** उस अज्ञान के अभाव से **(अवेदकः)** अवेदक-अभोक्ता नहीं भोगने वाला है।

सं० टीका—**(अस्य-चितः-चिद्रूपस्य)** इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का **(भोक्तृत्वम्-कर्म फलभोक्तृत्वम्)** भोक्तृत्व-कर्मों के सुख-दुःखादि रूप फलों का भोक्तापन **(न स्वभावः-न स्वरूपम्)** स्वरूप नहीं **(स्मृतः-कथितः)** स्मरण किया गया है अर्थात् नहीं कहा गया है **(अज्ञानदेव-परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणाद-नवबोधादेव)** पर पुद्गलरूप कर्म और आत्मा इन दोनों में एकत्व बुद्धि को करने वाले अज्ञान से ही

(अयं-चेतयिता) यह चेतन आत्मा **(भोक्ता-कर्मफलानुभोजकः)** भोक्ता—कर्मों के फलों का अनुभव करने वाला **(तदभावात्-प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्)** उस अज्ञान के अभाव से अर्थात् ज्ञान के निश्चित स्वरूप प्रकट होने से **(अवेदकः-कर्मफलानभोजकः)** कर्मों के फलों को नहीं भोगने वाला है।

भावार्थ—ज्ञान का अपना निश्चित लक्षण स्व और पर को मात्र जानना ही है। और अज्ञान का अपना सुनिश्चित स्वरूप अपने को तथा पर को एक जानना ही है अर्थात् अनात्मा को आत्मा और आत्मा को अनात्मा रूप से स्वीकार करना है। प्रकृत में जब ज्ञान ज्ञानरूप में परिणत होता है तब वह स्वरूप का वेदक-भोगने वाला होता है, कर्मों के फलों का नहीं। लेकिन जब वही ज्ञान मिथ्यादर्शन से सहित होता है तब विपरीत परिणमन करता है उस अवस्था में वह भोक्ता-कर्मों के फलों का भोगने वाला होता है, निज स्वरूप का नहीं।

(अथ ज्ञान्यज्ञानाभिस्वरूपं सूचयति) अब ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं—

> **अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको**
> **ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।**
> **इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानितात्यज्यताम्-**
> **शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥५॥**

अन्वयार्थ—**(प्रकृतिस्वभावनिरतः)** ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के स्वभाव में रमण करने वाला **(अज्ञानी)** मिथ्याज्ञानी **(नित्यम्)** हमेशा **(वेदकः)** वेदक-भोक्ता **(भवेत्)** होता है। **(तु)** किन्तु **(प्रकृति-स्वभाव विरतः)** ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के स्वभाव से विरक्त पृथक् रहने वाला **(ज्ञानी)** सम्यग्-ज्ञानी-स्वपरविवेकी **(जातुचित्)** कदाचित्-कभी **(वेदकः)** वेदक-भोक्ता **(नो)** नहीं **(भवेत्)** होता है। **(इत्येवम्)** ऐसे "पूर्वोक्त प्रकार के" **(नियमम्)** नियम को **(निरूप्य)** भले प्रकार जानकर **(निपुणैः)** निपुण पुरुषों को **(अज्ञानिता)** अज्ञानीपन **(त्यज्यताम्)** त्यागना चाहिए **(शुद्धैकात्ममये)** शुद्ध अद्वितीय आत्मा से विरचित **(महसि)** तेज में **(अचलितैः)** स्थिर होकर **(ज्ञानिता)** ज्ञानीपने का **(आसेव्यताम्)** सेवन करना चाहिए।

सं० टीका--**(अज्ञानी-पुमान्)** अज्ञानी पुरुष **(प्रेत्यादिः-प्रकृतेः-कर्मणः स्वभावः स्वरूपं तत्र निरतः-निश्शेषं रक्तः सन्)** प्रकृति-कर्मों के स्वभाव में अतिशय रूप से अनुरक्त रहने वाला **(शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन तयोरेकत्वदर्शनेन तयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात्-प्रकृतिस्वभावमपि, अहन्तयानुभवत्)** शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से, आत्मा और कर्म पुद्गलों को एक समझने से एक ही देखने से और उनमें एक रूप ही परिणमन करने से कर्मस्वभाव में स्थित अतएव कर्मस्वभाव को ही आत्मारूप से अनुभव करने वाला **(नित्यम्)** सदा **(वेदकः-कर्मफलभोक्ता)** वेदक-कर्मों के फल का अनुभव करने वाला भोक्ता **(भवेत्)** होता है। **(तु-पुनः)** किन्तु **(ज्ञानी पुमान)** ज्ञानी आत्मा **(प्रेत्यादिः-**

प्रकृतेः स्वभावात् विरतः-विरक्तः सन्) कर्म के स्वभाव से विरक्त-उदासीन पृथक् होता हुआ **(शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात्, शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहन्तयानुभवन्)** शुद्ध आत्मा के ज्ञान का सद्भाव होने के कारण आत्मा और कर्मपुद्गलों में जुदाई का ज्ञान होने से उन दोनों में जुदाई का दर्शन होने से और उन दोनों में पृथक्-पृथक् परिणमन होने से कर्मों के स्वभाव से अतिशय दूर रहने के कारण शुद्ध आत्मा के स्वभाव को ही एकरूप से आत्मरूप में अनुभव करने वाला होता है **(जातुचित्-कदाचिदपि)** कभी भी **(न वेदकः-उदितकर्मफल भोक्ता न)** उदय को प्राप्त हुए कर्मों के फल का भोगने वाला नहीं **(भवेत्)** होता है **(निपुणैः-भेदज्ञैः-पुरुषैः)** स्वपर के भेद को जानने वाले पुरुषों के द्वारा **(अज्ञानिता-अज्ञान स्वभावः)** अज्ञान स्वभाव **(त्यज्यताम्-मुच्यताम्)** छोड़ना चाहिए **(किं कृत्वा)** क्या करके **(इति-अमुना-प्रकारेण)** इस प्रकार से **(एवम्-पूर्वोक्तं ज्ञान्यज्ञानिनोर्बन्धाबन्धलक्षणम्)** पूर्व में कहे गये ज्ञानी और अज्ञानी के बन्ध और अबन्ध स्वरूप **(नियमम्)** नियम को **(निरूप्य-ज्ञात्वा)** जानकर **(पुनः)** पश्चात्-फिर **(आसेव्यताम्-ध्यायताम्)** सेवन करना चाहिए—ध्यान करना चाहिए **(का)** क्या **(ज्ञानिता-ज्ञानित्वम्)** ज्ञानीपन-ज्ञानस्वभाव का **(कैः)** किनसे **(अचलितैः-अचलत्वं-प्राप्तैः)** निश्चलता को प्राप्त हुए **(क्व)** कहां **(महसि-तेजसि)** तेज में **(किम्भूते)** कैसे **(शुद्धैकात्ममये-शुद्धः निष्कलङ्कः स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन्)** शुद्ध एकात्ममय अर्थात् निष्कलङ्करूप एक आत्मा के द्वारा रचे हुए।

भावार्थ—कर्मों के स्वभाव को आत्मा का स्वभाव मानने वाला अज्ञानी ही वेदक-भोक्ता होता है। तथा जो कर्मों के स्वभाव से पृथक् अपने चैतन्य स्वभाव को ही स्वभाव रूप से स्वीकार करता है वह ज्ञानी ज्ञाता ही होता है भोक्ता नहीं। कर्मों का कार्य होते हुए भी उसमें ज्ञानी के अपनापना, एकत्वपना, अहम्पना नहीं है। इस तरह ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूपगत भेद को जानने वाले ज्ञानीजनों का कर्तव्य है कि वे अज्ञानों की भूमिका से हटकर ज्ञानी के भूतल पर आ जायें और अपने अविचल तेजोमय चैतन्य में सदा के लिए निमग्न हो जायें जो शाश्वतिक है अद्वितीय है और है असाधारण।

(अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति) अब ज्ञानी का ज्ञातापन प्रकट करते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन् परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥

अन्वयार्थ—**(ज्ञानी)** ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी **(कर्म)** कर्म को **(न)** नहीं **(करोति)** करता है **(च)** और **(न)** नहीं **(वेदयते)** भोगता है। किन्तु **(अयम्)** यह ज्ञानी **(केवलम्)** केवल-सिर्फ **(तत्स्वभावम्)** कर्म के स्वभाव को **(जानाति)** जानता है। **(परम्)** सिर्फ **(जानन्)** जानने वाला ज्ञानी **(करणवेदनयोः)** करना

और भोगना इन दोनों का (अभावात्) अभाव होने से (शुद्धस्वभावनियतः) शुद्ध आत्मस्वभाव में निमग्न होने से (सः) वह ज्ञानी महात्मा (हि) निश्चय से (मुक्तः) मुक्त (एव) ही है।

सं० टीका—(ज्ञानी-पुमान्) ज्ञानी पुरुष (शुभाशुभं कर्म न करोति-न विधत्ते) शुभ-पुण्य-अशुभ-पाप रूप कर्म को नहीं करता है (न वेदयते-कर्म फलं न भुञ्जति) कर्मों के सुख और दुःखरूप फल को नहीं भोगता है। (किलेति निश्चितम्) किल—यह अव्यय निश्चितार्थक है—निश्चय से (अयं-ज्ञानी) यह ज्ञानी (केवलम्-कर्तृत्व भोक्तृत्वराहित्येन परम्) कर्तृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृत्व-भोक्तापन से रहित होने के कारण सिर्फ—(तत्स्वभावम्-तस्यकर्मणः-स्वभावम्-स्वरूपम्-मधुरकटुकादि) उस कर्म के मीठे सुहावने और कटुक-कड़वे असुहावने रूप को (जानाति-तत्स्वभाव परिच्छेदको भवति) जानता है अर्थात् उसके स्वभाव का परिच्छेदक-निश्चय करने वाला है (हि-पुनः) निश्चय से (सः-आत्मा) वह आत्मा (मुक्त एव-कर्मफलरहित एव) कर्मों के फल से रहित ही है (परम्-केवलम्) सिर्फ (जानन्-विश्वं परिच्छिन्दन् सन्) जानता हुआ अर्थात् सभी पदार्थों को भली भांति निर्णय करता हुआ (शुद्धेत्यादिः-शुद्धश्चासौ स्वभावः स्वरूपं च तत्र नियतः निश्चलत्वमापन्नः) शुद्ध स्वरूप में निश्चलता को प्राप्त हुआ है (कुतः) कैसे (करणवेदनयोः करणं-कर्मकर्तृत्वं च, वेदनं-कर्मफलभोक्तृत्वं च तयोरभावात्-कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभावराहित्यात्) कर्मों का करना रूप कर्तृत्व तथा कर्मों के फल का भोगनारूप भोक्तृत्व स्वभाव न होने से।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से आत्मा मात्र ज्ञाता है जैसे दूसरे के, पुण्य-पाप के उदय के फल को, शरीर की अवस्था को और शुभ-अशुभ भावों को मात्र जानता ही है उनका कर्त्ता नहीं और भोक्ता भी नहीं है वैसे ही इस शरीर की अवस्था को, पर्याय में होने वाले शुभ-अशुभ भावों को और पुण्य-पाप के उदय को मात्र जानने वाला ही है इन दोनों में परपने की अपेक्षा और जाननेपने की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है ॥६॥

(अथात्मनः कर्तृत्वं दूषयति) अब आत्मा के कर्तृत्व को दूषित करते हैं—

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(तमसा) अज्ञानरूप अन्धकार से (आवृताः) व्याप्त आच्छादित (ये) जो पुरुष (आत्मानम्) आत्मा-अपने को (कर्तारम्) कर्मों का कर्ता (पश्यन्ति) देखते अर्थात् जानते हैं (मुमुक्षताम्) मुक्ति को चाहने वाले होने पर (अपि) भी (तेषाम्) उनको (सामान्यजनवत्) साधारण मनुष्यों की तरह (मोक्षः) मोक्ष (न) नहीं (स्यात्) हो सकता है।

सं० टी०—(ये तु-जिनसिद्धान्ताभासाः) जिन सिद्धान्त को नहीं जानने वाले जो लोग (तमसा वृताः-अज्ञानव्याप्ताः) अज्ञान से व्याप्त-घिरे हुए हैं (विचारराहित्यात्) वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार-विमर्श से शून्य होने के कारण (आत्मानम्) अपने को (कर्तारम्-कर्मकारकम्) कर्मों का कर्ता—करने वाला (पश्यन्ति-ईक्षन्ते) देखते हैं जानते-मानते हैं (तेषां-जैनाभासानां) उन जैनाभासों को (मुमुक्षतामपि मोक्ष-मिच्छतामपि) मोक्ष की इच्छा करने वाले होने पर भी (न मोक्षः-कर्ममोचनलक्षणोमोक्षो न स्यात्-आत्मनः

कर्तृत्वाऽभ्युपगमात्) आत्मा को कर्मों का कर्ता स्वीकार करने से कर्ममोचन रूप-कर्मों से छुटकारा पाना रूप मोक्ष नहीं हो सकता **(तदभ्युपगमे च सदैव बन्धत्वप्रसङ्गः)** और आत्मा को कर्मों का करता स्वीकार करने पर तो सदा के लिए बन्ध का ही प्रसङ्ग बना रहेगा **(क इव)** किसके समान **(सामान्य जनवत्-सामान्य जनानां-वैशेषिकादीनां यथा—"कर्ताशिवस्त्रिजगताम्")** वैशेषिक आदि साधारण मनुष्य जैसे शिव को तीन लोक का कर्ता मानते हैं **(तथा च प्रयोगः)** जैसा कि उनका वाक्य विन्यास है **(सर्वं उर्वीपर्वत-तरु तन्वादिकं धीमद्धेतुकम् कार्यत्वात्-अचेतनोपादानत्वात्सन्निवेशविशिष्टत्वाद्वा वस्त्रादिवदिति यस्तु धीमान् स ईश्वरः)** कि पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये हैं क्योंकि ये कार्य हैं और इनका उपादान कारण अचेतन तत्त्व है अथवा ये विलक्षण रचना के धारक हैं वस्त्र आदि की तरह। और जो बुद्धिमान है वह ईश्वर है। **(तस्य विचार्यमाणस्यमुक्तत्वायोगात्)** आचार्य कहते हैं कि ईश्वर के स्वरूप का विचार करने पर उसके मुक्ति नहीं बन सकती **(स हि अशरीरः-सशरीरो वा करोति ?)** वह ईश्वर शरीर रहित, सृष्टि को करता है अथवा शरीर सहित ? ये दो विकल्प हैं। **(न तावदाद्यः-अशरीरस्य कर्तृत्व व्याघातात्-मुक्तात्मवत्)** जैसे मुक्तात्मा शरीर से रहित होने के कारण सृष्टि का कर्ता नहीं होता है वैसे ही शरीर रहित ईश्वर भी सृष्टि का कर्ता नहीं हो सकता है। **(सशरीरत्वे-शरीरमात्र कर्तृकत्वे-उपक्षीणशक्तिकत्वात्)** शरीर सहित ईश्वर सृष्टि को बनाता है यदि ऐसा कहोगे तो हम पूछते हैं कि वह शरीर को ही बनाता है या अन्य वस्तुओं को भी। यदि शरीर को ही बनाता है तब तो वह शरीर के बनाने में ही शक्ति रहित हो जायगा फिर अन्य वस्तुओं को कैसे बनायेगा **(तदकरणे साधनस्य व्यभिचारात्)** अन्य वस्तुओं को नहीं बनाने पर तो आपका कार्यत्व हेतु व्यभिचरित हो जायगा क्योंकि अपने शरीर से भिन्न कार्यों का कर्ता वह नहीं बन सका। **(सकर्मकत्वे संसारिजनवदकर्तृकत्वाच्च-तद्वदमुक्तत्वम्)** शायद तुम यह कहो कि वह ईश्वर सकर्मक शरीर सहित होने से पृथ्वी आदि कार्यों को भी बना लेगा तो यह तुम्हारा कहना भी सङ्गत नहीं है क्योंकि जैसे शरीर सहित संसारी जीव सभी कार्यों का कर्ता नहीं हो सकता वैसे ही ईश्वर भी नहीं हो सकेगा साथ ही शरीर सहित होने से अन्य संसारियों की तरह वह मुक्त भी नहीं बन सकेगा।

भावार्थ—कर्त्तापने का अर्थ है एकत्वपना। ज्ञान और आत्मा का व्याप्य-व्यापक भाव है अतः एक है वैसा एकत्वपना पर्याय में होने वाले शुभ-अशुभ भावों के साथ जब माना जाता है तब उनका कर्त्तापना आता है अतः अहंकार, अहंभाव पैदा होता है। जिनके विकारी भावों में अहंपना है वे उस विकारी भावों का नाश कैसे करेंगे। इसलिए ऐसा कहा कि -जैनेतर लोगों के तो आत्मस्वभाव का वर्णन ही नहीं है अतः वे तो पर्याय में होने वाले भावों में एकत्वपना मानते हैं। परन्तु जैनी भी व्रताचरण रूप शुभभावों में एकत्वपना मानते हैं। तब मालूम होता है कि वे आत्मस्वभाव को नहीं जानते अतः जैनेतर लोगों की तरह विकार में एकत्वपने की समानता होने से कर्मक्षय से रहित ही रहते हैं। एक ज्ञान स्वभाव के अलावा पुण्य-पाप का फल, शरीरादिक पर्याय और असंख्यात लोक प्रमाण विकारी भावों में अगर अहं उठता है-

आता है तो मिथ्यात्व सम्बन्धी राग है और ज्ञान स्वभाव में भी अहं आता है तो चारित्रमोह सम्बन्धी राग है जिसका अभाव ज्ञानरूप रहने से ही होता है। आचार्यों ने मिथ्यात्व सम्बन्धी राग छुटाने के लिए पर में अहम्पने का निषेध किया और ज्ञानस्वभाव में अहम्पना स्थापित कराया। चारित्रमोह का अभाव करने के लिए ज्ञानस्वभाव के अहम् को छुटा करके स्वभाव में एकरूप रहने को कहा। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से जो भाव होते हैं वह पर्याय का विषय है जो यहां पर गौण है। उनके साथ भी द्रव्यदृष्टि रूप एकत्वपना ज्ञानी के नहीं होता है। पुद्गलद्रव्य की पर्याय जो कर्मादिक है उनका कर्त्ता अपने को मानने से तो दो द्रव्य में एकत्व बुद्धि हो जाती है जो खराखरी मिथ्यात्व है ॥७॥

(अथ तथैव कर्तृत्वं व्याहन्ति) अब पर के कर्तृत्व-करतापन का निषेध करते हैं—

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥८॥

अन्वयार्थ—**(परद्रव्यात्मतत्त्वयोः)** पर-पुद्गलादि द्रव्य का और आत्मतत्त्व का **(सर्वः)** कोई भी **(सम्बन्धः)** सम्बन्ध **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे)** कर्ता और कर्मरूप सम्बन्ध के अभाव में **(तत्कर्तृता)** कर्मों का कर्तापन **(कुतः)** कैसे **(भवेत्)** हो सकता है।

सं० टीका—**(परेत्यादिः-पुद्गलद्रव्यजीवद्रव्ययोः)** पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य का **(सर्वोऽपि-तादात्म्यादिलक्षणः)** सभी तादात्म्य आदि नाना प्रकार के **(सम्बन्धः)** सम्बन्ध **(नास्ति)** नहीं हैं **(कर्त्रेत्यादिः-तयोर्मध्ये-आत्मनः कर्तृत्वम्-कर्मणां कर्मत्वं-एतल्लक्षणसम्बन्धाभावे सति)** आत्मा और पुद्गल के मध्य में आत्मा के कर्तृता-कर्तापिना तथा पुद्गल कर्मों के कर्मता-कर्मपन रूप सम्बन्ध का अभाव होने पर **(तत्कर्तृता-तेषां कर्मणामात्मनः कर्तृत्वम्)** उन कर्मों का कर्तापन आत्मा के **(कुतः ?)** कैसे **(स्यात्)** हो सकता है अर्थात् **(न कुतोऽपि स्यात्)** कहीं से भी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—निश्चय नय की अपेक्षा से पुद्गलतत्त्व का एवं आत्मतत्त्व का परस्पर में कोई भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दोनों में स्वभावकृत विभिन्नता स्वतः सिद्ध है। स्वभाव भेद से सम्बन्ध मात्र की व्यवस्था सर्वथा विघटित हो जाती है ऐसी स्थिति में आत्मा का कर्मों के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे बन सकता है अर्थात् कथमपि नहीं। तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्धित द्रव्यों में ही कर्तृकर्म भाव की व्यवस्था देखी जाती है अन्य सम्बन्ध से सम्बन्धित द्रव्यों में नहीं। अतः पुद्गल द्रव्य का आत्मद्रव्य के साथ परस्पर में संयोग सम्बन्ध ही है अतएव उनमें उक्त कर्तृकर्म सम्बन्ध सर्वथा असम्भव ही है।

(अथ परद्रव्यात्मतत्त्वयोः सम्बन्धं निवारयति) अब पर-पुद्गलद्रव्य का तथा आत्मतत्त्व का परस्पर में सम्बन्ध मात्र का निवारण करते हैं—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं—
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे-
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक (**वस्तुनः**) वस्तु का (**इह**) इस जगत में (**अन्यतरेण**) किसी दूसरी वस्तु के (**सार्द्धम्**) साथ (**यतः**) जिस कारण से (**सकलः अपि**) सभी (**सम्बन्धः**) सम्बन्ध (**निषिद्धः**) निषिद्ध-वर्जित है (**तत्**) तिस कारण से—(**वस्तुभेदे**) वस्तु के भेद में अर्थात् भिन्न वस्तु में (**कर्तृकर्मघटना**) कर्ता-कर्म की व्यवस्था (**न**) नहीं (**अस्ति**) है अतः (**मुनयः**) मुनिजन (**च**) और (**जनाः**) साधारण लोग (**तत्त्वम्**) आत्मा को (**अकर्तृ**) पर का अकर्ता (**पश्यन्तु**) देखें।

सं० टीका—(**इह-जगति**) इस जगत में (**यतः-कारणात्**) जिस कारण से (**एकस्य वस्तुनः-चेतनस्य, अचेतनस्य वा**) एक चेतन अथवा—अचेतन पदार्थ का (**अन्यतरेण सार्द्धं-सह**) किसी भिन्न वस्तु के साथ (**सकलोऽपि-समस्तोऽपि**) सब का सब (**सम्बन्धः-तादात्म्यलक्षणः-गुणगुणिभावलक्षणः, लक्ष्यलक्षणभावः, वाच्यवाचकभावलक्षणः, विशेष्यविशेषणभावलक्षणः इत्यादिः सम्बन्धोभिन्नवस्तुनोः**) तादाम्य स्वरूप, गुण-गुणिभावरूप, लक्ष्यलक्षणरूप, वाच्यवाचकरूप, विशेष विशेषणरूप इत्यादिरूप सम्बन्ध विभिन्न वस्तुओं में (**निषिद्ध एव-प्रतिषिद्ध एव**) निषिद्ध ही—निषेध किया गया है (**तत्-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**वस्तुभेदे-वस्तुनोः-जीवपुद्गलयोः-भेदे-पृथक्त्वे सति**) जीव और पुद्गल वस्तुओं में पृथक्ता-जुदाई के सिद्ध होने पर (**कर्तृकर्मघटना-कर्तृकर्मणोः-जीव पुद्गलयोः-कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना-सम्भावना**) जीव और पुद्-गल इन दोनों में आपस में कर्ता और कर्म की सम्भावना (**नास्ति**) नहीं हैं (**च-पुनः**) अतएव (**मुनयो जनाः-मुनीश्वरलक्षणा लोकाः**) मुनीश्वर लोग (**अकर्तृ-कर्तृत्वव्यपदेशरहितम्**) कर्तृत्व-कर्तापन के व्यवहार से शून्य (**स्वतत्त्वम्-स्वात्मस्वरूपम्**) अपने आत्मा के स्वरूप को (**पश्यन्तु-अवलोकयन्तु**) देखें-अवलोकन करें।

भावार्थ—इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वभाव से पृथक्-पृथक् ही है उनका आपस में कोई मेल जोल नहीं है। अतः उनमें परस्पर में कोई भी सम्बन्ध निश्चित या नियत नहीं है ऐसी स्थिति में आत्मा का पर पुद्गल जन्य कर्मों के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् सर्वथा असम्भव ही है। अतएव आचार्य कहते हैं कि साधुजन और साधारण तत्त्वजिज्ञासु लोग आत्मतत्त्व को परद्रव्य का अकर्ता ही जानें और देखें।

(**अथाज्ञानिस्वभावं नेनेक्ति**) अब अज्ञानी जीव के स्वभाव की पुष्टि करते हैं—

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्मकर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**तु**) किन्तु (**ये**) जो वादी लोग (**इमम्**) इस (**स्वभावनियम्**) स्वभाव के नियम को (**न**) नहीं (**कलयन्ति**) जानते हैं (**बत**) खेद है कि (**ते**) वे (**अज्ञानमग्नमहसः**) अज्ञानाच्छादित ज्ञानज्योति

वाले (**वराकाः**) स्वरूप से अपरिचित (**सन्तः**) होते हुए (**कर्म**) कर्म को (**कुर्वन्ति**) करते हैं अर्थात् कर्म के कर्ता वनते हैं (**ततः**) उस अज्ञान से (**एव**) ही (**हि**) निश्चय से (**भावकर्मकर्ता**) रागादिरूप भाव कर्मों का करता (**स्वयम्**) स्वतः (**चेतनः**) आत्मा (**एव**) ही (**भवति**) होता है (**अन्यः**) ज्ञानी आत्मा (**न**) रागादि भावकर्मों का कर्ता नहीं हैं।

सं० टीका—(**तु-पुनः**) किन्तु (**ये-सांख्यादयो वादिनः**) जो सांख्य आदि वादो लोग (**इमम्-प्रसिद्धम्**) इस प्रसिद्ध (**स्वभावनियमम्-स्वभावः चेतनत्वम्-अचेतनत्वम्-तस्य नियमम्**) चेतनता तथा अचेतनतारूप पृथक्-पृथक् स्वभाव के नियम को (**न कलयन्ति-न मन्यन्ते**) नहीं मानते हैं (**सांख्यादीनां प्रकृत्यादितत्त्वानामेकत्वघटनात्**) क्योंकि सांख्यादि विभिन्न मतावलम्बियों ने प्रकृति आदि तत्त्वों को एकरूप से स्वीकार किया है। (**कीदृशास्ते**) वे सांख्य आदि कैसे हैं ? (**अज्ञानेत्यादिः-अज्ञाने मग्नं-अज्ञानाच्छादितं महः-ज्ञानज्योतिः येषांते**) जिनका ज्ञानरूप तेज अज्ञानरूप अन्धकार से समाच्छादित-ढका हुआ है (**बतेति खेदयति**) बत—इस अव्यय से—आचार्यश्री खेद प्रकट करते हैं कि (**ते वादिनः**) वे सांख्यादि वादी लोग (**वराकाः-स्वतत्त्व व्याघातात्-स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः सन्तः**) निज आत्मतत्त्व के विनाश से अपने चैतन्य स्वरूप को स्थापन करने में अशक्त होते हुए (**केवलम्**) सिर्फ (**कर्म-ज्ञानावरणादिप्रकृतिमुपार्जयन्ति**) ज्ञानावरण आदि द्रव्य प्रकृति का उपार्जन करते हैं (**हीति स्फुटम्**) हि—यह अव्यय स्फुटार्थक है अर्थात् स्फुटरूप से (**तत एव-अज्ञानादेव**) अज्ञान से ही (**भावकर्म करोति**) रागादिरूप भावकर्म को करता है (**न द्रव्यकर्म करोति**) द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि को नहीं करता है (**यतः**) जिस कारण से (**तत एव**) तिस कारण से हो (**स्वयम्**) स्वतः (**अज्ञानादिः**) अज्ञान आदि से (**भावकर्मकर्ता-भावकर्मणां-रागद्वेषादीनां कर्ता-कारकः**) राग-द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता-करने वाला (**भवति**) होता है (**अन्यः-अज्ञानादि स्वभावाद्भिन्नः**) अज्ञान आदि रूप स्वभाव से भिन्न (**चेतन एव-चेतयति स्वस्वरूपमिति चेतन एव**) निज स्वरूप को जानने वाला चेतन ही अर्थात् ज्ञानी ही (**भावकर्मकर्ता**) भाव कर्म रागादि का करता (**न भवति**) नहीं होता है अथात् ज्ञानी तो अपने शुद्ध ज्ञानादि भावों का ही कर्ता है रागादि विभावों का नहीं।

भावार्थ—जिनका जीवात्मा मिथ्यात्वग्रस्त है वे मिथ्याज्ञानी ही परद्रव्य का एवं परभावों का कर्ता अपनी आत्मा को ही मानते हैं पर को नहीं। यह मिथ्यात्व जनित अज्ञान का ही प्रभाव ही समझना चाहिए। ज्ञानी की विचारणा एवं मान्यता इससे सर्वथा विपरीत होती है। वह तो मात्र अपने चैतन्यमय स्वभाव भावों का कर्ता अपने को मानता है अन्य का एवं अन्य भावों का नहीं। अज्ञानी के आत्मस्वभाव का ज्ञान न होने से निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध को नहीं जानता हुआ जो नैमेत्तिक भाव अपनी पर्याय में होते हैं उनको स्वभाव भाव मान लेता है और कर्त्ता बन जाता है। इसी प्रकार पुद्गल की पर्याय जो कर्मादिक रूप हुई उसका कर्त्ता भी वस्तु स्वभाव को नहीं जानने के कारण अपने को मान लेता है जो अज्ञानता है ॥१०॥

(**अथ कर्मणः कार्यत्वं कीर्तयति**) अब कर्म के कार्य का कथन करते हैं—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥११॥

अन्वयार्थ - (**कर्म**) कर्म (**कार्यत्वात्**) कार्य होने से (**अकृतम्**) अकृत-नहीं किया हुआ (**न**) नहीं (**स्यात्**) हो सकता (**च**) और (**तत्**) वह कर्म (**जीवप्रकृत्योः**) जीव और प्रकृति (**द्वयोः**) दोनों का (**कृतिः**) कार्य (**न**) नहीं (**स्यात्**) हो सकता क्योंकि (**अज्ञायाः**) अज्ञानरूप (**प्रकृतेः**) प्रकृति के (**स्वकार्य-फलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः**) कर्म के कार्य भूत सुख दुःखादि रूप फल के भोगने का प्रसङ्ग (**स्यात्**) होगा। (**कर्म**) राग-द्वेषादि कर्म (**एकस्याः**) एक (**प्रकृतेः**) प्रकृति का (**कार्यम्**) कार्य (**न**) नहीं (**स्यात्**) हो सकता क्योंकि (**अचित्त्वलसनात्**) वह प्रकृति स्वभावतः अचेतन है (**ततः**) इसलिए (**अस्य**) इस रागादि भाव कर्म का (**कर्ता**) कर्ता-करने वाला (**जीवः**) जीव-चेतन आत्मा (**स्यात्**) है (**च**) और (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म**) रागादि भाव कर्म (**जीवस्य**) जीव का (**एव**) ही (**अस्ति**) है क्योंकि वह कर्म (**चिदनुगम्**) चैतन्य का अनुगम-अनुसरण करने वाला अर्थात् चेतन का ही विकार (**अस्ति**) है (**यत्**) क्योंकि (**पुद्गलः**) पुद्गल (**ज्ञाता**) जानने वाला (**न**) नहीं (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**कर्म-भावकर्मपक्षः**) कर्म अर्थात् भावकर्म राग-द्वेष आदि (**अकृतं न भवितुमर्हति इति साध्योधर्मः कार्यत्वात् हेतुः**) नहीं किये हुए—नहीं हो सकते यह साध्य है और कार्यत्वात्-कार्य होने से-यह उसका साधक-हेतु है (**तत्रान्वयव्याप्तिः**) उसमें अन्वयव्याप्ति दिखाते हैं (**यद्यत्कार्यं तत्तदकृतं न भवति**) जो जो कार्य होता है वह वह अकृत-नहीं किया हुआ-नहीं होता है (**यथा घटादिः**) जैसे घट आदि कार्य (**कार्यं च भावकर्म**) और भावकर्म कार्य है (**तस्मादकृतं न**) इसलिए वह बिना किया हुआ नहीं हो सकता (**व्यतिरेक व्याप्तिश्च**) और व्यतिरेक व्याप्ति (**यदकृतं तन्न कार्यं यथा व्योमादिः**) जो किया हुआ नहीं होता है वह कार्य भी नहीं हो सकता जैसे आकाश आदि (**नच तथेदं तस्मान्न तथेति**) और यह राग आदि भाव कर्म अकृत नहीं है किन्तु किये हुए हैं इसलिए अकार्य नहीं हैं किन्तु कार्य ही हैं (**कस्य कार्यमिति प्रश्ने**) यह किसका कार्य है ऐसा प्रश्न होने पर—उत्तर देते हैं कि (**तच्चकर्म जीवप्रकृत्योः-जीवश्च प्रकृतिश्च तयोः द्वयोः कार्यं न**) वह रागादि भाव कर्म जीव और प्रकृति-पुद्गल इन दोनों का कार्य नहीं है। (**कुतः**) किस कारण से (**अज्ञायाः-अचेतनायाः प्रकृतेः**) अचेतन-जड़रूप प्रकृति के (**स्वेत्यादिः-स्वस्य स्वभावकर्मणः कार्यं सुखदुःखादि तस्य फलं-इष्टानिष्टावाप्ति परिहारपूर्वकसुखदुःखानुभवनं भुनक्तीति स्वकार्यफलभुग तस्य भावस्तस्यानुषङ्गात्कृतिः सम्पर्क प्रसङ्गः स्यात्**) राग-द्वेषादि भावकर्म का कार्य सुख-दुःखादि है और उसका फल प्रिय पदार्थ की प्राप्ति और अप्रिय पदार्थ का परिहार-दूरीकरण पूर्वक सुख और दुःख का अनुभव करना है अर्थात् सुख और दुःख के अनुभव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**ननु द्वयोर्मा भवतु कार्यं-**

मेकस्याः प्रकृतेः द्रव्यकर्मणः सांख्यपरिकल्पितायाः सत्वरजस्तमसां समावस्थायाः प्रकृतेर्वा कार्यम् ?) यहां कोई शङ्का करता है कि जीव और पुद्गल प्रकृति इन दोनों का कार्य न हो तो न सही किन्तु एक ही द्रव्य-कर्मरूप प्रकृति का अथवा सांख्य परिकल्पित सत्त्व, रज और तमोगुण इन तीनों की समान अवस्था रूप प्रकृति का ही कार्य हो **(इतिचेत्)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना है **(तर्हि)** तो **(तत्)** वह तुम्हारा कहना **(न)** ठीक नहीं है क्योंकि **(अचित्त्वलसनात्)** प्रकृतिके अचेतन रूप होने से **(प्रकृतेः अचेतनत्व स्वभावत्वात्)** कर्म प्रकृति स्वभावः अचेतन ही है **(तत्कार्यत्वे च तस्याचेतनत्वानुषङ्गात्)** उसके कार्यभूत रागादि में भी उसकी अचेतनता का प्रसङ्ग होगा **(ततो द्वयोरेकस्याः कार्यकरणायोगात्)** इसलिए दोनों से एक प्रकृति का कार्य करना ठीक नहीं है **(अस्य भावकर्मणः जीवति दशभिः प्राणैरिति जीवः संसार्यात्मा कर्ता-कारकः)** इस भाव कर्म-रागादि का करता वह संसारी आत्मा है जो इन्द्रिय आदि दश प्राणों से जीता है—जीवन धारण करता है। **(च-पुनः)** और **(तत्-कर्म, तत्प्रसिद्धम्-भावकर्म जीवस्यैव नान्यस्य)** वह प्रसिद्ध रागादि भाव कर्म जीव का ही कार्य है अन्य किसी द्रव्य का नहीं। **(किम्भूतम्)** कैसा है वह **(चिदनुगं-चेतनासहितम्)** चैतन्यमय है चेतना से सहित है। **(तथाचोक्तं श्रीमदाप्तपरीक्षायाम्)** जैसा कि श्री मदाप्तपरीक्षा ग्रन्थ में कहा है—

भावकर्माणि चैतन्य विवर्तात्मानि भान्ति नुः।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ॥

अन्वयार्थ—**(चैतन्यविवर्तात्मानि)** चैतन्य के विकार स्वरूप **(अतएव)** इसलिए **(स्ववेद्यानि)** आत्मा के द्वारा वेदन-जानने अथवा अनुभव करने योग्य **(क्रोधादीनि)** क्रोध आदि रूप **(भाव कर्माणि)** भावकर्म **(नुः)** आत्मा के साथ **(कथञ्चित्)** अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से **(अभेदतः)** अभेद सम्बन्ध रखने के कारण **(नुः)** आत्मा के **(भान्ति)** मालूम पड़ते हैं।

भावार्थ—क्रोधादि विभाव भाव अशुद्ध-कर्मबद्ध आत्मा के ही विकारी भाव हैं अतएव वे चेतन हैं अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध रखते हैं इसलिए आत्मा के द्वारा जानने अथवा अनुभव करने योग्य हैं।

(यत् यस्मात् कारणात्) जिस कारण से **(पुद्गलः)** पुद्गल द्रव्य **(ज्ञायको न अचेतनत्वात्)** अचेतन-जड़ होने के कारण ज्ञायक-जानने वाला नहीं है।

भावार्थ—राग-द्वेष आदि कर्म, कार्य हैं। और जो कार्य होता है वह किसी न किसी के द्वारा किया हुआ ही होता है अतएव रागादि कर्मरूप कार्य भी किसी न किसी के द्वारा किया हुआ होना चाहिए। जीव और पुद्गल दोनों का यह कार्य नहीं है क्योंकि दोनों का कार्य मानने पर अचेतन पुद्गल प्रकृति को सुख-दुःख आदि के अनुभव करने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अगर आप कहें कि केवल जड़ प्रकृति का ही यह कार्य मान लिया जाय तो क्या हानि है ? उत्तर में कहते हैं कि यदि रागादि कर्म को जड़ प्रकृति का कार्य मानेंगे तो वे रागादि भी जड़ कहे जायेंगे जो अनुभव से विरुद्ध सिद्ध होंगे। अतः वे रागादि कर्म

एक मात्र जीव के ही कार्य हैं क्योंकि वे चेतन के साथ अन्वय व्यतिरेक रखते हैं अतः अन्ततोगत्वा जीव ही पर्याय दृष्टि से उनका कर्ता है जड़ प्रकृति नहीं। यह फलितार्थ हुआ।

(अथ प्रकृतिवादिनं सांख्यं प्रतिक्षिपति) अब प्रकृतिवादी सांख्य के प्रति आक्षेप करते हुए आचार्य स्वमत का स्थापन करते हैं—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृताम्
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधिया बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(कैश्चित्)** किन्हीं **(हतकैः)** आत्मा को कर्ता नहीं मानने वाले सांख्य आदि आत्मस्वरूप के घातकों द्वारा **(आत्मनः)** आत्मा के **(कर्तृताम्)** कर्तापन को **(क्षिप्त्वा)** तिरस्कृत करके **(कर्मैव)** कर्म को ही **(कर्तृ)** कर्मों का कर्ता **(प्रवितर्क्य)** तर्कणा करके-विचार करके **(एषः)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(कथञ्चित्)** किसी विवक्षा विशेष के वश से **(कर्ता)** रागादि का कर्ता-करने वाला **(अस्ति)** है **(इति)** ऐसी **(अचलिता)** निश्चल **(श्रुतिः)** जिन वाणी **(कोपिता)** कुपित कराई गई **(उद्धतमोहमुद्रितधियाम्)** उत्कट मोह के वश से विपरीत बुद्धि वाले **(तेषाम्)** उन सांख्य आदि वादियों के **(बोधस्य)** ज्ञान के **(संशुद्धये)** संशोधन के लिए **(स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया)** स्याद्वाद-कथञ्चिद्वादरूप सिद्धान्त के प्रतिपादन से विजय को प्राप्त हुई **(वस्तुस्थितिः)** वस्तु की मर्यादा **(स्तूयते)** प्रस्तुत करते हैं।

सं० टीका—**(कैश्चित्-सांख्यमतानुसारिभिः)** सांख्य मत का अनुसरण करने वाले किन्हीं वादियों के द्वारा **(इति-पूर्वोक्ता)** पूर्व में कही हुई इस **(श्रुतिः-जिनोक्तं-सूत्रम्)** जिनेन्द्रदेव द्वारा कही हुई सूत्रात्मक वाणी **(कोपिता-विराधिता)** क्रुद्ध की गई—विराधना को प्राप्त कराई गई **(किम्भूता श्रुतिः)** कैसी श्रुति **(अचलिता-प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या)** प्रमाण आदि से चलाने में अशक्य अर्थात् प्रमाणनय आदि से बाधित नहीं होने वाली **(किम्भूतैस्तैः)** कैसे उन संख्यादियों से **(हतकैः-आत्मनोऽकर्तृकत्वप्रतिपादकैः)** आत्मा को कर्मों का कर्ता नहीं मानने वाले अतएव आत्मस्वरूप के हतक-घातक **(आत्मा-चेतयिता)** आत्मा—जानने वाला **(कर्ता तु प्रकृतिः)** और कर्ता-कर्मों को करने वाली प्रकृति है **(किं-कृत्वा)** क्या करके **(कर्मैव-प्रकृतिरेव)** प्रकृति ही **(कर्तृ-सुखदुःखादि कारकम्)** सुख-दुःख आदि का कर्ता करने वाली **(प्रवितर्क्य-प्रविचिन्त्य)** विचार करके **(कर्मैव-आत्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः)** कर्म ही आत्मा को अज्ञानी बनाता है क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना अज्ञानी बनना सम्भव नहीं है। **(कर्मैव-ज्ञानिनं करोति-तत्कर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः)** कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता-बनाता है—क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना ज्ञानी होना कथमपि सम्भव नहीं है। **(तथैव निद्रासुखदुःखमिथ्यादृष्ट्यसंयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक शुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिकं तत्तत्सम्बन्धि कर्मोदय-**

मन्तरेण तदनुपपत्तेः) वैसे ही निद्रा-नींद सुख-दुःख मिथ्यादृष्टि असंयत ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त आदि नाना अवस्थायें अपने-अपने कर्म के उदय आदि के विना नहीं हो सकती हैं। **(तथा च जैनी श्रुतिः)** और ऐसी ही जिनवाणी है अर्थात् जिनेश्वर की वाणी से भी हमारा उक्त कथन मिलता-जुलता है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्फुट होता है—**(पुंवेदाख्यं कर्मस्त्रियमभिलषति)** पुंवेद नामक कर्म स्त्री की इच्छा करता है **(स्त्रीवेदाख्यं-कर्म-नरं च)** और स्त्रीवेद नामक कर्म-मनुष्य को चाहता है। **(तथा यत्परं हन्ति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादि निषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात्)** वैसे ही जो दूसरे का घात करता है अथवा दूसरे से घाता जाता है वह परघात कर्म है इस वाक्य से जीव के अब्रह्मचर्य, परघात आदि का निषेध होने के कारण कर्म को ही उक्त प्रकार का समर्थन प्राप्त होता है। **(आत्मनः-जीवस्य)** आत्मा-जीव का **(कर्तृतां-भावकर्मकारित्वम्)** कर्तृता—रागादि भाव कर्मों का कर्तापन का **(क्षिप्त्वा-निराकृत्य)** निराकरण करके **(प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषां जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिञ्चित्करत्वमेव पुरुषत्व व्याघातात्)** प्रकृति को ही कर्ता मानने पर, सभी जीवों के कर्तापन का अभाव होने से, भोक्ता-भोग भोगने वाले जीवों के भी कर्तापन का अभाव होने से पुरुष-आत्मा के पुरुषत्व-आत्मत्व का व्याघात होने के कारण अकिञ्चित्करत्व रूप महान् दोष का प्रसङ्ग होगा। **(इति किम्)** इसलिए **(एष आत्मा)** यह आत्मा **(कथञ्चित्कर्ता-केनचित्कारणेनकारकः)** किसी कारण से कर्ता—रागादि भाव कर्मों का करने वाला है **(अन्यथा मुक्तात्मनां कर्तृत्व प्रसङ्गात्)** यदि आत्मा को किसी विवक्षा विशेष से रागादि भावों का कर्ता नही माना जायेगा तो मुक्तात्माओं के भी रागादि के कर्तृत्व-कर्तापन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(तेषां प्रकृतेः कर्तृत्ववादिनाम्)** उन-प्रकृति को ही कर्ता मानने वाले सांख्यादिकों को **(बोधस्य-ज्ञानस्य)** ज्ञान के **(संशुद्धये-निर्मलीकरणाय)** निर्मल करने के लिए **(वस्तुस्थितिः-वस्तुनः व्यवस्था)** वस्तु की व्यवस्था यथार्थ मर्यादा **(स्तूयते-प्रशस्यते)** कहते हैं **(किम्भूता सती ?)** कैसी व्यवस्था **(स्यादित्यादि-स्याद्वादेन कथञ्चिद्वादेन प्रकृत्यादीनां नित्यत्वादेः प्रतिबन्धः प्रतिषेधः-तत्कथम् ? प्रधानं व्यक्तादपैति नित्यत्वनिराकरणात्-अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्-इत्येकान्तनिषेधः तेन लब्धो विजयो यया सा)** स्याद्वाद, कथञ्चिदवाद, अपेक्षावादविवक्षा के वश से प्रकृति आदि के नित्यता निषिद्ध है। वह कैसे ? प्रधान-आत्मा-पुरुष, व्यक्त-प्रकृति से पृथक् होता है इससे नित्यत्व का निराकरण-खण्डन हो जाता है और वह पृथक् हुआ प्रधान विद्यमान रहता है इससे उसके विनाश का भी प्रतिषेध-निषेध हो जाता है इस प्रकार से एकान्त के निषेध द्वारा जिसने विजय को प्राप्त कर लिया है **(अथवा-स्याद्वाद एव प्रतिबन्धः कारणं वस्तुस्थितेः-तेन लब्धो विजयो यया सा)** अथवा वस्तुस्थिति-वस्तु की यथार्थ व्यवस्था का प्रमुख कारण स्याद्वाद ही है उस स्याद्वाद से जिसने विजय पाई है **(कीदृशानाम्-तेषाम्)** कैसे सांख्यादि वादियों पर **(उद्धतेत्यादिः-उद्धतः-उत्कटः चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म तेन मुद्रिता आच्छादिता धीः-धारणावती बुद्धिर्येषां तेषाम्)** तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से समावृत बुद्धि वाले अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होने के कारण विपरीत परि-

णमन वाली है, वस्तुस्वरूप को उलटा मान रही है ऐसे सांख्य आदि वादियों पर।

भावार्थ—प्रकृतिवादी सांख्य आत्मा को नित्य अकर्ता और प्रकृति को ही कर्ता मानता है। वह तीव्र मिथ्यात्व के उदय से अभिभूत होने के कारण वस्तुस्वरूप से बिलकुल ही अपरिचित है। उसे वस्तु-स्थिति का बोध कराने के हेतु आचार्य स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद से ही सारी वस्तु व्यवस्था निर्बाध रूप से सिद्ध होती है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है परन्तु पर्याय दृष्टि से तो वह भी कर्मों का कर्ता है ही। अनेकान्तवादी सम्यग्दृष्टि वस्तु की यथार्थता को स्वरूपतः जानता है परन्तु एकान्तवादी विपरीत दृष्टि वस्तु की यथार्थता को स्वरूपतः न जानकर विपरीत ही जानता है—वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक-सामान्यविशेषात्मक है। जो पर्याय मूढ थे उनको स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की अपेक्षा से रागादि को कर्म का बताकर स्वभाव का ज्ञान कराया। जो द्रव्यदृष्टि का एकांत करके रागादिक पर्याय में होते हुए अपने को शुद्ध मान लिया उनको रागादि अशुद्ध दृष्टि से तेरी पर्याय में हो रहे हैं इसलिए तुम्हीं जिम्मेवार हो ऐसा कहकर स्वच्छन्द होने से बचाया है। दोनों दृष्टिकोणों से अविरोधरूप जो श्रद्धा है वही सच्ची श्रद्धा है। रागादि को निमित्त की अपेक्षा कर्म का बताने का दृष्टिकोण यही रहा है कि वह तेरा स्वभाव नहीं है—स्वभाव का कभी नाश नहीं होता। स्वभाव में पर निमित्त नहीं होता और नैमेत्तिक भाव नाशवान होते हैं। रागादि भाव में मोह कर्म का उदय निमित्त होता है, पर का अवलम्बन होता है अतः स्वभाव भाव नहीं है नैमे-त्तिक विकारी भाव है जो नाशवान है। यह पर्यायमूढ को स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए समझाया गया। जिससे उसका पर्याय में एकत्वपना मिटे और विकारी भावों को स्वभाव भाव मानना छोड़ दे और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का ज्ञान हो जावे। जो द्रव्यदृष्टि का एकांत कर रखा था उसको बताया कि रागादि भाव तेरी पर्याय में हो रहे हैं उनका उपादान अशुद्ध निश्चयनय से आत्मद्रव्य है। अतः यह तेरी जिम्मेवारी है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य कभी अशुद्ध होता ही नहीं है। पर्यायदृष्टि में जब तक अशुद्धता है तब तक द्रव्य अशुद्ध है वह रागादि भावों के अभाव से शुद्ध होगा क्योंकि द्रव्यगुण पर्याय अभद है। जिस द्रव्य का जो परिणमन है उसका कर्त्ता वही द्रव्य होता है अतः आत्मा हो रागादि का कर्त्ता है यह पर्यायदृष्टि है। जो लोग पर्यायदृष्टि को ही द्रव्यदृष्टि मान लेते हैं उनके रागादिक के कर्तापने का निषेध किया। क्योंकि द्रव्य-दृष्टि से रागादिक का कर्त्ता मानने से ज्ञान की तरह-रागादिक आत्मा का स्वरूप स्वभाव ठहर जाता है तब रागादिक के नाश का सवाल नहीं उठता। और पर्यायदृष्टि से रागादिक की जिम्मेवारी भी अपनी न माने तो उसका नाश का उपाय कैसे करे।

रागादि अपने निज स्वभाव में नहीं ठहरने के कारण होते हैं अतः जीव की जिम्मेवारी है। सही श्रद्धा क्या है? आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप है उसी रूप रहना है पर्याय में जो रागादिक हो रहे हैं उसकी जिम्मेवारी मेरी है जो स्वभाव का अवलम्बन लेने से नाश को प्राप्त होते हैं। जब अपनी जिम्मे-वारो समझे तो स्वच्छन्द न हो। जब पर्याय अशुद्ध है तब गुण भी अशुद्ध है और द्रव्य भी अशुद्ध है क्योंकि

द्रव्य के बिना गुण नहीं और गुणों के बिना पर्याय नहीं होती। परन्तु उस समय भी जो द्रव्य को शुद्ध कहा जाता है वह द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को शुद्ध कहा है। और पर्याय को द्रव्य से भिन्न दिखाया है वह भी यह समझाना था कि रागादिरूप परिणमन हो रहा है और द्रव्य अपने परिणमन से अभिन्न है तब रागादिक का नाश कैसे हो। तब तो उसके नाश में द्रव्य का नाश हो जावेगा ऐसे अज्ञानी को पर्याय को कथंचित भिन्न बताकर यह कहा कि पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश नहीं होता।

रागादि भाव तो जैसे अज्ञानी के होते हैं वैसे ही ज्ञानी के होते हैं। ये नैमेत्तिक भाव हैं—नाशवान हैं। मोह कर्म के उदय में पर का अवलम्बन लेकर यह आत्मा रागादिक रूप परिणमन करता है। अज्ञानी के उसमें रुची है उपादेयपना है उनको निजरूप मानता है अतः विपरीत श्रद्धा की अपेक्षा उसको कर्त्ता कहा है। ज्ञानी उनको विकारी भाव मानता है उनमें हेय बुद्धि है रुचि नहीं है आत्मबल की कमी की वजह से होते हैं अतः उसको कर्ता नहीं कहा अकर्त्ता कहा है। वस्तु तो जैसी है वैसी ही है अज्ञानी और ज्ञानी की श्रद्धा की अपेक्षा कर्त्ता अकर्त्तापने का कथन है। अज्ञानी को अपनी श्रद्धा ठीक करनी है। जैसी वस्तु है वैसी श्रद्धा करनी है। द्रव्यदृष्टि से तो रागादि का कर्त्तापना है ही नहीं। पर्यायदृष्टि से बरजोरी से होने से, अरुचिपूर्वक होने से, अकर्त्ता कहा है। इस प्रकार ज्ञानी दोनों दृष्टियों से अकर्त्ता है। अज्ञानी के कोई नय विवक्षा लागू नहीं पड़ती फिर भी समझने के लिए ऐसा है कि अज्ञानी रागादि को आत्मा से एकत्वरूप मानता है अतः द्रव्यदृष्टिसे कर्ता हुआ और उनमें रुचि और उपादेयपना है अतः पर्यायदृष्टि से भी कर्त्ता हुआ।

(अथ निश्चयेनाकर्तृत्वमात्मनोवक्ति) अब निश्चयदृष्टिसे आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है वह कहते हैं—

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्याहृताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधावधः।
ऊर्ध्वं तूद्धत बोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं-
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**सांख्याः**) सांख्यों के (**इव**) समान (**अमी**) ये (**आर्हताः**) आर्हत-मतानुयायी-जैन (**अपि**) भी (**पुरुषम्**) पुरुष-आत्मा को (**कर्तारम्**) कर्मों का कर्ता (**मा**) नहीं (**स्पृशन्तु**) स्पर्श करें-स्वीकार करें। (**किल**) निश्चय से (**तम्**) उस आत्मा को (**भेदावबोधात्**) भेद ज्ञान से पूर्व अर्थात्—अज्ञान अवस्था में (**सदा**) हमेशा ही (**कर्तारम्**) रागादि भाव कर्मों का कर्ता (**कलयन्तु**) मानें-स्वीकार करें। (**तु**) किन्तु (**ऊर्ध्वम्**) अज्ञान के पश्चात् अर्थात् ज्ञान अवस्था में (**उद्धतबोधधामनियतम्**) उत्कट ज्ञान के तेज में लीन अतएव (**च्युतकर्तृभावम्**) कर्तापन से रहित (**अचलम्**) निश्चल (**प्रत्यक्षम्**) साक्षात् (**एतम्**) इस आत्मा को (**स्वयम्**) स्वभाव से (**परम्**) केवल-सिर्फ (**एकम्**) एक अद्वितीय (**ज्ञातारम्**) ज्ञाता ज्ञायक-जानने वाला (**पश्यन्तु**) देखें जानें-स्वीकार करें।

सं० टीका—(**अमी-आर्हताः-अर्हतः-भगवतः-इमे, अर्हद्देवो येषां ते-आर्हताः**) अरहन्त भगवान के आराधक अर्थात् अर्हत्परमेष्ठी को ही देव मानने वाले (**पुरुषम्-आत्मानम्**) पुरुष-आत्मा को (**कर्तारम्-**

भावकर्मकर्तारम्) भाव कर्मों का कर्ता (**मा स्पृशन्तु-माङ्गीकुर्वन्तु**) स्वीकार नहीं करें (**के-इव**) किनके समान (**सांख्या इव—**) सांख्यों के समान (**यथा-सांख्या आत्मनोऽकर्तृत्वं प्रतिपादयन्ति तथा साक्षात् ज्ञान-रूपेण जैना अपि**) जैसे सांख्य लोग-आत्मा को अकर्ता प्रतिपादन करते हैं वैसे ही साक्षात् ज्ञानरूप से जैन भी (**किल-इत्यागमोक्तौ**) किल–यह अव्यय आगम के कथन में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम में कहा है कि (**भेदावबोधात्-भेदज्ञानात्**) भेदज्ञान-आत्मा और जड़ पुद्गलके यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से (**अधः-अभेद अज्ञा-नावस्थायाम्**) पूर्व अर्थात् अज्ञान की अवस्था में (**त-आत्मानः**) आत्मा को (**तदा संसारावस्थापर्यंतं**) संसार अवस्था पर्यंत (**कर्तारं-भाव कर्म कारकं**) भाव कर्म का कर्ता (**कलयतु-जानंतु**) जाने-माने (**तु-पुनः**) फिर (**ऊर्ध्वं-अज्ञानादुपरिः**) अज्ञान अवस्था के बाद (**भेदविज्ञानावस्थायां**) भेद विज्ञान होने पर (**एनम्-आत्मा-नम्**) इस आत्मा को (**स्वयं-स्वभावतः**) स्वभाव से (**प्रत्यक्षम्-अध्यक्षं यथाभवति तथा**) प्रत्यक्ष रूप में जैसे हो वैसे (**च्युतकर्तृभावम्-त्यक्तकर्तृस्वभावम्**) कर्तृ स्वभाव से रहित (**पश्यन्तु-अवलोकयन्तु**) देखें—अवलो-कन करें (**मुनयः**) वस्तुस्वरूप को जानने वाले मुनिजन (**किम्भूतम्**) कैसी आत्मा को (**उद्धतेत्यादिः-उद्धतं च तद्बोधधाम-ज्ञानज्योतिः तत्र नियतम्-नियन्त्रितम्**) उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति में निमग्न (**अचलं-निष्कम्पम्**) निश्चल (**ज्ञातारम्-ज्ञायकम्**) ज्ञायक-जानने वाला (**एकम्-कर्मद्वैतरहितत्वादद्वैतम्**) कर्म के द्वैत-द्वन्द्व से रहित होने के कारण अद्वैत-अद्वितीय (**परम्-जगच्छ्रेष्ठम्**) जगत में श्रेष्ठ।

भावार्थ—अर्हन्मतानुयायी जैन लोग भी सांख्य मतानुसारी लोगों के समान ही आत्मा को सर्वथा अकर्ता-रागादि भाव कर्मों का नहीं करने वाला नहीं माने किन्तु जब तक दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से ज्ञान-अज्ञान विपरीत ज्ञान रहें तब तक ही कर्ता माने। अज्ञान के दूर होते ही अर्थात् सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर अकर्ता-रागादि भाव कर्मों का नहीं करने वाला आत्मा को स्वीकार करें। सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा भेदविज्ञानी-स्वपर तत्त्वस्वरूपज्ञ हो जाता है उस अवस्था में आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव का ही स्वामी अपने को मानता है पर स्वभाव का नहीं। सर्वथा अकर्ता स्वीकार करने पर न तो संसार ही बन सकेगा और न मोक्ष ही। ऐसी स्थिति में सारी तत्त्व व्यवस्था ही नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी। अतः स्याद्वाद के उज्ज्वल प्रकाश में आत्मस्वरूप का निरीक्षण करना ही श्रेयस्कर होगा, जिसमें संसार मोक्ष दोनों की सुव्यवस्था के पवित्र दर्शन से समस्त ही पदार्थों की यथार्थता निर्बाधरूप से सिद्धिपथ का आस्वादन करने वाली सिद्ध होगी। निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियां स्याद्वाद से ही अपने-अपने विषय को प्रस्फुट करने में सार्थक सफल सिद्ध होंगी अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके एकान्त का व्यामोह छोड़ अनेकान्त की शरण ग्रहण करना हितप्रद होगा।

रागादि परिणमन तो कर्म के उदय में जैसा होता है वैसा ही होता है इसमें ज्ञानी अज्ञानी का कुछ विशेष नहीं है। परन्तु ज्ञानी के उसमें रुचि नहीं है, उसको विकार समझता है, हेय समझता है, आत्मबल की कमी से रागरूप परिणमन होता है अतः उसका कर्त्ता नहीं है। रागादि परिणमन होना और करने में बड़ा अन्तर है। ज्ञानी के होता है अज्ञानी करता है। जैसे शरीर में स्वस्थ रहने की चेष्टा करते हुए भी

रोग हो जाता है परन्तु उसके नाश करने का उपाय किया जाता है। अज्ञानी के रागादि में रुचि है, उपादेयपना है करना चाहता है उसके साथ एकपना है अतः कर्त्ता है। ज्ञानी रागादि का कर्त्ता नहीं है अतः रागादि होते ही नहीं हैं ऐसा नहीं है। रागादि होते हैं परन्तु कर्त्ता नहीं है। वह रागादि को मेटने के लिए अपने स्वरूप का अवलम्बन लेकर आत्मबल बढ़ाने की चेष्टा करता है जिससे पर की मजबूरी दूर होती है। ज्ञानी के रागादि कर्मकृत है क्योंकि मजबूरो से होते हैं और अज्ञानी के जीवकृत है क्योंकि चाह कर करता है ॥१२॥

(**अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिनंसौगतं निराचष्टे**) अब आत्मा आदि समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने वाले बौद्ध का निराकरण करते हैं—

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं—
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस लोक में (**एकः**) एक सौगत-बौद्ध (**इदम्**) इस (**आत्मतत्त्वम्**) आत्मतत्त्व को (**क्षणिकम्**) क्षणनश्वर (**कल्पयित्वा**) कल्पना करके (**निजमनसि**) अपने मन में (**कर्तृभोक्त्रोः**) कर्ता और भोक्ता में (**विभेदम्**) विभिन्नता को-जुदाई को (**विधत्ते**) करता है (**तस्य**) उस सौगत के (**विमोहम्**) विमोह-विपरीत ज्ञान को अर्थात् क्षणिक सिद्धान्त को (**अयम्**) यह (**चिच्चमत्कारः**) चैतन्य का चमत्कार (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**नित्यामृतौघैः**) नित्यतारूप अमृत के प्रवाह से (**अभिषिञ्चन्**) अभिषेक करता हुआ (**अपहरति**) दूर करता है—निराकरण करता है।

सं० टीका—(**इह-भरतक्षेत्रे**) इस भरत क्षेत्र में (**भावमिथ्यात्वापेक्षया सर्वत्र वा**) अथवा भाव-मिथ्यात्व की अपेक्षा से सब जगह—सारे लोक में (**एकः-सौगतवादी**) एक-सौगतवादी-सुगतमतानुयायी (**कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं कर्ता च भोक्ता च तयोर्विभेदं-भिन्नत्वम्**) कर्ता और भोक्ता के भेद को (**सौगतानां कर्ताऽन्यः, भोक्ता अन्यः**) सौगतों का कर्ता कोई दूसरा होता है और भोक्ता कोई दूसरा होता है (**निजमनसि-स्वचेतसि**) ऐसा अपने मन में (**विधत्ते-करोति**) करता है (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**कल्पयित्वा-प्रकल्प्य**) कल्पना करके (**किम्**) किसे (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस-प्रसिद्ध (**आत्मतत्त्वं-जीवतत्त्वम्**) आत्म-तत्त्व को (**क्षणिकं-क्षणस्थायि**) क्षणिक-क्षणनश्वर (**सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्-प्रदीपवत्**) सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि वे सत् हैं दीपक की तरह (**इत्यनुमाने सर्वथा नित्यविपक्षे अर्थक्रियाभावं-प्रकल्प्यदूषयति**) इस अनु-मान में सर्वथा अनित्य पक्ष में अर्थक्रिया के अभाव की कल्पना करके अनुमान को दूषित करते हैं (**अयं-प्रसिद्धः प्रत्यभिज्ञानादिलक्षणः चिच्चमत्कारः एव चितः ज्ञानस्य चमत्कारः**) यह प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञान आदि स्वरूप ज्ञान का चमत्कार ही (**तस्य सौगतस्य**) उस सौगत के (**विमोहं-क्षणिकत्वं बुद्धिव्यामोहम्**) क्षणि-

कत्व-क्षणनश्वरता के व्यामोह को **(अपहरति-निराकरोति)** दूर करता है—निराकरण करता है **(स्वयं-स्वभावात् एव)** स्वभाव से ही **(नित्यामृतौघैः-आत्मादौ यन्नित्यत्वं तदेवामृतं-तस्य ओघैः-समूहैः)** आत्मा आदि की नित्यता रूप अमृत के समूहों से **(अभिषिञ्चन्-अभिषेकं कुर्वन्-सर्वं नित्यस्वरूपं प्रदर्शयन् सन् इत्यर्थः)** अभिषेक करते हुए अर्थात् समस्त पदार्थों को नित्यस्वरूप दिखाते हुए **(सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्)** सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से ऐसा ही प्रतीत होता है **(न चैतदसिद्धम्)** यह बात असिद्ध नहीं है प्रत्युत् सिद्ध ही है **(य एव बालः स एव युवा स एव च वृद्धः, इत्यबाधितायाः प्रतीतेः सद्भावात् तथा व्यवहाराच्च)** जो आज बालक है वही कुछ समय के पश्चात् युवा और वृद्ध हो जाता है ऐसी प्रतीति का सद्भाव एवं व्यवहार भो देखने में आता है **(क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधाच्च)** साथ ही सर्वथा क्षणिक मानने पर अर्थक्रिया में विरोध आता है **(क्षणिकं यदि स्वसत्तायामपर-क्षणोत्पादलक्षणामर्थक्रियां करोति तदा सकलस्य जगतः क्षणिकत्वं रुणद्धि कार्यकालं प्राप्नुवतः क्षणिकत्व-विरोधात्)** यदि क्षणिक पदार्थ अपनी सत्ता-मौजूदगी में दूसरे क्षण की उत्पाद रूप अर्थक्रिया को करता है तो वह उस समय समस्त लोक के क्षणिकत्व को रोकता है क्योंकि कार्यकाल को प्राप्त करने वाली वस्तु में क्षणिकता का विरोध होता है **(स्वयम्-अविद्यमानं सत् करोति यदा तदा कालान्तरे पूर्वं पश्चाच्च-तत्कुर्यादसत्त्वाविशेषात्-इत्यर्थक्रियाविरोधः ।)** जिस समय कोई पदार्थ स्वयं विद्यमान-मौजूद न होता हुआ यदि कार्य को करता है तो वह कालान्तर में – किसी भिन्न समय में पहले अथवा पीछे भी उस कार्य को कर सकता है क्योंकि असत्य-अविद्यमानता में कोई विशेषता नहीं नजर आती है। इस प्रकार से अर्थ-क्रिया में विरोध सिद्ध होता है ॥१४॥

भावार्थ—क्षणिकवादो बौद्ध आत्मा को क्षण नश्वर मानता है अर्थात् आत्मा प्रतिक्षण नष्ट होता है और उत्पन्न होता है अतएव कर्ता और भोक्ता दोनों भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जो कर्ता है वह भोक्ता नहीं है और जो भोक्ता है वह कर्ता नहीं है। जिस क्षण आत्मा पाप या पुण्य जो कुछ भी करता है वह आत्मा दूसरे क्षण में नहीं है किन्तु उससे भिन्न कोई दूसरा ही आत्मा है ऐसी स्थिति में करने वाला कोई और है और भोगने वाला कोई और ही है ऐसा बौद्ध का अपना निजी मत है। जिसे उसने ही अपने मन में कल्पित कर रखा है। उसके उक्त मत का परिहार यह आत्मा अपने हो चैतन्यमय चमत्कार से स्वयं ही दूर करेगा। क्योंकि वह आत्मा स्वभाव से ही नित्यरूप है अर्थात् जो प्रथम क्षण में था वही द्वितोय क्षण में भी रहता है उसका विनाश नहीं होता है। यह बात अपने अनुभव में भी आती है और प्रत्यभिज्ञान से भी ऐसा ही सिद्ध होता है—"यह वही है जिसे मैंने कल देखा था" इस वाक्य में यह प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला वही है परोक्ष का स्मरण करा रहा है यह स्मरणात्मक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता को सिद्ध करता है जो अनुभव सिद्ध है इससे आत्मा की क्षणिकता का खण्डन और नित्यता का मण्डन स्पष्टरूप से सिद्ध होता है। अनुभव सिद्ध का अपलाप ज्ञानी को कैसे सह्य हो सकता है ॥१४॥

(अथ क्षणिकैकान्तान् छिनत्ति पद्यत्रयेण) अब क्षणिकैकान्त का छेदन-खण्डन तीन पद्यों द्वारा करते हैं—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**अत्यन्तम्**) अत्यन्त-एकान्तरूप से अर्थात् सर्वथा (**वृत्त्यंशभेदतः**) वृत्त्यंश-प्रतिक्षणवर्ती पर्याय के भेद से (**वृत्तिमन्नाशकल्पनात्**) वृत्तिमान-अवस्थावान् पदार्थ के विनाश की कल्पना के कारण (**अन्यः**) अन्य (**करोति**) कार्य को करता है (**अन्यः**) और अन्य (**भुङ्क्ते**) भोगता है (**इति**) ऐसा (**एकान्तः**) एकान्त सिद्धान्त (**मा**) मत-नहीं (**चकास्तु**) शोभित हो ।

सं० टी०—(**इति-ईदृक्षः**) ऐसा-इस प्रकार का (**एकान्तः-सौगतोपकल्पितक्षणिकैकान्तः**) सौगत कल्पित क्षणिक एकान्त मत (**चकास्तु मा प्रतिभासताम्**) प्रतिभासित-प्रकाशित नहीं हो (**इति किम्**) वह कैसा (**अन्यः-भिन्नः क्षणः**) भिन्न क्षण (**करोति कार्यं निष्पादयति**) कार्य का निष्पादन करता है (**अन्यः-तदनन्तरभावी-अन्यः भिन्नः क्षणः पूर्वक्षणकृतं कार्यं भुङ्क्ते-भुनक्ति**) उसके अनन्तर ही होने वाला भिन्न क्षण अपने से पूर्व क्षण में किये हुए कार्य के फल को भोगता है (**कुतः-**) कैसे (**वृत्त्यमित्यादिः-वृत्तेः-वर्तनायाः अंशाः ज्ञानादिपर्यायाः तेषां भेदात्**) वृत्ति-वर्तना के अंशों-ज्ञानादि पर्यायों के भेद से (**द्रव्याभावेसति-पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्त भिन्नत्वात्**) क्योंकि द्रव्य का अभाव होने पर पूर्वोत्तर-पहले के और पीछे के पर्यायों में अत्यन्त भिन्नता होती है (**कुतो भेदः**) कैसा भेद (**अत्यन्तम्-अन्तर्द्रव्यादिस्वरूपेणापि**) अत्यंत अर्थात् अन्तरङ्ग द्रव्यादि के स्वरूप से भी (**वृत्तीत्यादिः-वृत्तिः-वर्तना अस्ति येषां ते वृत्तिमन्तः पर्यायाः तेषां नाशः-अत्यन्तमुच्छेदः तस्य कलनात्**) वृत्तिमान्-पर्यायों के अत्यन्त उच्छेद-विनाश के सम्बन्ध से (**इत्येकान्ते**) पूर्वोक्त प्रकार के एकान्त से (**यो हिंसाभिसन्धाता स न हिनस्ति सोऽहिंसकः सन् बध्नाति पापकर्मणा यस्तु बध्यते स न मुच्यते, अन्यो ध्याता अन्योध्यानचिन्तकः अन्यो मुक्तः इति पूर्वोत्तर पर्यायाणामत्यन्त भेदात्**) जो हिंसा का अभिप्राय धारण करता है वह हिंसा नहीं करता है अतएव वह अहिंसक होता हुआ भी पापकर्म से बंधता है क्योंकि हिंसा के अभिप्राय से पाप कर्म का बन्ध होता है । जो पापकर्म से बंधता है वह उससे नहीं छूटता है क्योंकि हिंसा का ध्यान करने वाला भिन्न है हिंसा के ध्यान का चिन्तन-विचार करने वाला अन्य है और मुक्त छूटने वाला भिन्न है । इस तरह से पूर्व और उत्तर पर्यायों में सर्वथा भेद होने से द्रव्य की व्यवस्था का सर्वथा मूलोच्छेद हो जाता है ॥१५॥

भावार्थ—क्षणिकैकान्तवादी बौद्ध वृत्त्यांश के अत्यन्त भेद से वृत्तिमान पदार्थ का सर्वथा विनाश होगा, उस विनाश से बचने के लिए कार्य का करने वाला भिन्न है और उस कार्य के फल को भोगने वाला करने वाले से सर्वथा भिन्न है ऐसा मान कर सन्तुष्ट होता है । लेकिन यह सन्तुष्टि भी यथार्थ नहीं है क्योंकि वृत्त्यांशों के विनाश होने पर वृत्तिमान् पदार्थ के विनाश को कौन रोक सकता है वह तो होगा ही । अवयव के विनाश से अवयवी का विनाश अवश्यम्भावी होता है इस तरह से पदार्थशून्यता रूप महान् दोष उपस्थित होगा । अतः क्षणिकैकान्त सदोष सिद्धान्त है ॥१५॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरति व्याप्ति प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारववहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ।।१६।।

अन्वयार्थ—(**परिशुद्धम्**) अतिशय शुद्ध (**आत्मानम्**) आत्मा को (**ईप्सुभिः**) चाहने वाले (**अन्धकैः**) आत्मस्वरूप से अपिचित बौद्धों ने (**अतिव्याप्तिम्**) अतिव्याप्ति दोष को (**प्रपद्य**) प्राप्त करके (**तत्रापि**) उसमें भी (**परैः**) उन्हीं बौद्धों ने (**कालोपाधिबलात्**) काल की उपाधि के बल से (**अधिकाम्**) अधिक (**अशुद्धिम्**) अशुद्धि को (**मत्वा**) मान कर (**शुद्धर्जुसूत्रेरतैः**) शुद्ध ऋजुसूत्र नय से प्रेरित (**पृथुकैः**) वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ उन्हीं बौद्धों ने (**चैतन्यम्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा को (**क्षणिकम्**) क्षणिक-क्षणस्थायी—(**प्रकल्प्य**) कल्पना करके (**अहो**) खेद है कि (**निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः**) विना सूत्र के मोतियों को देखने वाले पुरुषों के द्वारा (**हारवत्**) मोतियों के हार के समान (**एषः**) यह नित्यानित्य स्वरूप (**आत्मा**) आत्मा (**व्युज्झितः**) छोड़ दिया गया है ।

सं० टीका—(**अहो-आश्चर्ये**) अहो-यह अव्यय आश्चर्य अर्थ में आया है अर्थात् आश्चर्य है कि (**परैः-स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः**) पर-अर्थात् स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद रूप निर्दोष विद्या के विचार से शून्य (**अन्धकैः-बौद्धैः**) अतएव वस्तुरूप से अनभिज्ञ होने से अन्धे बौद्धों ने (**आत्मा-आत्माख्यं द्रव्यम्**) आत्मा नामक द्रव्य को (**व्युज्झितः त्यक्तः**) त्याग दिया । (**ज्ञान पर्यायमन्तरेणात्मनोऽभावात्**) क्योंकि ज्ञानपर्याय के विना आत्मद्रव्य का ही अभाव हो जाता है । (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**अतिव्याप्ति-अतिव्याप्तिनामदूषणम्**) अतिव्याप्ति नामक दूषण को (**प्रपद्य-अङ्गीकृत्य**) स्वीकार करके (**तथाहि—यदेव वस्तु स्याद्वादिनामात्मादि तदेव अनेक पर्यायाक्रान्तं-गुणपर्यायाक्रान्तं "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" इति सूत्रकार वचनात्**) यहाँ तथाहि शब्द से अतिव्याप्ति दोष का स्फुट करते हैं— जैसा कि स्याद्वादी लोगों के मन में भी आत्मा आदि जो भी वस्तु है वह अनेक पर्यायों से भरपूर है ऐसा ही सूत्रकार—स्वामी उमास्वाति के (**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**) सूत्र से सिद्ध होता है अर्थात् जो गुण और पर्यायों से युक्त होता है वह द्रव्य कहा जाता है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राट् भावसम्बन्धोद्रव्यमेकमनेकधा ।।१०७।।

अन्वयार्थ—(**त्रिकालानां नयोपनयैकान्तानां**) तीनों कालों के नयों और उपनयों के एकान्तों का (**समुच्चयः**) समुदाय रूप एकीकरण (**अविभ्राट् भावसम्बन्धः**) जन साधारण की दृष्टि में नहीं प्रकाशित होने वाला भाव सम्बंध का नाम (**द्रव्यम्**) द्रव्य है और वह द्रव्य (**एकम्**) एक अर्थात् अभेद विवक्षा से एक है और भेद विवक्षा से (**अनेकधा**) अनेक प्रकार का है । (**इति स्वामि समन्तभद्राचार्यवर्य वचनाच्च**) स्वामी समन्त-

भद्राचार्यवर्य के उपर्युल्लिखित वचन से भी द्रव्य को उक्त लक्षण की पुष्टि होती है। **(ननु त एव पर्याया अवस्तुभूताः, वस्तुभूता वा ?)** यहाँ बौद्ध शङ्का करता है कि वे पर्यायें अवस्तु रूप हैं अथवा वस्तुरूप ? ये दो विकल्प हैं। **(प्राक् पक्षे)** उनमें से पहले पक्ष में अर्थात् पर्यायों को अवस्तुरूप मानने में **(अवस्तुभूतैः पर्यायैः जीवस्य वस्तुत्वाघटनात्)** अवस्तुभूत पर्यायों से जीवरूप वस्तु नहीं बन सकती क्योंकि जब पर्यायें स्वयं ही वस्तुरूप नहीं हैं तब वे जीववस्तु को जो स्वयं ही वस्तुरूप है कैसे बना सकेंगी **(कृत्रिमस्फुटत्वतो वस्तुभूततानवघटनात्)** शायद आप यह कहें कि हम उन्हें बना लेंगे तो बनावटीपन के जाहिर होने से उनमें वस्तुरूपता नहीं आ सकती। **(अथवस्तुभूताश्चेत्)** यदि आप दूसरा वस्तुभूत पक्ष स्वीकार करें अर्थात् वे पर्यायें वस्तुभूत हैं ऐसा कहें तो **(तेऽपि पर्यायाक्रान्ताः)** वे भी पर्यायों से आक्रान्त-व्याप्त होंगी **(अन्यथा वस्तुत्वाघटनात्)** यदि उन्हें पर्यायाक्रान्त न मानोगे तो वे वस्तुरूप नहीं हो सकेंगी। **(पुनरुत्तर पर्यायाणां वस्तुत्वापत्तावनवस्था)** यदि आप उत्तर पर्यायों को वस्तुरूप मानेंगे तो अनवस्था दोष उपस्थित होगा। **(एकस्मिन्ननेकवस्तुत्वापत्तिश्च)** साथ ही एक वस्तु में अनेक वस्तुओं की आपत्ति आ खड़ी होगी। **(ततोनैकद्रव्य व्यवस्था अतिव्याप्तिसद्भावात्)** इसलिए एक द्रव्य की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि सामने अतिव्याप्त दोष खड़ा हुआ है। **(इतिचेन्न)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो वह ठीक नहीं है ऐसा आचार्य कहते हैं क्योंकि **(प्रदीपक्षणस्यैकस्य तैलाकर्षणवर्तिकामुखदाहाद्यनेककार्यकुर्वतः कार्यस्यासत्यत्वे कार्याकारित्वाद्वस्तुव्यवस्थानायोगात्)** तैल का आकर्षण तथा वार्तिका के मुख का दाह आदि अनेक कार्यों को करने वाले एक ही प्रदीपक्षण के कार्यों को यदि आप असत्य मानेंगे तो वह प्रदीपक्षण कार्यकारी न होने से वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकेगी **(तत्सत्यत्वे प्रतिकार्यं क्षणिक वस्तुत्वापत्तिरिति कथमेकक्षणिक वस्तुत्व स्थितिरिति)** और यदि आप उन पूर्वोक्त कार्यों को सत्य स्वीकार करेंगे तो प्रति कार्य क्षणिक वस्तु बन जायेगा तब कार्यों की अनेकता से अनेक क्षणिक वस्तुओं की आपत्ति आ खड़ी होगी ऐसी स्थिति में एक क्षणिक वस्तु की व्यवस्था कैसे होगी यह तुम ही कहो। **(कीदृशैः ?)** कैसे बौद्धों ने **(आत्मानं स्वं चैतन्यम्)** अपने चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व को **(परिशुद्धं-संसारदशातोध्यानादिभिर्निर्मलम्)** संसार अवस्था से ध्यान आदि के द्वारा निर्मल-स्वच्छ **(ईप्सुभिः वाञ्छकैः)** चाहने वाले **(क्षणिकत्वेकस्याशुद्धित्वं कस्य पुनर्ध्यानम्, कस्य च मुक्तावस्थायां शुद्धिरिति सर्वं गगनारविन्दमिव निर्विषयत्वादसदाभाति)** आत्मा की क्षणिकता स्वीकार करने पर किसकी अशुद्धिता और किसका ध्यान तथा मुक्त अवस्था में किसकी शुद्धि ये सब आकाशकमल के समान विषयशून्य होने से असत्-मिथ्या मालूम पड़ते हैं। **(आत्माभावात् शुद्धिर-शुद्धिश्च कस्य)** आत्मा का अभाव होने से किसकी तो शुद्धि और किसकी अशुद्धि **(पुनः-एकक्षणस्यद्विधर्मा-धारत्वाघटनात्)** क्योंकि एक क्षण दो विरोधी धर्मों का आधार नहीं हो सकता। **(अन्यथा निरंशत्व पक्षघात प्रसक्तेः)** अन्यथा अर्थात् एक क्षण को दो धर्मों का आधार स्वीकार करने पर निरंशत्व पक्ष के व्याघात का प्रसङ्ग आ जायगा। **(अपि-पुनः किं कृत्वा)** और क्या करके **(तत्र-आत्मनि)** उस आत्मा में **(अधिकां-दूषणाधानाद्बहुतराम्)** दूषणों के धारण करने से अत्यधिक **(अशुद्धिम्-अशुद्धताम्)** अशुद्धता को

(मत्वा-ज्ञात्वा) जान कर **(कुतः)** किससे **(कालोपाधिबलात्-कालः समयादिस्थायित्वरूपः स एव उपाधिः-विशेषणं तस्य बलं-सामर्थ्यं तस्मात्)** समय आदि रूप उपाधि-विशेषण की सामर्थ्य से **(तथाहि-एकं वस्तु-अनेकक्षणस्थायिसदनेकक्षणविशिष्टं भवेत्तदविशिष्टं वा)** उसे स्पष्ट करते हैं कि एक वस्तु अनेक क्षण स्थायी होती हुई अनेक क्षण से सहित होती है ? अथवा अनेक क्षण से सहित नहीं होती है । **(प्राक्तने पक्षे-प्रथमक्षणेऽनेकक्षणविशिष्त्वं भवेत्)** पूर्ण पक्ष में पहले क्षण में अनेक क्षण सहितता होगी **(अन्यथा-अनेक क्षणविशिष्टत्वाभावप्रसङ्गात्)** यदि ऐसा न माना जायगा तो अनेक क्षण विशिष्टता का अभाव का प्रसङ्ग होगा **(एवं द्वितीयादि क्षणेष्वपि)** ऐसा ही अर्थात् अनेक क्षण विशिष्टता द्वितीय-तृतीय आदि क्षणों में भी होगी **(द्वितीयपक्षे कालावशिष्टं वस्तुक्रमयौगपद्याभ्यां व्यतिरिक्तमवस्त्वेव स्यात्)** दूसरे पक्ष में काल से रहित वस्तु क्रम तथा यौग पद्य इन दोनों में भिन्न अवस्तु ही होगी **(पुनः किं विधाय)** फिर क्या करके **(प्रकल्प्य-कल्पयित्वा)** कल्पना करके **(किम्)** क्या कैसी कल्पना **(क्षणिकम्-क्षणस्थायि चैतन्यं ज्ञानं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्)** क्षणिक अर्थात् चैतन्य ज्ञान क्षणस्थायी है क्योंकि जो सत् है वह सब क्षणिक-क्षणस्थायी है प्रदीप की तरह **(नित्ये क्रमाक्रमाभावात् अर्थक्रियाभावात्सत्त्वाभावः इति)** नित्य में क्रम और अक्रम दोनों का अभाव होने से अर्थक्रिया नहीं होगी और उसके न होने से सत्त्व का भी अभाव होगा इसलिए क्षणिकता मानना ही ठीक है । **(कीदृशैश्च)** कैसे बौद्धों ने **(पृथुकैः बालिशैः)** अज्ञानी-वस्तुस्वरूप को नहीं जानने वाले **(वस्तुनः क्वचित्कदाचित्क्षणिकत्वाभावात्)** क्योंकि वस्तु किसी देश में और किसी काल में क्षणिक नहीं है । **(पुनः कीदृशैः)** फिर कैसे **(रतैः-रक्तैः)** अनुरक्त **(क्व)** किसमें **(शुद्धर्जुसूत्रे-शुद्धः द्रव्यनिरपेक्षः स चासौ ऋजुसूत्रश्च-अर्थपर्यायग्राहको नयः तत्र)** शुद्ध ऋजुसूत्र नय में अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से रहित अर्थपर्याय मात्र को ग्रहण करने वाले नय में **(कैः इव)** किसके समान **(निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः-अप्रोत-सूत्रे-ईहितहारमुक्ताफलावलोकिभिः पुरुषैः)** सूत्र में नहीं पिरोए हुए अभीप्सित हार के मुक्ताफल मोतियों को देखने वाले पुरुषों के **(हारवत्)** हार के समान **(यथा हारस्त्यक्तः-अन्वयिसूत्र द्रव्यानङ्गीकारात्)** जैसे मोतियों से अन्वय सम्बन्ध रखने वाले सूत्ररूप द्रव्य के स्वीकार न करने से हार छूट जाता है वैसे ही अर्थ-पर्याय से अन्वय सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के अङ्गीकार न करने से जीवद्रव्य ही नष्ट हुआ ऐसा समझना चाहिए ॥१६॥

भावार्थ—सवतः—सब तरफ से सर्वथा-सब तरह से शुद्ध आत्मा को चाहने वाले बौद्धों ने अति-व्याप्ति के भय से तथा काल की उपाधि से आत्मा में अधिक अशुद्धि की कल्पना करके वर्तमान पर्याय-मात्र को विषय करने वाले ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से आत्मा को वर्तमान पर्यायमात्र अर्थात् क्षणिक मान करके आत्मतत्त्व को ही छोड़ दिया है हार के समान । जैसे कोई मनुष्य मोतियों के हार को सूत्र के बिना ही देखना चाहे तो वह मात्र मोतियों को ही देख सकेगा जो स्वभावतः जुदे हैं हार को नहीं क्योंकि मोतियों को हार की संज्ञा देने वाला तो वह सूत्र है जिसमें वे बंधे हुए हैं । वैसे ही क्षणनश्वर पर्यायों से सम्बन्धित आत्मा को जो नित्यध्रुव है उसे छोड़कर केवल निरन्व पर्यायों को ही आत्मारूप से

देखने वाले बौद्धों की दशा है। टीकाकार ने क्षणिकत्व के सम्बन्ध में अनेक विकल्प उठा कर उसे दूषित कर नित्यानित्यात्मक वस्तु की सुव्यवस्थित स्थापना की है। अर्थ पर्याय की दृष्टि से द्रव्य कथञ्चित क्षणिक-अनित्य है और द्रव्य सामान्य की दृष्टि से वही द्रव्य कथञ्चित् त्रिकालस्थायी-नित्य है। इस तरह से स्याद्वाद का उज्ज्वल प्रकाश ही वस्तु के खास स्वरूप को प्रकाशित करने में पूर्णरूप से समर्थ है। अतः उसी के अनुपम उद्योत में आकर क्षणिकवादियों को अपना क्षणिकैकान्त का घोरान्धकार विनष्ट कर अनेकान्तरूप सूर्य की खरतर किरणों का सेवन ही श्रेयस्कर है।

पुनश्च—

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोतासूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं (भत्तुं) न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**कर्तुः**) कर्ता के (**च**) और (**वेदयितुः**) भोक्ता के (**युक्तिवशतः**) युक्ति के वश से (**भेदः**) भेद से (**वा**) अथवा (**अभेदः**) अभेद (**अपि**) भी (**अस्तु**) हो (**वा**) अथवा (**कर्ता**) कर्ता (**च**) और (**वेदयिता**) भोक्ता (**मा**) मत-नहीं (**भवतु**) हो। (**वस्तु**) वस्तु का (**एव**) ही (**सञ्चिन्त्यताम्**) भले प्रकार चिन्तन-ध्यान करो। (**सूत्रे**) सूत्र के (**इव**) समान (**इह**) इस (**आत्मनि**) आत्मा में (**प्रोता**) पिरोई हुई-गूँथी हुई (**इयम्**) यह (**चिच्चिन्तामणिमालिका**) चैतन्य रूप चिन्तामणियों की माला (**निपुणैः**) तत्त्वज्ञ पुरुषों के द्वारा (**क्वचित्**) किसी देश में (**कदाचित्**) किसी काल में (**भेत्तुम्**) भेदन करने के लिए (**शक्या**) शक्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है (**सा**) वह चैतन्यरूप चिन्तामणियों की माला (**अभितः**) सब तरफ से (**एका**) अद्वितीय (**एव**) ही (**नः**) हमारे (**अपि**) भी (**चकास्तु**) प्रकाशमान रहे।

सं० टीका—(**कर्तुः-कारकस्य**) कर्ता-कारक का (**वेदयितुश्च-कर्मभोजकस्य च**) वेदयिता-कर्मों के फल को भोगने वाले का (**भेदः-परस्परं कथञ्चिद्भिन्नत्वमस्तु**) आपस में कथञ्चित्-विवक्षा के वश से भिन्नता रहो (**सर्वथा भेदे तयोः केवलं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा स्यात् यः कर्ता स एव भोक्ता इति जीवान्तर वेदकसन्तानेऽपि न स्यात्**) कर्तृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृत्व-भोक्तापन इन दोनों में सर्वथा-एकान्तरूप से भेद मानने पर या तो केवल-सिर्फ कर्तृत्व कर्तापन होगा या सिर्फ भोक्तृत्व-भोक्तापन होगा किन्तु जो कर्ता है वही भोक्ता है ऐसा जीवान्तर वेदक सन्तान में भी नहीं हो सकता (**कुतः**) कैसे (**युक्तिवशतः-नयप्रमाणात्मिका युक्तिः तस्याः वशतः**) नय और प्रमाणरूप युक्ति के वश से (**द्रव्यार्थादेशादेकत्वप्रतिभासनात्**) क्योंकि द्रव्यार्थिक नय के आदेश से एकत्व का प्रतिभास होता है। (**अहमहमिकात्मा विवर्त्तात्मा ननु भवन् सर्वलोकानां स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्रज्ञानवत्सर्वथा भेदाघटनात्**) अहम्—मैं अहम्-मैं-रूप पर्याय स्वरूप होता हुआ यह आत्मा वस्तुतः अपने चैतन्य स्वरूप लक्षण से प्रत्यक्ष रूप में सभी मनुष्यों के

स्वसंवेदनरूप से प्रतिभासित होता है अतएव चित्र ज्ञान की भाँति सर्वथा-एकान्तरूप से भेद सिद्ध नहीं हो सकता है यह सुनिश्चित है। **(तु-पुनः)** और **(कथञ्चिदभेदो वास्तु)** अथवा कर्ता तथा भोक्ता इन दोनों में कथञ्चित् विवक्षा के वश से अभेद भी रहो **(सर्वथाऽभेदेतयोरुभयव्यपदेशाभावः)** क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप से कर्ता और भोक्ता इन दोनों में अभेद होने पर कर्ता और भोक्तारूप दो का व्यवहार नहीं हो सकेगा **(केवलं कर्तैव भोक्तैव वा स्यात्)** किन्तु या तो सिर्फ कर्ता ही होगा या सिर्फ भोक्ता ही होगा दोनों में से एक कोई हो सकेगा, दो नहीं। **(ततस्तद्वतस्ताभ्यां परस्परं व्यावृत्तिरेकानेक स्वभावत्वात् घटरूपादिवत्)** इसलिए कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त आत्मा की कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व इन दोनों से परस्पर में पृथकता है एक तथा अनेक स्वभाव होने के कारण घटगत रूपादि की तरह। **(ततः)** इसलिए **(य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्ति एकान्तः)** जो कर्ता है वही अथवा उससे भिन्न भोक्ता है जो भोक्ता है वही अथवा उससे भिन्न कर्ता है। इस तरह से एकान्त नहीं है। **(कर्ता वेदयिता भोक्तावात्मा भवतु वा-अथवा मा भवतु)** कर्ता-करने वाला और वेदयिता भोक्ता भोगने वावा आत्मा न हो **(कर्ता भोक्ता मास्तु)** कर्ता-भोक्तारूप कल्पना न हो **(वस्त्वेव-शुद्धात्मैकद्रव्यरूपं वस्तु-वसति गुणपर्यायानितिवस्तु पर्यायानपेक्षया द्रव्यमेव शुद्धम्)** जिसमें गुण और पर्यायें बसती-रहती हैं वह वस्तु कही जाती है शुद्धात्मा एक द्रव्यरूप वस्तु है अतएव उसमें पर्यायों की अपेक्षा न होने से एक मात्र शुद्ध आत्मद्रव्य का ही **(सञ्चिन्त्यताम्-ध्यायताम्-विचार्यतां वा)** भली भाँति चिन्तन-ध्यान वा विचार करे। **(कैः)** कौन **(निपुणैः-भेदज्ञैः पुरुषैः)** निपुण-स्वपर के भेद को जानने वाले पुरुष **(इह-आत्मनि-चिद्रूपे)** इस चैतन्य स्वरूप आत्मा में **(क्वचित्-कस्मिंश्चित् काले)** किसी समय **(भर्तुं-धर्तुम् कर्ता भोक्ता चेतिधर्तुं न शक्यस्तस्यैकरूपत्वात्)** कर्ता और भोक्ता इन दो विभिन्न धर्मों को धारण नहीं कर सकते क्योंकि वह आत्मा स्वभावतः एकरूप है। **(दृष्टान्तयतीत्यत्र)** इस विषय में दृष्टान्त देते हैं **(इव-यथा सूत्रे गुणे तन्तौ)** जैसे सूत्र-गुण अर्थात् तन्तु-धागे में **(प्रोता-अनुस्यूतो हारो मुक्तामणिरिति भर्तुं न शक्यः)** सम्बद्ध-पिराया हुआ हार मुक्तामणि ऐसा भेद धारण नहीं कर सकता अर्थात् सूत्र तथा मोतियों में तो भेद है पर हार में भेद नहीं है क्योंकि वह एक द्रव्य है तात्पर्य यह है कि मोतियों को हार संज्ञा तो सूत्र के साथ सम्बद्ध होने पर ही दी जाती है सूत्र के बिना मात्र मोतियों को नहीं। वैसे ही आत्मा में बिना अपेक्षा के केवल कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूप पर्यायें नहीं बन सकतीं। हां जब आत्मा में भेद विवक्षा की जाती है तब वही आत्मा पर्याय अपेक्षा से कर्ता भी है और भोक्ता भी है। पर अभेद विवक्षा से तो आत्मा आत्मा ही है वह न तो कर्ता ही है और न भोक्ता ही। **(अपि-पुनः)** और **(नः-अस्माकं स्याद्वादिनाम्)** हम स्याद्वाद सिद्धान्तियों के **(अभितः-सामस्त्येन)** समग्ररूप से **(इयम्-प्रसिद्धा)** यह प्रसिद्ध **(एका-अद्वितीया)** एक-अद्वितीय **(चिच्चित्याविः-चित्-चेतना सैव चिन्तामणिः तस्य मालिका पंक्तिः)** चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला **(अनुस्यूत मुक्ताफलानां पंक्तिरिव)** सूत्र में पिरोये हुए मोतियों की माला के समान **(प्रकास्त्येव द्योतत एव)** प्रकाशमान-द्योतमान रहे। **(क्षणक्षणिकपक्षदूषणैरष्टसहस्रयां क्षणिक ज्ञानस्य निराकृतत्वात्)** क्योंकि

क्षणक्षणिक पक्ष के दूषणों से क्षणिक ज्ञान का निराकरण अष्टसपत्नी में किया गया है ॥१७॥

भावार्थ—आत्मा स्वभावतः न तो कर्ता है और न भोक्ता। पर विवक्षा वश से उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भी बन सकता है क्योंकि स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन शास्त्रों में यत्र-तत्र बहुत प्राप्त होता है। व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है जैसा कि हार के दृष्टान्त से स्फुट होता है। सूत्रनिबद्ध मोतियों का समूह हार कहा जाता है उसमें अभेद विवक्षा की प्रधानता है। पर वही हार जब भेद विवक्षा का विषय होता है तब यह हार मोतियों का है। ये मोती अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, एक दूसरे से सटकर सूत्र में निबद्ध हैं। यह सब भेद प्राधान्य कथन है। यही भेदाभेद विवक्षा वस्तुस्थिति की व्यवस्थापिका है। आचार्यश्री ने तो यही भावना भाई है कि हमारे तो वही एक अखण्ड आत्मज्योति सदा प्रकाशमान रहो जो एकमात्र चैतन्य चमत्कार से ओतप्रोत है ॥१७॥

(**अथ व्यावहारिकदृशा तयोर्भिन्नत्वं चिन्त्यते**) अब व्यवहार प्रधान दृष्टि से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की भिन्नता का चिन्तन करते हैं—

व्यावहारिकदृशैवकेवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**केवलम्**) सिर्फ (**व्यावहारिक दृशा**) व्यावहारिक दृष्टि से (**एव**) ही (**कर्तृ**) कर्ता (**च**) और (**कर्म**) कर्म (**विभिन्नम्**) परस्पर में अति भिन्न (**इष्यते**) इष्ट हैं (**तु**) किन्तु (**यदि**) यदि-अगर (**निश्चयेन**) निश्चय की दृष्टि से (**वस्तु**) वस्तु का (**चिन्त्यते**) चिन्तन-विचार करते हैं (**तर्हि**) तो (**कर्तृ**) कर्ता (**च**) और (**कर्म**) कर्म (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**एकम्**) एक (**एव**) ही (**इष्यते**) इष्ट है।

सं० टी०—(**च-पुनः कर्तृ-कारकम्—कर्म च कार्यम् परस्परे भिन्नम्**) जो करे सो कर्ता और जो किया जाय वह कर्म अर्थात् कार्य ये दोनों आपस में भिन्न-जुदे हैं (**इष्यते**) इष्ट हैं (**कया**) किससे (**केवलं-परम्**) सिर्फ (**व्यावहारिक दृशैव-व्यवहार दृष्ट्यैव**) व्यवहारनय की दृष्टि से (**यथा सुवर्णकारादिः कुण्डलादि परद्रव्य परिणात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुङ्क्ते न तु तन्मयो भवति**) जैसे सुवर्णकार आदि कुण्डल आदि परद्रव्य परिणमन रूप कर्म को करता है और उसके फल को भी भोगता है किन्तु वह तन्मय-कर्ममय नहीं होता है (**तथात्माऽपि पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति तत्फल-कुलं च कवलयति न तु तन्मयः मीमांस्यते**) वैसे ही आत्मा भी पुण्य और पापादि रूप पुद्गलजन्य कर्म को करता है तथा उसके फल समूह को भी भोगता है किन्तु तन्मय-पुद्गल कर्मरूप नहीं विचार किया जाता है (**यदि-चेत्**) अगर (**निश्चयेन-निश्चयनयेन वस्तुद्रव्यमात्रं केवलम्**) निश्चयनय से वस्तु-सिर्फ द्रव्यमात्र (**इष्यते**) इष्ट है (**तदा**) तब (**सदा-नित्यम्**) हमेशा (**कर्तृ कर्म च आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्व योरैक्यमिष्यते**) कर्ता और कर्म आत्मा के कर्तृत्व तथा कर्मत्वरूप में एक ही इष्ट है (**यथा च स नार्डिधमादि चिकीर्षुः, चेष्टारूपमात्मपरिणात्माकं कर्म करोति आत्मपरिणात्मकं**

दुःख लक्षणं चेष्टारूपं कर्मफलं च भुङ्क्ते ततोऽन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति) जैसे वह आत्मा नाडिन्धम-नाड़ी का सञ्चालन आदि कर्म को करने की इच्छा करता है तो वह चेष्टारूप आत्मा के परिणाम-परिणमन रूप कर्म को करता है और आत्मा के परिणामरूप दुःखमय चेष्टा स्वरूप कर्म के फल को भोगता है और वह उस कर्म के फल से पृथक् न होने से तन्मय-कर्मरूप होता है। **(तथात्माऽपि चिकीर्षुश्चेष्टारूपं स्वपरिणात्मकं कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दुःख लक्षणं फलं च भुङ्क्ते ततोऽनन्यत्वेसति तन्मयश्चैव स्यात्)** वैसे ही आत्मा भी चेष्टारूप अपने परिणाममय कर्म को करता है और चेष्टारूप अपने परिणाम स्वरूप दुःखरूप फल को भोगता है और उस कर्मरूप से अभिन्न होने से तन्मय कर्ममय ही होता है ॥१८॥

भावार्थ—जैसे कुण्डल आदि कर्म का कर्ता सुवर्णकार सुवर्ण के विकाररूप पुद्गल कर्म से पृथक् ही रहता हुआ उस कर्म के फल को भोगता है, वैसे ही आत्मा पौद्गलिक पुण्य-पापरूप कर्म को करता है और उस कर्म के सुख-दुःख रूप फल को भोगता हुआ भी उससे जुदा ही रहता है यह व्यवहार दृष्टि है। परन्तु निश्चय दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न कर्ता कर्म को एक आत्मस्वरूप ही देखता है क्योंकि परिणाम और परिणामी में शुद्ध नय से कोई भेद-अन्तर नहीं है। कर्ता कर्म एक ही द्रव्य में होते हैं ॥१८॥

(अथ वस्त्वन्तरप्रवेशं वस्तुनो न निर्लुठति पद्यत्रयेण) अब वस्तु किसी अन्य वस्तु के अन्दर प्रवेश नहीं करती यह बात तीन पद्यों द्वारा प्रकट करते हैं—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥

अन्वयार्थ—**(ननु)** निश्चयतः **(किल)** आगमानुसार **(परिणामः)** परिणाम **(एव)** ही **(विनिश्चयतः)** परमार्थ दृष्टि से-निश्चयनय से **(कर्म)** कर्म है **(सः)** वह परिणाम **(परिणामिनः)** परिणामी-परिणमनशील द्रव्य का **(एव)** ही **(भवति)** होता है **(अपरस्य)** दूसरे किसी भिन्न द्रव्य का **(न)** नहीं **(भवेत्)** होता है। **(इह)** इस जगत में **(कर्म)** कर्म **(कर्तृशून्यम्)** कर्ता के बिना **(न)** नहीं **(भवति)**होता है। **(च)** और **(इह)** इस लोक में **(वस्तुनः)** वस्तु की **(स्थितिः)** मर्यादा-अवस्था **(एकतया)** एकरूप कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिणमनशील **(न)** नहीं **(भवति)** होती है **(ततः)** इसलिए **(तद्)** वह वस्तु **(एव)** ही **(कर्तृ)** अपने परिणाम रूप कर्म को करने वाली **(भवतु)** है।

भावार्थ—परिणमनरूप कर्म का कर्ता वही द्रव्य होता है जिस द्रव्य का वह परिणमन है। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होता है। कूटस्थनित्य कोई द्रव्य नहीं है। अतएव अपने-अपने परिणमन का कर्ता स्वद्रव्य ही होता है परद्रव्य नहीं। जो कर्म होता है उसका कोई न कोई कर्ता अवश्य ही होता है क्योंकि

बिना कर्ता के कर्म की उपलब्धि कथमपि सम्भव नहीं है। इस प्रकार से परिणामी और परिणाम में परस्पर में कर्तृकर्म भाव सहज सिद्ध है कृत्रिम नहीं है और न कल्पित है किन्तु वास्तविक है यथार्थ है वस्तुस्वरूपगत है।

इसकी संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।

पुनश्च—

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं–
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते–
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**स्फुटदनन्तशक्तिः**) प्रकाशमान अनन्त शक्ति स्वरूप (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य (**स्वयम्**) स्वभाव से (**बहिः**) अन्य वस्तु के बाहिर (**लुठति**) लोटती रहती है (**तथापि**) तो भी (**अपरवस्तुनः**) दूसरी वस्तु में (**अन्य वस्त्वन्तरम्**) दूसरी अन्य कोई वस्तु (**न**) नहीं (**विशति**) प्रवेश करती है। (**यतः**) क्योंकि (**सकलम्**) सब (**एव**) ही (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य (**स्वभावनियतम्**) अपने स्वभाव में निश्चित (**इष्यते**) मानी जाती है। (**ततः**) इसलिए (**स्वभाव चलनाकुलः**) स्वभाव की चञ्चलता से आकुल (**सन्**) होता हुआ (**मोहितः**) मोह को प्राप्त (**आत्मा**) जीव (**इह**) इस जगत में (**किम्**) क्यों (**क्लिश्यते**) क्लेशित होता है।

सं० टी०—(**यद्यपि**) यद्यपि (**स्वयं-स्वभावतः**) स्वभाव से (**बहिः-बाह्ये**) बाहिर (**स्फुटेत्यादिः-स्फुटन्ती-व्यक्ता चासावनन्तशक्तिः द्विकवारानन्ताविभागप्रतिच्छेदश्च**) स्फुरायमान-देदीप्यमान अनन्त बलशाली (**लुठति-स्फुटीभवति**) स्फुट– स्पष्ट होती है (**यथा सेटिकायाः सेटिकत्वादिः**) जैसे कि सेटिका-कलई की सफेदी (**तथापि**) तथापि (**अन्यवस्त्वन्तरं-सेटिकादि**) दूसरी वस्तु सेटिकादि (**परवस्तुनो मध्ये**) दूसरी वस्तु के मध्य में (**न**) नहीं (**विशति**) प्रवेश करती है। (**कुड्यादि लक्षणस्य मध्ये न प्रविशति**) अर्थात् कुड्यादि स्वरूप वस्तु के मध्य में नहीं प्रवेश करती है (**यतः-यस्मात्-कारणात्**) जिस कारण से (**सकलमेव-समस्तमेव**) सभी (**वस्तु-चेतनलक्षणं द्रव्यम्**) चैतन्य स्वरूप वस्तु (**स्वभावनियतम्-स्वस्यभावे-स्वस्वरूपे नियतम्-स्थितम्**) अपने स्वरूप में स्थित है (**जीवस्य ज्ञानात्मकं लक्षणम्**) जीव का लक्षण ज्ञान (**अजीवस्य-अचेतनस्य अचैतन्यं-तद्विपरीतम्**) अजीव अचेतन का लक्षण चेतन से भिन्न अचेतनता (**इष्यते-अभिलष्यते**) इष्ट है—अभिलषित है (**अतः**) इसलिए (**इह-जगति**) जगत में (**मोहितः मोहाक्रान्तः-पुमान्**) मोह से व्याप्त मनुष्य (**किम्-क्लिश्यते किं वृथा क्लेशं करोति पराभिप्राय परिवर्तनेन**) दूसरे के अभिप्राय के परिवर्तन से व्यर्थ ही क्यों क्लेश पाता है। (**किम्भूतः सन्**) कैसा होता हुआ—(**स्वेत्यादिः-स्वभावस्य-वस्तुस्वरूपस्य चलनां चापल्यं-कर्तरि कर्मप्रवेशत्वं कर्मणि कर्तृप्रवेशत्वंमित्यादि लक्षणं तत्राकुलः-व्याकुलतां**

गतः सन्) कर्ता में कर्म का प्रवेश तथा कर्म में कर्ता का प्रवेशरूप वस्तु स्वरूप की चञ्चलता से व्याकुल होता हुआ (**स्वरूपस्य ज्ञानादेः स्वरूपिणि जीवादौ व्यवस्थितत्वात्**) क्योंकि ज्ञानादि लक्षण की जीवादि-रूप लक्ष्यभूत द्रव्य में व्यवस्थिति होती है (**अन्यथा द्रव्योच्छेदः स्यात्**) यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य का ही समूलोच्छेद हो जाएगा।

—**भावार्थ**— वस्तु स्वभाव सर्वथा अपरिहार्य है एक वस्तु का अपने से भिन्न वस्तु में प्रवेश कथमपि सम्भव नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने में ही कर्ता तथा कर्मरूप से परिणमन करती रहती है परवस्तु में नहीं। यदि ऐसा न माना जायगा तो वस्तु की वस्तुता ही नष्ट हो जायेगी। अतः कर्ता कर्मरूप अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में प्रवेश त्रिकाल बाधित है ऐसा सुनिर्णित सिद्धान्त ही मानव की आकुलता तथा व्याकुलता के दूर करने का प्रमुख साधन एवं सुमार्ग है। इसी सुमार्ग पर चलकर स्व-आनन्द की अनुभूति हो सकती है।

पुनश्च—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिस कारण से (**वस्तु**) वस्तु (**इह**) इस जगत में (**अन्यवस्तुनः**) अपने से भिन्न वस्तु को (**न**) नहीं है (**तेन**) तिस कारण से (**तत्**) वह (**वस्तु**) वस्तु (**एकम्**) एक-अद्वितीय (**वस्तु**) वस्तु (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह (**निश्चयः**) निश्चय है (**अपरः**) दूसरा (**कः**) कौन (**अपरस्य**) अन्य वस्तु का (**बहिः**) बाहर (**लुठन्**) लोटता हुआ (**अपि**) भी (**किम्**) क्या (**करोति**) करता है अर्थात् कुछ भी नहीं।

सं० टीका (**इह-जगति**) इस जगत में (**येन-कारणेन**) जिस कारण से (**एकम्-चेतनादि लक्षणम्**) चेतन आदि लक्षण स्वरूप (**वस्तु-द्रव्यम्**) वस्तु-द्रव्य (**अन्यवस्तुनः-अपरवस्तुनः चेतनादेः स्वरूपम् न भवति खल्विति निश्चितम्**) चेतनादि स्वरूप अन्य द्रव्यरूप नहीं होती है यह निश्चित है। (**तेन-वस्तुनः-परवस्तु-स्वभावाभावेन कारणेन**) एक वस्तु में परवस्तु के स्वभाव का अभाव होने के कारण (**अयम्-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**निश्चयः-परमार्थः**) निश्चय-परमार्थ है (**अयम्-कः**) यह कौन (**यद्वस्तु-स्वगुणपर्यायैर्द्रव्यम्**) जो वस्तु अपने गुण तथा पर्यायों से द्रव्य है (**तत्स्वगुणपर्यायैरेव वस्तु चेतनादि द्रव्यम्**) वह वस्तु अपने गुण तथा पर्यायों से ही चेतनादि स्वरूप द्रव्य है (**नान्यथा**) अन्य रूप से नहीं। (**परस्वरूपेण वस्तु भवत्यतिप्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न स्वीकार करें तो परस्वरूप से वस्तु होने लगेगी यह अति प्रसङ्गरूप महान् दोष उपस्थित होगा। (**हीति-यस्मात् कारणात्**) जिस कारण से (**कः-अपरः-अन्यः पदार्थः सेटकादिर्जीवादिश्च**) सेटकादि तथा जीवादि रूप भिन्न पदार्थ (**अपरस्य कुड्यादेः कर्मपुद्गलस्य च**) अपने से भिन्न दीवाल आदि को तथा कर्मपुद्गल को (**किं श्वेतत्वं ज्ञानित्वं च करोति अपि तु न करोतीत्यर्थः**) क्या श्वेत तथा "जीव पक्ष में" ज्ञानी कर सकता है अपितु अर्थात् नहीं कर सकता है (**बहिः-बाह्ये**) बाहिर में ऊपर ऊपर (**लुठन्नपि**

भित्त्यादीनां श्वेतत्वं कुर्वन्नपि परस्वरूपेण न भवति) भित्ति आदि को श्वेत-सफेद करता हुआ भी पर रूप-भित्तिरूप नहीं होता है (**अन्यथा स्वद्रव्योच्छेदः**) यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो सेटकादि रूप द्रव्य का ही नाश हो जायगा (**आत्मापि परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकः बहिर्भवन्नपि तत्स्वरूपेण न भवति**) आत्मा भी ज्ञेयरूप परद्रव्य का बाहिर से ज्ञाता होता हुआ भी ज्ञेय द्रव्यरूप नहीं होता है। यदि वह भी ज्ञेयरूप हो जाये तो उस आत्मारूप द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। यह महान दोष आ खड़ा होगा।

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूप में है वह उसी रूप में रहेगी। अन्य वस्तुरूप नहीं होगी यही वस्तु-स्थिति है इसमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ सकता है यह अभेद्य सिद्धान्त है। चेतन का अचेतन के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध अनादितः प्रसिद्ध है यह ठीक है परन्तु चेतन का अचेतन रूप से और अचेतन का चेतन रूप से परिणमन-परिवर्तन न तो कभी हुआ है और न कभी होगा। क्योंकि एक वस्तु का अन्य वस्तु रूप होना सर्वथा असम्भव है ॥२०॥

पुनश्च—

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१॥

अन्वयार्थ— (**तु**) किन्तु (**यत्**) जो वस्तु (**स्वयम्**) स्वभाव से (**परिणामिनः**) परिणमनशील होती हुई (**अन्यवस्तुनः**) अन्य वस्तु का (**किञ्चनापि**) कुछ भी (**कुरुते**) करती है (**तत्**) वह (**व्यावहारिक दृशा**) व्यवहार दृष्टि से (**एव**) ही (**मतम्**) माना गया है (**इह**) इस संसार में (**निश्चयात्**) निश्चय परमार्थ-नय से (**अन्यत्**) अन्य वस्तु की अन्य वस्तु (**किमपि**) कुछ भी (**न**) नहीं (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**यत्तु तत्-मतं-कथितम्**) और जो कहा गया है वह (**कया**) किस दृष्टि से (**व्यावहारिकदृशैव-व्यवहारदृष्ट्यैव**) व्यवहारनय की दृष्टि से ही (**न तु परमार्थतः**) परमार्थ-निश्चय दृष्टि से तो नहीं (**तत् किम्**) वह क्या (**तु विशेषे**) विशेष रूप से (**यद्वस्तु सेटकादिः**) सेटकादिरूप जो वस्तु (**परिणामिनः-परिणमनशीलस्य**) परिणमनशील (**अन्यवस्तुनः-कुड्यादेः**) कुड्यादि-भित्तिरूप सर्वथा भिन्न वस्तु के (**स्वयं-स्वभावतः**) स्वभाव से (**किञ्चन-धवलत्वादिकम्**) धवलादि रूप जो कुछ भी (**कुरुते-विदधाति**) करता है (**तथात्मापि**) वैसे आत्मा भी (**परद्रव्यं-स्वकेन भावेन ज्ञातापि**) पर पुद्गलादि परद्रव्य को अपने ज्ञान स्वभाव से जानता है (**जानाति पश्यति विजहाति श्रद्धत्ते चैतत्सर्वं व्यवहारतः**) जानता है देखता है त्यागता है और श्रद्धान करता है यह सब व्यवहार नय से है (**इह जगति**) इस जगत में (**निश्चयात्-परमार्थतः**) निश्चय-परमार्थ दृष्टि से (**किमपि-सेटकादिद्रव्यं चेतनद्रव्यं वा**) सेटिका आदि अचेतन तथा आत्मारूप चेतन द्रव्य (**अन्यत्-कुड्यादेः श्वेतकत्वं, आत्मनः परद्रव्य ज्ञातृत्वं च नास्ति**) अपने से भिन्न कुड्य आदि अचेतन द्रव्य को श्वेत करने वाला वैसे ही, पुद्गल आदि परद्रव्य का जानने वाला नहीं है।

भावार्थ—जो पदार्थ स्वभाव से परिणमनशील है उसके परिणमन में निमित्त मात्र परवस्तु को माना गया है, यह व्यवहारनय प्रधान कथन है। पर निश्चयनय की दृष्टि उक्त दृष्टि से

सर्वथा बिलकुल ही जुदी है वह अपनी दृष्टि से किसी पदार्थ को किसी अन्य पदार्थ के परिणमन में सहायक स्वीकार नहीं करता है। वह तो यही कहता है कि– हरेक पदार्थ अपने-अपने में ही सीमित है कोई किसी का कर्ता धर्ता या हर्ता नहीं है। सेटिका-कलई ने दीवाल को सफेद किया तथा आत्मा ने पुद्गल को जाना यह सब व्यवहार, व्यवहारनय की अपेक्षा से है पर निश्चयनय की दृष्टि से सही नहीं है। क्योंकि सेटिका, सेटिकारूप से सेटिका में ही परिणमन करती है अन्य दीवाल आदि में नहीं। आत्मा भी अपने ज्ञान स्वभाव से अपने को ही जानती है पर को नहीं ॥२१॥

(अथ द्रव्ये द्रव्यान्तर निषेधं विधत्ते) अब एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं -

शुद्धद्रव्य निरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्ध स्वभावोदयः–
किं द्रव्यान्तर चुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवं ते जनाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—**(शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः)** जिसने अपनी बुद्धि को शुद्धद्रव्य के प्रतिपादन करने में लगा दिया है अतएव **(तत्त्वम्)** वस्तु के असली स्वरूप को **(समुत्पश्यतः)** देखने वाले-जानने वाले **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी पुरुष के **(ज्ञाने)** ज्ञान में **(जातुचित्)** कदाचित्-कभी भी **(एकद्रव्यगतम्)** एक द्रव्य में रहती हुई **(द्रव्यान्तरम्)** दूसरी भिन्न जुदी द्रव्य **(न)** नहीं **(चकास्ति)** प्रतीत-प्रतिभासित होती है। **(तु)** किन्तु **(यत्)** जो **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-पदार्थ को **(अवैति)** जानता है **(तत्)** वह **(अयम्)** यह **(शुद्धस्वभावोदयः)** शुद्ध-परिपूर्ण निर्मलज्ञान का स्वभाव का उदय है **(अतः)** इसलिए **(जनाः)** ऐसे पुरुष **(द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः)** भिन्न द्रव्यों के साथ स्पर्श होने की बुद्धि से आकुल-व्याकुल होते हुए **(तत्त्वात्)** वस्तु के असली स्वरूप से **(किम्)** क्यों **(च्यवन्ते)** स्खलित होते हैं।

सं० टीक— **(जातुचित्-कदाचित्)** कभी भी **(किमपि-चेतनमचेतनं वा द्रव्यान्तरं-चेतनादचेतनं वस्त्वन्तरम्, अचेतनाच्चेतनं वा वस्त्वं तरम्)** कोई चेतन अथवा अचेतन भिन्न द्रव्य अर्थात् चेतन से भिन्न अचेतन द्रव्य तथा अचेतन से भिन्न चेतन द्रव्य **(एकद्रव्यगतम्-एकस्मिन्द्रव्ये चेतने चेतनं अचेतनं च अचेतने वा चेतनमचेतनं च गतं सम्प्राप्तम्)** एक चेतन द्रव्य में चेनन अथवा अचेतन द्रव्य, तथा अचेतन में चेतन अथवा अचेतन द्रव्य प्रवेश को प्राप्त **(न चकास्ति-न द्योतते)** नहीं प्रतिभासित होता है **(कस्य)** किसके **(तत्त्वं-वस्तुयाथात्म्यम्)** वस्तु की यथार्थतारूप तत्त्व को **(समुत्पश्यतः-अवलोकयतो मुनेः)** अवलोकन करने वाले साधु के **(किम्भूतस्य)** कैसे मुनि के ? **(शुद्धेत्यादि-शुद्धं द्रव्यं निरुपाधिस्वात्मादि द्रव्यं तस्य निरूपणे-प्रतिपादने-अर्पिता-आरोपिता मतिः-बुद्धिः येन तस्य)** परोपाधि रहित निज आत्मादि द्रव्य के प्रतिपादन में जिन्होंने अपनी निर्मल वस्तु स्वरूप परिचायक बुद्धि का उपयोग किया है ऐसे मुनि के **(तु-पुनः)** और **(यत्-यस्माद्धेतोः)** जिस कारण से अर्थात् कारण कि –**(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञेयं-पदार्थम्)** ज्ञेय-जानने योग्य-

पदार्थ को (अवैति-जानाति) जानता है (न तु ज्ञेयं स्वस्वरूपेण करोति नत्विदं तत्स्वरूपेण भवति किन्तु केवलं परिच्छिनत्ति) किन्तु ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को आत्मरूप नहीं करता है और न ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञानरूप होता है मात्र ज्ञान उस पदार्थ को जानता ही है। (तत्-तस्मात् कारणात्)तिस कारण से अर्थात् इसलिए (अयं-ज्ञेयपरिच्छेदकत्वलक्षणः) ज्ञेय को जानना ही है लक्षण जिसका ऐसा यह (शुद्धस्वभावोदयः-शुद्धः-कर्मोपाधिनिरपेक्षः स्वभावः-स्वरूपं तस्य उदयः-प्राकट्यम्) कर्मोपाधि शून्य स्वभाव का उत्कर्षात्मक अभ्युदय है (ततः) इसलिए (जनाः-जिनागमानभिज्ञाः-लोकाः) जिनागम के असली स्वरूप से अपरिचित लोग (तत्त्वात्-वस्तुयाथात्म्यात्) वस्तु स्वरूप की वास्तविकता से (किं व्यवन्ते-कथं चलन्ति) क्यों विचलित-चलायमान होते हैं (कीदृक्षाः सन्तः) कैसे होते हुए (द्रव्यमित्यादिः-द्रव्यात्-द्रव्यान्तरे-परद्रव्ये चुम्बनं-आश्लेषणम्-तेनाकुलाः सेटिकया कथं श्वेतत्वं कुड्यादेः ज्ञानेन कथं ज्ञेयं ज्ञातमित्यादिरूपाधीः-बुद्धि येषां ते तथोक्ताः सन्तः) एक द्रव्य का अपने से भिन्न द्रव्य में होने वाले सम्बन्ध विशेष से जिनकी बुद्धि व्याकुलित है अर्थात् सेटिका-कलई से दीवाल में सफेदी कैसे हो गई। ज्ञान ने ज्ञेय को कैसे जाना इत्यादि रूप से जिनकी बुद्धि चञ्चलित-प्रपीड़ित है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही केन्द्रित-सीमित हैं। किसी का किसी में प्रवेश नहीं है। चेतन का अचेतन में अथवा अचेतन का चेतन में प्रवेश होना कथमपि सम्भव नहीं है। रही संयोग सम्बन्ध की बात सो वह संयोग सम्बन्ध भी एक दूसरे के स्वभावरूप नहीं होता है किन्तु विभावरूप ही होता है। सो भी वस्तु की वस्तुता का उच्छेदक नहीं होता है किन्तु विकारात्मक ही होता है। रही ज्ञान और ज्ञेय की बात सो ज्ञान ज्ञेय को पृथक् रह करके ही जानता है एक होकर नहीं। ज्ञान में ज्ञेय, ज्ञेयरूप से ही ज्ञात होता है ज्ञानरूप से नहीं। यदि ज्ञेय, ज्ञानरूप से ज्ञान में प्रतिभासित होने लगे तो ज्ञेय का उच्छेद होगा। ऐसी स्थिति में द्रव्य व्यवस्था ही छिन्नभिन्न-नष्टभ्रष्ट हो जायगी। अतः ज्ञान ज्ञेय को सिर्फ जानता ही है ग्रहण नहीं करता है। ज्ञान अपने में रहता है और ज्ञेय अपने में। दोनों एक दूसरे से मिलते जुलते नहीं हैं किन्तु सदा जुदे ही रहते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिए। चेतना ज्ञायक स्वरूप है अन्य समस्त पदार्थ ज्ञेय है ऐसी वस्तु व्यवस्था होते हुए भी यह जीव शरीरादिक परपदार्थों में अपनापना मान कर क्यों व्याकुल हो रहा है यह आश्चर्य है।

(अथ स्वभावस्वभाविनोर्भेदं प्रकाशयति) अब स्वभाव और स्वभावी में भेद प्रदर्शित करते हैं—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिः—
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२३॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध द्रव्यस्वरसभवनात्) शुद्ध द्रव्य-निजरस-स्वभावरूप होता है अतएव (शेषम्) बाकी के (अन्यद्द्रव्यम्) दूसरे द्रव्य (स्वभावस्य) उस स्वभाव के (किम्) क्या (भवति) हो सकते हैं

अर्थात् नहीं। **(वा)** अथवा **(यदि)** यदि **(भवति)** होते हैं **(तर्हि)** तो **(किम्)** क्या वे दूसरे द्रव्य **(तस्य)** उस भिन्न द्रव्य का **(स्वभावः)** स्वभावरूप **(स्यात्)** हो सकते हैं **(कदाचिदपि)** कभी भी नहीं **(ज्योत्स्नारूपम्)** चन्द्रमा की चाँदनी **(भुवम्)** भूमि को **(स्नपयति)** श्वेत करती है किन्तु **(भूमिः)** भूमि **(तस्य)** ज्योस्नारूप-चन्द्र की चाँदनीरूप **(एव)** कदापि **(न)** नहीं **(अस्ति)** होती है। **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(सदा)** हमेशा **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को **(कलयति)** जानता है किन्तु **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ **(अस्य)** ज्ञान का **(एव)** कदापि **(न)** नहीं **(अस्ति)** होता है।

सं० टीका—(**शुद्धेत्यादिः-शुद्धद्रव्यं-दर्शन ज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधिजीवद्रव्यादि तस्य स्वरसः स्वभावः तेन भवनात्**) परोपाधिरहित दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप जीव द्रव्य का स्वभाव स्वभावरूप होने से (**स्वभावस्य-चैतन्यादि लक्षणस्य स्वरूपस्य**) चैतन्यादिरूप स्वभाव के (**शेषं-द्रव्यात्परम्**) विवक्षित द्रव्य से भिन्न (**अन्यद्द्रव्यम्-चेतनं वा**) दूसरा कोई द्रव्य अथवा चेतन द्रव्य (**किं भवति**) क्या होता है (**अपितु परद्रव्यस्य स्वभाविनस्तदन्यद्रव्य स्वभावः स्वरूपं न भवति**) किन्तु स्वभाववान परद्रव्य का अन्य द्रव्य का स्वभाव स्वरूप नहीं होता है (**परद्रव्यं-तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यम्**) अर्थात् विवक्षित द्रव्य का स्वभाव अविवक्षित अन्य द्रव्य नहीं होता है यह तात्पर्यार्थ है। (**यदि वा-अथवा**) अथवा (**सः-स्वभावः चेतनादि लक्षणः**) वह चेतनादि स्वरूप-स्वभाव (**तस्य-अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्यस्वरूपं किं स्यात्**) उस अचेतनादिरूप अन्य द्रव्य का स्वभाव हो सकता है क्या ? (**अपि तु न स्यादेव**) किन्तु नहीं हो सकता है (**अथ स्वरूपस्वरूपिणोः परस्वरूपस्वरूपिभ्यां संकरव्यतिकरादि दोषापत्तेः न किञ्चिच्चेतनमचेतनं वा स्यात्**) स्वरूप और स्वरूपी का परस्वरूप एवं परस्वरूपी के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने पर शंकर एवं व्यतिकर आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं अतः कोई भी चेतन, अचेतन नहीं हो सकता और न अचेतन चेतन हो सकता है। (**इममेवार्थं दृष्टान्तयति**) इसी अर्थ को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं (**ज्योत्स्नारूपं-सेटिकादिद्रव्यस्य श्वेतस्वरूपम्**) ज्योत्स्नारूप अर्थात् सेटिकादि द्रव्य का श्वेतस्वरूप (**भुवम्-भूतलम्**) भूतल को (**स्नपयति-धवलीकरोति**) श्वेत-धवल-सफेद करता है (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तथापि**) तथापि-- तो भी (**भूमिः-वसुन्धरा-विश्वंभरा**) विश्वम्भरा-भूमि—(**तस्य-ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो नास्ति तस्यस्वभाविनो ज्योत्स्नारूपं न, ज्योत्स्नायाः सेटिकास्वभावत्वात्**) उस ज्योत्स्ना के स्वभावरूप नहीं होती है और उसके स्वभावी बिना वह ज्योत्स्नारूप नहीं है क्योंकि ज्योत्स्ना तो सेटिका के समान है (**दृष्टान्तेन स्पष्टं दार्ष्टान्तं दर्शयति**) दृष्टान्त से दार्ष्टान्ति को स्पष्ट रूप से दिखाते हैं (**ज्ञानं-स्वपरावभासः**) स्व और पर को जानने वाला—ज्ञान (**ज्ञेयं-कर्मतापन्नं परपदार्थम्**) कर्मरूपता को प्राप्त होने वाले पर पदार्थ-ज्ञेय को (**कलयतिपरिच्छिनत्ति-जानाति**) जानता है (**सदा-नित्यम्**) सदा-हमेशा (**तथापि**) तथापि—तो भी (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**ज्ञेयं-स्वरूपं नैवास्ति**) ज्ञेय स्वरूप नहीं है (**ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञानं स्वरूपिनैवास्ति**) ज्ञेय—स्वरूप का—ज्ञानस्वरूपी नहीं ही है (**तयोः परस्परमत्यन्तमेदात्**) क्योंकि उन दोनों "ज्ञान और ज्ञेय" का परस्पर-आपस में अतिशय-सर्वथा भेद-फर्क है।

भावार्थ—जैसे भूतल को धवल करने वाली ज्योत्स्ना भूतल का स्वभाव नहीं है अतएव भूतल उसका स्वभावी भी नहीं है अर्थात् ज्योत्स्नारूप नहीं है। वैसे ही ज्ञान ज्ञेय को जानता है परन्तु ज्ञेय ज्ञान का स्वभाव नहीं है अतएव ज्ञेय ज्ञान का स्वभावी भी नहीं है अर्थात् ज्ञानरूप भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्योत्स्ना और भूतल में श्वेतक तथा श्वेत्य सम्बन्ध है वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय में भी ज्ञायक तथा ज्ञेय सम्बन्ध है क्योंकि वे दोनों स्वभाव से ही जुदे-जुदे पदार्थ हैं एक दूसरे से कभी मिलते-जुलते नहीं हैं।

(**अथ ज्ञानस्वभावं वावच्यते**) अब ज्ञान के स्वभाव का विवेचन करते हैं—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न याव-
ज्ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्ये।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं-
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जब तक (**एतत्-**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञानम्**) ज्ञानरूप (**न**) नहीं (**भवति**) होता है (**पुनः**) और (**बोध्ये**) बोध्य-जानने योग्य पदार्थ (**बोध्यताम्**) बोध्यपने को अर्थात् ज्ञेयत्व को (**न**) नहीं (**याति**) प्राप्त होता है (**तावत्**) तब तक (**रागद्वेषद्वयम्**) राग और द्वेष दोनों (**उदयते**) उदय को प्राप्त होते हैं। (**तत्**) इसलिए (**न्यक्कृताज्ञानभावम्**) अज्ञान भाव को तिरस्कृत करने वाला (**इदम्**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञानम्**) ज्ञान रूप (**भवतु**) हो (**येन**) जिससे अर्थात् ज्ञानस्वरूप होने से (**भावाभावौ**) भाव और अभाव 'राग-द्वेष' को (**तिरयन्**) दूर करता हुआ (**पूर्णस्वभावः**) परिपूर्ण स्वभाव (**भवति**) हो जाये।

सं० टीका—(**यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान (**ज्ञानं-ज्ञायकं-स्वपरावभासकं-शुद्धम्**) स्व आत्मा तथा पर-अनात्मा को जानने वाला शुद्ध—विपरीतता रहित (**न भवति-नजायते**) नहीं हो जाता है (**तावत्कालम्**) तब तक (**एतत्-जगत्प्रसिद्धम्**) यह जगत् प्रसिद्ध (**रागद्वेषद्वयम्-रागद्वेषयोर्द्वयं**) राग और द्वेष का द्वय जोड़ा (**उदयते-अनुभागरूपेणोदयं धत्ते**) अनुभाग रूप से फलदान के रूप में उदय को धारण करता है (**उदिते ज्ञाने तस्योदयाभावात्**) किन्तु ज्ञान के उदित होने पर राग-द्वेष का उदय नहीं होता है (**पुनः**) किन्तु (**यावज्ज्ञानं-ज्ञानं-प्रकाट्यप्राप्तं न**) जब तक ज्ञान, ज्ञान नहीं होता है अर्थात् शुद्ध ज्ञान प्रकट नहीं होता है यानी सम्यग्ज्ञान नहीं बन जाता है (**तावद्बोध्ये-ज्ञेये-बहिःपदार्थे**) तब तक बोध्य-जानने योग्य बाह्य पदार्थ में (**बोधताम्-ज्ञातृतां**) बोधकता-ज्ञायकता को (**न याति-न प्राप्नोति**) नहीं प्राप्त करता है (**ज्ञाते ज्ञाने स्वपर बोध्यप्रकाशकत्वात्**) क्योंकि ज्ञान में ज्ञात होने पर ही ज्ञान ज्ञेय जानने योग्य पदार्थ का प्रकाशक-ज्ञायक-जानने वाला होता है। (**येन ज्ञानेन कृत्वा**) जिस ज्ञान के द्वारा (**आत्मा**) आत्मा (**पूर्णस्वभावः**) परिपूर्ण स्वभाववान् (**भवति-जायते**) होता है (**कीदृशः सन्**) कैसा होता हुआ (**तिरयन्-आच्छादयन्**) आच्छादन करता हुआ (**कौ**) किनको (**भावाभावौ-अस्तिनास्तिस्वभावौ-विभावपर्यायौ-**

उत्पादविनाशौ वा) अस्ति तथा नास्ति रूप स्वभाव को अथवा विभाव पर्यायों को जो उत्पाद एवं विनाश रूप हैं (**तत्**) वह (**इदम्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**ज्ञानम् संसारावस्थासम्भवात् रागद्वेषकल्मषीकृतं ज्ञानं शुद्धं स्वभावबोधोभवतु-अस्तु**) ज्ञान संसार अवस्था की उत्पत्ति के कारण राग-द्वेष रूप मैल से मलिनता को प्राप्त है निर्मल-शुद्ध स्वभाव रूप हो। (**कीदृशम्**) कैसा ज्ञान (**न्यगित्यादिः-न्यक्कृतः-तिरस्कृतः, अज्ञानलक्षणो भावः-स्वभावः येनतत्**) जिसने अज्ञान-बिपरीत ज्ञानरूप स्वभाव का तिरस्कार-परित्याग कर दिया है।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव, ज्ञानरूप से परिणत होना ही है। इसकी ज्ञानरूप परिणति में बाधक कारण राग-द्वेष का द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाता है तब तक ज्ञान में स्वाभाविकता की उपलब्धि असम्भव हो है। अतः सर्वप्रथम किसी भी मुमुक्षु को अज्ञानका विनाश करना चाहिए इसका विनाश किये जाने पर ही ज्ञान ज्ञानरूपता को प्राप्त कर आत्मा को परिपूर्ण ज्ञानी बनाने में सक्षम हो सकता है। अतएव ज्ञान की यह परिपूर्ण स्वाभाविकता हमें प्राप्त हो ऐसी पवित्रतर भावना ग्रन्थकार ने अभिव्यक्त की है।

(**अथसम्यग्दृष्टेस्तत्क्षयमाशं सति**) अब सम्यग्दृष्टि के उक्त राग-द्वेष के क्षय-विनाश का कथन करते हैं—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्वदृष्ट्या स्फुटं तौ—
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस जगत में (**हि**) निश्चय से (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**अज्ञानभावत्**) अज्ञान भाव से (**रागद्वेषौ**) राग-द्वेष रूप (**भवति**) परिणमित होता है (**वस्तुत्वप्रणिहितदृशा**) चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य की ओर संलग्न दृष्टि से (**दृश्यमानौ**) देखे जाने पर (**तौ**) वे राग-द्वेष (**किञ्चित्**) कोई वस्तुभूत (**न**) नहीं (**स्तः**) हैं (**ततः**) इसलिए (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यक्त्वी जीव (**तत्वदृष्ट्य**) तत्त्व दृष्टि से (**तौ**) राग और द्वेष को (**स्फुटम्**) स्फुट-स्पष्ट रूप से (**क्षपयतु**) विनष्ट कर देवे (**येन**) जिससे अर्थात् राग-द्वेष के विनाश से (**पूर्णाचलार्चिः**) परिपूर्ण निश्चल तेजस्वरूप (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानज्योतिः**) अनन्त ज्ञानमय प्रकाश (**ज्वलति**) ज्वल उठे अर्थात् प्रकाशित होवे।

सं० टीका—(**हि-स्फुटम्**) निश्चय से (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान (**इह-जगति**) इस जगत में (**राग-द्वेषस्वभावौ**) राग-द्वेष स्वभाव वाला (**भवति-जायते**) हो जाता है (**कुतः**) कैसे (**अज्ञानभावात्-अज्ञानमयस्वभावत्वात्**) अज्ञान रूप स्वभाव से (**ननु कथं ज्ञानं रागद्वेषौ भवति**) यहां कोई पूछता है कि ज्ञान, राग-द्वेष रूप कैसे हो जाता है ? (**ज्ञानस्य-ज्ञानावरणकर्मणः क्षयोपशमात्**) क्योंकि

ज्ञान तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होता है (तयोर्मोहनीयकर्मविवर्तत्वात्) और वे राग तथा द्वेष दोनों मोहनीय कर्म के परिणमन या पर्याय हैं ? (कथं ज्ञाने रागद्वेष सद्भावइतिचेत्) अतः ज्ञान में राग-द्वेष का अस्तित्व कैसे हो सकता है और ऐसा आपका कहना है (तर्हि) तो (सत्यम्) सत्य है-ठीक है (रागद्वेषयोर्भावकर्मणोश्चैतन्यविवर्तत्वात् अज्ञानस्वभावत्वं तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्) राग और द्वेष दोनों भावकर्म हैं क्योंकि वे चैतन्यस्वरूप आत्मा के पर्याय विशेष हैं अतएव अज्ञान के स्वभाव हैं ऐसा ही आगे समर्थन किया जायगा। (तदप्यभ्यधायि श्रीमद्विद्यानन्दिसूरिणा) ऐसा ही श्रीमद्विद्यानन्द सूरि ने कहा है—

भावकर्माणि चैतन्य विवर्तात्मानि भान्तिनुः ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ॥ ११४ ॥ इति ।

अन्वयार्थ—(चैतन्य विवर्तात्मानि) चैतन्यस्वरूप आत्मा के विकार रूप अतएव (स्ववेद्यानि) आत्मा के द्वारा वेदने—जानने योग्य (क्रोधादीनि) क्रोध आदि (भावकर्माणि) भाव कर्म (नुः) आत्मा के (कथञ्चित्) विवक्षा के वश से (अभेदतः) अभेद रूप से—अभिन्न रूप से (भान्ति) प्रतीत होते हैं।

(तौ-रागद्वेषौ)वे राग और द्वेष दोनो (दृश्यमानौ-अन्तर्दृष्ट्यावलोक्यमानौ सन्तौ) अन्तरङ्ग दृष्टि से देखे जा रहे (न किञ्चित् न किमपि ज्ञानिना दृश्येते) ज्ञानी के द्वारा कुछ भी नहीं देखे जाते हैं (कया) किससे (वस्त्वित्यादिः-वस्तुत्वे चैतन्यलक्षणे-वस्तुस्वरूपे-प्रणिहितदृशा समारोपितदृष्ट्या) चैतन्यस्वरूप आत्म-द्रव्य में समारोपित-स्थापित दृष्टि से (ततः-अन्तर्दृष्ट्याऽदृश्यमानत्वात्) अन्तरङ्ग दृष्टि से देखने पर राग-द्वेष दिखाई ही नहीं देते इसलिए (स्फुटं-निश्चितम्) निश्चित रूप से (सम्यग्दृष्टिः-तत्त्वदर्शीपुमान्) वस्तु वस्तुस्वरूप का द्रष्टा सम्यग्दृष्टि पुरुष (तौ-रागद्वेषौ) उन राग और द्वेष दोनों को (क्षपयतु-निर्जरादि-भिर्निराकरोतु) निर्जर आदि के द्वारा निरस्त विनष्ट कर दें। (तत्त्वदृष्ट्यावस्तुयाथार्थ्यदर्शनेन) तत्त्व दृष्टि से अर्थात् वस्तु यथार्थता के दर्शन से (येन-रागद्वेषक्षपणेन) राग और द्वेष के क्षय-विनाश से (सहजम्-स्वाभाविकम्) स्वाभाविक-नैसर्गिक (ज्ञानज्योतिः-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदसमूहम्-धाम) ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूहरूप तेज (ज्वलति-प्रकाशते) प्रकाशित होता है (किम्भूतम्-सत्) वह ज्ञान का प्रकाश कैसा (पूर्णाचलार्चिः-पूर्णं-निरावरणत्वात्सम्पूर्णम्-अचलम्-अक्षोभ्यम्-प्रतिपक्षकर्माभावात्-अर्चिः-ज्ञानशक्तिः-यस्य तत्) जिसकी ज्ञान शक्ति निवारण-आवरण शून्य होने से सम्पूर्ण है एवं विरोधी कर्म का अभाव होने से क्षुब्ध करने के योग्य न होने के कारण ही अचल अर्थात् अक्षोभ्य है। ('स्त्रीनपुंसकयोरर्चिः') अर्चि शब्द स्त्री और नपुंसक लिङ्ग है (इति भट्टिः) ऐसा भट्टिमहाकाव्य से प्रसिद्ध है।

भावार्थ—राग और द्वेष आत्मा से पृथक अस्तित्व रखने वाले द्रव्य नहीं हैं किन्तु कर्मबद्ध अतएव अशुद्ध आत्मा ही के परिणाम विशेष हैं जो कर्म के दूर होते ही दूर हो जाते हैं। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि ही उक्त प्रकार के रहस्य का ज्ञाता-जानने वाला होता है अतएव वही अन्तर्मुखी दृष्टि से जब देखता है तब उसे वे राग-द्वेष आत्मा के मूल स्वभाव में दिखाई नहीं पड़ते अतएव वह उन्हें कर्मजनित औपाधिक भाव ही

मानता है इसलिए आचार्यश्री ने प्रेरणा करते हुए सम्यग्दृष्टि से कहा है कि तुम सर्वप्रथम उन राग और द्वेष दोनों का मूलोच्छेद करो जिससे तुम्हें परिपूर्ण एवं निश्चल अत्यन्त ज्ञान ज्योति की सम्प्राप्ति हो।

(अथ रागद्वेषोत्पादककारणं सङ्कुच्छते) अब राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्व दृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२६॥

अन्वयार्थ —**(तत्त्वदृष्ट्या)** यथार्थ दृष्टि से **(रागद्वेषोत्पादकम्)** राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला **(किञ्चन)** कोई **(अपि)** भी **(अन्यद्द्रव्यम्)** दूसरा पदार्थ **(न)** नहीं **(वीक्ष्यते)** दिखाई देता है **(यस्मात्)** क्योंकि **(सर्वद्रव्योत्पत्तिः)** सभी द्रव्यों की उत्पत्ति **(स्वस्वभावेन)** अपने-अपने स्वभाव से होती हुई **(अन्तः)** अपते अतरंग में **(अत्यन्तम्)** अतिशय रूप से **(व्यक्ता)** स्पप्ट **(चकास्ति)** देदीप्यमान होती है।

सं० टी०—**(रागद्वेषोत्पादकम्-रागद्वेषयोरुत्पादकं-कारणम्)** राग तथा द्वेष को उत्पन्न करने वाला कारण **(अन्यद्द्रव्यम्-आत्मद्रव्यम्-विहाय परद्रव्यमचेतनादि)** आत्मद्रव्य को छोड़कर-पुद्गलादिरूप अचेतन परद्रव्य को **(न वीक्ष्यते-नावलोक्यते)** नहीं देखते **(कया)** किससे **(तत्त्वद्रष्ट्या-वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन)** वस्तु की यथार्थता के दर्शन से **(कुतः)** कैसे **(यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(सर्वेत्यादिः-सर्वेषां द्रव्याणां-चेतनानाम्-उत्पत्तिः-उत्पादः)** सभी चेतन द्रव्यों की उत्पत्ति **(अन्तः-अभ्यन्तरे)** अपने भीतर **(स्वस्वभावेन-स्वस्वरूपेण)** अपने स्वभाव के अनुरूप **(अत्यन्तम्-निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(व्यक्ता-स्फुटा)** स्पष्ट **(चकास्ति-द्योतते)** प्रकाशमान है **(ननु सर्वद्रयाणां नित्यत्वात्-कथमुत्पत्तिः अन्यथा सौगतमतस्यागतिः)** शंकाकार कहता है कि जब सभी द्रव्य नित्य हैं तब उनकी उत्पत्ति कैसी ? यदि नित्य होने पर भी उनकी उत्पत्ति मानोगे तो हठात् सौगतमत की उपस्थिति होगी **(इतिचेत् न)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि **(स्वस्वभावेनेतिवचनात्)** स्वस्वभावेन—अपने स्वभाव से ऐसा वचन कहा गया है। **(स्वपरिणामेन स्वपर्यायेणैवोत्पत्तिर्न तु द्रव्यरूपेण)** अर्थात् अपने परिणाम यानी अपनी पर्याय रूप से ही उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्यरूप से नहीं। **(यथामृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं-मृत्स्वरूपेण ?)** जैसे कुम्भभाव-घड़ारूप से उत्पन्न होने वाली अर्थात् घड़ारूप पर्याय को धारण करने वाली मृत्तिका-मिट्टी क्या कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है अथवा मृत्तिका के स्वभाव से। **(यदिः प्राक्तनः पक्षः)** यदि पहला पक्ष माना जायेगा **(तदाकुम्भकाराहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितप्रसारित-करतच्छरीराकारः कुम्भः स्यात्)** तो कुम्भकार के अहङ्कार से भरपूर-कुम्भकार रूप पुरुष से युक्त फैलाये हुए हांथों से उपलक्षित कुम्भकार के शरीर के आकार वाला घड़ा होगा **(न च तथाऽस्ति)** और घड़ा वैसा कुम्भकार के शरीर के आकार का नहीं है **(अतएव उत्तरः पक्षः श्रेयान्)** इसलिए आगे का दूसरा पक्ष ही

श्रेष्ठ है (**मृदेव कुम्भस्योत्पादिका न तु कुम्भकारः**) मृत्तिका ही कुम्भ घड़े को उत्पन्न करने वाली है कुम्भकार नहीं। (**तथा रागद्वेषौ पुद्गलस्वभावेनानुत्पद्यमानौ केवलमात्मनः स्वभावौ**) वैसे ही पुद्गल के स्वभाव से नहीं उत्पन्न होते राग-द्वेष एकमात्र आत्मा के स्वभाव हैं (**अन्योऽन्यस्योत्पादकत्वे तत्त्वव्यवस्थानाभावात् सर्वोच्छेदः स्यात्**) क्योंकि अन्य को अन्य का उत्पादक मानने पर तत्त्वव्यवस्था का अभाव होगा और तत्त्व व्यवस्था का अभाव होने से सभी द्रव्यों के विनाश का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

भावार्थ—परमार्थ-निश्चय दृष्टि से जब किसी वस्तु का विचार-विमर्श किया जाता है तब उसका आधार केन्द्र वह वस्तु ही होती है अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं। प्रकृत में राग-द्वेषादि के उत्पादक कारण-कलाप पर चिन्तन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस चिन्तन में वस्तुगत कार्य कारणता को ही प्रमुखता प्राप्त है अतएव जब कभी आत्मा में राग-द्वेषादि भावों का प्रादुर्भाव होता है तब वह आत्मा स्वयं ही उसका उपादान कारण बनता है। आत्मा से भिन्न कोई भी द्रव्य उसका कारण नहीं होता है। यह पर्याय दृष्टि का कथन है सभी द्रव्यें अपने-अपने में ही परिणमन को प्राप्त होती हैं—अन्य में नहीं।

(**अथ तद्धेतुत्वमात्मनः सङ्किरते**) अब राग-द्वेषादि का कारण आत्मा है यह प्रतिज्ञारूप में स्वीकार करते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो—
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो-जिस कारण से (**इह**) इस आत्मा में (**रागद्वेषदोषप्रसूतिः**) राग-द्वेष आदि रूप दोषों की उत्पत्ति (**भवति**) होती है (**तत्र**) उसमें (**परेषाम्**) आत्मा से भिन्न किसी भी द्रव्य का (**कतरदपि**) कोई भी (**दूषणम्**) दूषण-अपराध (**न**) नहीं (**अस्ति**) है किन्तु (**तत्र**) उस रागादि के (**सर्पति**) फैलने में (**अयम्**) यह (**अबोधः**) अज्ञानी जीव (**स्वयम्**) स्वतः (**अपराधी**) दोषी (**भवतु**) होता है (**इति मया विदितम्**) ऐसा मैंने जाना (**अतः**) इसलिएँ (**अबोधः**) अज्ञान (**अस्तम्**) विनाश को (**यातु**) प्राप्त हो (**च**) और (**अहम्**) मैं तो (**बोधः**) बोधरूप (**अस्मि**) हूँ।

सं० टीका—(**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**इह-आत्मनि**) इस आत्मा में (**रागेत्यादिः-रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तावेव दोषौ स्वस्वरूपाच्छादकत्वात् तयोः प्रसूतिः उत्पत्तिः**) आत्मा के असली स्वभाव के घात के होने से राग-द्वेष दोनों महान दोष हैं उनकी उत्पत्ति (**स्यात्**) होती है (**तत्र-तथा सति**) उन रागादि दोषों की उत्पत्ति में (**परेषाम्-अचेतनद्रव्याणाम्**) परपुद्गलादि अचेतन द्रव्यों का (**कतरदपि-किमपि**) कोई भी (**दूषणं-दोषः**) दोष (**नास्ति**) नहीं है (**अचेतनद्रव्यस्य तदुत्पादकत्वाभावात्, न तस्य दूषणम्**) क्योंकि अचेतन द्रव्य उन राग-द्वेषरूप चैतन्य भावों का उत्पन्न करने वाला नहीं है अतएव अचेतन द्रव्य का उसमें कोई दोष नहीं है (**केवलमात्मनो दूषणम्**) सिर्फ-एकमात्र आत्मा का ही दोष है (**तत्र-राग-**

द्वेषे) उन राग और द्वेष के (**आत्मनि**) आत्मा में (**सर्पति-व्याप्नुवति सति**) व्याप्त होने पर (**आत्मा-स्वयमं-स्वरूपेण**) आत्मा स्वयं ही स्वरूप से (**अपराधी-दोषवान्**) अपराधी-दोषी (**भवतु-अस्तु**) होता है (**किम्भूतः-सः**) वह आत्मा कैसा (**अबोधः-बोधरहितः सन्**) बोध रहित होता हुआ (**विदितम्-मया-ज्ञातं**) मैंने ऐसा जाना है (**अयम्-अबोधः अज्ञानम्**) यह अबोध-अज्ञान (**अस्तं-विनाशम्**) विनाश को (**यातु-प्राप्नोतु**) प्राप्त हो (**पुनः**) पश्चात्-और (**बोधः-अहं ज्ञानम्**) मैं ज्ञान (**अस्मि-भवामि**) स्वरूप रहूँ ।

भावार्थ—निमित्त-उपादान का विषय जैन शास्त्रों में विशेषरूप से वर्णन है, जैन शास्त्रकारों ने हरेक द्रव्य में अपनी-अपनी परिणमन करने की शक्ति मंजूर करी है। उपादान भी एक द्रव्य है और निमित्त भी एक द्रव्य है, हरेक द्रव्य में अपनी-अपनी योग्यता है। जो योग्यता जिस रूप में नहीं होती वह कोई दूसरा पैदा कर दे ऐसा नहीं हो सकता। एक बाहरी दृष्टि से देखना होता है एक अन्तरदृष्टि से। बाहरी दृष्टि से देखते हैं तब मालूम होता है कि पुराना पत्ता टूटने से नया पत्ता आया परन्तु अन्तरदृष्टि से देखें तो नया पत्ता निकलने के सम्मुख हुआ तो पुराना पत्ता गिर गया। इसी प्रकार जमीन में बीज बोया और बाहर से देखने वाला कहता है कि जमीन फटने से पौधा उगा परन्तु अन्तरदृष्टि वाला देखता है कि पौधा उगने के लिए तैयार हुआ तो जमीन फट गयी। बाहर से देखने वाला जो उसे दिखाई दे रहा है वही कह रहा है परन्तु उसका यह कहना सही नहीं है अगर वह पेड़ के सब पत्ते तोड़ डाले तो नया नहीं आयेगा। परन्तु बाहरी दृष्टि से देखने वाला यही मान लेता है कि मेरे को ऐसा दिखाई दिया है। अतः वह समझता है कि गाली निकालने वाले ने क्रोध करा दिया। स्त्री ने राग करा दिया—खोमचे वाले ने मन चला दिया। इस प्रकार परवस्तु का दोष तो देखता है अपने दोष को नहीं देखता कि मैंने क्रोध कर लिया, मैंने राग कर लिया, मैंने मन चलाया है। पर का दोष माने तो पर को ठीक करने की चेष्टा करे वह हमारे आधीन नहीं है अपना दोष जाने तो अपने को ठीक करने का उपाय करे जो हमारे आधीन है। लौकिक में भी कहा जाता है कि चिढ़ाने वाले अगर चिढ़ाना नहीं बन्द करते हैं तो चिढ़ने वाले को कहते हैं कि तू ही चिढ़ना बन्द कर दे तो चिढ़ाने वाले अपने आप चले जायेंगे। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी गलती मानें। जब हम क्रोध करने के सम्मुख होते हैं तब बाहर में पर का अवलम्बन हम लेते हैं और क्रोध करने के लिए लेते हैं और हमही क्रोधरूप परिणमन करते हैं तब उपचार से जिसका अवलम्बन लिया उसने क्रोध करा दिया यह कहा जाता है जो मात्र उपचार है कहने मात्र है। उसने गाली दी यह उसका परिणमन हुआ। उस गाली का हमने अवलम्बन लिया और जिस दृष्टिकोण से देखा वैसा ही हमारा परिणमन हुआ। अतः अवलम्बन हमने लिया दृष्टिकोण देखने का हमारा अतः गाली ने क्या किया जो कुछ किया वह हमने किया। पर ने तो हमारे साथ जबरदस्ती करी नहीं। गाली ने यह नहीं कहा कि तू मेरे को सुन हम ही अपने स्वभाव से हटकर उसको सुनने को गये—उसको अनिष्ट माना है इसलिए जिम्मेवारी हमारी है। हम उसका अवलम्बन न लें अथवा दृष्टिकोण अनिष्टपने का न बनावे उसके साथ हम अपना सम्बन्ध न जोड़ें यह सब हमारे पर ही निर्भर करता है। निमित्त सहायता नहीं

करता – निमित्त के सहयोग से कार्य नहीं होता परन्तु निमित्त का अवलम्बन लेकर हम कार्य करते हैं। जिसका अवलम्बन लेते हैं वह निमित्त कहलाता है और जिस कार्य के लिए अवलम्बन लेते हैं उस कार्य का निमित्त कहलाता है। एक लकड़ी में कई प्रकार की उसकी निमित्तपने की शक्ति है वह हमेशा है जैसे जलने की, मारने में निमित्तपने की, चलने में सहारा बनने की। अब हम कौन-सा कार्य करना चाहते हैं उसी अभिप्राय से हम उसका अवलम्बन लेते हैं और वह उसका निमित्त कहलाती है। हमारा कार्य होने पर ही वह हमारे लिए निमित्त कहलावेगी परन्तु उस कार्य के निमित्तपने की शक्ति उसमें हमेशा से है इसलिए राग के मिमित्त से, क्रोधादि के निमित्त से, मिथ्यात्व के निमित्त से बचने का उपदेश दिया और वीतरागता के निमित्त के सहयोग का उपदेश दिया। एक सामान्य कथन है कि इस वस्तु की पर्याय में इस इसपने के निमित्त होने की शक्ति है और एक विशेष कथन है कि हमारे लिए निमित्त हमारा कार्य होने पर ही कहलावेगा। हमें दोनों कथन को मानना जरूरी है। सामान्य कथन को नहीं मानेंगे तो उन-उन निमित्तों से बचने का उपाय नहीं करेंगे। क्योंकि हमारे लिए तो अभी निमित्त हुआ ही नहीं तब निमित्त कैसे कहें। कोई यह कहे कि जब निमित्त कुछ करता ही नहीं फिर उससे किस लिए बचना चाहिए उसका उत्तर है कि यह सही है वह कुछ नहीं करता परन्तु उसका अवलम्बन लेकर अथवा उसके सद्भाव में हम आत्मबल की कमी की वजह से अन्यथा परिणमन कर जाते हैं। अतः गलती हमारी है निमित्त की नहीं। परन्तु आत्मबल की जब तक कमी है तब तक बचना जरूरी है।

जितने उदाहरण दिये गये हैं वह पुद्गल के दिये गये हैं, पुद्गल में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह निमित्त को निमित्त न बनावे वहां तो जैसा निमित्त मिलता है वैसा ही नैमेत्तिक कार्य हो जाता है परन्तु चैतन्य में तो निज पुरुषार्थ है वह चाहे तो निमित्त बनावे (उसका अवलम्बन ले) अथवा न बनावे और अपने दृष्टिकोण को भी उसके प्रति बदल ले। इसलिए पुद्गल के उदाहरण चेतन में नहीं लग सकते। निमित्तादि को समझने में यह हमारी सबसे बड़ी गलती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दूसरे ने राग करा दिया अथवा दूसरे ने भला-बुरा कर दिया इसलिए उसके अभिप्राय में पर पदार्थों के प्रति राग-द्वेष कभी नहीं मिट सकता। जो रागादिक होने में पर को कारण मानता है अथवा पर की वजह मानता है वह बहिरात्मा है यही बहिरात्मा का असली लक्षण है। ज्ञानी रागादि होने में अपनी गलती मानता है अपने आत्मबल की कमी को कारण मानता है। अतः अपने आत्मबल की कमी को आत्म अनुभव के द्वारा दूर करके पर को निमित्त नहीं बनाता अथवा पर का अवलम्बन नहीं लेता अतः नैमेत्तिक कार्य नहीं होता।

कोई कहे कि मोह कर्म के उदय को तो निमित्त माने कि उसने राग करा दिया। यह भी सही नहीं है। मोह के उदय में जीव रागाविरूप निज में परिणमन करता है तब उपचार से कहते हैं कि मोह के उदय ने राग करा दिया। अज्ञानी ऐसा मान कर पुरुषार्थ से वंचित रहता है। परन्तु ज्ञानी स्वभाव का अवलम्बन लेता है जितना आत्मबल लगाता है उतना कर्मका उदयाभावी क्षय हो जाता है, जितना आत्मबल की

कमी रहती है उतना रागादि होते हैं जो मोह का उदय कहलाता है। क्योंकि ज्ञानी के रुचि नहीं है आत्मबल की कमी के कारण बरजोरी से होते हैं अतः उसको कर्ता नहीं कहा, कर्म का कार्य कहा। परन्तु ज्ञानी उसको कर्म का दोष नहीं मानता अपने स्वरूप में नहीं ठहर सकने के कारण हुए हैं अतः स्वरूप में नहीं ठहरने को अपनी कमी समझता है जिसको दूर करने का निरन्तर पुरुषार्थ करता है। अतः रागादि होने में पर का दोष देखता है वह मोह नदी से पार नहीं हो सकता यह सब पर्यायदृष्टि का विषय है—द्रव्यदृष्टि में तो रागादि है ही नहीं। अगर रागादि पर के कारण से हुए हैं तो परके मेटने से ही मिटेंगे।

(अथान्य निमित्तत्वं तयोस्तीर्यते) अब रागादि की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य की निमित्तता का निषेध करते हैं—

राग जन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेवकलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२८॥

अन्वयार्थ— **(तु)** किन्तु **(ये)** जो पुरुष **(रागजन्मनि)** राग की उत्पत्ति में **(परद्रव्यम्)** परद्रव्य को **(एव)** ही **(निमित्तताम्)** निमित्त-कारणरूप से **(कलयन्ति)** स्वीकार करते हैं **(ते)** वे पुरुष **(शुद्धबोध-विधुरान्धबुद्धयः)** वस्तुस्वरूप के ज्ञान से शून्य अतएव अन्धबुद्धि वाले **(हि)** निश्चय से **(मोहवाहिनीम्)** मोहरूपी नदी को **(न)** नहीं **(उत्तरन्ति)** पार कर सकते हैं।

सं० टीका—**(ये-वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षाः-सांख्याः)** वस्तु के असली स्वरूप से अपरिचित जो सांख्य-मतानुयायी लोग **(रागजन्मनि-रागद्वेषोत्पत्तौ)** राग और द्वेष की उत्पत्ति में **(परद्रव्यमेव-आत्मान्यद्रव्यम्-रागोत्पत्तौ मणि कनक कामिनी प्रमुखम्, द्वेषोत्पत्तौ-विष विपक्ष कर्कश कण्टकादिद्रव्यम्, एव-निश्चयेन)** आत्मा से भिन्न द्रव्य को अर्थात् राग की उत्पत्ति में मणि, स्वर्ण, स्त्री आदि प्रधान पदार्थों को तथा द्वेष की उत्पत्ति में—विष, शत्रु, कठोर, कण्टक आदि द्रव्य को ही निश्चित रूप से **(निमित्तताम्-हेतुताम्)** निमित्तता-हेतुता-कारणता को **(कलयन्ति-प्रतिपादयन्ति)** प्रतिपादन करते हैं **(कलि वलि कामधेनुः इति कामधेनावुक्तत्वात् कलेः प्रतिपादनार्थः)** यहां कलिधातु का अर्थ—प्रतिपादन है क्योंकि कलि और वलि यह दोनों धातुएं कामधेनु अर्थ में कही गई हैं **(तु-पुनः)** और **(ते-जडधियः)** वे जड़बुद्धि-पदार्थ ज्ञान से रहित पुरुष **(हि-निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(मोह वाहिनीम्-महामोहनिम्नगाम्)** महा मोहरूप नदी को **(नोत्तर-न्ति-उत्तर्तुं न शक्नुवन्ति स्वरूपानभिज्ञत्वात्)** आत्मा के स्वरूप से अपरिचित होने के कारण उतरने पार करने में नहीं समर्थ हो सकते **(कीदृक्षाः-सन्तः)** कैसे होते हुए **(शुद्धेत्यादिः-शुद्धबोधेन-कर्ममलकलङ्क-रहितेन ज्ञानेनविधुरा रहिता अन्धाः-स्वरूपदर्शनाभावात्-बुद्धिर्मतिर्येषां ते)** कर्ममलरूपकलङ्क से रहित ज्ञान से शून्य होने के कारण, आत्मस्वरूप का दर्शन न होने से जिनकी बुद्धि अन्ध है **(तत्कथं न कारणम्)** वह बाह्यद्रव्य कारण क्यों नहीं है? **(तथाहि—)** जैसा कि **(यद्धि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव)** यह निश्चित है कि जो जहां होता है उसके घात-विनाश से उसका विनाश हो ही जाता है **(यथा प्रदीप घाते प्रकाशो हन्यते)** जैसे प्रदीप के विनाश होने पर प्रकाश का विनाश होता है **(न हन्यते च स्पर्शादीनां विनाशे**

रागादिः तस्मात्तथा न) स्त्री आदि के विनाश होने पर भी रागादि का विनाश नहीं होता है इसलिए वैसा नहीं है **(तथा च यत्रहि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव)** जैसे कि निश्चय से जहां जो होता है उसके नाश होने पर उसका भी नाश होता ही है **(यथा प्रकाशघाते प्रदीपोहन्यते एव)** जैसे प्रकाश का विघात होने पर प्रदीप का विघात होता ही है **(न हन्यते च रागादीनां विनाशे कमनीय-कामिन्यादिः)** राग आदि के विनाश होने पर भी कमनीय-सुन्दर-कामिनी स्त्री आदि का विनाश नहीं होता है **(तस्मान्न तत्तथा)** इस-लिए वह वैसा नहीं है **(यत्तु न यत्र भवति)** और जो जहां नहीं होता **(तत्तद्घाते न हन्यते)** वह उसके घात होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता **(यथा घटघाते घट प्रदीपो न हन्यते)** जैसे घट का विनाश होने पर भी घट प्रकाशक प्रदीप का नाश नहीं होता है **(न हन्यते स्त्रीघाते रागादिः)** स्त्री का घात होने पर भी स्त्री सम्बन्धी रागदि का विनाश नहीं होता है। **(यत्र हि यन्नभवति)** जो जहां नहीं होता है **(तत्तद्घाते न हन्यते)** वह उसके घात होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता है **(यथा घट प्रदीपघाते घटो न हन्यते)** जैसे घट के प्रकाशक प्रदीप के नाश होने पर भी घट का नाश नहीं होता है। **(न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते)** राग आदि का घात होने पर भी स्त्री आदि का विनाश नहीं होता है **(तस्मान्न तत्त-थेति)** इसलिए वह वैसा नहीं है।

भावार्थ—व्यवहार नय की दृष्टि में एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक भाव हैं निश्चयनय की दृष्टि से नहीं। निश्चय नय की दृष्टि से तो प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतन्त्र कार्य कारण भाव है उसमें परद्रव्य की जरा-सी भी अपेक्षा नहीं है। टीकाकार ने भी उक्त भाव को ही समर्थन दिया है उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा यही बात स्पष्ट की है कि अन्तरङ्ग कारण के रहते हुए ही बाह्य कारण कार्य को उत्पत्ति में मात्र निमित्त होता है उत्पादक नहीं। उत्पादक तोएकमात्र अन्तरङ्ग कारण ही होता है। अन्तरङ्ग कारण के नाश होने पर बाह्य कारण के रहते हुए भी कार्योत्पत्ति नहीं होती है। बाह्य कारण के नाश होने पर भी अन्तरङ्ग कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अतः बाह्य कारण को ही कार्यो-त्पत्ति में प्रमुखता प्रदान करना अज्ञानता सूचक ही नहीं है प्रत्युत् न्यायनीति के सर्वथा विरुद्ध भी है। अतः जो मुमुक्षु हैं मोहरूपी महानदी को तैरना चाहते हैं—उससे पार होना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे सर्वप्रथम कार्यकारण भाव को सम्यग्ज्ञान के द्वारा सुदृढ़ता के साथ निश्चित करें। रागादि की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही कारणता है ऐसा कहने वाले सांख्यों के सिद्धान्त का खण्डन करने के हेतु टीकाकार ने ऐसी अनेक व्याप्तियां प्रस्तुत की हैं जिनसे उक्त सिद्धान्त का खण्डन सहज ही हो जाता है वे व्याप्तियां निम्न प्रकार हैं—

(१) जो जिस आधार में रहता है वह उस आधार के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। जैसे—दीपकरूप आधार के नाश होने पर प्रकाशरूप आधेय का भी नाश हो जाता है। लेकिन स्त्री आदि के नाश होने पर भी रागादि का नाश नहीं होता है।

(२) जहां जो होता है वह उसके नाश होने पर नाश को प्राप्त करता है। जैसे—प्रकाश के नाश

होने पर प्रदीप का नाश हो जाता है। लेकिन रागादि के नाश होने पर भी स्त्री आदि का नाश नहीं होता है अतएव स्त्री आदि को रागादि की उत्पत्ति में कारणता नहीं है।

(३) जो जहाँ नहीं होता है वह उसके नाश होने पर नाश को प्राप्त नहीं होता है। जैसे—घट के नाश होने पर भी उसके भीतर रखे हुए दीपक का नाश नहीं होता है, वैसे ही स्त्री के नाश होने पर भी रागादि का नाश नहीं होता है।

(४) जहाँ जो नहीं होता है उसके नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। जैसे—दीपक के नाश हो जाने पर भी घट का नाश नहीं होता है। वैसे ही राग आदि का नाश होने पर भी स्त्री आदि का नाश नहीं होता है। इस प्रकार से रागादि की उत्पत्ति में आत्मा से भिन्न किसी अन्य द्रव्य को कारण मानने वाले सांख्यों के सिद्धान्त का निरसन-खण्डन हुआ।

(अथ बोधाबोधयोरन्यत्वमनुनीयते) अब बोध-ज्ञान तथा अबोध-अज्ञान इन दोनों में जुदाई को दिखाते हैं—

पूर्णैकाच्युत शुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा) परिपूर्ण अद्वितीय-अविनाशी कर्ममल से रहित अतएव शुद्ध ज्ञान की महिमा वाला (अयम्) यह (बोधः) ज्ञान (बोध्यात्) बोध्य जानने योग्य-ज्ञेय पदार्थ से किंचित मात्र (विक्रियाम्) विकार को (न) नहीं (यायात्) प्राप्त होता है (इव) जैसे (इतः) इस (प्रकाश्यात्) प्रकाशने योग्य-घटपदादि पदार्थ से (दीपः) दीपक (विक्रियाम्) विकार को (न) नहीं (यायात्) प्राप्त होता है। (तद्) इसलिए (वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणाः) वस्तु की स्वभाव रूप मर्यादा के ज्ञान से शून्य बुद्धि वाले (एते) ये (अज्ञानिनः) अज्ञानी-वस्तु स्वरूप से अपरिचित-अनभिज्ञ पुरुष (किम्) क्यों (रागद्वेषमयी) राग-द्वेषरूप (भवन्ति) हो रहे हैं (च) और (सहजाम्) स्वाभाविक (उदासीनताम्) उदासीनता-मध्यस्थ वृत्ति को (किम्) क्यों (मुञ्चंति) छोड़ रहे हैं।

सं० टीका—(इव-यथा) जैसे (इतः-अस्मात्) इस (प्रकाश्यात्-प्रकाशयितुं योग्यात् घटपटादेः) प्रकाशने योग्य घट पट आदि पदार्थों से (दीपः—कज्जलध्वजः) काजल ध्वजा वाला—दीपक (कामपि-) किसी भी (विक्रियाम्) विक्रिया—विकार को (न) नहीं (याति) प्राप्त होता है (देवदत्तो हि यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां प्रकाशयेति घट पटादिः स्वप्रकाशने दीपं न प्रयोजयति) जैसे देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर कहता है कि तुम मुझे प्रकाशित करो वैसे ही घट पट आदि पदार्थ अपने को प्रकाशित करने के लिए दीपक से प्रेरणा नहीं करते हैं (प्रदीपोऽपि मदार्थः कान्तोपलाकृष्टायः सूचीवत् स्वस्थानोत्प्र-

च्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति) दीपक भी अयःकान्तोपलाकृष्ट-चुम्बक पाषाण से आकृष्ट-खींची हुई अयः सूचीवत्—लोहे की सुई के समान-अपने स्थान से खिचकर-हटकर उस प्रकाशनीय पदार्थ को प्रकाशित करने के लिए नहीं जाता है। **(वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात्-परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च)** क्योंकि किसी वस्तु का स्वभाव किसी अन्य वस्तु के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता है इतना ही नहीं प्रत्युत् कोई वस्तु अपने से भिन्न किसी वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती है। **(तदसन्निधाने तत्सन्निधाने च स्वरूपेणैव स प्रकाशते)** किन्तु प्रकाशनीय पदार्थ के समीप में नहीं रहने पर तथा रहने पर भी वह दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान रहता है **(तथा अयं बोधः-ज्ञानम्)** वैसे ही यह ज्ञान भी प्रकाशमान रहता है स्वभाव से। प्रकाशनीय पदार्थ हो और न भी हो। **(ततः-तस्मात् बहिरर्थात्-शब्दरूप-गन्धरसस्पर्शगुणद्रव्यादेः)** शब्दरूप गन्ध रस और स्पर्श गुणवान द्रव्यरूप बाह्य पदार्थ से **(बोध्यात्-बोद्धुं ज्ञातुं योग्यात)** बोध-जानने योग्य वस्तु से **(कामपि विक्रियां)** किसी विक्रिया को नहीं प्राप्त होते **(देवदत्तो यज्ञदत्तमिव करे गृहीत्वा मां शृणु मां पश्येत्यादिनि स्वज्ञाने नात्मानं प्रेरयति न चात्माप्ययः सूचीवत् स्वस्थानात् तान् ज्ञातुमायाति किं तु स्वभावत एव जानाति-इति विक्रियां न यायात् न गच्छेत्)** जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़ कर कहता है कि तुम मुझे सुनो, मुझे देखो इत्यादि रूप अपने ज्ञान में अपने को प्रेरित नहीं करता है वैसे ही यह आत्मा भी लोहे की सुई के समान अपने स्थान से हटकर उन ज्ञातव्य पदार्थों को जानने के लिए उनके समीप में भी नहीं जाता है किन्तु अपने ज्ञायक स्वभाव से ही उनको जानता है इसलिए किसी भी प्रकार के विकार को प्राप्त नहीं करता है **(कीदृक्षोबोधः)** कैसा बोध **(पूर्णकेत्यादिः-पूर्णः-स्वगुणपर्यायैः सम्पूर्णः एकः अच्युतः-अक्षोभ्यः शुद्धः—कर्ममलरहितः स चासौ बोधश्च तस्य तेन वा महिमा-माहात्म्यं यस्य सः)** अपने गुण पर्यायों से परिपूर्ण, अद्वितीय, क्षोभरहित कर्ममल कलङ्क से रहित अतएव शुद्धज्ञान की महिमा से युक्त **(ततः-तस्मात्)** इसलिए **(एते-प्रसिद्धाः-बौद्धाः)** ये प्रसिद्ध बौद्ध **(ज्ञानेन तदाकार तदुत्पत्ति तदध्यवसाय वादिनः)** ज्ञान से परार्थाकार, पदार्थ से उत्पन्न होने वाले तथा पदार्थ का अध्यवसाय-निश्चय करने वाले ज्ञान को स्वीकार करने वाले **(अज्ञानिनः)** अज्ञानी—ज्ञान के स्वरूप को नहीं जानने वाले अतएव अज्ञानी **(किम्किम्)** क्यों **(रागद्वेषमयाः)** राग-द्वेष से युक्त अर्थात्—रागी-द्वेषी **(भवन्ति)** हो रहे हैं **(कीदृक्षाः?)** कैसे **(वस्त्वित्यादिः-वस्तुनः स्थितिः-नयोपनयैकान्त समुच्चय-रूपातस्याबोधेन बन्ध्या-रहिता धिषणा मतिर्येषां ते)** नयैकान्तों तथा उपनयैकान्तों का समुदाय रूप वस्तु को स्वभावभूत स्थिति से शून्य बुद्धि वाले **(पुनः सहजां-स्वभावजाम्)** स्वभाव से उत्पन्न होने वाली **(उदासीनताम्—रागद्वेषाभावलक्षणाम्)** राग-द्वेष से शून्य रूप—उदासीनता को अर्थात् **(माध्यस्थम्)** मध्यस्थता को **(कथम्)** क्यों **(मुञ्चन्ति)** त्यागते हैं।

भावार्थ—जैसे घट पट आदि प्रकाशनीय पदार्थों से प्रकाशक दीपक की उत्पत्ति नहीं होती है प्रत्युत् दीपक अपने प्रकाशक स्वभाव से ही दीपक है। सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वापेक्ष है। पर से सदा निरपेक्ष है। वैसे ही ज्ञान एक अविनाशी कर्ममल से शून्य परिपूर्ण महिमाशाली गुण है ज्ञेय से पृथक् अस्तित्व युक्त

आत्मिक गुण है। इसका ज्ञेय के साथ मात्र ज्ञायक सम्बन्ध है उत्पादक सम्बन्ध नहीं है। अतएव ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में कोई भी कभी भी थोड़ा-सा भी विकार पैदा नहीं होता है यह ज्ञान की वास्तविकता है। टीकाकार ने अज्ञानी शब्द से बौद्ध दार्शनिकों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि बौद्ध दार्शनिक ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थ से मानते हैं और वह पदार्थ से उत्पन्न हुआ ज्ञान पदार्थाकार होता हुआ पदार्थ का ही निश्चायक होता है ऐसी मान्यता वाले बौद्धों के प्रति शोक प्रकट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है ज्ञेय से नहीं। ज्ञेय तो ज्ञेय ही है वह ज्ञान नहीं है। साथ ही जो ज्ञेय स्वभावतः जड़ है अचेतन है उससे चेतन स्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। अतः ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा जुदा रहने वाला आत्मा का खास गुण है। वह राग-द्वेष आदि विकारों से रहित होने के कारण परिपूर्ण शुद्ध है अविनश्वर है। ऐसा ज्ञान के स्वरूप का निर्णय करने में असमर्थ-अशक्त अज्ञानी जन ही अपनी स्वाभाविक मध्यस्थता को छोड़कर रागी-द्वेषी हो क्यों दुःखी हो रहे हैं। क्यों नहीं वे यथार्थ वस्तु स्वरूप को समझ कर मध्यस्थ वृत्ति को अपनाते हैं ॥२६॥

(अथ निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानालोचना चारित्रं विन्दति) अब निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान तथा निश्चय आलोचनारूप चारित्र का प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चञ्चच्चिदर्चिमयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(रागद्वेषविभावमुक्तमहसः) राग-द्वेष रूप विभाव से शून्य तेज वाले **(नित्यम्)** सदा-हमेशा **(स्वभावस्पृशः)** अपने स्वभाव को स्पर्श करने वाले **(पूर्वागामिसमस्त कर्मविकलाः)** पूर्व तथा आगामी काल के समस्त कर्मों से रहित **(तदात्वोदयात्)** वर्तमान काल के कर्मोदय से **(भिन्नाः)** पृथक् रहने वाले ज्ञानीजन **(दूरारूढ़चरित्रवैभवबलात्)** अतिशय रूप से धारण किये हुए चारित्र के वैभव के बल से युक्त **(चञ्चच्चिदर्चिमयीम्)** प्रकाशमान चैतन्य की ज्योति से युक्त **(स्वरसाभिषिक्तभुवनाम्)** अपने चैतन्य रूप रस से लोक को व्याप्त करने वाली **(ज्ञानस्य)** ज्ञान की **(सञ्चेतनाम्)** समीचीन चेतना को अर्थात् ज्ञान चेतना को **(विन्दति)** अनुभव करते हैं।

सं० टीका—(रागेत्यादिः-रागद्वेषौ तौ च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्यां मुक्तं महो येषां ते पुरुषाः) जिनका स्वाभाविक तेज राग-द्वेष रूप विभाव भावात्मक पर्यायों से रहित है वे पुरुष **(ज्ञानस्य-सञ्चेतनां-सम्यग्ज्ञायकत्वम्)** ज्ञान की समीचीन चेतना को अर्थात् सम्यग्ज्ञानिता को **(विन्दन्ति-लभन्ते)** प्राप्त करते हैं। **(कीदृशाम्-ताम्)** कैसी ज्ञान चेतना को **(चञ्चदित्यादिः-चञ्चत्-देदीप्यमाना चित्-दर्शन-ज्ञानम्-संवार्चिः-प्रकाशः-तेन निर्वृत्ताम्)** देदीप्यमान-अतिशय प्रकाशमान ज्ञान दर्शन रूप तेज से निष्पन्न

(**स्वेत्यादि:-स्वस्य रसेन स्वभावेन-अभिविवलं-विडिचतम्-लक्षणया ज्ञातम्-भुवनं-त्रैलोक्यं यथा ताम्**) जिसने अपने स्वभावरूप ज्ञान से तीन लोक को अवगत कर लिया है (**कीदृक्षास्ते**) वे ज्ञानी पुरुष कैसे हैं। (**नित्यम्-अविच्छिन्नतया-निरन्तरम्**) बिना विच्छेद के अर्थात् निरन्तर-हमेशा (**स्वभावस्पृश:-स्वभावं-चैतन्यस्वरूपम् नित्यस्वभावमितिपाठः नित्यश्चासौ स्वभावश्च शुद्ध ज्ञान स्वभाव: तं स्पृशन्ति-ध्यानविषयी कुर्वन्ति इति**) अपने चैतन्य स्वरूप को ध्यान में लाने वाले अर्थात् नित्य शुद्ध ज्ञान स्वभाव का ध्यान करने वाले (**पूर्वेत्यादि:-पूर्वसमस्तकर्मभिविकला:-यत्पूर्वकृतं शुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु य: स प्रतिक्रमणं भविष्यत्समस्त कर्म विकला:-यद्भविष्यच्छुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तते य आत्मानं स प्रत्याख्यानम्-अनेनात्मन: प्रतिक्रमण प्रत्याख्याने निगदिते**) पूर्व में किये हुए समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों से आत्मा को पृथक् करना रूप प्रतिक्रमण को तथा भविष्य में किये जाने वाले समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों से आत्मा को दूर रखनेरूप प्रत्याख्यान को करने वाले—अर्थात् उक्त प्रकार से प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान से आत्मा को विभूषित करने वाले (**तदात्वोदयात्-सदातनोदीर्णकर्मण:**) वर्तमान काल में उदय या उदीर्णा को प्राप्त कर्मों से (**भिन्ना:**) अपने को पृथक् रखने वाले (**अनेनालोचनमुक्तम्**) इस वचन से आलोचना कही गई (**यच्छुभाशुभं कर्मोदीर्णं सम्प्रतिचानेक विस्तरविशेषं यश्च नित्यमालोचयति स खल्वालोचना चेतयतेति**) अर्थात् वर्तमान में अनेक विस्तार विशेष वाले जो शुभ और अशुभ कर्म उदय या उदीर्णा को प्राप्त हुए हैं उनकी जो नित्य आलोचना करते हैं (**कुत: लभन्तेताम्**) उस ज्ञान सञ्चेतना को कैसे प्राप्त करते हैं ? (**दूरेत्यादि:-दूरारूढं नित्यं प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणा लोचनात् स्वभावात् दूरं-अतिशयेन-आरूढं-सम्प्राप्तं-चरित्रं-तत्त्रितय लक्षणं तस्य वैभवं माहात्म्यं तस्य बलात्-सामर्थ्यात्**) निरन्तर प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनारूप स्वभाव से अतिशयरूप से प्राप्त हुए चारित्र-प्रतिक्रमण आदि तीन रूप चारित्र के माहात्म्य के बल से (**इति स्वरूपं चारित्रं निगदितम्**) इस प्रकार से स्वरूपाचरण चारित्र का स्वरूप कहा गया है।

भावार्थ—जीव पहले कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम प्रमाण, अनुमानाप्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान दृढ़ करता है यह तो चौथे-पांचवें और छठें में होता है और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है। उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथव श्रद्धान किया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर केवल ज्ञान उत्पन्न करके साक्षात् ज्ञान चेतनारूप हो जाता है।

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे—उन भावों का ममत्व छोड़े वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है। सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है ॥३०॥

(**अथ ज्ञान सञ्चेतनां चेतयते**) अब ज्ञान सञ्चेतना का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैवनित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञान सञ्चेतनया तु धावन् बोधस्यशुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सञ्चेतनया**) सम्यक् स्वरूप के संचेतना से (**एव**) ही (**नित्यम्**) हमेशा (**अतीव**) अत्यधिक अर्थात् निरावरण (**शुद्धम्**) शुद्ध-कर्म से रहित (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**प्रकाशते**) प्रकट-प्रकाशित होता है। (**तु**) और (**अज्ञानसञ्चेतनया**) अज्ञान की सञ्चेतना से (**बन्धः**) नवीन कर्मों का बन्ध (**धावन्**) शीघ्रता से (**बोधस्य**) ज्ञान की (**शुद्धिम्**) शुद्धता को (**निरुणद्धि**) रोकता है।

स० टी०—(**ज्ञानस्य-आत्मनः-गुणे गुणिन उपचारः**) ज्ञान अर्थात् आत्मा के "यहाँ गुण में गुणी का उपचार किया गया है" (**सञ्चेतनया-सम्यग्ध्यानेन**) समीचीन-ध्यान-चिन्तन से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-बोध (**नित्यं-निरन्तरम्**) सदा-हमेशा (**प्रकाशते-चकास्ति**) देदीप्यमान रहता है (**किम्**) कैसा (**अतीवशुद्धम्-अत्यन्तं निरावरणम्**) अतिशय आवरण रहित (**तु-पुनः**) और (**अज्ञान सञ्चेतनया-ज्ञानादन्यत्र-इदमहमिति चेतनं-अज्ञानचेतना सा द्विधा-कर्मचेतना कर्मफल चेतना च**) ज्ञान से भिन्न पदार्थ में "यह मैं हूँ" इस प्रकार की पर में आत्मरूप बुद्धि का होना अज्ञान चेतना है। वह अज्ञान चेतना कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के भेद से दो प्रकार की है। (**तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या**) उनमें-ज्ञान से भिन्न वस्तु में इसको मैं करता हूँ– बनाता हूँ ऐसा विचार करना पहली कर्म चेतना है। (**वेदयेऽहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतना द्वितीया**) अपने से भिन्न पदार्थ में "इसे मैं भोगता हूँ" ऐसा चिन्तन करना दूसरी कर्म फल चेतना है (**तया**) उस अज्ञान चेतना से (**बन्धः-अष्टविध कर्मणां बन्धः**) ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध (**धावन्-आस्कन्दन् सन्**) पीछे से दौड़ता हुआ (**बोधस्य-ज्ञानस्य**) ज्ञान की (**शुद्धिम्**) शुद्धि को (**निरुणद्धि-आच्छादयति**) आच्छादन करता है (**अतो मोक्षार्थिना सा हेया**) इसलिए मोक्षार्थी उसे छोड़ें-त्यागें।

भावार्थ—आत्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का अहङ्कार ही कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना है। ये दोनों ही अज्ञान चेतनायें हैं। जितना अपने को ज्ञानरूप अनुभव करेगा उतनी अशुद्धता-रागादि दूर होंगे और जितना अपने को कर्म और कर्मफल रूप अनुभव करेगा उतना मोह गाढ़ा होता जायेगा। अतः अपने को ज्ञानरूप अनुभव करे तो ज्ञान शुद्ध होकर केवल ज्ञानरूप हो जाता है। यह चाहे तो अपने को ज्ञानरूप अनुभव कर सकता है। अनुभव करने वाला आप ही है। अपने को कर्म और कर्मफलरूप अनुभव करना संसार का बीज है और अपने को ज्ञानरूप अनुभव करना मोक्ष का बीज है।

(**अथ नैष्कर्म्यमवलम्बते**) अब निष्कर्मता "कर्म रहितपन" का अवलम्बन करते हैं—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**त्रिकालविषयम्**) भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी (**सर्वम्**) समस्त (**कर्म**)

कर्मों को (**कृतकारितानुमननैः**) कृतकारित तथा अनुमनन-अनुमोदन (**मनोवचनकायैः**) तथा मन वचन और काय से (**परिहृत्य**) परिहार-त्याग करके (**अहम्**) मैं (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**नैष्कर्म्यम्**) कर्म शून्यता का (**अवलम्बे**) अवलम्बन करता हूँ।

सं० टी०—(**परमम्-उत्कृष्टतमम्**) अतिशय श्रेष्ठ (**नैष्कर्म्यम्-कर्मस्वभावातिक्रान्तम्-स्वम्**) कर्म के स्वभाव से शून्य अपनी आत्मा का (**अवलम्बे-अहमवलम्बयामि**) मैं अवलम्बन करता हूँ (**किं कृत्वा**) क्या करके (**त्रिकाल विषयम्-अतीतानागत वर्तमान विषयम्**) अतीत-भूत-अनागते-भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी (**सर्वम्**) समस्त (**कर्म**) कर्म को (**कृतकारितानुमननैः-कृतं स्वयम्, कारितं परैः, अनुमनितम्-परकृतानुमोदितम्-मनोवचनकायैः परिहृत्य-निराकृत्य**) कृत—स्वयं किया हुआ कारित—दूसरों से कराया हुआ अनुमानित—दूसरे के द्वारा किये हुए का अनुमोदन किया गया इनको मन वचन और शरीर से निराकरण करके (**मनोवचनकायैः कृतकारितानुमननैः यदतीतकर्मनिराकरण तत्प्रतिक्रमणम्**) मन वचन-काय कृत कारित अनुमनन से जो अतीत काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे प्रति-क्रमण कहते हैं। (**यत्तैस्तैर्वर्तमानकर्मनिराकरणमालोचना**) और जो उन्हीं मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनों द्वारा वर्तमान काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे आलोचना कहते हैं। (**यद्भविष्यत्कर्मतैस्तैर्निराकरणम् तत्प्रत्याख्यानम्**) तथा जो भविष्यत्काल सम्बन्धी कर्मों का उन्हीं मन-वचन काय कृत कारित अनुमोदनों द्वारा निराकरण किया जाता है उसे प्रत्याख्यान कहते हैं (**तदक्षसञ्चारिणानीयते**) उन्हीं को अक्षसंचार द्वारा दिखाते हैं (**"पढमक्खो अन्तगतो आदिगदो संकमेदि बिदियक्खो" इति सूत्रेण**) अर्थात् प्रथमाक्ष जब क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुंच कर आदि स्थान पर आ जाता है तब द्वितीय अक्ष प्रारम्भ होता है। इस गाथा सूत्र से—(**तथाहि-यन्मनसाकृतं दुष्कृतम् मे मिथ्येति**) मेरे द्वारा जो पाप मन से किया गया हो वह मेरा मिथ्या हो (**यन्मनसा कारित मिथ्या मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से कराया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो (**यन्मनसानुमानितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से अनुमोदित किया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो। (**यन्मनसा कृतं कारितं मिथ्या-मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से किया गया तथा कराया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो (**इति-**) इस प्रकार से (**एकसंयोगद्विसंयोगत्रिसंयोगोत्पन्नभेदाः, एकोन्नपञ्चाशत् प्रतिक्रमणभेदा-जायन्ते**) एक संयोगी दो संयोगी तथा तीन संयोगी के भेद से प्रतिक्रमण के उनचास भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानी कृत-कारित अनुमोदन—मन वचन काय से भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त कर्मों के परित्याग की प्रतिज्ञा कर परिपूर्ण निष्कर्ष दशा का आलम्बन ले रहा है। भूतकाल सम्बन्धी प्रतिक्रमण के उनचास भेद होते हैं जो मन-वचन काय कृत कारित अनुमनन के एक के संयोग से दो के संयोग से तथा तीनों के संयोग से निष्पन्न होते हैं।

(**अथ स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं चङ्क्रम्यते**) अब अपनी आत्मा के स्वरूप में भूतकालिक कर्मों का अभाव स्वरूप प्रतिक्रम प्रस्तुत करते हैं—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैंने (**मोहात्**) अज्ञान से (**यत्**) जो (**कर्म**) कर्म (**अकार्षम्**) किये हैं (**तत्**) उन (**समस्तम्**) समस्त (**कर्म**) कर्मों को (**प्रतिक्रम्य**) निराकरण करके (**अहम्**) मैं (**निष्कर्मणि**) कर्मरहित (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा में (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) सदा (**वर्ते**) प्रवृत रहा हूँ ।

सं० टीका—(**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा में (**आत्मना-ज्ञानेन कृत्वा**) ज्ञान से (**नित्यम्-वर्ते-सततमहं प्रवर्तयामि**) हमेशा प्रवर्तन करता हूँ । (**कीदृशे**) कैसे आत्मस्वरूप में (**चैतन्यात्मनि-चेतना-स्वरूप**) ज्ञानदर्शन रूप चेतनायुक्त आत्मा में (**पुनः कीदृशे**) फिर कैसे (**निष्कर्मणि-कर्ममलातीते**) कर्मरूप मल से रहित (**किं कृत्वा**) क्या करके (**तत्-पूर्वनिबद्धम्**) पूर्वकाल में बांधे हुए उन (**समस्तमपि कर्म**) सभी कर्मों को (**प्रतिक्रम्य-निराकृत्य**) निराकरण करके (**तत्किम्**) वह कर्म कैसा (**यत्कर्म**) जिस कर्म को (**अहम्-अहकम्**) मैंने (**मोहात्-भ्रान्तिविजृम्भणात्**) मोह-भ्रम के विस्तार से (**अकार्षम्-कृतवान्**) किया था-बांधा था (**यदहमचीकरम्**) जिसे मैंने कराया था (**यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषम्**) और जिसे करने वाले किसी दूसरे की मैंने अनुमोदना की थी (**मनसा वचसा वपुषा च**) मन से वचन से तथा काय से (**एतत्स्वस्वरूपप्रतिक्रमणम्**) यह अपने स्वरूप का प्रतिक्रमण है । (**इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः**) इस तरह से यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ ।

भावार्थ—आत्मस्वरूप का ज्ञाता सम्यग्ज्ञानी अपने ही ज्ञान के द्वारा आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान कर पूर्व सञ्चित कर्मों का प्रतिक्रमण-परिहार करके स्वयं आत्मस्वरूप में स्थिर होने की प्रतिज्ञा करता है ॥३३॥

(**अथालोचनामालोचयति**) अब आलोचना का प्रतिपादन करते हैं—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(**मोहविलास विजृम्भितम्**) मोह के विलास-माहात्म्य से वृद्धि को प्राप्त (**उदयत्**) उदय में आये हुए—फल प्रदान करने वाले (**इदम्**) इस (**सकलम्**) सभी (**कर्म**) कर्म की (**आलोच्य**) आलोचना करके (**अहम्**) मैं (**निष्कर्मणि**) कर्मों से रहित (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा में (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) निरन्तर (**वर्ते**) प्रवृत्ति करता हूँ ।

सं० टी०—(**आत्मनि**) आत्मा में (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) सदा (**वर्ते**) प्रवृत्ति करता हूँ (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**निष्कर्मणि च**) और कर्मों से रहित (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस प्रसिद्ध (**सकलं-समस्तम्**) समस्त (**उदयत्-उदयनिषेकावस्थापन्नम्**) जिसके निषेक-कर्म पर-

माणुओं का समूह-उदय अवस्था-फलदान की दशा को प्राप्त है (**कर्म-ज्ञानावरणादि**) ज्ञानावरण आदि कर्म की (**आलोच्य-सम्यग्विवेच्य**) आलोचना-समीचीन विवेचना अर्थात् आत्मस्वरूप से पृथकता करके (**किम्भूतम्**) कैसे कर्म का (**मोहेत्यादिः-मोहस्य-रागद्वेष रूपस्य विलासः विलसनं तेन विजृम्भितं-निष्पादितम्**) राग-द्वेष रूप मोह के विलास से सम्पादित (**अत्राप्यक्षसंचारः**) यहाँ भी अक्ष संचार (**प्रदर्श्यंते**) दिखाते हैं (**करोमि-कारयामि समनुजानामि मनसा वचसा कायेन**) मन से वचन से और काय से करता हूँ कराता हूँ और करने वाले की अनुमोदना करता हूँ (**मनसा कर्म न करोमि**) मन से कर्म नहीं करता हूँ (**मनसा न कारयामि**) मन से नहीं कराता हूँ (**मनसा कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि**) कर्म को करने वाले किसी अन्य की मैं मन से अनुमोदना भी नहीं करता हूँ। (**मनसा न करोमि न कारयामि**) मन से न करता हूँ और न कराता हूँ (**मनसा न करोमि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि**) मन से न तो करता हूँ और न करने वाले किसी दूसरे की अनुमोदन ही करता हूँ (**एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनाभेदा एकोन्नपंचाशत् सम्बोभुवति**) इस प्रकार से एक दो तथा तीनों के संयोग से आलोचना के उनचास भेद हो जाते हैं (**इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः**) इस प्रकार से यह आलोचनाकल्प पूर्ण हुआ।

भावार्थ—स्वरूपाचरण चारित्र में निरत ज्ञानी यह विचार करता है कि जो कर्म उदय में आया है वह तो जड़ है उसका कर्ता मैं नहीं हूँ। अतएव वह मेरा कर्म नहीं है तब मैं उसके फल का भोक्ता भी कैसे हो सकता हूँ। मैं तो अपने चैतन्य भावों का ही कर्ता हूँ अतएव भोक्ता भी उन्हीं का हूँ। इस प्रकार से वह आत्मज्ञानी कर्मों की आलोचना कर अपने चैतन्य स्वभाव में ही लीन रहता है जिसमें परपुद्गलादि द्रव्य का जरा-सा भी लगाव नहीं है ॥३४॥

(**अथ स्वप्रत्याख्यानमाख्याप्यते**) अब आत्म प्रत्याख्यान का कथन करते हैं—

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्मसमस्तं निरस्तसम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३५॥

अन्वयार्थ—(**निरस्तसम्मोहः**) राग-द्वेष रूप मोह से रहित मैं (**समस्तम्**) सभी (**भविष्यत्**) अनागत काल सम्बन्धी (**कर्म**) कर्म का (**प्रत्याख्याय**) प्रत्याख्यान-त्याग करके (**चैतन्यात्मनि**) चेतना स्वरूप (**निष्कर्मणि**) स्वभाव से कर्म विरहित (**आत्मनि**) अपनी आत्मा में (**आत्मना**) अपने द्वारा (**नित्यम्**) सर्वदा (**वर्ते**) प्रवृत्ति करता हूँ।

सं० टीका—(**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**निष्कर्मणि**) कर्मों से रहित (**आत्मनि**) आत्मा में (**नित्यम्**) सदा (**आत्मनाकृत्वा**) आत्मा से आत्मा के द्वारा (**वर्ते-ध्यानरूपेणाहम्**) ध्यानरूप से मैं प्रवृत्त होता हूँ (**कीदृशोऽहम्**) कैसा मैं (**निरस्तसम्मोहः—दूरीकृत रागद्वेषः**) राग-द्वेष से विरहित (**किं विधाय**) क्या करके (**समस्तम्**) सारे (**भविष्यम्**) आगामी काल में होने वाले (**कर्म**) ज्ञानावरणादि कर्मों का (**प्रत्याख्याय-निराकृत्य**) प्रत्याख्यान-निराकरण करके (**करिष्यत्-करिष्यमाणम्-समनुज्ञास्य-मनो वचन**

कार्यैः निरुध्य) भविष्य में स्वयं किये जाने वाले कर्म का तथा अन्य के द्वारा किये जाने वाले कर्म का अनुमोदन मन-वचन-काय से रोक कर (**इति प्रत्याख्यानं समाप्तम्**) इस प्रकार प्रत्याख्यान पूर्ण हुआ। (**तथा चाक्षसञ्चारोऽत्र**) इस विषय में अक्ष सञ्चार इस प्रकार है (**करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन।**) करूँगा-कराऊँगा और अनुमोदन करूँगा मन से वचन से तथा काय से (**मनसाकर्म न करिष्यामि**) मन से कर्म नहीं करूँगा (**मनसा न कारयिष्यामि**) मन से नहीं कराऊँगा (**मनसा कुर्वन्तमन्यं न समनुज्ञास्यामि**) करने वाले किसी दूसरे का मन से अनुमोदन नहीं करूँगा (**मनसा न करिष्यामि**) मनसे नहीं करूँगा (**न कारयिष्यामि**) मन से नहीं कराऊँगा (**कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि**) करने वाले किसीं दूसरे को मन से अनुमोदन नहीं करूँगा (**एवमेवद्विविसंयोगजाः एकोनपञ्चाशत् प्रत्याख्यानभेदा, जायन्ते**) इस प्रकार से एक के संयोग से दो के संयोग से तथा तीनों के संयोग से होने वाले उनचास भेद प्रत्याख्यान के होते हैं। (**इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः**) इस प्रकार से यह प्रत्याख्यानकल्प पूर्ण हुआ।

भावार्थ—ज्ञानी शुद्धोपयोगी-शुद्धोपयोग में स्थिर होने के लिए जैसे अतीत कर्मों का प्रतिक्रमण तथा वर्तमान में उदयागत कर्मों का आलोचन करता है वैसे ही वह अनागत कर्मों का प्रत्याख्यान भी करता है। गर्ज यह है कि ज्ञानी शुद्धोपयोग में स्थिरता के हेतु त्रैकालिक कर्मों का अभाव भावपूर्वक अपने में देखता है और जानता है कि मेरा आत्मा स्वरूपतः कर्मों से सर्वथा शून्य है वह तो मात्र चैतन्यमय एक स्वतन्त्र तत्त्व है बस उसी में स्थिर होना या लीन होना ही मेरा मुख्य स्वभाव है अतएव मैं उसी आत्म-स्वरूप में स्थिरता के हेतु प्रवृत्ति करता हूँ। कृत कारित अनुमोदन मन-वचन-काय के निमित्त से प्रत्याख्यान के भी उनचास भेद होते हैं उन सबका प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी आत्मस्वरूप में निमग्नता रूप शुद्धोपयोग के बल से परिपूर्ण ज्ञान-केवल ज्ञान को प्राप्त करता है ॥३५॥

(**अथैतत् त्रयं त्रायते**) अब ये प्रतिक्रमण आदि तीनों आत्मा की सुरक्षा करते हैं यह बताते हैं—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**इत्येवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**शुद्धनयावलम्बी**) शुद्धनय-निश्चनय का अवलम्बन करने वाला (**त्रैकालिकम्**) तीनों कालों सम्बन्धी (**समस्तम्**) सभी (**कर्म**) कर्म को (**अपास्य**) त्याग करके (**विलीनमोहः**) मिथ्यात्व से रहित ऐसा मैं (**अथ**) अब (**विकारैः**) राग-द्वेष आदि विकारों से (**रहितम्**) रहित (**चिन्मात्रम्**) एक मात्र चैतन्यरूप (**आत्मानम्**) आत्मा को (**अवलम्बे**) अवलम्बन करता हूँ।

सं० टी०—(**अथ-प्रतिक्रमणादिकथनादनन्तरम्**) प्रतिक्रमण आदि का कथन कर चुकने के बाद (**चिन्मात्रं-चेतनामयम्**) चेतनारूप (**आत्मानं-स्वचिद्रूपम्**) अपने चैतन्य स्वरूप का (**अवलम्बे-ध्यायामि**) अवलम्बन-ध्यान करता हूँ (**अहम्**) मैं (**कीदृशम्**) कैसे आत्मस्वरूप का (**विकारैः-कर्मोत्पन्न प्रकृतिभिः**)

कर्मों से उत्पन्न प्रकृतिरूप विकारों से (**रहितम्**) रहित—शून्य या पृथक् (**कीदृशोऽहम्**) कैसा मैं (**शुद्धेत्यादि:-शुद्धं-स्वस्वरूपम्-नयति-प्राप्नोति-इति शुद्धनयः, आत्मानम् अवलम्बत इत्येवं शीलः**) जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है—जानता है वह शुद्धनय कहा जाता है ऐसे शुद्धनयस्वरूप आत्मा को अवलम्बन करना जिसका स्वभाव है (**पुनः कीदृशः**) फिर कैसा (**विलीनमोहः-विनष्टरागद्वेषमोहः**) जिसका राग-द्वेष मोह नाश को प्राप्त हो चुका है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इत्येवं पूर्वोक्तं प्रतिक्रमणादिकथनरूपेण**) पूर्वोक्त प्रतिक्रमण आदि के कथनरूप से (**समस्तं-निखिलम्**) सकल (**त्रैकालिकं-त्रिकाले अतीतानागतवर्तमाने भवं-त्रैकालिकम्**) भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में उत्पन्न (**कर्म-ज्ञानावरणादि**) ज्ञानावरण आदि रूप कर्म का (**अपास्य-निराकृत्य**) निराकरण करके।

भावार्थ—तीन काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण का भाव इतना ही है कि अज्ञान के कारण जो कर्म पूर्व में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए थे और जो वर्तमान में उदय में आ रहे हैं तथा भविष्य में जिनका बन्ध होने वाला था वे सबके सब आत्मस्वरूप से बिलकुल ही जुदे हैं अतएव शुद्धनय का अवलम्बन करने वाला मैं उन सबसे स्वभावतः जुदा हूँ उनका और मेरा कोई भी कर्म कर्तृभाव नहीं है और न भोग्य-भोक्तृभाव ही है अतएव मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही आश्रय लेता हूँ अन्य कोई भी मेरा आश्रय नहीं है।

(**अथ सकल कर्म फल सन्यासभावनां नाटयति**) अब समस्त कर्मों के फल की सन्यास भावना को प्रकट करते हैं—

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**मम**) मेरे (**भुक्तिम्**) भोगे (**अन्तरेण**) विना (**एव**) ही (**कर्म विषतरु फलानि**) कर्मरूप विष वृक्ष के फल (**विगलन्तु**) विनाश को प्राप्त हों (**अहम्**) मैं (**अचलम्**) निश्चल (**चैतन्यात्मानम्**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मानम्**) आत्मा का (**संचेतये**) समीचीन ध्यान—अनुभव करता हूँ।

सं० टीक—(**मम-आत्मनः**) मेरी आत्मा के (**कर्मेत्यादि:-कर्म एव विषतरुः-विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि-शुभाशुभानि**) कर्म ही विष वृक्ष है क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप का आवरण करता है उसके शुभ-अच्छे तथा अशुभ-बुरे-फल (**विगलन्तु-स्वयं गलित्वा पतन्तु-प्रलयं यान्त्वित्यर्थः-**) अपने आप गल कर गिर जायें अर्थात् विनाश को प्राप्त हों। (**कथम्**) कैसे (**भुक्तिमन्तरेण-उदयदानं विना**) उदयदान के बिना (**अहम्**) मैं (**आत्मानम्**) आत्मा का (**संचेतये-ध्यायामि**) सम्यग् विचार - सुचिन्तन अर्थात् ध्यान करता हूँ (**कीदृशम्**) कैसी आत्मा का (**अचलं-अक्षोभ्यम्**) निश्चल-क्षुब्ध नहीं होने वाली (**चैतन्यात्मानम्-दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपम्**) दर्शन तथा ज्ञान चेतनामय आत्मा का (**तथाहि नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये**) वैसा ही स्पष्ट करते हैं—मैं मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ। (**नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं

मुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये) मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ (**एवं ज्ञानावरणपञ्चके, दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहनीयत्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपञ्चविंशतिके, आयुष्चतुष्के, नाम कर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अन्तरायपञ्चके – योजनीयं विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र**) इसी प्रकार से ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, दर्शनमोहनीय के तीन, चारित्रवेदनीय नामक मोहनीय के पच्चीस, आयु के चार, नाम कर्म के तिरानवे, गोत्र के दो, अन्तराय के पांच भेदों में भी उक्त प्रकार की योजना कर लेनी चाहिए। विस्तार के भय से तथा सरल होने से यहाँ नहीं लिखा है अर्थात् ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मों को मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के फल को मैं नहीं भोगता हूँ किन्तु मैं तो सिर्फ चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ।

भावार्थ—आत्मनिष्ठ आत्मज्ञ पुरुष कर्म सन्यास की भावना भाते हुए यह विचार करता है कि ज्ञानावरण आदि कर्म एकमात्र अज्ञान के ही कार्य हैं। अज्ञान अवस्था में ही इनकी सृष्टि-रचना अज्ञानी जीव के द्वारा होती रहती है। लेकिन वही अज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ से तथा गुरु आदि के उपदेश से अज्ञान से निकल कर ज्ञान की अवस्था में आता है तब स्वयं ही कर्म मात्र से अपने आपको सर्वथा पृथक् स्वरूप वाला ही देखता और जानता है और स्वयं को ज्ञाता द्रष्टारूप से ही ध्यान का विषय बनाता है। अतएव मैं भी अब अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा का ध्यान करता हूँ जो साक्षात् संसार के बन्धक कर्मों का संवर और निर्जरा पूर्वक विप्रमोक्ष करता है। इस प्रकार से आत्मध्यानी त्रैकालिक कर्मों की ओर से सदा सन्यस्त रहता है ॥३७॥

(**अथात्मतत्त्वे कालावलीं सकलामभिरमयति**) अब आत्मस्वरूप के चिन्तन में समस्त काल की आवली-पंक्ति को सफल करने का उपदेश देते हैं--

निश्शेष कर्मफल सन्यसनान्ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**निश्शेष कर्मफल सन्यसनात्**) समस्त कर्मों के शुभ और अशुभरूप फलों के परित्याग से (**सर्वक्रियान्तर विहार निवृत्त वृत्तेः**) आत्मिक क्रिया के अतिरिक्त समस्त अन्य क्रियाओं में प्रवृत्ति की निवृत्ति वाले (**भृशम्**) निरन्तर अतिशय रूप से (**चैतन्यलक्ष्म**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मतत्त्वम्**) आत्मस्वरूप को (**भजतः**) सेवन करने वाले (**एवम्**) ऐसे (**अचलस्य**) निश्चल-धीर वीर (**मम**) मेरी (**इयम्**) यह (**अनन्ता**) अनन्त (**कालावली**) काल-समय की पंक्ति (**वहतु**) निरन्तर आत्मतत्त्व के उपभोग में चलती रहे—प्रवाहित रहे।

सं० टी०—(**मम-मे**) मेरे (**इयम्-प्रसिद्धा**) यह प्रसिद्ध (**कालावली काल-समय पंक्तिः**) समय के समूह (**अनन्ता-अनन्तसमयावच्छिन्ना**) अनन्त समय से युक्त (**वहतु-यातु**) प्राप्त हो (**कीदृशस्य मे**) कैसे

मेरे (**भृशम्-अत्यर्थम्**) अतिशय रूप से (**आत्मतत्त्वम्-स्वस्वरूपम्**) अपने स्वरूप को (**भजतः-आश्रयतः**) भजने-आश्रय करने वाले (**कीदृक्षम्-**) कैसे आत्मस्वरूप को (**चैतन्यलक्ष्म-चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत्**) चैतन्य लक्षण वाले (**एवं-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्व में कहे अनुसार (**निरित्यादिः-निश्शेषाणि-समस्तानि तानि च तानि कर्ममलानि च अज्ञानत्व शुभाशुभादीनि तेषां-सं-सम्यक् प्रकारेण न्यसनं परित्यजनम् तस्मात्**) अज्ञानता-शुभ तथा अशुभरूप कर्मों के समस्त फलों के परित्याग से (**पुनः किम्भूतस्य मे**) फिर कैसे मेरे द्वारा (**सर्वेत्यादिः-स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियान्तरं सर्वस्मिन् क्रियान्तरे विहारः विहरणम् तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य**) आत्मक्रिया से भिन्न क्रिया का नाम क्रियान्तर है उस समस्त क्रियान्तर में विहरण-विचरण रूप क्रिया की निवृत्ति वाले अर्थात्—आत्मस्वरूप का चिन्तनरूप क्रिया को छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार की क्रिया को नहीं करने वाले ॥३८॥

भावार्थ—जितना-जितना आत्मस्वरूप का अनुभव में ज्ञानी लगता है उतना-उतना राग-द्वेष का अभाव होता है इसलिए मैं निरन्तर आत्मस्वरूप में रमण करना चाहता हूँ जब आत्मबल की कमी से स्वभाव में नहीं ठहर सकता हूँ तो उसी की भावना और चिंतवन में निरत होता हूँ जिससे मेरी ज्ञान चेतना परिपूर्ण केवल ज्ञान स्वरूप हो जाय जिसके होने पर मैं स्वयं ही परमात्म अवस्था को प्राप्त होऊँ ॥३८॥

(**अथ कर्मफलभुक्ति भनक्ति**) अब कर्म फल के भोगने का निषेध करते हैं—

यः पूर्वभावकृत कर्मविषद्रुमाणां भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति-दशान्तरं सः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो ज्ञानी (**खलु**) निश्चय से (**स्वतः**) स्वभाव से (**एव**) ही (**तृप्तः**) तृप्त-सन्तुष्ट (**अस्ति**) है (**सः**) वह (**पूर्वभावकृत कर्म विषद्रुमाणाम्**) पूर्व में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए रागादि भावों से किये हुए कर्मरूपी विष वृक्षों के (**फलानि**) फलों-सुख-दुःखादिरूप परिणामों को (**न**) नहीं (**भुङ्क्ते**) भोगता है। (**सः**) वह ज्ञानी (**आपातकाल रमणीयम्**) प्राप्तिकाल में सुन्दर तथा (**उदर्करम्यम्**) उत्तर काल-भविष्यत्काल में मनोहर (**निष्कर्मशर्ममयम्**) कर्मों से शून्य अतएव अविनाशी आत्मिक सुख स्वरूप (**दशान्तरम्**) संसार दशा से भिन्न मोक्षरूप दशा को (**एति**) प्राप्त करता है अर्थात् सदा के लिए कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सं० टी०—(**खलु-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**यः-पुमान्**) जो पुरुष (**स्वत एव-स्वस्वभावत एव**) अपने स्वभाव से ही (**तृप्तः-सन्तृप्तः**) पूर्णरूप से सन्तुष्ट होता है (**पूर्वेत्यादिः-पूर्वभावैः-पूर्वोदयित विभाव परिणामैः-कृतानि कर्माणि तान्येव विषद्रुमाः विषवृक्षाः तेषां फलानि-सुखदुःखादीनि**) पूर्वकाल में उदय को प्राप्त हुए विभाव परिणामों रागादि रूप विकारी भावों से किये हुए कर्मरूप विष वृक्षों के सुख-दुःखरूप फलों को (**न भुङ्क्ते ततोभिन्नत्वेन तत्फलास्वादको न भवति**) कर्म फलों से स्वयं भिन्न होने के कारण

उन कर्मों के फल का आस्वाद लेने वाला नहीं होता है (सः-योगी) वह योगी-आत्मध्यानी (**दशान्तरं-संसारावस्थातः-अवस्थान्तरम्-मोक्षम्**) संसार अवस्था से भिन्न अवस्था को अर्थात् मोक्ष को (**एति-प्राप्नोति**) प्राप्त होता है (**कीदृशम्**) कैसी अवस्थान्तर को (**आपातेत्यादिः-आपातकाले-तत्प्राप्तिकाले रमणीयं-मनोज्ञम्**) मोक्ष की प्राप्ति के समय में ही सुन्दर (**ननु प्राप्तिकाले भोगसुखवद्रमणीयं तदानादरणीय-मित्याकांक्षायाम्**) शंकाकार कहता है कि यदि वह मोक्ष प्राप्ति के समय में भोग-सुख के समान ही सुन्दर लगता हो तो उस समय उसका आदर करना अर्थात् उसे अच्छा समझना ठीक नहीं है ऐसी आकांक्षा में उत्तर देते हैं (**उदर्करम्यम्-उदर्के-उत्तरकाले-रम्यं-मनोज्ञम्**) उत्तर काल में मनोज्ञ अर्थात् सदा काल सुख रूप (**निरित्यादिः-निष्कर्म-कर्मातीतं तच्च तच्छर्म च तेन निर्वृत्तम्**) कर्मों से रहित सुख से निष्पन्न।

भावार्थ—कर्मफल चेतना स्वयं ही अज्ञान चेतनारूप है और ज्ञानी एकमात्र ज्ञानचेतना को ही अपना स्वरूप मानकर उसमें ही निरन्तर तृप्ति का अनुभव करता है उससे भिन्न कर्म चेतना की ओर से तो वह सदा के लिए विमुखता को ही धारण करता है। कर्मफल चेतना को त्याग कर ज्ञान चेतना को अपनाने वाला ज्ञानी आत्मज्ञ सम्यग्दृष्टि महापुरुष अतीत काल में बांधे हुए कर्मों के उदय से उदयानुसारी भावों के अनुसार पुनः बांधे हुए कर्मों के उदय में आने पर भी उदय के अनुसार रागादि भावों को नहीं होने देता है। किन्तु उदय का मात्र ज्ञाता द्रष्टा बनकर आत्मस्वरूप में ही तृप्त रहता है। वह आत्मरसिक आत्मोत्थसुख के अनन्तकाल पर्यन्त स्थिर रखने वाली मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है जो संसार के क्षणनश्वर पराधीन सुखाभास से सर्वथा प्रतिकूल है ॥३९॥

(**अथ प्रशमरस पानं पाययति**) अब प्रशम रस का पान कराते हैं—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वाम्-
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥

अन्वयार्थ—(**कर्मणः**) कर्म से (**च**) और (**तत्फलात्**) उन कर्मों के फल से (**अत्यन्तम्**) अतिशय रूप से (**विरतिम्**) विरक्ति की (**अविरतम्**) निरन्तर (**भावयित्वा**) भावना करके (**अखिलाज्ञान सञ्चेतनायाः**) समस्त अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के (**प्रलयनम्**) विनाश को (**प्रस्पष्टम्**) अति स्पष्ट रूप से (**नाटयित्वा**) नचा करके (**स्वरस परिगतम्**) आत्मिक रस से व्याप्त (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**पूर्णम्**) पूर्ण-भरपूर (**कृत्वा**) करके (**स्वाम्**) आत्मिक (**ज्ञान सञ्चेतनाम्**) ज्ञान सञ्चेतना को (**सानन्दम्**) आनन्द के साथ (**नाटयन्तः**) नचाते हुए (**इतः**) अब से (**सर्वकालम्**) सदा (**प्रशमरसम्**) प्रशमरूप रस को (**पिबन्तु**) पिय। अर्थात् प्रशान्तिरूप अमृत रस का पान करें।

सं० टीका—(**इतः-कर्मतत्फल विरक्ति भजनादनन्तरम्**) कर्म तथा कर्मफल से विरक्त होने के

पश्चात् (**सर्वकालम्-सर्वदा**) सदा (**प्रशमरसम्-साम्यपीयूषम्**) समतारूप अमृत रस को (**पिबन्तु-आस्वादयन्तु**) पीवें-आस्वादन करें (**योगिनः**) योगी जन (**कीदृक्षास्ते**) वे योगी कैसे (**स्वाम्-स्वकीयाम्**) स्वकीय-अपनी-निज की— (**ज्ञान सञ्चेतनाम् — ज्ञानं मे ज्ञानस्याहम् इति भावनाम्**) "ज्ञान मेरा है मैं ज्ञान का हूँ" इस प्रकार की भावना रूप ज्ञान सञ्चेतना को (**सानन्दं-हर्षोद्रेकं यथा भवति तथा**) हर्ष का आधिक्य जैसे हो वैसे आनन्द सहित (**नाटयन्तः-कुर्वन्तः**) करते हुए (**किं कृत्वा**) क्या करके (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः रसः तत्र परिगतं-प्राप्तम्**) आत्मा के रस में परिव्याप्त (**स्वभावम्-स्वरूपम्**) स्वरूप को (**पूर्णम्-सम्पूर्णम्**) सम्पूर्ण (**कृत्वा-विधाय**) करके (**तदपि-किं कृत्वा**) तो भी क्या करके (**प्रस्पष्टं-व्यक्तं यथा भवति तथा**) अति स्पष्ट-अतिव्यक्त जैसे हो वैसे (**अखिलेत्यादिः-अखिला-समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः प्रलयनं-विनाशनम्**) समस्त अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के विनाश को (**नाटयित्वा-विधाय**) करके (**तदपि किं कृत्वा**) तो भी क्या करके (**अविरतं-निरन्तरम्**) निरन्तर (**कर्मणः ज्ञानावरणादेः**) ज्ञानावरण आदि कर्मों से (**च-पुनः**) और (**तत्फलात्-तेषां कर्मणां-फलात्-रागद्वेषादेः**) उन कर्मों के फल स्वरूप राग-द्वेष आदि से (**अत्यंतं-निश्शेषं**) पूर्णरूप से (**विरतिम्-विरक्तिम्**) विरक्ति की (**भावयित्वा-सम्भाव्य-कृत्वेत्यर्थः**) भले प्रकार भावना करके।

भावार्थ—यहाँ आचार्य महाराज प्रेरणा करते हैं कि हे मुमुक्षुओ! यदि तुम्हारी इच्छा निरन्तर आत्मिक शान्ति रस रूप अमृत को पीने को हो तो तुम अज्ञान चेतना रूप कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना की परिधि से निकल कर ज्ञान चेतना के प्रबल प्रकाश से अपनी आत्मा को प्रकाशित करो यह ज्ञान चेतना की स्थिरता ही उन्हें आत्मिक सुख-शान्ति प्रदान करती है अतएव जो प्रशमरस के पान के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि वे कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना का परित्याग कर ज्ञान चेतना को अपनायें। जो आत्मा का खास स्वरूप है और है परिपूर्ण ज्ञान — केवल ज्ञान का अव्यर्थ साधन ॥४०॥

(**अथेतो ज्ञानं विवेचयति**) अब यहां से आगे ज्ञान का विवेचन करते हैं—

इतः पदार्थ प्रथनावगुण्ठनात् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्त वस्तु व्यतिरेक निश्चयाद् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥४१॥

अन्वयार्थ—(**इतः इह**) यहां से अब (**पदार्थ प्रथनावगुण्ठनात्**) पदार्थों के विस्तार से गुंथित होने से (**कृतः**) क्रिया के (**विना**) अभाव से (**एकम्**) एक ज्ञान क्रिया मात्र (**अनाकुलम्**) आकुलता रहित (**ज्वलद्**) देदीप्यमान (**समस्त वस्तु व्यतिरेकनिश्चयात्**) समस्त वस्तुओं से भिन्नता का निश्चय होने से (**विवेचितम्**) अतिभिन्न (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**अवतिष्ठते**) निश्चल रहता है।

सं० टीका—(**इह-आत्मनि-जगति वा**) इस आत्मा में अथवा जगत में (**ज्ञानं बोधः**) ज्ञान (**विवेचितं-भिन्नम्**) भिन्न (**अवतिष्ठते-आस्ते**) रहता है (**कुतः**) किससे (**इतः-अस्मात्**) इस (**पदार्थेत्यादिः-पदार्थानां-शास्त्र शब्दरूपरसगन्धवर्णस्पर्शकर्मधर्माधर्म कालाकाशाध्यवसायादीनां प्रथनं-विस्तारः तस्य अव-**

गुण्ठनात्—न श्रुतं ज्ञानम्-अचेतनत्वात्-ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः एवं शब्दादिषु योज्यम्) शास्त्र शब्दरूप रस गन्ध वर्ण स्पर्श कर्म धर्म अधर्म काल आकाश अध्यवसाय आदिकों के विस्तार के अवगुण्ठन-ज्ञानज्ञेय रूप सम्बन्ध से अर्थात् श्रुतशास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि वह पौद्गलिक होने से अचेतन जड़ है इसलिए ज्ञान और श्रुत-शास्त्र में व्यतिरेक-भेद है इसी प्रकार से शब्द आदिकों में भी ज्ञान से भिन्नता-जुदाई की योजना कर लेनी चाहिए। (**कृतिः-कारणम्-तस्य**) कृति अर्थात् कारण के (**विना-अन्तरेण-क्रियाया अन्तरेण स्वभावादित्यर्थः**) क्रिया के बिना अर्थात् स्वभाव से (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय (**पुनः-कीदृशम्**) फिर कैसा (**अनाकुलम्-आकुलतारहितम्**) आकुलता रहित (**पुनः**) फिर (**ज्वलत्-देदीप्यमानम्**) देदीप्यमान अतिशयरूप से प्रकाशमान (**कुतः**) किससे (**समस्तेत्यादिः-समस्तानां निखिलानां वस्तूनां शास्त्रशब्दादीनां व्यतिरेकः भिन्नत्वम्-ज्ञानान्यर्थयोर्भिन्नत्वं तस्य निश्चयः-निर्णयः तस्मात्**) शास्त्र शब्द आदि सभी वस्तुओं से भिन्नता-पृथकता का ज्ञान से निश्चय होने से।

भावार्थ—यद्यपि ज्ञान का ज्ञेयों के साथ ज्ञायक ज्ञेय सम्बन्ध है तो भी ज्ञानगत क्रिया स्वभावतः ज्ञान जन्य ही है। ज्ञेय जन्य नहीं अतएव ज्ञान निराकुल है एक है और सदा काल जाज्वल्यमान है। साथ ही समस्त शास्त्र आदि पुद्गल जन्य पदार्थों से जो ज्ञेयरूप हैं तथा ज्ञेय भूत धर्म अधर्म आदि द्रव्यों से बिलकुल ही जुदा होने के कारण ज्ञान आत्मा में निरन्तर विद्यमान रहता है। शात्र ज्ञान नहीं है। शास्त्रों को जानकर कोई समझे मैंने आत्मा को जान लिया, वह ठीक नहीं है। शास्त्रों के द्वारा आत्मा के बारे में जानकारी करके जहाँ ज्ञान स्वरूप आत्मा है वहाँ देखें तो उसकी प्राप्ति होती है।

(**अथ ज्ञानस्य मध्याद्यन्तराहित्यमर्हते**) अब ज्ञान मध्य आदि तथा अन्त से रहित हैं यह कथन करते हैं—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फार प्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**अन्येभ्यः**) अपने से भिन्न पदार्थों से (**व्यतिरिक्तम्**) भिन्न-पृथक्-जुदा (**आत्मनियतम्**) अपने में ही निश्चित (**पृथग् वस्तुताम्**) पृथक्-अन्य वस्तुओं से भिन्न वस्तुतः-सामान्य विशेषात्मकता को (**बिभ्रत्**) धारण करने वाला (**आदानोज्झनशून्यम्**) पर हृदार्थों के ग्रहण और त्याग से रहित (**एतत्**) यह (**अमलम्**) निर्मल (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**तथा**) उस प्रकार से (**अवस्थितम्**) स्थिर (**अस्ति**) है (**यथा**) जिस प्रकार से (**अस्य**) इस ज्ञान की (**मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः**) मध्य आदि अन्त के विभाग से रहित स्वाभाविक विस्तीर्ण प्रभा-दीप्ति से देदीप्यमान (**शुद्धज्ञानघनः**) शुद्ध-निरावरण कर्ममल रहित ज्ञानघनरूप (**महिमा**) महिमा महत्व-माहात्म्य (**नित्योदितः**) निरन्तर उदय को प्राप्त (**तिष्ठति**) रहे।

सं० टीका- (**तथा-तेनैव प्रकारेण**) उसी प्रकार से (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान (**अवस्थितम् व्यवस्थितम्**) व्यवस्थित (**कीदृक्षम्**) कैसा ज्ञान (**अन्येभ्यः-सर्वपरद्रव्येभ्यः**) समस्त परद्रव्यों से (**व्यतिरिक्तम्-भिन्नम्**) भिन्न (**अनेनातिव्याप्तिः परिहृता**) इस कथन से अतिव्याप्ति दोष का परिहार हो हो जाता है (**आत्मनियतम्-सर्वदर्शनादिजीव स्वप्रतिष्ठम्**) सभी दर्शनादि प्रसिद्ध जीव में स्वयमेव विद्यमान रहने वाला (**अनेनाव्याप्तिः परिहृता ज्ञानस्य**) इस वचन से अव्याप्ति दोष के ज्ञान का परिहार हो जाता है (**पुनः**) फिर (**पृथग्वस्तुताम्-परपदार्थेभ्यो भिन्नस्वभावम्-परिच्छेदकलक्षणम्**) पर पदार्थों से भिन्न स्वभाव वाला अर्थात् जानना मात्र ही जिसका एक असाधारण लक्षण है ऐसे लक्षण को (**बिभ्रत्-दधत्**) धारण करता हुआ (**अनेन-असम्भवः परिहृतः**) इस कथन से असम्भव दोष का परिहार हुआ (**आदानोज्झनशून्यम्-परवस्तुनः आदानं ग्रहणं उज्झनं त्यजनं च ताभ्यां शून्यम् रहितम्**) पर वस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित (**अमलम्-कर्ममलातिक्रान्तम्**) कर्मरूप मल से – अतिक्रान्त रहित (**तथा**) उस तरह से (**कथम्**) किस तरह से (**यथा**) जिस तरह से (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**नित्योदितः-नित्यमुदीयमानः-प्रकाशमानः**) हमेशा प्रकाशमान (**महिमा-माहात्म्यम्**) महात्म्य-महत्व-सर्वोपरि श्रेष्ठता (**तिष्ठति**) स्थित होती है (**कीदृक्षः सः**) वह महिमा-महत्व कैसा (**मध्येत्यादिः-मध्यं च आदिश्च अन्तश्च मध्याद्यन्ताः तेषां-विभागः-भेदः-तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा स्वाभाविको स्फारा-विस्तीर्णा-प्रभा दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञायकत्वं तया भासुरः प्रकाशनशीलः**) मध्य आदि और अन्त के भेद से रहित स्वाभाविक विस्तार वाली ज्ञापकता से प्रकाशमान स्वभाव वाला (**पुनः कीदृशः**) फिर कैसा (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धज्ञानेन घनः निरन्तरः**) शुद्ध परिपूर्ण निरावरण ज्ञान से व्याप्त ।

भावार्थ—ज्ञान वस्तुतः अन्य पदार्थों से बिलकुल जुदा है अपने आप में स्थिर है । सामान्य विशेष स्वरूप है । अपने से जुदे किसी भी पदार्थ को न तो ग्रहण ही करता है और न छोड़ता ही है । अपने आप में पूर्ण निर्मल है । आदि मध्य और अन्त से रहित है । अपनी साहजिक दीप्ति से निरन्तर देदीप्यमान रहता है । यही इसकी लोकोत्तर की महिमा है जो नित्य ही उदित रहती है । अब जिसके ऊपर कोई आवरण कथमपि सम्भव नहीं है ।।४२।।

(**अथात्मधारणामनुमोदते**) अब आत्मा की ज्ञान आधारता का समर्थन करते हैं—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ।।४३।।

अन्वयार्थ—(**संहृतसर्वशक्तेः**) सञ्चित कर लिया है समस्त सामर्थ्य को जिसने ऐसी (**आत्मनः**) आत्मा का (**इह**) इस (**आत्मनि**) आत्मा में (**यत्**) जो (**पूर्णस्य**) परिपूर्ण ज्ञान का (**सन्धारणम्**) भले प्रकार धारण करना है (**अस्ति**) है (**तत्**) वह (**अशेषतः**) समग्र रूप से (**उन्मोच्यम्**) त्यागने योग्य का (**उन्मुक्तम्**) त्यागना है (**तथा**) तथा (**तत्**) वह (**अशेषतः**) समग्र रूप से (**आदेयम्**) ग्रहण करने योग्य का (**आत्तम्**) ग्रहण करना है ।

सं० टीका—(**इह अस्मिन्**) इस (**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्यस्वरूप आत्मा में (**आत्मनः-ज्ञानस्वरूपस्य**) ज्ञानमय आत्मा का (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह-प्रसिद्ध (**सन्धारणम्-धारणं-एकाग्रताप्रापणम्**) एकाग्रता को प्राप्त करना (**कीदृशस्य**) कैसी आत्मा का (**संहृतेत्यादि:-संहृता-निवारिता सर्वा कर्मोपाधिजाशक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य**) जिसने समस्त कर्मोपाधिजन्य सामर्थ्य का निवारण कर दिया है अर्थात् स्वाभाविक आत्मिक शक्ति को प्राप्त कर लिया है उस (**पूर्णस्य-सम्पूर्ण ज्ञानशक्तिविशिष्टस्य**) सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति से युक्त आत्मा का (**तत्-यत्सन्धारणम्**) जो सम्यक् प्रकार से धारण करना है (**तदेव**) वही (**अशेषतः-सामस्त्येन**) अशेष रूप से-परिपूर्ण रूप से (**उन्मोच्यम् उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यम्-शरीरादि**) उन्मोचन करने योग्य-त्याग करने योग्य-शरीर आदि का (**उन्मुक्तम्-त्यक्तम्**) त्याग करना (**अस्ति**) है (**तथा—येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तम् तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसन्धारणम्**) जिस प्रकार से सब का त्याग किया गया है उस ही प्रकार से उस आत्मीय वस्तु का सन्धारण-आत्मा में भले प्रकार से धारण करना है (**अशेषतः**) पूर्णरूप से (**आदेयं-ग्रहीतुं योग्यं-दर्शनज्ञानादि**) ग्रहण करने योग्य दर्शन ज्ञान आदि का (**आत्तम्-गृहीतम्**) ग्रहण करना है (**आत्मन-उपादानमेव हेयोपादेययोः परित्यागग्रहणमित्यभिप्रायः**) आत्मा के स्वरूप का ग्रहण करना ही त्यागने योग्य का त्यागना तथा ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करना है यह इसका अभिप्राय सारांश है ।।४३।।

भावार्थ—आत्मा के द्वारा आत्मा के स्वरूप रूप ज्ञान दर्शन आदि गुण ही ग्रहण करने योग्य हैं उनका ग्रहण करना ही हेय-त्यागने योग्य का त्यागना तथा ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करना है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुण पर्यायों को ग्रहण करता है अन्य के गुण पर्यायों को नहीं। अतः जब वह अपने गुण पर्यायों को ग्रहण करता है तब यह अर्थात् सिद्ध होता है कि वह अन्य का ग्रहीता न होने से स्वभावतः अन्य से मुक्त ही है। कोई भी जीव पर का ग्रहण तो कर ही नहीं सकता परन्तु मिथ्या श्रद्धा में पर का ग्रहण करने वाला अपने को मान लेता है। मिथ्या श्रद्धा मिटने पर अपने को ज्ञानस्वभावी पर के ग्रहण त्याग से रहित पाता है। यह श्रद्धा की दृष्टि है जब स्वरूप में रमण कर केवल ज्ञान को प्राप्त करता है तब सर्वथा ग्रहण त्याग से रहित हो जाता है ।।४३।।

(**अथास्यानाहारकत्वं शङ्क्यते**) अब इस ज्ञान के अनाहारकता की शंका करते हैं—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ।।४४।।

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य से (**व्यतिरिक्तम्**) भिन्न-पृथक् (**अवस्थितम्**) स्थित रहा। (**तत्**) वह ज्ञान (**आहारकम्**) कर्म नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करना रूप आहारक (**कथम्**) कैसे किस प्रकार से (**स्यात्**) हो सकता है (**येन**) जिससे (**अस्य**) इस ज्ञान के (**देहः**) शरीर की (**शङ्क्यते**) शङ्का की जाय।

सं० टीका—(**तत्-ज्ञानम्**) वह ज्ञान (**आहारकम्-आहार्यवस्तुग्राहकम्**) आहरण करने योग्य वस्तुओं का ग्रहण करने वाला (**कथम्**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**केनप्रकारेण स्यात्**) किस प्रकार से हो सकता है (**न केनापि**) किसी भी प्रकार से नहीं (**तस्यामूर्तत्वात्**) क्योंकि वह ज्ञान स्वभाव से अमूर्त हैं (**आहारकस्य मूर्तत्वात्**) और आहार्य-आहरण करने योग्य-पदार्थ मूर्त हैं (**तत् किम्**) वह कौन (**यत्-ज्ञानम्**) जो ज्ञान (**एवं-अन्येभ्यः इत्यादि पूर्वोक्त युक्त्या**) आत्मा से भिन्न सभी अन्य पदार्थों से पृथक् इत्यादि पूर्वोक्त युक्ति से (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य से (**व्यतिरिक्तं-भिन्नम्**) भिन्न-जुदा (**अवस्थितम्-सुप्रतिष्ठम्**) अवस्थित है (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान के (**देहः शरीरम्**) शरीर (**येन कथं शङ्क्यते-आरेक्यते सम्भाव्यते**) कैसे सम्भव हो सकता है (**न कथमपि**) अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं (**अस्यानाहारकत्वात्**) क्योंकि यह ज्ञान स्वभाव से अनाहारक है अर्थात् पर पुद्गलादि का ग्रहण करने वाला नहीं है।

भावार्थ—जब पूर्व में अनेक युक्तियों द्वारा ज्ञान को पर पदार्थों से पृथक् सिद्ध कर दिखाया है तब वह ज्ञान आहारक-शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करने वाला कैसे हो सकता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं। साथ ही ज्ञान स्वभावतः अमूर्त है वह मूर्त पुद्गलों का ग्राहक कथमपि सम्भव नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान के शरीर की आशंका करना ही उपयुक्त नहीं है।

(**अथालिङ्गमालिङ्गयते**) अब आत्मा के-ज्ञान के-जब शरीर ही नहीं है तब शरीर सम्बन्धी लिङ्ग भी नहीं है यह दिखाते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्नलिङ्गं मोक्षकारणम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) इस प्रकार से (**शुद्धस्य**) शुद्ध (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**देहः**) देह-शरीर (**एव**) ही (**न**) नहीं (**विद्यते**) है (**ततः**) तब-इसलिए (**ज्ञातुः**) ज्ञानो के (**देहमयम्**) शरीर रूप (**लिङ्गम्**) लिङ्ग (**मोक्षकारणम्**) मोक्ष का कारण (न) नहीं (स्यात्) है।

सं० टीका—(**एवं मूर्तत्वामूर्तत्वप्रकारेण**) मूर्तता तथा अमूर्तता के भेद से (**यतः शुद्धस्य-निष्कल्मषस्य ज्ञानस्य**) जिस कारण से कर्ममलरहित ज्ञान के अर्थात् शुद्ध ज्ञान के (**देह एव निश्चयेन न विद्यते नास्ति**) निश्चय से शरीर ही नहीं है (**ततः-तस्माद्-देहाभावात्**) देह का अभाव होने से (**ज्ञातुः-ज्ञायकस्य**) ज्ञाता-ज्ञानी (**पुंसः**) पुरुष के (**लिङ्गं-पाषण्डिलिङ्गम्-गृहिलिङ्गं वा**) पाखण्डी का लिङ्ग-वेश तथा गृहस्थ-श्रावक का लिङ्गवेश (**न मोक्षकारणम्-न मुक्तेर्मार्गः**) मोक्ष का कारण नहीं है (**हेतुगर्भित-विशेषणमाह**) हेतु है गर्भ में जिसके ऐसा विशेषण कहते हैं (**देहमयम्-देह निर्वृत्तम्**) देह से बना हुआ (**यदि देहः स्वकीयो न**) यदि शरीर अपना नहीं है (**तर्हि तदाश्रितं लिङ्गं स्वकीयं कथं स्यात्**) तो शरीर के आश्रित लिङ्ग-वेश अपना कैसे हो सकता है? अर्थात् किसी भी तरह से नहीं।

भावार्थ—ज्ञानी के ज्ञान शक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से समस्त बाह्य वस्तुओं से निर्ममत्व भाव का प्रादुर्भाव प्रकट हो जाता है अतएव वह जड़ पौद्गलिक शरीर को भला अपनाने का भाव कैसे कर सकता

है। वह जानता है कि यह शरीर मूर्त है स्पर्श रस गन्ध वर्ण वाला है और मैं उससे सर्वथा भिन्न अमूर्त हूँ, ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हूँ ऐसी स्थिति में शरीर के साथ मेरा स्वामित्व कैसे हो सकता है। जब स्वामित्व ही नहीं तब वह शरीर मोक्ष का कारण भी कैसे माना जा सकता है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है वह मोक्ष के लिए साधन कैसे बन सकती है। अतः शरीर सम्बन्धी लिङ्ग चाहे वह श्रावक का हो और चाहे मुनि का केवल बाह्य शारीरिक लिङ्गमात्र को मोक्ष के प्रति कारणता नहीं है। वह कारणता एकमात्र आत्मिक गुण स्वरूप रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को ही हो सकती है। अतः निश्चय नय की दृष्टि में बाह्य लिङ्ग का कोई महत्त्व नहीं है।

(तर्हि को मोक्षमार्गः इतिचेत्) तो मोक्ष का मार्ग क्या है यदि ऐसी आपकी आशंका हो तो उत्तर में कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६॥

अन्वयार्थ—**(आत्मनः)** आत्मा का **(तत्त्वम्)** यथार्थ स्वरूप **(दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा)** सम्यग् दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के त्रिकत्व रूप हैं अतएव **(मुमुक्षुणा)** मोक्ष को चाहने वाले पुरुष के द्वारा **(सदा)** सर्वदा-हमेशा **(एकः)** एक **(एव)** ही **(मोक्षमार्गः)** मोक्षमार्ग-रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का उपाय **(सेव्यः)** सेवन-आराधन करने योग्य है।

सं० टीका—**(मुमुक्षुणा-मोक्तुमिच्छुना)** मुक्त होने की इच्छा करने वाले **(पुंसा)** पुरुष के द्वारा **(एक एव-जिनोपदिष्ट एव—न मिथ्योपकल्पितः)** भगवान् जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा उपदेश को प्राप्त एक ही किन्तु अन्य वादियों द्वारा कल्पित अतएव मिथ्या-झूठा नहीं **(मोक्षमार्गः-मोक्षसाधनोपायः)** मोक्षमार्ग-मोक्ष के साधन के उपाय **(सदा-नित्यम्)** हमेशा **(सेव्यः-आश्रयणीयः)** सेवन करने योग्य अर्थात् आश्रय करने योग्य हैं **(कीदृक्षः)** कैसा-मोक्षमार्ग **(दर्शनेत्यादिः-स्वश्रद्धान-स्वज्ञान-स्वचरण-त्रयस्वरूपः)** आत्म-श्रद्धान आत्मज्ञान आत्माचरणरूप अर्थात् उक्त तीनों स्वरूप **(एतत्त्रयमन्तरेण तस्यानुपलब्धेः)** क्योंकि इन तीनों के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है **(पुनः)** और **(आत्मनः)** आत्मा का **(तत्त्वं-स्वरूपम्)** असली स्वरूप **(दर्शनादित्रयमन्तरेणात्मस्वरूपाभावात्)** दर्शन आदि तीनों के बिना नहीं बन सकता है **(मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वात् च)** साथ ही दर्शन आदि तीनों के बिना मोक्षमार्ग भी नहीं बन सकता है क्योंकि वह भी दर्शन आदि तीनों स्वरूप है। अतः एक के सिद्ध होने पर दूसरे की सिद्धि अनायास ही हो जाती है।

भावार्थ—सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—ऐसा सूत्र है जिसका अर्थ है कि द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से रहित एक अपने चेतन स्वभाव का अपनेरूप श्रद्धान, उसी का अपनेरूप ज्ञान और उसी में स्थिर हो जाना यही सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। इसके विपरीत कर्म और

कर्मफल जो शरीरादि, रागादि में अपने रूप की श्रद्धा, ज्ञान और उसी कर्म फल में अपने रूप, एकरूप स्थिरता यह संसार मार्ग है। चैतन्यरूप आत्मा, रागादि व शरीरादि तीनों एकमेक हो रहे हैं। अज्ञानी का अपनापना—अपने स्थितत्व का भान उस मिले हुए पिण्ड में हो रहा है, तीनों की मिली हुई सत्ता को ही वह अपनी सत्ता मानता है यह मिथ्यात्व है। इस मिले हुए पिण्ड में अनुभव करने वाला तो चैतन्य ही है अतः मिले हुए रहते हुए भी मात्र अपने चैतन्यपने में ही अपनी सत्ता का भान होना अपनापना आना यही सम्यक्दर्शन-ज्ञान है और उसी निज सत्ता में ही स्थिर रह जाना यह सम्यक्चारित्र है। जहाँ इन तीनों की एकता होती है वहाँ पर्याय में होने वाले रागादि भावों का अभाव होने लगता है। यही रागादि के नाश का वास्तविक उपाय है। रागादि और शरीरादि में अपनापना यही संसार की जड़ है, राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण है। अपने चैतन्य स्वरूप में अपनापना, एकत्वपना यही धर्म का मूल है इसके बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती है। इसी की प्राप्ति में जो सहयोगी-सहचारी हैं उनको व्यवहार मोक्ष-मार्ग कहते हैं। रागादि का होना ही दुःख है, रागादि का अभाव वही आत्मिक सुख है। जितना रागादि का अभाव उतना परमात्मपना है और रागादि का सर्वथा अभाव ही परमात्मा होना है। वह मात्र आत्म-स्वभाव के निरन्तर अनुभव करने से ही होता है ॥४६॥

(**अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति**) अब उस पूर्वोक्त दर्शनादित्रय को ही मोक्षमार्गता का समर्थन करते हैं—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**एषः**) यह (**दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः**) दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप (**एकः**) एक-अद्वितीय (**मोक्षपथः**) मोक्षमार्ग (**नियतः**) नियत-निश्चित है (**यः**) जो (**पुमान्**) पुरुष (**तत्रैव**) उस ही में (**स्थितिम्**) स्थिति-स्थिरता को (**एति**) प्राप्त करता है (**च**) और (**तम्**) उसका (**अनिशम्**) निरन्तर (**ध्यायेत्**) ध्यान करता है (**च**) और (**तम्**) उसका (**चेतति**) चिन्तन-विचार करता है (**द्रव्यान्तराणि**) अन्य द्रव्यों का (**अस्पृशन्**) स्पर्श नहीं करता हुआ (**तस्मिन्**) उसमें (**एव**) ही (**निरन्तरम्**) निरन्तर-सदा काल (**विहरति**) विहार-विचरण करता है (**सः**) वह पुरुष (**अचिरात्**) शीघ्र-थोड़े समय में (**नित्योदयम्**) निरन्तर उदित रहने वाले (**समयस्य**) समय-आत्मा के (**सारम्**) सार-निर्मल स्वरूप को (**अवश्यं**) अवश्य (**विन्दति**) प्राप्त करता है।

सं० टीका—(**यः-सर्वजनप्रसिद्धः**) सभी मनुष्यों में ख्याति प्राप्त जो (**मोक्षमार्गः-नाना मिथ्यामति विजृम्भितः, अनेकतां वद्धानोऽपि**) नाना प्रकार की मिथ्या बुद्धियों से वृद्धि को प्राप्त हुआ अतएव अनेकता-

नानारूपता को धारण करता हुआ भी (**स एवः मोक्षपथः**) वह यह मोक्षमार्ग (**दृगित्यादिः-दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्**) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप से तीन प्रकार का होता हुआ (**एकः**) एक है (**न तु अनेकधा**) किन्तु अनेक प्रकार का नहीं है (**नियतः-अनेक प्रमाण नयोपन्यासैर्निश्चितः**) अनेक प्रमाण और नयों के समर्थनों से निश्चित (**यः-पुमान्**) जो पुरुष (**तत्रैव-मोक्षपथे-दर्शनादिविकल्पे**) दर्शनादि तीनों स्वरूप उस ही मोक्षमार्ग में (**स्थितम्-निश्चलताम्**) निश्चलता को (**स्वात्मनः**) अपनी आत्मा को (**एति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**च-पुनः**) और (**अनिशम्-निरन्तरम्**) निरन्तर-सदा (**तम्-रत्नत्रयरूपं मोक्षपथम्**) उक्त रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को (**एकाग्रीभूत्वा**) एकाग्र होकर (**ध्यायेत्-ध्यान विषयीकुर्यात्**) ध्यान-चिन्तन-मनन का विषय करे (**पुनः**) फिर (**यः**) जो-पुरुष (**तम्-मोक्षपथम्**) उक्त मोक्षमार्ग का (**सकल कर्मफल चेतना सन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा**) समस्त कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना के परित्याग से शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप होकर (**चेतति-मुहुर्मुहुरनुभवति**) बार-बार अनुभव करता है (**निरन्तरम्-प्रतिक्षणम्**) प्रत्येक समय (**तस्मिन्नेव दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे**) उस ही दर्शन आदि तीन स्वरूप मोक्षमार्ग में (**विहरति-अनुचरति**) विचरण करता है (**कीदृक्षः-सन्**) कैसा होता हुआ— (**द्रव्यान्तराणि-परद्रव्याणि**) अपने से भिन्न द्रव्यों का (**अस्पृशन्-अनाश्रयन्**) आश्रय नहीं करता हुआ (**मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन्**) अर्थात् थोड़े समय के लिए भी उनको अपना नहीं मानता हुआ (**सः-पुमान्**) वह पुरुष (**अचिरात्-शीघ्रम्**) शीघ्र (**तद्भवे तृतीयभवादौ वा**) उस ही भव में अथवा तीसरे आदि भव में (**अवश्यम्-नियमतः**) नियम से (**समयस्यपदार्थस्य-सिद्धान्तशासनस्य वा**)पदार्थ के अथवा सिद्धान्त शासन के (**सारम्-परमात्मानम्-टंकोत्कीर्णस्वभावम्**) टंकोत्कीर्ण स्वभाव स्वरूप-परमात्मपद रूप सार को (**विन्दति-लभते**) प्राप्त करता है (**साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत्**) अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो जाता है। (**कीदृशम्**) कैसे सार को (**नित्योदयम्-नित्यमुदीयमानम्**) निरन्तर उदय को प्राप्त करने वाले।

भावार्थ—जब यह जीव स्व-पर का भेदविज्ञान करता है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से भिन्न अपने आपको ज्ञाता-द्रष्टा चैतन्यरूप अनुभव करता है, तब पहले गुणस्थान से इसके चौथा गुणस्थान होता है। वहां अंतरंग में तो अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का अभाव होता है तथा बहिरंग में अन्याय-अभक्ष्य-अनाचार रूप प्रवृत्ति का अभाव होता है। सच्चे, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु ही पूजनीय हैं, अन्य नहीं, ऐसी श्रद्धा होती है। यहीं से मोक्षमार्ग चालू होता है।

यहां साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी करने का पुरुषार्थ करता है तो अप्रत्याख्याना-वरण कषाय इसके मंद होने लगती है और बहिरंग में अणुव्रतादिक बारह व्रतों का धारण तथा ग्यारह प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण शुरू होता है। यहां तक गृहस्थ अवस्था है—पांचवां गुणस्थान है। यहां पर साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय बढ़ाता है और अन्तराल कम करता जाता है फल-स्वरूप, प्रत्याख्यानावरण कषाय मंद पड़ने लगती है। और, अभ्यास करते-करते जब इसके अन्तर्मुहूर्त में एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बनती है, तब अन्तरंग में तो प्रत्याख्यानावरण का अभाव होकर

है और बहिरंग में अट्ठाइस मूलगुणों का पालन तथा नग्न-दिगम्बर मुनि अवस्था के अनुरूप आचरण होने लगता है। यहाँ साधक जब आत्मानुभव से हटता है तो मूलगुणों के पालनरूप प्रवृत्ति में अथवा स्वाध्याय, चिंतवन आदि में लगता है।

छठे गुणस्थान में जब आत्मानुभव होता है तो सातवाँ गुणस्थान हो जाता है। यदि उस आत्मानुभव से नीचे न गिर कर यह साधक ध्यान की लीनता को बढ़ाता है तो सातवें से आठवाँ--नवाँ--दसवाँ, ये गुणस्थान होते हैं। वहाँ अंतरंग में संज्वलन कषाय तीव्र से मंद, मंदतर, मंदतम होती चली जाती है और ध्यानस्थ अवस्था चलती रहती है, जिसे शुक्लध्यान कहा गया है। आठवें, नवें तथा दसवें गुणस्थान में ध्यानस्थ अवस्था रहते हुए उसमें गहराई उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सातवें में डुबकी लगाता था और फिर बाहर आ जाता था। आठवें में भीतर डूबता जाता है परन्तु अभी सतह पर बुलबुले उठ रहे हैं। और अधिक गहराई में जाता है तो बुलबुले उठने भी बंद हो जाते हैं। आत्मज्ञान की गहनता के फलस्वरूप सूक्ष्मलोभ का भी अभाव होकर कषाय रहित बारहवाँ गुणस्थान होता है। इसके पश्चात् शुक्लध्यान के दूसरे पाये के द्वारा आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य अनंतता को, पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाते हैं—तेरहवाँ गुणस्थान हो जाता है। यहाँ पर शरीर का और शरीर सम्बन्धी कर्म-प्रकृतियों का सम्बन्ध अभी शेष है। यहाँ बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के, मेघ की गर्जना के समान सहज-स्वाभाविक रूप से, वाणी खिरती है जिससे प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, अनंत दुःख से छूटने का और परमात्मा बनने का मार्ग मिलता है। पुनः शुक्लध्यान का पाया बदलता है—तीसरे पाये से योग-निरोध करते हुए चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं, और फिर चौथे शुक्लध्यान द्वारा शरीर से भी रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा हो जाते हैं।

गुणस्थानों की इस परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अध्यात्म, करणानुयोग और चरणानुयोग—इन तीनों का कार्य साथ-साथ चलता है। चेतना में लगना, कषाय का हटना और आचरण का परिवर्तित होना—ये तीनों एक साथ होते हैं। अतः आचार्य अनुरोध करते हैं कि ऐसा परमात्मपद प्राप्त करने के लिए निरन्तर अपने स्वभाव का ही चिंतवन कर उसी का मनन कर उसी में लीन हो जा यही मोक्षमार्ग है।

(अथ लिङ्गस्य वैयर्थ्यं साधयति) अब लिङ्ग-बाह्यवेश की व्यर्थता को सिद्ध करते हैं—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ प्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥४८॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वावबोधच्युताः) वस्तुस्वरूप के ज्ञान से भ्रष्ट **(ये)** जो पुरुष **(एनम्)** इस निश्चय

मोक्षमार्ग को (**परिहृत्य**) परिहार-परित्याग करके (**संवृतिपथप्रस्थापितेन**) व्यवहारमार्ग पर आरूढ़ (**आत्मना**) अपने द्वारा (**द्रव्यमये**) शरीररूप (**लिङ्गे**) लिङ्ग-वेश में (**ममताम्**) ममता को-मोहजनित ममत्व को (**वहन्ति**) धारण करते हैं (**ते**) वे पुरुष (**नित्योद्योतम्**) निरन्तर प्रकाशित रहने वाले (**अखण्डम्**) अखण्ड-परिपूर्ण (**एकम्**) अद्वितीय (**अतुलालोकम्**) अनुपम प्रकाशयुक्त (**स्वभावप्रभा प्राग्भारम्**) स्वाभाविक प्रभा केसमूह से युक्त (**अमलम्**) निर्मल (**समयस्य**) समय-आत्मा के (**सारम्**) सार को अर्थात् परमात्मपद को (**अद्यापि**) अभी भी (**न**) नहीं (**पश्यन्ति**) देखते हैं अर्थात् यहीं प्राप्त करते हैं।

सं० टीका—(**ते-पुरुषाः**) वे पुरुष (**अद्यापि-इदानीमपि-साक्षात्स्वरूप प्रकाशनावसरेऽपि**) आज भी अर्थात् प्रत्यक्षरूप से आत्मा के स्वरूप के प्रकट करने के समय पर भी (**समयस्य सारम्-आत्मानम्**) आत्मा-निर्मल परमात्मस्वरूप आत्मा को (**न पश्यन्ति नेक्षन्ते**) नहीं देखते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं करते हैं (**कीदृशम्**) कैसी आत्मा को (**नित्योद्योतम्-सदाप्रकाशमानम्**) सर्वदा देदीप्यमान (**अखण्डम्-सम्पूर्णम्**) खण्डरहित परिपूर्ण (**एकम्-कर्मद्वैतरहितम्**) कर्मद्वैत से शून्य (**अतुलालोकम्-अनुपमेयप्रकाशम्**) उपमा रहित प्रकाशरूप (**तत्प्रकाशसदृशस्यापरस्याभावात्**) क्योंकि आत्मा के प्रकाश के समान अन्य के प्रकाश का सर्वथा अभाव है (**स्वेत्यादिः-स्व एव भावः-पदार्थः, तस्य प्रभा-ज्ञानं अथवा स्वभावज्ञानस्य प्रभा-द्योतकत्वम् तया प्राग्भारं पूर्वभृतम्**) आत्मा रूप पदार्थ के ज्ञान से भरपूर अथवा स्वभाव ज्ञान की प्रभा से व्याप्त-ओतप्रोत (**अमलम्-निर्मलम्**) निर्मल (**ते के**) वे कौन (**ये-पुरुषा**) जो पुरुष (**आत्मना कृत्वा**) अपने ही द्वारा (**द्रव्यमये-नाग्न्यत्रिदण्डि प्रमुखद्रव्य निर्मापिते**) नग्नता त्रिदण्डी प्रधानद्रव्य से विरचित (**लिङ्गे-वेषे**) लिङ्ग वेश में (**ममताम्—"अहं श्रमण:" अहं श्रमणोपासकश्चेतिममत्वम्**) मैं श्रमण हूँ तथा मैं श्रमणों का उपासक हूँ इस प्रकार के ममत्व को (**वहन्ति-कुर्वन्ति**) करते हैं (**कीदृशाः**) कैसे (**ये तत्त्वेत्यादिः-तत्त्वस्य वस्तुयाथात्म्यस्य अवबोधः— परिज्ञानं तेन च्युताः**) जो वस्तु के यथार्थ ज्ञान से शून्य हैं अर्थात् जिन्हें आत्म-स्वरूप का परिज्ञान नहीं है। (**कीदृशेनात्मना**) कैसी आत्मा से (**समित्यादिः-संवृतिपथे-कल्पनापथे-प्रस्थापितेन आरोपितेन**) कल्पना के मार्ग में आरूढ़ आत्मा से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**एनम्-दर्शनज्ञान चारित्र लक्षणम्-भावलिङ्गम्**) सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र स्वरूप भावलिङ्ग को (**परिहृत्य-मुक्त्वा**) परिहार-परित्याग करके (**इतस्ततो द्रव्यलिङ्गे प्रवृत्तस्य न मुक्तिरित्यभिप्रायः**) इधर-उधर से द्रव्यलिङ्ग में प्रवृत्त पुरुष के मुक्ति नहीं होती है यह इसका फलितार्थ है।

भावार्थ—वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी जन आत्मस्वरूप रूप रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग को छोड़कर मात्र बाह्यवेश जो नग्नता रूप है अथवा त्रिदण्डिता आदि विविधरूप मय है उसी में ही अनुरक्त हो मैं श्रमण हूँ अथवा मैं श्रमणों का उपासक हूँ इस प्रकार के ममकार तथा अहङ्कार को धारण करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करने में सर्वथा एवं सर्वदा असफल ही रहते हैं ॥४८॥

(**अथ व्यवहारं विमूढयति**) अब व्यवहार की विमूढ़ता को प्रसिद्ध करते हैं—

व्यवहार विमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(**व्यवहारविमूढदृष्टयः**) व्यवहार से विमूढ़—व्यामुग्ध दृष्टि वाले (**जनाः**) मनुष्य (**परमार्थम्**) यथार्थ-निश्चय को (**न**) नहीं (**कलयन्ति**) प्राप्त कर पाते हैं (**तुषबोधविमुग्धबुद्धयः**) तुष के बोध से व्यामोहित बुद्धि वाले मनुष्य (**इह**) इस लोक में (**तुषम्**) तुष को (**कलयन्ति**) प्राप्त करते हैं (**तण्डुलम्**) चावल को (**न**) नहीं प्राप्त करते हैं ।

सं० टीका—(**व्यवेत्यादिः—व्यवहारेण-श्रमणश्रमणोपासकलक्षणद्विविधेन लिङ्गेन मोक्षमार्गः इति स्वरूपेण विमूढा मोहिता दृष्टिर्येषां ते**) मोक्षमार्ग स्वरूप श्रमण तथा श्रमणोपासक लक्षणरूप दो प्रकार के लिङ्गरूप व्यवहार से व्यामोहित दृष्टि वाले (**जनाः-लोकाः**) मनुष्य (**परमार्थ-निश्चयम्**) परमार्थ-यथार्थ निश्चय को (**न कलयन्ति-न प्राप्नुवन्ति-न जानन्ति वा**) नहीं प्राप्त कर पाते अथवा नहीं जान पाते हैं (**तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्**) क्योंकि वह व्यवहार स्वयं ही अशुद्ध द्रव्य का अनुभव करने वाला है अतएव परमार्थ नहीं है (**अत्र दृष्टान्तोपन्यासः**) इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—(**इह-जगति**) इस जगत में (**तुषेत्यादिः-तुषबोधः-तण्डुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः**) चावल को आच्छादन करने वाले के ज्ञान से विपरीत बुद्धि वाले अर्थात् यह सब तुष ही है इस प्रकार से जिनकी बुद्धि विमोहित है वे मनुष्य (**तुषम्-तन्दुलाच्छादिकां त्वचम्**) तन्दुल-चावल को ढांकने वाली त्वचा को (**कलयन्ति-जानन्ति**) जानते हैं (**पुनस्तत्र स्थितं तण्डुलं अक्षतं न जानन्ति**) किन्तु उस तुष में रहने वाले अक्षत-चावल को नहीं जानते हैं । (**तत्र तस्य परिज्ञानाभावात्**) क्योंकि उन्हें—उस तुष में चावल की स्थिति का ज्ञान नहीं है । (**वैतालीय नाम छन्दः**) यह वैतालीय नाम का छन्द है—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौगुरुः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**वैतालीये**) वैतालीय छन्द में (**विषमे**) विषम पाद में अर्थात् प्रथम तथा तृतीय पाद में (**षट्कलाः**) छह मात्राएँ होती हैं (**रलौ**) रगण लघु (**गुरुः**) और गुरु होता है (**समे**) सम पाद में अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पाद में (**ताश्च**) वे मात्राएँ (**अष्ठौ**) आठ-मात्राएँ होती हैं रगण लघु और गुरु है । (**समे**) सम पाद में (**निरन्तराः**) निरन्तर (**न**) नहीं (**स्युः**) होती हैं (**अत्र**) इस वैतालीय छन्द में (**समा**) सम (**कला**) कला (**पराश्रिता**) पराश्रित (**न**) नहीं (**स्यात्**) होती हैं (**इति छन्दः**) इस प्रकार यह वैतालीय छन्द है (**उक्त लक्षण सद्भावात्**) क्योंकि उक्त श्लोक में उपर्युक्त वैतालीय छन्द का लक्षण पूर्णतया घटित होता है ।

भावार्थ—असली मोक्षमार्ग तो सम्यक्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप है अर्थात् पर से भिन्न अपने निज

स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और उसी में स्थितरूप आचरण यही मोक्षमार्ग है। इसके अलावा जिन-वाणी में जो कुछ कथन किया गया वह इसी के बाहरी साधनों की दृष्टि से किया गया है। बीमारी एक है—राग-द्वेष दवाई एक है—पर से-परकृत भावों से भिन्न निज स्वभाव में रमण करना अथवा निजस्वरूप का अनुभव। इसके बिना मोक्षमार्ग कभी न हुआ है न होगा। जो मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए वे इसी आत्मानुभव के अभाव की वजह से नहीं हुए। शरीरादि को निजरूप अनुभव करने से मोह बढ़ा है वह निज स्वभाव को अपने रूप अनुभव करने से ही मिटेगा। दवाई को किसके साथ लेना चाहिए यह बताया है—दूध के साथ, पानी के साथ अथवा चीनी की चासनी के साथ। अज्ञानी ने क्या किया—दूध तो पी गया दवाई लेना भूल गया। यही बात यहाँ पर बताई है। मुनिव्रत धारण किया, महाव्रत पालन किया, तपस्या की परन्तु आत्मानुभव के बिना मात्र किञ्चितमात्र पुन्यबंध तो कर लिया और उससे सन्तुष्ट हो गया। जो आत्मानुभवरूप दवाई थी वह नहीं ली, रोग कैसे मिटे। पुन्य के फल से शारीरिक कष्ट दूर हो सकता है परन्तु आत्मिक आनन्द तो कषाय के अभाव से होता है और कषाय का अभाव आत्मानुभव बिना नहीं हो सकता। मुनिपना, तपस्या, व्रत, दर्शन, स्तुति, शास्त्र अध्ययन के माध्यम से आत्मानुभवरूप दवाई लेनी थी। इनको माध्यम बनाकर स्वभाव में ठहरना था—स्वरूप में डुबकी लगानी थी—वह तो लगाई नहीं, अतः बीमारी कैसे मिटे।

व्यवहार तो उपचार है और जो उपचार को ही परमार्थ मान लेता है वह बहिरात्मा है—मोक्ष-मार्ग से बाह्य है। परमार्थ के ज्ञानपूर्वक व्यवहार का ज्ञान सही होता है। जिनको परमार्थ का ज्ञान नहीं है उनका व्यवहार भी झूठा है कहने मात्र है। इसी प्रकार परमार्थ की दृष्टिपूर्वक जो व्यवहार-आचरण है वह साधन कहलाता है। परमार्थ की दृष्टि बिना वह साधन किसका कहलावे। जैसी दृष्टि होतो है वैसी ही सृष्टी होती है। परमार्थ की दृष्टि बिना जो आचरण करते हैं वह चाहे आगमानुकूल ही हो परन्तु मोक्षमार्ग का साधन नहीं होता ॥४९॥

(**द्रव्यलिङ्गिनां कुतः स्वरूपाप्राप्तिरिति चेत्**) द्रव्यलिङ्गियों को आत्मस्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं होती है यदि यह तुम्हारा प्रश्न हो तो उत्तर देते हैं—

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैः**) द्रव्यलिङ्ग-शारीरिक नग्न दिगम्बर मुद्रा के ममत्व से अंधे पुरुषों को (**समयसारः**) समय—आत्मा का सार—सर्वोपरि परमात्मरूप (**एव**) ही (**न**) नहीं (**दृश्यते**) दिखाई देता है। (**यत्**) क्योंकि (**इह**) इस संसार में (**द्रव्यलिङ्गम्**) द्रव्यलिङ्ग अर्थात् शरीर सम्बन्धी मुद्रा विशेष-परिपूर्ण नग्नता-दिगम्बर मुद्रा (**किल**) निश्चय से (**अन्यतः**) आत्मा से भिन्न पुद्गल द्रव्यरूप शरीर से (**स्यात्**) होती है और (**इदम्**) यह (**एकम्**) एक-अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**हि**) निश्चय से (**स्वतः**) आत्मा से (**एव**) ही (**स्यात्**) होता है।

सं० टीका—(**समयसारः-समयेषु-पदार्थेषु-सारः**) पदार्थों में श्रेष्ठ—आत्मपदार्थ (**एव-निश्चितम्**) निश्चितरूप से (**न दृश्यते-नेक्ष्यते**) नहीं दिखाई देता है (**कैः**) किन्हें (**द्रव्यलिङ्गे-श्रमणोऽहं-श्रमणोपासकोऽहमिति यः ममकारः-अहङ्कारः तेन-मीलितैः—आच्छादितैः-पुम्भिः**) द्रव्यलिङ्ग में 'मैं श्रमण हूँ' 'मैं श्रमणों का उपासक हूँ' इस प्रकार का जो अहङ्कार उससे आच्छादित-परिव्याप्त पुरुषों को (**कुतः**) किससे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**किल इति स्पष्टम्**) किल-यह अव्यय स्पष्ट अर्थ का वाचक है अर्थात् स्पष्टरूप से (**इह-जगति**) इस जगत में (**द्रव्यलिङ्गम्-वेषधारणादि चिह्नम्**) शारीरिक वेष धारण आदि चिह्नस्वरूप (**अन्यतः-परद्रव्याच्छरीरादेः**) परद्रव्य शरीर आदि से (**भवति**) होता है (**हीति निश्चितम्**) हि-यह अव्यय निश्चित अर्थ का वाचक है अर्थात् निश्चय से (**इदं-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानमेव-परमात्म-ज्ञानमेव**) परमात्मज्ञान (**स्वतः-स्वरूपात्**) स्वरूप से-आत्मा से (**जायते**) उत्पन्न होता है (**नान्य-तस्तत्**) वह ज्ञान आत्मा से भिन्न किसी द्रव्य से नहीं उत्पन्न होता है (**नान्यत्ततः**) इसलिए वह ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है किन्तु आत्मरूप ही है।

भावार्थ—जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही कहलाता है अन्य का नहीं। अतः आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मा का ही होगा अन्य का नहीं। इस कथन से ज्ञान का उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है अन्य पुद्गलादि अचेतन द्रव्य के साथ नहीं। अतः ज्ञानी आत्मा का भावलिङ्ग है और वही साक्षात् मोक्षमार्ग है जिसकी खबर द्रव्यलिङ्ग के मोही जीव को सर्वथा ही नहीं है अतएव उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥५०॥

(**अथ शास्त्रे परमार्थं मन्यते**) अब शास्त्र में परमार्थ-परमात्मा का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**अतिजल्पैः**) अत्यधिक कथनों से (**अनल्पैः**) बहुत-प्रचुर (**दुर्विकल्पैः**) दुष्ट-दोषयुक्त-विकल्पों-मनोविचारों मानसिक कल्पनाओं से (**अलम्-अलम्**) व्यर्थ है व्यर्थ है—अर्थात् कुछ पूरा पड़ने वाला नहीं है (**इह**) इस जगत् में (**अयम्**) इस (**एकः**) एक (**परमार्थः**) उत्कृष्ट आत्मा का (**नित्यम्**) सदा-निरन्तर (**चेत्यताम्**) चिन्तन-अनुभवन करो (**खलु**) निश्चय से (**स्वरस विसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्**) आत्मिक रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान के विकास स्वरूप (**समयसारात्**) परमात्मा से (**उत्तरम्**) उच्च (**किञ्चित्**) कोई चिन्तनीय-अनुभवनीय (**न**) नहीं (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**अलमलं-पूर्यताम्-पूर्यताम्**) पूरा पड़ो-पूरा पड़ो (**कैः**) किनसे (**अतिजल्पैः—इदं मोक्ष हेतुः, इदं नेत्यादि वचो जल्पनैः**) यह मोक्ष का हेतु है यह नहीं है इत्यादि वाग्व्यवहारों से (**पुनः**) फिर किनसे (**अनल्पैः-प्रचुरैः**) अत्यधिक-बहुतायत (**दुर्विकल्पैः-तत्तन्मानससङ्कल्पैः**) उन-उन मानसिक सङ्कल्पों-दुर्विचारों से (**अलमलम्**) व्यर्थ है व्यर्थ है (**अथवा-तद्विशेषणम्**) अथवा "अतिजल्पैः" का विशेषण (**दुर-**

दुष्टा विकल्पा यत्रातिजल्पे तैः) ये अति-प्रचुर-जल्प-भाषण दुष्ट विचार हैं **(अल्पस्य-विकल्प पूर्वकत्वात्)** क्योंकि भाषण मात्र विकल्प पूर्वक ही होते हैं **(इह-जगति)** इस जगत्-लोक में **(नित्यम्)** सदा **(एकः)** एक अद्वितीय-असहाय **(अयम्)** इस **(परमार्थः-परा-उत्कृष्टा-मा ज्ञानादि लक्ष्मीर्यस्य स चासावर्थः)** जिसमें उत्कृष्ट अनुपम-ज्ञानादि लक्ष्मी विद्यमान है उस पदार्थ का **(कुतः)** कैसे **(आत्मार्थः)** आत्मारूप पदार्थ का **(चेत्यताम्-ध्यायताम्)** अनुभव-चिन्तन-ध्यान करो **(खलु-निश्चितम्)** निश्चितरूप से-निश्चय से **(समयसारात्-परमात्मनः-सकाशात्)** समयसार-परमात्मा से **(उत्तरम्-अपरम्)** दूसरा **(किञ्चित्-किमपि)** कोई भी **(ध्येयम्)** ध्यान-चिन्तन-मनन करने योग्य **(नास्ति)** नहीं है **(कीदृशात्-तस्मात्)** कैसे उस समयसार-परमात्मा से **(स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः-रसः-तस्य विसरः-समूहः तेन पूर्णं-परिपूर्णं तच्च तत् ज्ञानं च विस्फूर्तिमात्रं-विस्फुरणकार्त्स्न्यं यत्र तस्मात्)** आत्मा के आनन्दरूप रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान का है विकास जिसमें ऐसे परमात्मारूप पदार्थ से ।

भावार्थ—सच्चे देवशास्त्र गुरु से, पंचपरमेष्ठी से अथवा चौबीस तीर्थंकरों से कोई उत्कृष्ट श्रेष्ठ नहीं है । परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति में उससे भी श्रेष्ठ अपना निज स्वभाव है क्योंकि पंचपरमेष्ठी भी इसी में ठहर कर अपने पद को प्राप्त हुए हैं । उन्होंने भी यही कहा है कि हम अपने स्वभाव का आनन्द ले रहे हैं तुम भी अपने स्वभाव में लग जाओ तो हमारे जैसा आनन्द तुम भी प्राप्त कर सकते हो, तुम भी परमात्मा बन सकते हो । पंचपरमेष्ठी व चौबीस तीर्थंकरों में लगने का फल, उसके गुणगान करने का फल पुण्यबंध है जबकि निज स्वभाव में लगने का फल संवर निर्जरापूर्वक मोक्ष प्राप्ति है ।

वह आत्मस्वभाव ही एक परमज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है ।

सत्पुरुषों को वही एक नमस्कार योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है वही एक शरण है ।

अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है तथा वही एक स्वाध्याय है ।

पंचपरमेष्ठी तो हमें हमारे निज स्वभाव की खबर देने वाले हैं । वे निज स्वभाव में लगे हैं और हमें निज स्वभाव की खबर बताने वाले हैं कि यह तेरा निज स्वभाव है तू उसमें लगकर अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है ।

अतः उसी का चिंतवन कर—उसी का मनन कर, उसी की भावना कर उसी में लीन होकर एक हो जा यही मोक्षमार्ग है, यही साक्षात मोक्ष है ।

(अथ शास्त्रं परिसमापयत् तन्माहात्म्यमावर्ण्यते) अब शास्त्र को पूर्ण करते हुए उसके माहात्म्य का वर्णन करते हैं—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**आनन्दमयम्**) आनन्द स्वरूप-अनन्त सुखमय (**विज्ञानघनम्**) अनन्त ज्ञानमय-आत्मा को (**अध्यक्षताम्**) प्रत्यक्ष (**नयत्**) कराता हुआ (**एकम्**) अद्वितीय- (**जगच्चक्षुः**) जगत का नेत्र समान (**अक्षयम्**) अविनाशी अर्थात् अनन्त काल पर्यन्त स्थायी (**इदम्**) यह समयसार नामक शास्त्र (**पूर्णताम्**) पूर्णता-समाप्ति को (**याति**) प्राप्त हो रहा है।

सं० टी०—(**इदम्-अध्यात्मतरङ्गिणीनामशास्त्रम्-समयप्राभृतं वा**) यह अध्यात्म तरङ्गिणी नाम का शास्त्र अथवा समयप्राभृत (**एकम्-सकलशास्त्रातिशायित्वात्-परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात्**) परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक होने से समस्त शास्त्रों में शिरोमणि अतएव अद्वितीय (**अक्षयम्-आचन्द्रार्कम्-शाश्वतं सत्**) जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक निरन्तर रहने वाला (**पूर्णताम्-भव्यताम्-पूर्णतां-सम्पूर्णताम्**)भव्यता-सम्पूर्णता-समाप्तिता को (**याति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**कीदृशम्**) कैसा शास्त्र (**जगच्चक्षुः-जगन्नेत्रम्-तत्प्रकाशकत्वात्**) जगत् का प्रकाशक होने से ही जगत के नेत्र के समान (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसा (**विज्ञानघनम्-आत्मानम्**) विज्ञानघन-केवल ज्ञान स्वरूप-आत्मा की (**अध्यक्षताम्**) प्रत्यक्षता को (**नयत्-प्रापयत्**) प्राप्त कराता हुआ (**कीदृशम्-तम्**) कैसी उस आत्मा की (**आनन्दमयम्-आत्यन्तिकसुखनिर्वृत्तम्**) अत्यन्त-अन्त में होने वाले सुख से सम्पन्न अर्थात् मोक्ष सम्बन्धी अविनश्वर सुख से सहित (**इदम्-शास्त्रम्**) इस शास्त्र को (**ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणम्**) ब्रह्म—आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप का प्रकाशक होने से शब्द ब्रह्म के समान आचरण करने वाले (**अधीत्योत्तमम्-सौख्यं विन्दति**) अध्ययन करके ज्ञानी उत्तम सुख-अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करता है (**इत्यभिप्रायः**) यह इसका फलितार्थ है।

भावार्थ—यह अध्यात्मतरङ्गिणी अथवा समयप्राभृत नामक शास्त्र ज्ञानरूप तथा वचनरूप नेत्र के समान है अर्थात् जैसे नेत्र दृश्यमान पदार्थों को स्पष्टरूप से दिखाता है वैसे ही यह शास्त्र भी ज्ञानरूप नेत्र तथा शब्दरूप नेत्र से आत्मा के असली स्वरूप को स्पष्टरूप से दर्शाता है अनुभव कराता है ।।५२।।

(**अथात्म तत्त्वोपसंहारं व्यञ्जयन्ते**) अब आत्मतत्त्व का उपसंहार अतिशयरूप से प्रकट करते हैं—

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।।५३।।

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**आत्मनः**) आत्मा का (**तत्त्वम्**) वास्तविक स्वरूप (**अखण्डम्**) खण्ड रहित (**एकम्**) अद्वितीय (**अचलम्**) निश्चल (**स्वसंवेद्यम्**) अपने द्वारा ही अनुभव करने योग्य (**अबाधितम्**) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणों से सर्वथा बाधा रहित (**ज्ञानमात्रम्**) ज्ञानस्वरूप (**अवस्थितम्**) स्थित-सिद्ध हुआ।

स० टी०—(**इति-उक्तयुक्त्या**) पूर्वोक्त युक्तिसे (**ज्ञानमात्रं-ज्ञानमयम्**)ज्ञानस्वरूप (**इदम्**,यह (**आत्मनः**) आत्मा का (**तत्त्वम्-स्वरूपम्**) स्वरूप (**अवस्थितम्-सुप्रतिष्ठम्**) सुप्रतिष्ठित हुआ (**ज्ञानादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वाच्च**) क्योंकि ज्ञान से भिन्न किसी अन्य द्रव्य का आत्मामें सद्भाव नहीं है। (**अन्यथा अचेतनत्व-**

प्रसङ्गात्) यदि आत्मा को ज्ञानमात्र-ज्ञानस्वरूप न कहा जाय किन्तु अन्य द्रव्यरूप कहा जाय तो अचेतनता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा क्योंकि आत्मा से भिन्न सभी द्रव्यें अचेतनरूप ही हैं। **(अखण्डम्-परवादिभिः-प्रमाणैः खण्डयितुमशक्यत्वात्)** परमत वादियों के द्वारा प्रमाणों से यह आत्मा खण्डित नहीं हो सकता है इसलिए अखण्ड है। **(एकम्-कर्मोपाधिनिरपेक्षत्वात्)** कर्मरूप उपाधि से निरपेक्ष होने के कारण एक है—अद्वितीय है। **(अचलम्-शास्वतत्वात्)** शाश्वत-नित्य होने से अचल है **(स्वसंवेद्यम्-स्वानुभव प्रत्यक्षत्वात्)** स्वानुभव से प्रत्यक्ष होने के कारण – अपने द्वारा ही अनुभवगोचर होता है इसलिए स्वसंवेद्य है **(अबाधितम्-तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्यचित्परमाणोरप्यसम्भवात्)** आत्मा के स्वरूप को बाधित करने वाले किसी भी प्रमाण के परमाणु मात्र का भी सम्भव न होने से अबाधित है।

भावार्थ—यह ज्ञानस्वरूप आत्मा एक है अर्थात् इसमें अन्य का परमाणु भी उपलब्ध नहीं है अतएव अद्वितीय है। अखण्ड है अर्थात् अन्य मतावलम्बियों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों के जरिए इसका खण्डन किसी भी तरह से सम्भव नहीं है अतएव अखण्ड है। अचल है अर्थात् नित्य होने से अपने चैतन्य स्वरूप से चलायमान नहीं होता है अतएव अचल है। स्वसंवेद्य है अर्थात् आत्मा अपने द्वारा ही अपने को वेदन करता है अनुभव में लाता है अन्य के द्वारा नहीं अतएव स्वसंवेद्य है। अबाधित है अर्थात् किसी भी प्रमाण से या अन्य किसी भी द्रव्य से बाधा को प्राप्त नहीं होता है अतएव अबाधित है आकुलता से रहित है। इस प्रकार से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा वस्तुतः उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट है क्योंकि ज्ञान की परिपूर्णता के साथ वे सब विशेषण अपने आप ही आत्मा में आ मिलते हैं।

यद्यपि आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का एक अखण्ड पिण्ड है तथापि उसे यहां ज्ञान मात्र कहा गया है सो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आत्मा में एक ज्ञान ही है अन्य गुण नहीं है। यहां तो आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध करने के लिए उसका खास गुण जो ज्ञान है उसी का नाम इसलिए लिया गया है कि वह ज्ञानगुण अन्य किसी भी आत्मेतर द्रव्य में उपलब्ध नहीं होता है। साथ ही आत्मा उसी के द्वारा अन्य समस्त पदार्थों को जानता है अनुभव करता है अतएव यह ज्ञान ही अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भवरूप दोषत्रय से रहित होने के कारण आत्मा का सुलक्षण या असाधारण लक्षण है। इसलिए आत्मा ज्ञानमात्र है यह सिद्ध किया गया है। इससे ज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले वे अनन्त गुण भी सिद्ध हो जाते हैं जो आत्मा में विद्यमान है स्वयं ही आत्मस्वरूप हैं ॥५३॥

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां नवमोऽङ्कः समाप्तः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यों की व्याख्या में जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है यह नववां अङ्क समाप्त हुआ।

अथ स्याद्वाद अधिकार

(अथ स्वरूपनिरूपणानन्तरं विशदस्याद्वादविद्यानवद्यवादविनोदवेदनाय पातिकापद्यं निगद्यते) अब आत्मा के स्वरूप का निरूपण करने के बाद निर्मल स्याद्वाद विद्या के निर्दोषवाद के विनोद-आनन्द को जानने-अनुभव करने के हेतु प्रारम्भिक पद्य को कहते हैं—

अत्र स्याद्वाद शुद्धयर्थं वस्तुतत्त्व व्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपिचिन्त्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(**अत्र**) इस समयसार की परिसमाप्ति के अवसर पर (**स्याद्वादशुद्धयर्थम्**) स्याद्वाद सिद्धान्त की निर्मलता के हेतु (**वस्तुतत्त्व व्यवस्थितिः**) वस्तु के असली स्वरूप की व्यवस्था (**च**) और (**उपायोपायभावः**) उपाय भाव तथा उपेयभाव का (**मनाक्**) यत्किञ्चित्-थोड़ासा (**भूयोऽपि**) फिर भी (**चिन्त्यते**) चिन्तन करते हैं-विचार व्यक्त करते हैं ।

सं० टीका—(**अत्र-समयसारपद्यपूर्णताप्रस्तावे**) इस समयसार के पद्यों की समाप्तिरूप पूर्णता के समय (**भूयोऽपि-पुनरपि-पूर्वं तत्त्वस्वरूप-मुक्तम् ततोऽपि पुनः**) पहले आत्मतत्त्व के स्वरूप का कथन किया अब फिर भी (**मनाग्-संक्षेपतः**) संक्षेप से (**किञ्चित्**) कुछ (**वस्त्वित्यादिः-वस्तुनः तत्त्वं-स्वरूपं-तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था**) वस्तु के स्वरूप की व्यवस्था का (**चिन्त्यते-विचार्यते च**) चिन्तन-विचार करते हैं (**उपेत्यादिः-उपायः-स्वप्राप्तये दर्शनज्ञानचारित्र प्राप्तये-उपायः, उपेयः तेनोपायेन प्राप्यः आत्मा तयोर्भावः स्वरूपम्-चिन्त्यते**) दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति के लिए जो आत्मस्वरूप रूप है वही उपाय है उस उपाय के द्वारा जो प्राप्त करने के योग्य है वह आत्मा ही उपेय है उन—उपाय-उपेय दोनों के स्वरूप का विचार करते हैं (**किमर्थम्**) किसलिए ? (**स्यादित्यादिः-स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-तत्र यदेव तत्-तदेवातत्, यदेकं तदेवानेकम्, द्रव्यपर्यायार्पणात्, यदेव सत् तदेवासत् स्वपर द्रव्य क्षेत्रकालभाव विवक्षातः यदेव नित्यं तदेवानित्यं द्रव्यपर्यायार्पणात्-इत्यादि-अनेकान्तस्य युक्तितोऽष्टसहस्र्यां निरूपणात् तस्य शुद्धयर्थ-प्रतिपाद्य विलसध्वान्तनिवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच्च**) स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद— उस स्याद्वाद में जो तत् है वही अतत् है जो एक है वही अनेक है द्रव्य और पर्याय की विवक्षा से । जो सत् है वही असत् है स्वपर द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की विवक्षा से । जो नित्य है वही अनित्य है द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से । इत्यादि अनेकान्त का युक्तियों द्वारा अष्टसहस्री में निरूपण किया गया है । उसकी शुद्धि के लिए अर्थात् प्रतिपादन करने योग्य वस्तु के विषय में मन में जो मिथ्यान्धकार बना हुआ है छाया हुआ है उसका विनाशक होने से तथा उस स्याद्वाद के स्वभावतः शुद्ध होने से भी ।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनंतगुणात्मक है परंतु पूर्व में ज्ञान की मुख्यता से आत्मा को ज्ञान मात्र कहा है। वस्तुतः आत्मा कथन और चिंतन के समय ज्ञानमात्र ही नहीं, सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य द्रव्यार्थिकदृष्टि का और विशेष पर्यायार्थिकदृष्टि का विषय है। द्रव्यार्थिक-दृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि का कथन एक दूसरे से विरोधी है। द्रव्यदृष्टि जब वस्तु को एक नित्य, सतरूप एवं ततरूप कहती है तब पर्यायदृष्टि अनेक, अनित्य, असतरूप और अततरूप कहती है। दोनों ही वस्तु धर्म है। जब एक दृष्टि का कथन करते हैं तब दूसरी दृष्टि का विषय गौण हो जाता है अभाव नहीं हो सकता क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक रूप है। जैसे रुपये की दो साइड है—कोई एक साइड ऊपर होने से दूसरी साइड नीचे हो जाती है परन्तु अभाव नहीं हो सकता। दोनों दृष्टियों के विषय का ज्ञान होने पर ही पूरी वस्तु का ज्ञान होता है जो प्रमाण का विषय है और उसी को सम्यक्ज्ञान कहा है। दोनों दृष्टियों का विषय एक साथ-एक समय में है, परन्तु दोनों का एक साथ कथन नहीं कर सकते। एक को पहले और दूसरे को बाद में ही कहना पड़ता है इसलिए स्याद्वाद को अपनाना पड़ा जो कथन करने की सही पद्धति है जैसे—

(१) वस्तु कथंचित सामान्यरूप है, (२) वही वस्तु विशेषरूप है, (३) दोनों धर्म एक साथ हैं, (४) परन्तु दोनों को एक साथ कथन नहीं कर सकते इसलिए अवक्तव्य है। (५) दोनों धर्म साथ-साथ होने पर भी सामान्य को मुख्य किया है, (६) फिर विशेष को मुख्य किया है, (७) फिर दोनों धर्म साथ-साथ होने पर दोनों ही मुख्य हैं परन्तु एक साथ नहीं कहे जाते अतः अवक्तव्य कहा है।

एक दूसरा प्रकार भी है अनेकांतात्मक वस्तु को कथन करने का। वस्तु में अनंत धर्म होते हैं। अनंत गुणों को एक साथ नहीं कह सकते। एक गुण को मुख्य करते हैं तब बाकी गौण हो जाते हैं। जैसे—आत्मा के ज्ञानगुण को मुख्य किया। आत्मा का ज्ञानगुण ही ज्ञानरूप है—दर्शन चारित्र आदि गुण ज्ञान-रूप नहीं है अतः अज्ञानरूप है। आत्मा को ज्ञानरूप कहने में एक गुण का कथन हुआ उसी समय कथंचित अज्ञान स्वरूप कहने से ज्ञान के अलावा बाकी अनन्त गुणों का कथन अज्ञान शब्द के द्वारा आ गया क्योंकि बाकी अनन्त गुण ज्ञानरूप नहीं है। इस प्रकार आत्मा कथंचित ज्ञानरूप है कथंचित अज्ञानरूप है इसके द्वारा अनंतगुणात्मक वस्तु का कथन हो जाता है।

तीसरा प्रकार यह है कि आत्मनामा वस्तु अनंतगुणात्मक है अभेद अखण्ड है। पर्यायरूप परिणमनकर रही है। पर्याय स्वभाव और विभावरूप है। उसका कर्म के साथ निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है शरीर के साथ संयोग है और इसके अलावा बाहरी पदार्थों का स्त्री-पुत्रादि-परिग्रह का सम्बन्ध है। ऐसी वस्तु का कथन करना है, इस प्रकार करना है कि एक अकेली वस्तु का ज्ञान भी हो जावे और उसके अलावा जितने सम्बन्ध जिस-जिस प्रकार के नजदीक और दूर के हैं उनका उसी रूप का सही ज्ञान हो जावे। इसके लिए निश्चय दृष्टि और व्यवहारदृष्टि के द्वारा वस्तु का कथन किया गया है। नय वस्तु को बदली नहीं करती परन्तु वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से परिपादन करती है।

आत्मानामा वस्तु ज्ञानगुण के साथ एकरूप है। रागादि आत्मा के साथ ज्ञान के समान एकरूप नहीं है। कर्म अलग द्रव्य है जिससे साथ निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है—उसी के फल स्वरूप आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है और उसके आगे परिग्रह का सम्बन्ध है। १. इसलिए आत्मा ज्ञान-स्वरूप है यह कथन निश्चयदृष्टि का विषय हुआ। २. रागादि क्योंकि आत्मा के हो अशुद्ध अनित्य परि-णमन हैं अत: अशुद्ध निश्चयनय से यह कथन हुआ। ३. अनंतगुणादिरूप हैं अत: समझाने के लिए भेद करके कथन किया। अभेद में भेद किया परन्तु वास्तव में वे गुण आत्मा के ही हैं। अत: अनुपचारित सद्भूत व्यवहार दृष्टि का विषय बना और ४. कर्म सम्बन्धित मतिश्रुत ज्ञान उपचारित सद्भूत व्यवहार का विषय बना। ५. कर्मका सम्बन्ध अन्य द्रव्य है परन्तु निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध रखे हुए है अत: आत्मद्रव्य के साथ जोड़े गये इसलिए असद्भूत अनुपचरित व्यवहार का विषय बना और ६. शरीरादि का सम्बन्ध और उसके आगे का सम्बन्ध कर्म का फल है, इसलिए उपचारित असद्भूत व्यवहार का विषय बना। अत: यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि आत्मा का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध किस-किसके साथ है।

व्यवहार शब्दका अर्थ उपचार है अर्थात् अभेदमें भेदका उपचार है और संयोग में एकपने का उपचार है। इसलिए व्यवहार को समझने के लिए उपचार को मिथ्या समझे और जिसमें उपचार किया हो उसको सही समझे। जैसे संयोग में एकपने का उपचार है वहां एकपने को मिथ्या समझे परन्तु संयोग को सही मानना चाहिए। निश्चयदृष्टि का अर्थात् एक अकेलो वस्तु का ज्ञान हुए बिना संयोग का सही ज्ञान नहीं हो सकता। संयोग को संयोग कहते हुए भो संयोग में एकपना नहीं मिटेगा। अत: निश्चयदृष्टि का ज्ञान जरूरी है।

पर्यायदृष्टि का और व्यवहारदृष्टि का ज्ञान नहीं होगा तो पर का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध है उसको आत्मा से दूर करना कैसे सम्भव होगा। स्व-स्त्री और परस्त्री का भेद नहीं होगा, व्रतों का पालन करने में त्याग ग्रहण नहीं हो सकेगा इसलिए यहाँ पर भी दोनों दृष्टियों का ज्ञान जरूरी है।

जैन शासन में उपचार कथन बहुत है कहीं भेद में अभेद का उपचार है जैसे शरीरादि में, कहीं अभेद में भेद का उपचार है जैसे गुणों का भेद करके कथन करना। कहीं निमित्त नैमेत्तिक में कर्ता कर्म का उपचार है जैसे कर्मादि में। कहीं साधन में साध्य का उपचार है जैसे धन को प्राण कहना, वहां प्राणों का उप-चार अन्न में है और अन्न का धन में है। वैसे ही वीतरागता रूप चारित्र का उपचार विशुद्ध भावों में और उसका उपचार बाहरी व्रतादि क्रिया में है। आत्मदर्शन का उपचार जिनदर्शन में है स्वाध्याय का उप-चार शास्त्र अध्ययन में है। यह निमित्तादि की अपेक्षा उपचार है। वहां उनको साधन तो समझना परन्तु साध्य नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार के अर्थ को सही समझने पर ही नय विवक्षा सही बैठेगी और वस्तु का सही स्वरूप समझने में आवेगा।

एक अनेकांत का कथन दो चीजों की तुलना करने में होता है जैसे एक ही लाइन को छोटी की अपेक्षा

बड़ी कहना और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहना। यह भी कथन कथंचित—या अपेक्षा से किया जाता है।

जिस दृष्टि का जो विषय है उसी दृष्टि से वह वैसा ही है अन्यथा नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरी दृष्टि का विषय और है इसलिए दूसरी दृष्टि के विषय को जिन्दा रखने के लिए अगर पहले नय विवक्षा नहीं खोली है तो 'भी' लगाया जाता है। एक दृष्टि के विषय को मुख्य करके और दूसरी दृष्टि को गौण करे तब सम्यक् एकांत होता है। दूसरी दृष्टि का अभाव करने पर मिथ्या एकांत होता है। पर्यायदृष्टि के ज्ञान के बिना व्यवहारदृष्टि का ज्ञान भी सही नहीं होता। मात्र व्यवहारदृष्टि का ज्ञान अज्ञानी के लिए परमार्थरूप ही हो जाता है अतः दोनों दृष्टियों का ज्ञान ही सम्यक् है। जब तक उपचार कथन का अर्थ सही ढंग से नहीं करेंगे तब तक नय विवक्षा सही तरह से समझ में नहीं आ सकती।

इसके अलावा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत आदि भी नयों के भेद हैं। निक्षेपादि के द्वारा भी वस्तु का परिपादन होता है ॥५४॥

*(**अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्ववादि वादमनूद्य तत्समाधानसन्धानमाधत्ते**)* अब सर्वप्रथम ज्ञान को ज्ञानस्वरूप स्वीकार नहीं करने वाले वादी के वाद-कथन का अर्थात् पूर्व पक्ष का अनुवाद करके उसका स्याद्वाद की दृष्टि से समाधान का संयोजन प्रस्तुत करते हैं—

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित निज प्रव्यक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥५५॥

अन्वयार्थ—(**पशोः**) अज्ञानी-एकान्ती-हठाग्रही का (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**बाह्यार्थैः**) बाह्य-ज्ञेयरूप पदार्थों से (**परिपीतम्**) परिपूर्णरूप से पिया गया अर्थात् ज्ञेयरूपता को प्राप्त हुआ अतएव (**उज्झितनिज प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्**) अपने स्वभाव के परित्याग से शून्यता को प्राप्त हुआ (**परितः**) सब तरफ से (**पररूपे**) पर-ज्ञेय के रूप में (**एव**) ही (**विश्रान्तम्**) विश्रान्ति—समाप्ति को प्राप्त होता हुआ (**सीदति**) नाश को प्राप्त होता है। (**इह**) इस जगत में (**यत्**) जो ज्ञानादि वस्तु (**अस्ति**) है (**तत्**) वह (**स्वरूपतः**) स्वभाव से (**तत्**) उसी रूप (**अस्ति**) है (**पुनः**) और (**स्याद्वादिनः**) स्याद्वादिः-स्याद्वाद सिद्धान्त को मानने वाले के (**तत्**) वह ज्ञान—या ज्ञानादिरूप वस्तु (**दूरोन्मग्नघन स्वभावभरतः**) चिरकाल से व्याप्त निरन्तर स्व-भावरूप समूह से (**पूर्णम्**) पूर्ण-भरपूर अर्थात् अपने गुण पर्यायों से भरी हुई (**समुन्मज्जति**) सम्यक् प्रकार से प्रकाशमान रहती है।

सं० टी०—(**पशोः-पश्यते-बध्यते-कर्मेति पशुः-अज्ञानी तस्य अतत्स्वभाव वादिनोऽज्ञानिनः**) जो वस्तु का स्वभाव नहीं है उसको ही वस्तु का स्वभाव स्वीकार करने वाला अज्ञानी कर्मों को ही बांधता है अतएव पशु-अज्ञानी है उसके (**ज्ञानम्-बोधः**) ज्ञान-बोध (**सीदति-विशीर्णतां याति-युक्तिबलाभावात्**) युक्ति

रूप बल का अभाव होने से नाश को प्राप्त करता है (**कीदृशम्-तत्**) वह ज्ञान कैसा है (**बाह्यार्थैः-अचेतन-पदार्थैः**) बाह्य-अचेतन-पदार्थों से (**परिपीतम्-ततः समुत्पत्तेस्तदाकार धारित्वात्तत्स्वरूपेण ज्ञानम्**) ज्ञेयाकार रूप परिणमन के समय ज्ञान स्वयं ही ज्ञेयरूपता को धारण करता है अतएव वह ज्ञान ज्ञेयों से पिया गया हो समझा जाता है (**उज्झितेत्यादिः-उज्झिता त्यक्ता निजप्रव्यक्तिः स्वप्राकट्यम् तया रिक्तीभवत्-स्वरूपा वेदकत्वात्**) स्वरूप को न जानने के कारण जिसने अपने स्वरूप की प्रकटता को ही छोड़ दिया है (**पुनः**) और (**परितः-समन्तात्**) सब तरफ से (**पररूपे-परात्मके-अचेतनादौ द्रव्ये**) पररूप-अचेतनादि द्रव्य में (**विश्रान्तम्-एव निश्चयेन न स्वस्वरूपे**) ही विश्रान्त-विलीन हो जाता है अपने खास स्वरूप में नहीं रहता है (**ज्ञानस्यार्थ प्राकट्यम्-न तु स्वप्राकट्यम्**) ज्ञान में अर्थ-बाह्य पदार्थ को जानने की ही प्रमुखता है अपने को जानने की नहीं (**ज्ञानन्तु ज्ञायते खलु-अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या इत्यतद्वात्मकत्वं वदतो ज्ञानाभाव-प्रसङ्गात्-अनवस्थादिदोषदुष्टत्वात्**) ज्ञान तो निश्चय से जानता ही है यदि नहीं जानता तो अर्थ की प्रकटता ही नहीं बन सकती थी इसलिए ज्ञान, ज्ञानरूप न होकर पदार्थरूप ही होता है ऐसा कहने वाले के ज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग आता है साथ ही अनवस्था आदि दोष भी उपस्थित होते हैं (**ननु-स्वात्मनि क्रियाविरोधात्स्वरूपप्रकाशात्मकत्वं कथम्, तदभावात् परस्वरूपेण व्यवस्था**) शंकाकार का कहना है कि ज्ञान में स्वयं को जाननेरूप क्रिया का विरोध होने से निज को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करना अर्थात् खुद को जानना कैसे हो सकता है अतएव स्वयं को न जान सकने के कारण पर को जानने से ही ज्ञान की व्यवस्था बन सकती है अन्यथा नहीं (**इतिचेत्**) यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो (**न**) वह ठीक नहीं है। (**प्रदीपस्य स्वप्रकाशनवत् ज्ञानस्यापि स्वपरप्रकाशात्मकत्वात्**) क्योंकि जैसे प्रदीप स्वपर-अपने को तथा अपने से भिन्न घटपटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही ज्ञान भी स्वपर-अपने को तथा अपने से भिन्न पदार्थों को भी प्रकाशित करता है अर्थात् अपने को भी जानता है और अपने से जुदे चेतन-अचेतन पदार्थों को भी जानता है। ऐसी स्थिति में (**का स्वात्मनि क्रियाविरुद्धा**) ज्ञान में अपने को जाननेरूप क्रिया से क्या विरोध हुआ अर्थात् कुछ भी नहीं (**न तावद्धात्वर्थ लक्षणा भवनाभावप्रसङ्गात्**) धात्वर्थ लक्षणा क्रिया का विरोध तो हो ही नहीं सकता क्योंकि उक्त क्रिया का विरोध हो तो भवनरूप क्रिया के अभावरूप दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**उत्पत्तिलक्षणायास्तस्या अनङ्गीकाराज्ज्ञप्तिलक्षणाया विरोधाभावात्**) और उत्पत्ति लक्षणरूप उक्त भवनरूप क्रिया को आपने स्वीकार भी नहीं किया है इसलिए भी ज्ञप्ति लक्षण जाननारूप क्रिया में कोई विरोध भी नहीं है। (**पुनः-भूयः**) फिर (**इति युक्त्या**) इति-पूर्वोक्त युक्ति से (**स्याद्वादिनः-अनेकान्तमतावलम्बिनः**) अनेकान्त मत का अवलम्बन करने वाले स्याद्वादी के (**तत्-ज्ञानम्**) वह ज्ञान (**पूर्ण-स्वगुण पर्यायैरभिन्नं सत्**) अपने गुण और पर्यायों से अभिन्न-एक होता हुआ (**समुन्मज्जति-सर्वत्र स्वप्रकाशकत्वेन समुच्छलति**) सब जगह अर्थात् सभी ज्ञेयों के जानने में स्वप्रकाशकरूप से अर्थात् अपने को जानते हुए ही पर को जानने में प्रवृत्त होता है (**इति किम्**) यह कैसे (**इह-जगति**) इस जगत में (**यत्-ज्ञानादि**) जो ज्ञान आदि (**अस्ति**) है (**तत्-**) वह ज्ञान आदि (**तत्स्वरूपम्-**

स्वपरप्रकाशात्मकम्) अपने को तथा पर को प्रकाश करने-जानने वाला रूप ही होता है (**तत्-ज्ञानादि**) वह ज्ञान आदि (**स्वरूपतः-स्वभावतः**) स्वभाव से (**ततः-तदात्मकं स्यात्**) स्वपर प्रकाशकरूप ही होता है (**कुतः**) कैसे (**दूरेस्थादिः-दूरं-अनन्त कालम्-उन्मग्नः-स्वगुणिनि लयं गतः घनः-निरन्तरम्-यः स्वभावः-स्वरूपं-तस्य भरः अतिशयः तस्मात्**) वह ज्ञानगुण अनन्तकाल पर्यन्त अपने गुणीरूप आत्मद्रव्य में लीन हुआ हमेशा ही अपने जाननेरूप स्वभाव के समूह से (**स्वरूपस्यस्वरूपिणिलीनत्वात्तदात्मत्वमेव**) क्योंकि स्वरूप स्वरूपी में ही लीन होने से स्वरूपी ही होता है पररूपी नहीं।

भावार्थ—अज्ञानी-वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुष एकान्त को ही पकड़ बैठता है उसके वस्तुस्वरूप जैसा नहीं है वैसा ही प्रतिभासित होता है। उन्हीं में से कोई अज्ञानी एकान्ती ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप ही होता है। उनकी इस मान्यता से ज्ञान जब ज्ञेयाकार रूप ही होता है तब उसका अपना निज का कोई अस्तित्व न रहने से वह सर्वथा नाश को प्राप्त होता है। लेकिन स्याद्वादी उसी ज्ञान को ज्ञेयाकार मानते हुए भी यह कहते हैं कि ज्ञान ज्ञानरूपता को नहीं छोड़ता है वह स्वाकार होते हुए ही ज्ञेयाकाररूप परिणमन को प्राप्त करता है। अतः उसका कभी भी द्रव्यदृष्टि से नाश नहीं होता है नाश जब भी होता है तब पर्यायदृष्टि से ही होता है क्योंकि पर्याय क्षणनश्वर है ॥५५॥

(**अथाभिन्नवादिनो-मतमाशङ्क्य स्याद्भिन्नत्वं समाचेष्टते**) अब अभिन्नवादी के मत को आशङ्का रूप में उपस्थित करके कथञ्चित्-विवक्षा के वश से भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥५६॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी (**विश्वम्**) विश्व-जगत् (**ज्ञानम्**) ज्ञानमय है (**इति**) ऐसा (**प्रतर्क्य**) तर्क-विचार करके (**सकलम्**) सकल-विश्व-जगत को (**स्वतत्त्वाशया**) आत्मतत्त्व की आशा से (**दृष्ट्वा**) देखकर (**पशुः**) पशु के (**इव**) समान (**स्वच्छन्दम्**) स्वच्छन्द-स्वतन्त्र-स्वेच्छानुसार (**आचेष्टते**) चेष्टा करते हैं। (**पुनः**) किन्तु (**स्याद्वाददर्शी**) स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद से वस्तुस्वरूप को अवलोकन करने वाला अनेकान्ती (**यत्**) जो वस्तु (**तत्**) निज स्वरूप है (**तत्**) वह वस्तु (**तत्**) निज स्वरूप ही है (**पररूपतः**) पर-पदार्थ रूप (**न**) नहीं है (**इति**) ऐसी (**प्रतर्क्य**) तर्कणा करके (**तस्य**) उस वस्तु के (**स्वतत्त्वम्**) निज स्वरूप को (**विश्वात्**) जगत से भिन्न (**अविश्वविश्वघटितम्**) विश्वरूप न होता हुआ ज्ञेयाकार रूप से विश्वमय (**स्पृशेत्**) जानता है।

सं० टीका—(**ननु यदुक्तं स्याद्वादिभिरभिन्नं तदिष्टमेव**) शंकाकार कहता है कि स्याद्वाद सिद्धान्तियों ने जो वस्तु में अभिन्नता कही है वह हमें भी इष्ट ही है (**तथाहि-**) उसका स्पष्टीकरण निम्न

प्रकार से है— **(प्रतिभास एवेदम्)** यह प्रतिभास ही है **(यत् प्रतिभासते तत् प्रतिभास एव)** जो प्रतीत-मालूम होता है वह प्रतीत ही है मालूम ही पड़ता है **(यथा-प्रतिभासस्वरूपम्-प्रतिभासमानं चेदं जगत्)** जैसे प्रतिभासमान-प्रतीति में आने वाला यह जगत् प्रतिभासरूप ही है—प्रतीति का विषय ही है **(नचात्र जगतः प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्)** यहां जगत की प्रतिभासमानता प्रतीति विषयता असिद्ध नहीं है **(साक्षादसाक्षाच्च तस्य प्रतिभासमानत्वे शब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वेन वक्तुमशक्तेः)** क्योंकि प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से जगत् की प्रतिभासमानता शब्दों और विकल्पों का विषय न होने से कही नहीं जा सकती **(प्रतिभासश्चिद्रूप-एव)** और वह प्रतिभास-प्रतीति चैतन्यरूप ही है **(अन्यथा)** प्रतिभास को चैतन्यरूप न मानने से **(प्रतिभासविरोधात्)** प्रतिभास नहीं बन सकेगा **(तस्य पुरुषाद्वैतत्वात्)** क्योंकि वह प्रतिभास पुरुषाद्वैतरूप ही है **(इति)** इस प्रकार से **(विश्वम्-)** विश्व-जगत् को **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप **(प्रतर्क्यं-विचार्यं)** विचार्य—विचार करके **(कया)** किससे **(स्वतत्त्वाशया-स्वप्रतिभासान्तः प्रवेशाशया)** अपने चैतन्य स्वरूप प्रतिभास के मध्य में प्रवेश करने की आशा से **(सकलम्-दृष्ट्वा-प्रतिभासमयं सर्वं विलोक्य)** समस्त विश्व को प्रतिभास स्वरूप देखकर **(पुरुषाद्वैतमननम्)** पुरुषाद्वैत मानना अर्थात् पुरुषरूप स्वीकार करना **(तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलब्धेः नित्यत्वं-सर्वगतत्वं-निराकारत्वञ्च व्यवतिष्ठते)** और उस पुरुषाद्वैत के देश से काल से तथा आकार से कोई विच्छेद-विनाश उपलब्ध नहीं होता है इसलिए वह नित्य है सर्व व्यापक है और निराकार भी है। **(न हि कश्चिद्देशः कालः आकारश्च प्रतिभास शून्यः)** कोई देश, कोई काल से तथा कोई आकार प्रतिभास से शून्य नहीं है **(प्रतिभासविशेषाणां नीलसुखादीनां विच्छेदात् तेषाम-सत्यत्वात्)** जो नील सुखादि प्रतिभास हैं वे असत्य हैं—मिथ्या हैं उनके विच्छेद की उपलब्धि होने से आपका प्रतिभासमानरूप हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित है यदि ऐसा आपका कहना हो तो इसके उत्तर में हमारा यह कहना है कि **(यदि ते न प्रतिभासन्ते तर्हि सन्तीति कथं ज्ञायते)** यदि वे नील सुखादि प्रति-भास विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं तो वे हैं ऐसा आप कैसे जानते हैं ? **(ततो न तैरनैकान्तिकः)** इस-लिए उन नील सुखादि प्रतिभास विशेषों से जो आपके मत में मिथ्या हैं हमारा प्रतिभासमानरूप हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित नहीं है। **(यच्च कारकक्रियाभेद कर्मफल लोकद्वैत विद्याऽविद्या बन्ध मोक्षद्वयं तद्बाधकमभ्यधायि तदपि निरस्तं तेषां प्रतिभासस्वभावत्वादन्यथा व्यवस्थानायोगात्)** और जो कारक क्रिया भेद कर्म फल लोकद्वैत विद्या अविद्या बन्ध मोक्ष द्वैत को उस हेतु का बाधक कहा है वह भी खंडित हो जाता है क्योंकि वे सभी प्रतिभास स्वरूप हैं यदि ऐसा न माना जायेगा तो पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। **(यदपि पक्ष हेतु दृष्टान्तानामुपनिषद्वाक्यानां च प्रतिभासनमप्रतिभासनमिति दूषणोद्भावनं तदपि प्रत्याख्यातं प्रतिभासमात्रात्मत्वात्तेषाम्)** और जो पक्ष हेतु दृष्टान्तों तथा उपनिषद् वाक्यों का प्रति-भासन अप्रतिभासनरूप दूषण का उद्भावन किया है वह भी खण्डित हो जाता है क्योंकि वे भी प्रतिभास स्वरूप ही हैं। **(पञ्चविंशतिसांख्योपकल्पितानां-प्रकृत्यादीनां तथात्वे हेतुत्वे दोषाभावात्)** सांख्यों के द्वारा कल्पित प्रकृत्यादि पच्चीस तत्त्व भी प्रतिभास स्वरूप होने से हेतु में कोई दोष नहीं आता है **(स्याद्वादि-**

नामनेकान्तात्मकत्वे साध्ये सत्वादिसाधनवत्) जैसे स्याद्वादियों के अनेकान्तरूप साध्य में सत्वादि साधन को कोई दूषण दूषित नहीं कर सकता। **(तत्त्वानां यमनियमानशनादीनां संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगफलकैवल्यादीनां च प्रतिभासात्मकत्वेन तदन्तः प्रविष्टत्वसिद्धेः)** तत्त्वों के यम नियम अनशन आदिकों के तथा सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात योग फल कैवल्य आदिकों के भी प्रतिभास स्वरूप होने से इन सभी की भी हेतु से ही सिद्धि हो जाती है **(नैयायिककोपकल्पित प्रमाणप्रमेयादिषोडशतत्त्ववत्)** जैसे नैयायिकों के द्वारा प्रकल्पित प्रमाण प्रमेय आदि सोलह तत्त्व सिद्ध होते हैं। **(एवं मीमांसोपकल्पितानां भट्ट प्रभाकरोपकल्पितं चात्मजन फलादीनां, योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिकमाध्यमकाङ्गीकृतानां क्षणक्षयलक्षणानां च चतुरार्यसत्यानां च वैशेषिकाङ्गीकृत द्रव्यगुणकर्मादीनां षण्णां पदार्थानां लोकायितकेष्ट पृथ्व्यादीनां चतुर्णां नास्तिकाध्यासित नास्तीति तत्त्वस्य च गगनकुसुमादीनां च प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वसिद्धेः)** इसी प्रकार से मीमांसकों द्वारा कल्पित तथा भट्ट प्रभाकर द्वारा कल्पित आत्माजन फल आदियों का योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिक माध्यमकों द्वारा स्वीकृत क्षण क्षय ही है स्वरूप जिन्हों का ऐसे चतुरार्य सत्यों का तथा वैशेषिकों द्वारा अङ्गीकृत द्रव्यगुण कर्म आदि षट् पदार्थों का लौकायतिकों द्वारा अभीष्ट पृथ्वी आदि चारों का तथा नास्तिकों द्वारा प्रतिपादित स्वीकृत नास्तिरूप तत्त्व का तथा आकाश कुसुम आदिकों का भी प्रतिभास मानतारूप होने से प्रतिभासान्तः प्रविष्टता सिद्ध होती है इसलिए प्रतिभासमानत्व हेतु से सभी प्रतिभासस्वरूप साध्यों की सिद्धि हो जाती है। **(अप्रतिभासमानत्वे तद् व्यवस्थाविरोधात्)** यदि उक्त सबों को अप्रतिभासमानरूप मान लिया जायेगा तो उनकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी **(तथापि तदङ्गीकारेऽनिष्ट तत्त्वसिद्धि प्रसङ्गात् न केषांचित्स्वेष्टतत्त्वसिद्धिरतः प्रतिभासमानत्वमेष्टव्यम्)** व्यवस्था नहीं बनने पर भी उनको स्वीकार करने पर तो अनिष्ट तत्त्वों की सिद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा इसलिए किन्हीं के भी अपने अभीष्ट तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी अतएव प्रतिभासमानता को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(तथाचोक्तम्) जैसा कि कहा गया है—

> **सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।**
> **आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥१॥**

अन्वयार्थ—**(वै)** निश्चय से **(इदम्)** यह **(सर्वम्)** समस्त जगत् **(खलु)** निश्चितरूप से **(ब्रह्म)** ब्रह्ममय **(अस्ति)** है **(इह)** इस जगत में **(किञ्चन)** कोई **(नाना)** नाना-अनेक **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(तस्य)** उस ब्रह्म को **(आरामम्)** माया को ही **(पश्यन्ति)** देखते हैं **(तम्)** उस ब्रह्म को **(कश्चन्)** कोई भी **(न)** नहीं **(पश्यति)** देखता है।

(इति) पूर्वोक्त प्रकार से **(विश्वमयी)** विश्वमय **(भूत्वा)** होकर **(कश्चित्)** कोई **(अद्वैतवादी)** अद्वैतवादी "ब्रह्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं कहने वाला" **(पशुः)** अज्ञानी **(पशुः)** पशु के **(इव)** समान **(अज्ञानीव)** अज्ञानी पशु के समान **(स्वच्छन्दं-निरंकुशत्वेन)** निरंकुशतारूप स्वच्छन्द वृत्ति से

(आचेष्टते-स्वेच्छयेहते) अपनी इच्छानुसार चेष्टा करता है **(प्रतिभासविशेषाणां पररूपत्वेन सत्यत्वात्)** क्योंकि जितने भी प्रतिभास विशेष वे सबके सब परपदार्थ रूप ही होने से सत्य ही हैं। **(पुनः)** किन्तु **(स्याद्वाददर्शी)** स्याद्वाद दृष्टि से देखने वाला **(कश्चित्)** कोई स्याद्वादी-अनेकान्ती **(युक्त्या)** युक्ति से **(तस्य-वस्तुनः)** उस वस्तु के **(स्वतत्त्वम्-स्वस्वरूपतः-स्वरूपम्)** अपने स्वरूप से निज स्वरूप को **(स्पृशेत्)** जानता है **(इति किम्)** ऐसा क्यों ? **(यत्)** जो **(ज्ञानादि स्वरूपेण)** ज्ञानादि के स्वरूप से **(स्यात्)** हो **(तत्)** वह **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(अस्ति)** है **(तत्-ज्ञानादि)** वह ज्ञानादि **(पररूपतः-परस्वरूपतः)** परपदार्थ के स्वरूप से **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(न)** नहीं **(भवति)** होता है **(अन्यथा)** यदि ज्ञानादि तत्त्व को परपदार्थ के स्वरूप से माना जायगा तो **(सर्वस्योभयरूपत्वे)** सब के उभयरूप होने से **(तद्विशेष निराकृतेः)** उस पदार्थ की विशेषता का निराकरण होगा जिससे **(नोदितो दधि खादति किमुष्ट्रं चाभिधावति)** प्रेरणा किया हुआ दही को नहीं खाता है और ऊंट की तरफ क्यों दौड़ता है ? **(इत्यतिप्रस ़्स्य दुर्निवारत्वात्)** ऐसा अति-प्रसङ्ग दुर्निवार हो जायेगा। **(कीदृक्षम्-तत्त्वम्)** कैसा तत्त्व ? **(विश्वात्-समस्त पदार्थाद्भिन्नम्-पृथक्)** समस्त पदार्थों से पृथक् **(पुनः)** फिर कैसा **(अविश्वेत्यादि-अविश्वं-अविश्वस्वरूपं तच्च तद्विश्वेन-विश्वपदार्थेन घटितं च निष्पादितं विश्वपदार्थपरिच्छेदकत्वात्)** विश्वस्वरूप न होता हुआ भी विश्व के पदार्थों से निष्पन्न क्योंकि ज्ञान स्वयं ही विश्व के पदार्थों का परिच्छेदक-ज्ञायक-जानने वाला है।

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूप है वह वस्तु सदा उस रूप ही है अन्य रूप नहीं। यह वस्तु तत्त्व है। इसमें कभी भी फेरफार सम्भव नहीं है। कोई वस्तु परवस्तु से वस्तु नहीं कहलाती है किन्तु अपने गुण पर्यायों से ही वस्तु कही जाती है क्योंकि जिसमें निज के गुणों और उनके विकार स्वरूप पर्यायों का वास होता है वही वस्तु वस्तु शब्द से व्यवहृत होती है अन्य वस्तु के गुण पर्यायों से नहीं। अतः जो एकान्ती अज्ञानी वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ हैं वे ही वस्तु को अन्य वस्तु रूप कल्पित करते हैं। ज्ञानाद्वैतवादी सारे जगत को ज्ञानस्वरूप ही मानता है अन्य रूप नही। इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य ने स्याद्वाद के द्वारा ही जगत के तमाम पदार्थों की स्वरूप व्यवस्था प्रस्तुत की है जो किसी भी विवेकी के विवेक का विषय बन सकती है। ज्ञान ज्ञानरूप में रहकर ही समस्त ज्ञेयों को ज्ञेयाकार रूप से परिणत होकर जानता है इस दृष्टि से ज्ञान में सभी ज्ञेय समा जाते हैं। इसका यह आशय कभी नहीं है कि ज्ञेय अपने-अपने अस्तित्व को नष्ट करके ज्ञानरूप हो जाते हैं या ज्ञान अपने अस्तित्व को खोकर ज्ञेयरूप हो जाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ज्ञानरूप में रहकर ही ज्ञेयों को जानता है और ज्ञेय भी ज्ञेयरूप रहकर ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं दर्पण की तरह। जैसे दर्पण अपने अस्तित्व को कायम रखता हुआ ही स्वच्छता से अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थों को अपनी पृथकता के साथ ही पदार्थों की पृथकता को प्रकट करता हुआ ही प्रकट करता है वैसे ही ज्ञान भी अपने द्रव्यक्षेत्र काल और भाव में रहता हुआ ही पर-पदार्थों को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को पृथक् रखता हुआ ही उन्हें जानता है उनके स्वरूपमय होकर नहीं ॥५६॥

(अथानेकत्ववादमारेक्यैकत्वमारेकते) अब अनेकत्ववाद को प्रकट करके एकत्ववाद को प्रकाशित करते हैं—

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लस—
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय—
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥५७॥

अन्वयार्थ—**(बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतः)** बाह्य पदार्थों के ग्रहणरूप स्वभाव के अतिशय से **(विश्वग्विचित्रोल्लसज्ज्ञेयाकार विशीर्ण शक्तिः)** सब तरफ नाना प्रकार के प्रकाशमान ज्ञेयों के आकारों से उपक्षीण शक्ति वाला अतएव **(अभितः)** सब ओर से **(त्रुट्यन्)** टूटता-नष्ट होता हुआ **(पशुः)** अज्ञानी एकान्तवादी **(नश्यति)** नाश को प्राप्त होता है। किन्तु **(अनेकान्तवित्)** अनेकान्त को जानने वाला ज्ञानी-स्याद्वादी **(एकद्रव्यतया)** एक द्रव्यस्वरूप होने से **(सदाऽपि)** हमेशा ही **(उदितया)** उदित रहने से-प्रकाशमान होने से **(भेदभ्रमम्)** भेद के भ्रम को **(ध्वंसयन्)** दूर करता हुआ **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(अबाधितानुभवनम्)** बाधा रहित अनुभव वाला **(पश्यति)** देखता है-जानता है-अनुभव करता है।

सं० टीका—**(पशुः-सौगताख्योऽज्ञानी)** अज्ञानी सौगत-बुद्धमतानुयायी **(नश्यति-नाशं याति)** नाश को प्राप्त करता है **(तत्कल्पितो ज्ञान क्षणो युक्त्या न व्यवस्थामेति-इत्यर्थः)** अर्थात् सौगत कल्पित ज्ञान-क्षण युक्ति से व्यवस्था को नहीं प्राप्त करता है **(कीदृक्षः सः)** वह कैसा है ? **(अभितः-समन्तात्)** सब तरफ से **(त्रुट्यन् विनश्यन्-पूर्वक्षणस्वलक्षणनिर्मूलं विनश्यदुत्तरमुत्पादयति)** स्वलक्षण स्वरूप पूर्व क्षण को निर्मूल नष्ट करता हुआ उत्तर क्षण को उत्पन्न करता है अतएव नाश को प्राप्त होता हुआ **(पुनः कीदृक्षः)** फिर कैसा—**(विश्वगित्यादिः—विश्वक्-सामस्त्येन, विचित्रा-नीलपीताद्यनेकप्रकाराः, उल्लसन्तः-स्वाकारार्पणेनोल्लसन्तः-गच्छन्तः, ते च ते ज्ञेयानां-ज्ञानविषयभूतानां नीलादिक्षणानामाकारा ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वं तैः विशीर्णा-अनेकधा जाता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य-)** समस्तरूप से नीलपीत आदि अनेक प्रकार के अपने ही आकार से शोभमान ज्ञान के विषयभूत ज्ञेयों के नील पीत आदि क्षणों के आकार जो ज्ञान में अपने ही आकार रूप से प्रतिबिम्बित हुए हैं उनसे जिसकी शक्ति अनेकता को प्राप्त हुई है **(नीलपीतादीनां क्षणिकत्वात्-तदुत्पत्तितस्तदाकारमनु कुर्वाणं ज्ञानम्-तदध्यवसायतः प्रमाणं क्षणिकं कारकगुणानां कार्यसद्भावात्)** नीलपीत आदिकों के क्षणिक होने से उन नीलादि की उत्पत्ति से उनके ही आकार को अनुसरण करने वाला ज्ञान उनके ही अध्यवसाय-निश्चल से प्रमाणरूप होता हुआ क्षणिक होता है क्योंकि कारण के गुणों का कार्य में सद्भाव होता है। **(क्षणिकम् हि सर्वम्)** सभी पदार्थ क्षणिक हैं यह निश्चय है। **(यत्सत्तत्क्षणिकम्)** जो सत् है वह क्षणिक है **(यथाघटः)** जैसे घट **(सन्ति च नीलपीतानि च)** और नील

पीत आदि भी सत् हैं। (**घटाद्यवयवो न कपालांशमन्तरेणोपलभ्यते**) घट आदि का अवयव कपालांश के बिना उपलब्ध नहीं होता है (**स हि अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं साकल्येन वर्तते एकदेशेन वा ?**) वस्तुतः वह अवयवी अवयवों में रहता हुआ प्रति अवयव में पूर्णरूप से रहता है अथवा एकदेश रूप से (**यदि साकल्येन तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्तोऽवयविनः**) यदि पूर्णरूप से रहता है तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी होंगे। (**तत्रापि चावयवकल्पनायामनवस्था**) और उन अवयवियों में भी अवयवों की कल्पना होने पर अनवस्था दोष होगा। (**एकदेशेन चेत्**) यदि यह कहो कि वह अवयवी एकदेशरूप से अवयवों में रहता है (**तदा भंगित्वप्रसंगात्-एकत्वं न स्यात्**) तो भङ्गिता का प्रसङ्ग होने से एकत्व नहीं बन सकेगा। (**इत्यादि युक्त्या नीलपीताद्यवयवा एव**) इत्यादि युक्ति से नील पीत आदि अवयव ही हैं। (**बाह्येत्यादिः-क्षणिकलक्षणानां बाह्यार्थानां ग्रहणं तदेवस्वभावः स्वरूपं यस्य भरतोऽप्रतिशयात्**) क्षणिक स्वभाव वाले बाह्य पदार्थों का ग्रहण करना रूप ही जिसका स्वभाव है ऐसे ज्ञान के अतिशय से (**ज्ञानमपि क्षणिकम्**) ज्ञान भी क्षणिक है (**तदप्ययुक्तम्**) यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् अयुक्त है (**यतः**) कारण कि (**अनेकान्तवित्-स्याद्वादी**) अनेकान्त को जानने वाला स्याद्वादी (**एकं-पूर्वापरविवर्तव्यापितया-अद्वितीयम्**) पूर्वापर-प्रथम एवं द्वितीय आदि पर्यायों में व्यापक होने से अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**पश्यति**) देखता है (**कीदृक्षं तत्**) वह ज्ञान कैसा ? (**अबाधितेत्यादिः-अबाधितं-प्रमाणैरनुभवनं यस्य तत्**) प्रमाणों से बाधा रहित है अनुभव जिसका—जिसका अनुभव प्रमाणों से बाधित नहीं है अर्थात् प्रमाण सिद्ध है (**न च कस्यापि-ईदृशी प्रतीतिर्मया क्षणिकं वस्तु लब्धमिति**) मैंने क्षणिक वस्तु को प्राप्त किया ऐसी किसी की भी प्रतीति नहीं होती है (**सर्वेषां साधारणस्थूलघटादीनां प्राप्तेः**) क्योंकि सभी के साधारण तौर हर स्थूल घटादि की प्राप्ति होती है (**एकद्रव्यतया-अहं मतिज्ञानी स एवाहं श्रुतज्ञानी यदेव मयादृष्टं तदेव मया लब्धमित्येकद्रव्यत्वेन**) मैं मतिज्ञानी हूँ वही मैं श्रुतज्ञानी हूँ। जिसे मैंने देखा था उसे ही मैंने प्राप्त किया इत्यादि एक द्रव्यरूप से (**भेदभ्रमं भिन्नज्ञानभ्रान्तिम्**) भेद के भ्रम को अर्थात् भिन्न ज्ञान की भ्रान्तियों को (**ध्वंसयन्-विनाशयन्**) विनाश करता हुआ (**अन्यथा जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि भेद-प्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न माना जाये तो जीवान्तर-अन्य जीव की तरह अपनी आत्मा में भी भेद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा (**कीदृक्षया तया ?**) कैसी एकद्रव्यता से (**सदाप्युदितया-सदा नित्यं, आबालगोपाल चाण्डालाबालादीनां प्रसिद्धया विद्यमानतया**) जो निरन्तर बालक से लेकर गोपाल चाण्डाल आदिकों के भी विद्यमान है।

भावार्थ—सौगत ने ज्ञान को ज्ञेयों के आकाररूप ही मानकर ज्ञेयों की क्षणनश्वरता के साथ ज्ञान को भी क्षणनश्वर माना है जो अनुभव से तो विरुद्ध है ही साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी बाधित है। इसी बात को अनेकान्त की दृष्टि से सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि जैसे मैंने मतिज्ञान की अवस्था जिसे जाना था उसी को अर्थ में श्रुतज्ञान की दशा में जान रहा हूँ इस कथन से ज्ञान एक द्रव्य रूप ही है अनेक ज्ञेय द्रव्यरूप नहीं। साथ ही ज्ञान क्षणनश्वर भी नहीं है क्योंकि वह नित्य द्रव्य का नित्य

गुण है पर्याय की अपेक्षा से ही वह क्षणनश्वर कहा गया है क्योंकि क्षणनश्वरता पर्यायरूप होती है।

(अथैक ज्ञानमतमति निराचिकीर्षुरनेकतां ज्ञानस्यचिकीर्षति) अब ज्ञान एक ही है ऐसा जिसका मत है उसकी उक्त प्रकार की बुद्धि के निराकरण की इच्छा करने वाला ज्ञान की अनेकता की इच्छा करता है यह प्रकट करते हैं—

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकार चिकीर्षयास्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं-
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥५८॥

अन्वयार्थ—**(पशुः)** अज्ञानी-वस्तुस्वरूप की यथार्थता से अनभिज्ञ **(एकाकार चिकीर्षया)** एक आकार को करने की इच्छा से **(ज्ञेयाकार कलङ्क मेचकचिति)** ज्ञेयों के आकार रूप कलङ्क से कलङ्कित ज्ञान में **(प्रक्षालनम्)** अनेक आकारों को साफ करने की **(कल्पयन्)** कल्पना करता हुआ **(स्फुटमपि)** अनेकाकार रूप से अति स्पष्ट **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(न)** नहीं **(इच्छति)** इच्छा करता है। किन्तु **(अनेकान्तवित्)** अनेकान्त का ज्ञाता विवेकी स्याद्वादी **(पर्यायैः)** पर्यायों से **(अनेकताम्)** अनेकाकारता को **(परिमृशन्)** स्वीकार करता हुआ **(वैचित्र्ये)** नाना ज्ञेयाकाररूप विचित्रता में **(अपि)** भी **(अविचित्रताम्)** अनेकाकारता की शून्यता को **(उपगतम्)** प्राप्त **(स्वतः)** स्वभाव से **(क्षालितम्)** निर्मल **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(पश्यति)** देखता है।

सं० टीका—**(पशुः-अज्ञानी-सांख्यादिः कश्चित्)** कोई सांख्य आदि अज्ञानी पुरुष **(स्फुटमपि-अनेकाकारतया व्यक्तमपि)** अनेक आकर रूप से व्यक्त होते हुए भी **(ज्ञानम्-)** ज्ञान को **(नेच्छति)** नहीं चाहता है **(कीदृक्षः-सन्)** कैसा होता हुआ **(एकेत्यादिः-ज्ञानस्य-एकाकारं-एकत्वम्-चिकीर्षया-कर्तुमिच्छया)** ज्ञान को एकरूप करने की इच्छा से **(ज्ञेयेत्यादिः-ज्ञेयस्य-पदार्थस्य-आकारः-ज्ञानेतदाकारः सएव कलङ्कः-कालिमा-ज्ञाने तदाकारस्याभावात्-एकस्वभावत्वात्तस्यकूटस्थ नित्यत्वात् तेन मेचकः चित्रितः चित-ज्ञानम्-तत्र)** ज्ञेय-ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ का ज्ञान में ज्ञेयाकार रूप होना ही कलङ्क है क्योंकि ज्ञान में तदाकारता-ज्ञेयाकारता का अभाव है कारण कि वह ज्ञान एक ज्ञान स्वभाव वाला ही है कूटस्थनित्य होने से, उस ज्ञेयाकारता से मेचक-चित्रित-ज्ञान में **(प्रक्षालनं-अनेकाकारनिवारणम्)** अनेक आकारों को दूर करने की चेष्टा को **(कल्पयन्-कुर्वन्)** करता हुआ **(तत्राह अनेकान्तवित्)** उस विषय में कहते हैं कि—अनेकांत का ज्ञाता **(तत्-ज्ञानम्)** उस ज्ञान को **(पश्यति-ईक्षते)** देखता है **(कीदृशम्-सत्)** कैसे उस ज्ञान को **(पर्यायैः-मतिश्रुतादिज्ञानविवर्तैः)** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि विवर्तों-पर्यायों से **(अनेकतां-कथञ्चिद-नेकत्वम्)** विवक्षा के वश से अनेकता को **(परिमृशन्-अङ्गीकुर्वन्)** अङ्गीकार करता हुआ **(सर्वथैकत्वे नाना ज्ञेयग्रहणं न स्यात्)** ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानने पर नाना ज्ञेयों का ग्रहण नहीं बन सकेगा **(एकार्थ-ज्ञानस्य नित्यमसम्भवात् तदभावः स्यात्)** एकार्थरूप ज्ञान की नित्यता कथमपि सम्भव नहीं है अतएव उस

एकार्थं ज्ञान का ही अभाव हो जायगा ([illegible]) यही बात अष्टसहस्री में कही गई है—

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तञ्चेदिन्द्रियार्थवत् ।

ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्तेशासनाद्बहिः ।।१।।

अन्वयार्थ—(**प्रमाणकारकैः**) प्रमाण-प्रत्यक्षादि-तथाकारक कर्तृ आदि से ज्ञान (**व्यक्तम्**) स्पष्ट है (**च**) और (**इन्द्रियार्थवत्**) इन्द्रिय और अर्थ—पदार्थ के समान वहज्ञान (**व्यक्तम्**) व्यक्त-स्पष्ट है (**च**) और यदि (**ते**) प्रमाण और कारक अथवा इन्द्रिय और पदार्थ (**नित्ये**) नित्य (**स्याताम्**) हो (**तर्हि**) तो (**विकार्यम्**) विकार्य-कर्म (**किं**) कौन (**स्यात्**) होगा (**अतः**) इसलिए (**ते**) वे नित्यवादी (**साधोः**) साधु (**ते**) तुम्हारे (**शासनात्**) शासन से (**बहिः**) बाहर हैं।

(**ननु ज्ञानं पर्यायैरनेकत्वं दधदशुद्धं स्यात्-[illegible]**) शंकाकार कहता है कि पर्यायों से अनेकता को धारण करने वाला ज्ञान अशुद्ध हो जायगा क्योंकि पर्यायों को अशुद्ध कहा गया है (**इति-चेन्न**) यदि यह तुम्हारा कहना हो तो वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तत्**) वह ज्ञान (**स्वतः-स्वभावतः**) स्वभाव से (**क्षालितं-निर्मलम्**) निर्मल (**अस्ति**) है (**ननु-[illegible] दृष्टेष्टानां तद्विषयाणामिष्टत्वात्-जगतोविचित्रत्वात्**) शंकाकार कहता है कि ज्ञान को अनेक रूप ही स्वीकार किया है क्योंकि उस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ जो प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं अनेक रूप इष्ट हैं। जगत् की ऐसी ही विचित्रता है (**इतिचेन्न**) यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो वह उचित नहीं है (**कुतः**) कैसे (**पर्यायापेक्षया**) पर्यायों की अपेक्षा से (**वैचित्र्येऽपि**) विचित्रता होने पर भी (**एकज्ञानद्रव्यतया**) एक ज्ञानरूप द्रव्यता से (**अविचित्रताम्-एकस्वरूपताम्**) एक स्वरूपता को (**उपगतम्-प्राप्तम्**) प्राप्त हुआ (**अतः कथञ्चिदेकं-द्रव्यार्पणात्**) इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कथञ्चित् एक (**कथञ्चिदनेकं-पर्यायार्पणात्**) तथा पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से कथञ्चित् अनेक है ।।५८।।

भावार्थ—एकान्ती-हठधर्मी ज्ञान को एकमात्र चैतन्याकार ही मानता है अन्य ज्ञेयों के आकारों को ज्ञान में मलिनता मान उन्हें दूर करने की बलवती इच्छा से ज्ञान को ही नष्ट कर देता है। क्योंकि ज्ञान स्वभावतः ज्ञेयाकार परिणमनरूप है और वह उसे उन परिणमनों से युक्त देखना नहीं चाहता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की अवस्थिति ही नहीं बन सकती तब ज्ञान का नाश ही समझा जायगा। किन्तु अनेकान्ती-अनेक धर्म स्वरूप वस्तु को अङ्गीकार करने वाला विवेकी कहता है कि ज्ञान का स्वभाव ही ज्ञेयों को जानने का है और वह जानना भी ज्ञान में ज्ञेयों का आकाररूप परिणमन ही है जो पर्यायरूप है। अतः पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से ज्ञान अनेकाकार रूप भी है तथा द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से एकाकार-चैतन्याकार भी है क्योंकि वह चैतन्याकार एकमात्र ज्ञानरूप ही है अन्य पदार्थरूप नहीं। इस तरह से ज्ञान एक भी है और अनेक भी है यह विवक्षा की प्रमुखता पर आधारित है, जिसे अज्ञानी समझता ही नहीं है।

(**अथ परद्रव्यास्तित्वन्यस्तं ज्ञानं निराकृत्य स्वास्तित्वास्तित्वमागम्यते**) अब परद्रव्य के अस्तित्व के अधीन ज्ञान का निराकरण करके अपने ही अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व है यह प्रकट करते हैं—

प्रत्यक्षालिखितस्फुट स्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितयानिरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णोभवन् जीवति ॥५६॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी (**प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर परद्रव्यास्तितावञ्चितः**) प्रत्यक्ष रूप से अतिशयप्रकाशमान-अतएव अति स्पष्ट रूप से स्थिर परद्रव्य के अस्तित्व से प्रतारित-ठगा हुआ (**परितः**) सब तरफ से (**स्वद्रव्यानवलोकनेन**) आत्मद्रव्य के नहीं देखने से (**शून्यः**) शून्य-आत्मद्रव्य को नहीं मानने वाला (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) अनेकान्ती-स्याद्वाद सिद्धान्तानुसारी (**स्वद्रव्यास्तितया**) अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व से (**निपुणम्**) अपने को भले प्रकार (**निरूप्य**) अवलोकन-जान करके (**सद्यः**) तत्काल (**समुन्मज्जता**) देदीप्यमान (**विशुद्धबोधमहसा**) निर्मल ज्ञान के तेज से (**पूर्णः**) परिपूर्ण (**भवन्**) होता हुआ (**जीवति**) जीता है अर्थात् आत्मस्वरूप से विद्यमान रहता है।

सं० टीका—(**पशुः-परद्रव्येण सदिति प्रतिपद्यमानः कश्चित्**) परद्रव्य के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है (**स्वपक्षापक्षेपं लक्षयति**) अज्ञानी अपने पक्ष के समर्थन को प्रदर्शित करता है (**परितः-सामस्त्येन**) समग्र रूप से (**स्वेत्यादिः-स्वस्य आत्मनः द्रव्यम्-द्रवतिद्रोष्यति-अदुद्रवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यं-तस्यानवलोकनेन स्वामित्यावीक्षमाणेन**) जो अपने गुणों और पर्यायों को प्राप्त कर रहा है भविष्य में प्राप्त करेगा और भूत में प्राप्त कर चुका हो वह द्रव्य कहलाता है ऐसे आत्मद्रव्य के परद्रव्य के समान स्वामित्व के न देखने से (**शून्यः**) अपने अस्तित्व से रहित (**पुनः कीदृक्षः**) फिर कैसा (**प्रत्यक्षेत्यादिः-प्रत्यक्षेण-वैशद्यज्ञानेन-आलिखिता-आज्ञाता, स्फुटा-व्यक्ता-स्थिरा-अनेककाल स्थायित्वात् सा चासौ परद्रव्यास्तिता च, न च घटास्तित्वं पटास्तित्वेऽस्ति सर्वस्य सर्वार्थं क्रिया-करणात्, न हि घटादयः घटादय इव पय आहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटाविज्ञानं वा इति-परास्तित्वा-भावेऽपि तया वञ्चितः**) प्रत्यक्ष-निर्मल ज्ञान से भले प्रकार अवगत अति स्पष्ट और अनेक काल पर्यन्त स्थिर रहने वाले परद्रव्य के अस्तित्व से अर्थात् घट का अस्तित्व पट में नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ सभी पदार्थों की अर्थ क्रिया करने वाले नहीं हो सकते। पट आदि घट आदि की तरह जल धारण रूप अर्थ-क्रिया को नहीं करते हैं—अथवा पटादि घटादि के ज्ञान को नहीं करा सकते हैं इस तरह से परद्रव्य में अपने से भिन्न द्रव्य के अस्तित्व का अभाव होने पर भी—परद्रव्य के अस्तित्व से वञ्चित-ठगा गया। (**स्याद्वादी तु कथं व्यवतिष्ठते-अनेकान्तमतमतिः-स्वतत्वं जीवति-स्थिरं स्थापयति-इत्यर्थः**) किन्तु स्याद्वादी कैसे व्यवस्था करता है अर्थात् अनेकान्त मतावलम्बी आत्मतत्त्व को स्थिरता के साथ स्थापित करता है।

(कीदृशः-) कैसा अनेकान्ती— **(विशुद्धित्यादि-विशुद्धज्ञान तेजसा)** निर्मल ज्ञान के तेज से **(पूर्णीभवन्-स्वमनोरथं पूर्णीकुर्वन्)** अपने मनोऽभिलाष को पूरा करता हुआ **(कीदृशेन-तेन)** कैसे ज्ञान के तेज से **(समुन्मज्जता-समुच्छता-जगति-प्रकाशं गच्छता)** सम्यक् प्रकार से उछलने वाले अर्थात् जगत् में प्रकाशित होने वाले **(किं कृत्वा)** क्या करके **(सद्यः-तत्कालम्)** तत्काल-उसी समय-शीघ्र **(स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः द्रव्यास्तित्वं तथा)** अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व से **(निपुणम्-यथोक्तं-अस्तित्वम्)** पूर्वोक्त आत्मा के अस्तित्व को **(निरूप्य-अवलोक्य)** देखकर-जानकर।

भावार्थ—यद्यपि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में नास्तित्व है तथापि अज्ञानी अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को परद्रव्व के रूप में अन्तर्हित कर अपने आत्मद्रव्य का नाश करता है परन्तु ज्ञानी स्याद्वादी अनेकान्ती अपने ही निर्मल ज्ञान से अपने आत्मद्रव्य को स्वानुभव रूप से स्वीकार कर उसके पृथक् अस्तित्व का स्थापन करता है जो यथार्थ है।

(अथ परद्रव्य स्वरूपं ब्रह्मेतिवादिनं प्रति परद्रव्येणासदिति सन्न्यस्यते) अब आत्मा परद्रव्यरूप है ऐसा कहने वाले के प्रति आत्मा परद्रव्य रूप नहीं है यह प्रतिपादन करते हैं—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः—
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्त वस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिताम्—
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥६०॥

अन्वयार्थ—**(दुर्वासनावासितः)** मिथ्या वासना से वासित **(पशुः)** अज्ञानी-मिथ्याज्ञानी **(पुरुषम्)** आत्मा को **(सर्वद्रव्यमयम्)** समस्त द्रव्यस्वरूप **(प्रपद्य)** जानकर **(किल)** निश्चय से **(स्वद्रव्यभ्रमतः)** आत्मद्रव्य के भ्रम से **(परद्रव्येषु)** परपदार्थों में **(विश्राम्यति)** विश्राम को प्राप्त करता है अर्थात् पर को ही आत्मा मान निश्चिन्त हो जाता है **(तु)** किन्तु **(स्याद्वादी)** अनेकान्ती **(समस्त वस्तुषु)** सभी पदार्थों में **(परद्रव्यात्मना)** पर द्रव्यरूप से अर्थात् कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्यरूप से **(नास्तिताम्)** नास्तिता-अविद्यमानता को **(जानन्)** जानता हुआ **(निर्मलशुद्धबोधमहिमा)** निर्मल शुद्ध ज्ञान की महत्ता वाला ज्ञानी **(स्वद्रव्यम्)** अपने आत्मद्रव्य का **(एव)** ही **(आश्रयेत्)** आश्रय-सेवन-करता है।

सं० टीका—**(पशुः-अद्वैतैकान्तावलम्बी)** अद्वैतरूप एकांत का अवलम्बन करने वाला अज्ञानी **(स्वेत्यादिः-स्वस्य द्रव्यं तस्य भ्रमतः भ्रान्तेः)** अपने आत्मद्रव्यके भ्रमसे **(परद्रव्येषु-समस्त चेतनाचेतनेष्वपरद्रव्येषु)** समस्त चेतना तथा अचेतनारूप अन्य द्रव्यों में **(किल-निश्चितम्)** निश्चितरूप से **(विश्राम्यति-विश्रामं याति)** विश्रामको प्राप्त करता है **(परद्रव्यं-सर्वं स्वद्रव्यमिति कृत्वा तिष्ठति)** अर्थात् सभी परद्रव्य को आत्मद्रव्यरूप मानकर बैठ जाता है **(किं कृत्वा)** क्या करके **(पुरुषं-ब्रह्म)** पुरुष-ब्रह्म को **(सर्वद्रव्यमयम्-समस्तचेतनेतर वस्तु मयम्)** सभी चेतनाचेतन वस्तुरूप **(प्रपद्य-अङ्गीकृत्य)** स्वीकार करके **(तदभ्युपगमे वेदवाक्यं "पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकल लोक प्रलयस्थितिहेतुरिति")** सर्व वस्तुमय मानने में—जो है वह

और जो पहले हो चुका है तथा आगे होगा वह सब पुरुष ही है समस्त लोक के प्रलय-विनाश तथा स्थिति का हेतु है ऐसे वेद वाक्यों को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करता है (**सर्वेषां प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासेऽन्तः प्रविष्टत्वं**) सभी पदार्थों के प्रतिभासमान होने से सभी पदार्थ-प्रतिभास के अन्दर समा जाते हैं (**तस्यैकत्वे**) उसकी एकता में (**घटपट लकुट मुकुट शकटादीनां भेदस्तु**) घट-पट लकुट 'लकड़ी' मुकुट शकट आदि का भेद तो (**दुर्वासनावासितः-दुर्वासनया-अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासितः-कल्पितः इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासितः दुर्वासनया अनादि कालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासितः-वासनाविषयीकृतः**) सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि रूप से प्रतिभासमान होने वाली अविद्या से कल्पित हैं। ऐसा कहने वाले अद्वैत-एकान्तावलम्बी, अद्वैत की खोटी वासना से ग्रसित हैं और अनादि काल की महामोहरूप अविद्या की वासना से गृहीत है। (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी-अनेकान्ती तो (**समस्तवस्तुषु-सर्व पदार्थेषु**) सभी पदार्थों में (**स्वद्रव्यमेव-स्वद्रव्येणास्तित्वमेव**) आत्मद्रव्य रूप से अस्तित्व को ही (**आश्रयेत्-भजेत्**) आश्रय करता है— भजता है। (**किं कुर्वन्-**) क्या करता हुआ (**तेषु-**) उन पर-पदार्थों में (**परद्रव्यात्मना-परस्वरूपेण**) परद्रव्य के रूप से (**नास्तिताम्**) नास्तित्व-अभाव को (**जानन्-प्रमाणबलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्**) प्रमाण के बल से नास्तिता को निर्बाध रूप से जानता हुआ (**कीदृशः सः**) वह कैसा (**निर्मलेत्यादिः— निर्मलः द्रव्यमलकलङ्करहितः, शुद्धः-भावकर्म विकलः स चासौ बोधश्च तेन महिमा माहात्म्यं यस्य सः**) निर्मल ज्ञानावरणादि रूप द्रव्य कर्ममय कलङ्क से रहित, शुद्ध - राग-द्वेष मोह आदि भावकर्म से शून्य ज्ञान की महिमा-महत्ता से युक्त।

भावार्थ— पुरुषाद्वैतवादी सारे जगत को एकमात्र पुरुषरूप ही देखता एवं जानता है। इस विषय में वह "पुरुषएवेदम्" वह सर्व जगत पुरुष ही है इत्यादि वेदवाक्य को प्रमाणरूप में उपस्थित करता है और जब कोई जिज्ञासु यह जानने की इच्छा प्रकट करता है कि घट पटादि जुदे-जुदे दिखने वाले पदार्थों का भेद क्यों कर निषेध किया जा सकता है, जो जगत् की अनेकता को स्पष्ट रूप से जाहिर करते हैं तब उत्तर में वह कहता है कि अनादि कालीन मोहरूप अज्ञान के वश से हो वैसा प्रतीत होता है वस्तुतः वैसा है ही नहीं इत्यादि। प्रत्यक्षापलापी अज्ञानी हठाग्रही परद्रव्य रूप से नास्तिता को न मानकर स्वद्रव्य को ही पररूप से स्वीकार कर आत्मतत्त्व का समूल नाश करता है। किन्तु अनेकान्ती विवक्षा के वश से पर-द्रव्यरूप से आत्मद्रव्य का नास्तित्व तथा स्व-आत्म-द्रव्यरूप से अस्तित्व को स्वकीय निर्मल ज्ञान से जान-कर अपने में ही अपने को भजता है अपनेरूप से, पररूप से नहीं।

(**अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं ब्रुवति**) अब परक्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा के अस्तित्व का निराकरण करता हुआ स्याद्वादी-अनेकान्ती स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से ही अस्तित्व का समर्थन करता है—

भिन्नक्षेत्र निषण्ण बोध्यनियत व्यापारनिष्ठः सदा

सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।

स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदीपुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्य नियत व्यापारशक्तिर्भवन् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(**भिन्नक्षेत्रनिषण्ण बोध्यनियतव्यापारनिष्ठः**) पृथक् क्षेत्र में स्थित ज्ञेय-पदार्थों के जानने रूप निश्चित व्यापारवान् (**पशुः**) अज्ञानी एकान्ती (**पुमांसम्**) पुरुष-आत्मा को (**अभितः**) सब तरफ से— (**बहिः**) बाहिर-परिक्षेत्र में (**पतन्तम्**) ज्ञानरूप से जाता हुआ (**पश्यन्**) देखता है अतएव (**सदा**) निरन्तर (**एव**) ही (**सीदति**) नाशको प्राप्त होता है। (**पुनः**) किन्तु (**स्याद्वादवेदी**) स्याद्वाद सिद्धान्ती (**स्वक्षेत्रास्ति-तया**) स्वक्षेत्र के अस्तित्व से (**निरुद्धरभसः**) परक्षेत्रमें गमनका निरोधी (**आत्मनिखातबोध्यनियत व्यापार-शक्तिः**) अपने आत्मा में प्रतिविम्बित पदार्थों को निश्चित रूप से जानने की शक्ति वाला (**भवन्**) होता हुआ (**तिष्ठति**) अपने आत्मिक क्षेत्र में ही स्थित रहता है।

सं० टीक – (**कश्चिन्नैयायिकादिः पशुः-अज्ञानी**) कोई नैयायिक आदि अज्ञानी-वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुप (**सीदत्येव-स्वस्थित्यभावाद्विषादं यात्येव**) अपनी आत्मा की स्थिति के अभाव से विषाद को ही प्राप्त करता है (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**अभितः-समन्तात्**) सब ओर से (**बहिः-पतन्तम् स्वक्षेत्रात्परक्षेत्रेपतन्तम्**) अपने स्थान से पर के स्थान पर जानने वाले (**पुमांसम्-आत्मानम्**) पुरुष-आत्मा को (**पश्यन्-अवलोकयन्**) देखता हुआ (**सदा-नित्यम्**) सर्वदा-हमेशा (**आत्मनः व्यापकत्वा-ङ्गीकारात्**) क्योंकि आत्मा को सर्व व्यापक स्वीकार किया है (**कीदृक्षः-सः**) वह अज्ञानो कैसा है? (**भिन्नेत्यादिः—भिन्नं च तत् क्षेत्रं तत्र निषण्णं-वर्तमानं तच्च तद्बोध्यं ज्ञातुं योग्यं द्रव्यं च तत्र नियतः निश्चितः व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया-आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात्-इति सन्निकर्षादि व्यापारः बोध्यक्षेत्रगमनलक्षणः तत्र निष्ठः**) भिन्न क्षेत्र में वर्तमान ज्ञेय-जानने योग्य द्रव्य के विषय में निश्चित-सन्निकर्ष आदि रूप क्रिया में तत्पर अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से संयुक्त होता है, इन्द्रिय पदार्थ से संयुक्त होती है क्योंकि इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना गया है अर्थात् इन्द्रियां पदार्थों से मिलकर ही पदार्थों को जानती हैं ऐसा नियम है इस तरह से सन्निकर्षादि व्यापार में परिनिष्ठ यानी ज्ञेय पदार्थों के क्षेत्र में गमन करने वाला (**तत्पक्षावलम्बी स्वद्रव्यस्यानोभावात्सीदत्येव**) अर्थात् स्वक्षेत्र विनाश पूर्वक परक्षेत्र गमन रूप पक्ष को अवलम्बन करने वाली एकान्ती आत्मतत्त्वकी स्थितिका अभाव होनेसे दुःखी ही रहता है। (**स्याद्वादवेदी पुनः कथं तिष्ठति**) और स्याद्वादी कैसे स्थित रहता है? (**स्वेत्यादिः—स्वस्यक्षेत्रे अस्तिता अस्तित्वं तया निरुद्धरभसः-सन्नि-कर्षादीनां निरुद्धोरभसः वेगः येन सः**) जिसने स्वक्षेत्र के अस्तित्व से सन्निकर्षादि के प्रसार को रोक दिया है (**प्रमाण परीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसङ्गेन दूषितत्वात्**) क्योंकि प्रमाण परीक्षा आदि ग्रन्थों में सन्निकर्ष की गतादि में अतिप्रसङ्ग होने से दूषित किया गया है (**नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयोः सद्भावे समवेतयोर्घटरसयोः स कथं न स्यात् इति निरस्तत्वात्**) अर्थात् जैसे समवेत-समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध-घट और घटगत रूप में चाक्षुष सन्निकर्ष का सद्भाव होता है वैसे ही समवेत-समवाय

सम्बन्ध से सम्बद्ध-घट और घटगत रस में वह चाक्षुष सन्निकर्ष क्यों नहीं होता है इस तरह से सन्निकर्ष का खण्डन हो जाता है (**तर्हि क्वचिदपिबोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न इति वदन्तं प्रति स्याद्वादी कीदृक्षो भवांस्तिष्ठति ?**) ऐसी स्थिति में तो किसी भी बोध्य-जानने योग्य-द्रव्य में आत्मा की व्यापकता ही नहीं बन सकेगी ऐसा कहने वाले के प्रति स्याद्वादी कैसा बनकर रहेगा ? (**आत्मेत्यादिः – आत्मनि-स्वस्मिन्-निरवातं-व्यवस्थितं तच्च यद्बोध्यं च स्वरूपलक्षणं बोध्यमित्यर्थः तत्र नियता-निश्चिता व्यापार शक्तिः येन स ईदृक्षो भवन् सन्**) अर्थात् ज्ञायक स्वरूप निज आत्मामें निरवात-व्यवस्थित-प्रतिबिम्बित ज्ञेयरूप से स्थित पदार्थों को जानना ही जिसका निश्चित स्वभाव है ऐसा होता हुआ ।

भावार्थ—अज्ञानी-एकान्ती परक्षेत्रस्थ पदार्थों के आकार को धारण करने वाले आत्मा को स्वक्षेत्र को त्यागकर परक्षेत्र में गया हुआ मानकर स्वक्षेत्र के विघात से आत्मा के विघात को अङ्गीकार करता है परन्तु अनेकान्ती स्याद्वाद के प्रबल प्रकाश में जब वस्तु के स्वरूप को देखता है तब उसे यही दिखाई देता है कि आत्मा अपने क्षेत्र में स्थित रहकर ही परक्षेत्रस्थ पदार्थों को अपने ज्ञान स्वभाव से तदाकार रूप से परिणत होकर जानता है अतएव स्वक्षेत्र की अपेक्षा से इसके अस्तित्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है ।

(**अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभावं वदन्तं प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं क्वणति**) अब परक्षेत्र में नास्तित्व के अभाव को कहने वाले वादी के प्रति परक्षेत्र में नास्तित्व के सद्भाव का समर्थन करते हैं—

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रास्थितार्थोज्झनात्–
तुच्छीभूयपशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तिताम्–
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥६२॥

अन्वयार्थ– (**पशुः**) अज्ञानी (**स्वक्षेत्रस्थितये**) अपने क्षेत्र में स्थित रहने के हेतु (**पृथग्विधपरक्षेत्र-स्थितार्थोज्झनात्**) विभिन्न परक्षेत्रों में स्थित पदार्थों के परित्याग से (**तुच्छीभूय**) निज स्वभाव से शून्य होकर (**अर्थैः**) परपदार्थों के (**सह**) साथ (**चिदाकारान्**) चैतन्य के आकारों को (**वमन्**) त्यागता हुआ (**प्रणश्यति**) विनाश को प्राप्त होता है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) स्याद्वादसिद्धान्ती (**स्वधामनि**) अपने क्षेत्र में (**वसन्**) रहता हुआ (**परक्षेत्रे**) परक्षेत्र में (**नास्तिताम्**) नास्तित्व को (**विदन्**) जानता हुआ (**त्यक्तार्थः**) परक्षेत्रस्थ पदार्थों को छोड़ता हुआ (**अपि**) भी (**परान्**) परपदार्थों का (**आकारकर्षी**) आकारधारी (**सन्**) होता हुआ (**तुच्छताम्**) शून्यता को (**न**) नहीं (**अनुभवति**) अनुभव करता है ।

सं० टीका—(**पशुः-कश्चिदज्ञानी**) कोई अज्ञानी (**प्रणश्यति-स्वक्षयं नयति**) अपनी आत्मा के विनाश को प्राप्त करता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**पृथगित्यादिः-पृथग्-भिन्नं विधिः प्रयोजनं येषान्ते ते च ते परक्षेत्रे-स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे-स्थितार्थाश्च तेषां-उज्झन परिहरणं तस्मात्**) भिन्न प्रयोजन वाले परक्षेत्र में स्थित पदार्थों के परित्याग से (**तुच्छीभूय-निस्स्वभावं भूत्वा**) स्वभाव से शून्य होकर (**किमर्थम्**) किस लिए

(**स्वक्षेत्रास्थितये-स्वक्षेत्रभवनाय**) अपने क्षेत्र में रहने के लिए (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी तो (**पुनः**) फिर (**परान्-परिच्छेद्यपदार्थान्**) पर-परिच्छेद्यपदार्थान्— जानने योग्य पदार्थों के (**आकारकर्षी-आकारग्राही सन्**) आकारों को ग्रहण करने वाला होता हुआ (**न तुच्छताम्-न तुच्छभावताम्**) तुच्छभावता को नहीं (**अनुभवति**) अनुभव करता है (**ननु पराकारकर्षी स्याद्वादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशङ्कायामाह**) शङ्काकार कहता है कि पर पदार्थों के आकारों को ग्रहण करने वाला स्याद्वादी का ज्ञान भी पर-पदार्थों के आकारों को ग्रहण करने वाला होगा ऐसी आशङ्का में उत्तर देते हैं—(**त्यक्तार्थोऽपित्यक्त पर-द्रव्योऽपि परिच्छिन्नस्ति**) परपदार्थों का परित्यागी स्याद्वादी भी परपदार्थों को जानता है (**त्यक्तार्थत्वं कथम्**) परपदार्थों का त्यागी कैसे ? (**परक्षेत्रे-स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे नास्तितां वदन्-प्रतिपादयन्**) अपने क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में अपनी नास्तिता-अभावता को प्रतिपादन करने वाला (**ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्त्विति-चेन्न**) शङ्काकार कहता है कि जैसे आत्मा परक्षेत्र में नहीं रहता है वैसे ही अपने क्षेत्र में भी मत रहो तो आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारी आशङ्का उचित नहीं है (**यतः**)कारण कि (**स्वधामनि-स्वक्षेत्रे**) आत्मा अपने आत्मिक क्षेत्र में (**वसन्-अस्तित्वं भजन्**) अस्तित्व को धारण करता हुआ (**पुनः**) फिर (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**चिदाकारान्-चित्पर्यायान्**) चैतन्य के आकारों-पर्यायों को (**वमन्-उद्गिरन्**) त्यागता हुआ (**कैः सह**) किनके साथ (**अर्थैः-पदार्थैः**) परपदार्थों के साथ ।

भावार्थ—एकान्ती परक्षेत्रों में स्थित परपदार्थों के आकारों को जो अपने ज्ञान में ज्ञानाकार ही स्थित हैं उन्हें अपने क्षेत्र की स्थिति के हेतु छोड़ देता है क्योंकि वह ऐसा जानता है कि परपदार्थों के समान ही यदि मैं उनके आकारों को नहीं छोडूंगा तो मेरा निज का क्षेत्र ही नष्ट हो जायगा अतएव वह चैतन्य के आकारों को भी छोड़ बैठता है इसलिए सर्वथा शून्य हो जाता है अर्थात् आत्मा का नाश कर बैठता है। किन्तु स्याद्वादी परक्षेत्र स्थित पदार्थों के आकार को नहीं छोड़ता हुआ अपने क्षेत्र में ही रहता है और परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को भी कायम रखता है इस तरह से यह अनेकान्ती स्वक्षेत्र स्थिति पूर्वक परक्षेत्र स्थित नास्तिता को भी धारण करता है यही परक्षेत्र नास्तिता है ॥६२॥

(**अथ स्वकालास्तित्वं प्रीणाति**) अब अपने काल में अपने-अस्तित्व को पुष्ट करते हैं—

पूर्वालम्बितबोध्यनाश समये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निज कालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुमुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥६३॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी-एकान्तवादी (**पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये**) पूर्व समय में ज्ञेयाकाररूप से उपस्थित ज्ञेय के नाश के समय में (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**नाशम्**) नाश को (**विदन्**) जानता हुआ (**अत्यन्ततुच्छः**) अतिशय रूप से अभाव स्वरूप (**सन्**) होता हुआ (**किञ्चन**) किसी पदार्थ को (**अपि**) भी

(न) नहीं (कलयन्) जानता हुआ (एव) ही (सीदति) नाश को प्राप्त होता है (पुनः) किन्तु (स्याद्वादवेदी) स्याद्वाद को जानने वाला ज्ञानी (अस्य) ज्ञान के (अस्तित्वम्) अस्तित्व को (निजकालतः) अपने काल से (कलयन्) सम्पादन करता हुआ (मुहुः) बार-बार (भूत्वा) उत्पन्न होकर (विनश्यत्सु) नाश होने वाले (बाह्यवस्तुषु) बाह्य पदार्थों में (अपि) भी (मुहुः) बार-बार (भूत्वा) ज्ञायकरूप से होकर अर्थात् उन्हें प्रति समय जानकर (अपि) भी (पूर्णः) पूर्णरूप से (तिष्ठति) विद्यमान रहता है।

सं० टीका—(पशुःकश्चिदज्ञानी) कोई अज्ञानी (सीदत्येव-विनश्यत्येव) विनाश को ही प्राप्त करता है (किं कुर्वन्-) क्या करता हुआ (पूर्वेत्यादिः-पूर्वं-स्वोत्पत्तिक्षणे, आलम्बितं-ज्ञेयस्वरूपेण अवलम्बितं तच्च तद्बोध्यं च ज्ञेयं तस्य नाशः क्षयः तस्य समये-क्षणे) पूर्व में—अपनी उत्पत्ति के समय में ज्ञेयरूप से अवलम्बित-उपस्थित ज्ञेय के नाश के समय में (ज्ञानस्य-बोधस्य) ज्ञान के (नाशं-विनाशम्) विनाश को (विदन्-जानन्)जानता हुआ (अत्यन्त तुच्छः-अत्यन्तं-विशेषं तुच्छः-निस्स्वभावः)पूर्णरूप से स्वभाव शून्यता से (सर्वेषां तुच्छस्वभावत्वात्-निरन्वय विनाशात्) क्योंकि सभी पदार्थ तुच्छ स्वभाव वाले अर्थात् अन्वय शून्य विनाश वाले हैं। (सोऽपि वादी तुच्छस्वभावः तन्मध्ये पतितत्वात्) वह वादी भी तुच्छ स्वभाव वाला निरन्वय विनाश वाला है क्योंकि वह भी उक्त सभी तुच्छ स्वभाव वालों के मध्य में समाविष्ट है (किञ्चनापि-किमपि चेतनाचेतनम्) किसी भी चेतन तथा अचेतन पदार्थ को (स्थिरं न कलयन्) स्थिर नहीं मानता (पुनः) किन्तु (स्याद्वादवेदी) स्याद्वाद का ज्ञाता (पूर्णः-पूर्वापर कालस्थायित्वेन पूर्णमनोरथः) पूर्वोत्तर काल में स्थितिशील होने से ही परिपूर्ण मनोरथ वाला (तिष्ठति-आस्ते) स्थित रहता है। (किं कुर्वन्) क्या करता हुआ (अस्य-ज्ञानस्य) ज्ञान के (निजकालतः-स्वकालतः) अपने काल से (अस्तित्वं कलयन्) अस्तित्व को जानता हुआ (किं कृत्वा) क्या करके (मुहुः-पुनः) बार-बार (बाह्यवस्तुषु-बहिः पदार्थेषु) बाह्य पदार्थों में (भूत्वा-तद्ग्राहक स्वरूपेणोत्पद्य) उन पदार्थों का ग्राहक रूप से उत्पन्न होकर (कीदृशेषु तेषु) कैसे पदार्थों में (विनश्यत्स्वपि-पर्यायापेक्षया-प्रतिक्षणं विनाशं गच्छत्सु) पर्यायों की अपेक्षा से प्रति समय विनाश को प्राप्त करने वाले (अपिशब्दात्-द्रव्यादेशादविनश्यत्सु) द्रव्यार्थिक नय के आदेश से नष्ट नहीं होने वाले (बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि) बाह्य पदार्थों के विनाश को प्राप्त होने पर भी (ज्ञानं न विनश्यति) ज्ञान नहीं नष्ट होता है (स्वकाले सत्त्वात्) क्योंकि ज्ञान अपने समय में विद्यमान रहता है ॥६३॥

भावार्थ—वादी-एकान्ती के मत में सभी पदार्थ निरन्व विनाशशील हैं अतएव वह भी उनके मध्य अन्तर्हित होने से स्वयं ही विनाशशील है। किन्तु प्रतिवादी अनेकान्ती के मत में पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सभी पदार्थ क्षणनश्वर होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी पदार्थ नित्य हैं अविनश्वर हैं चिरस्थायी हैं अनन्तकाल पर्यन्त स्थित रहने वाले हैं। अतः आत्मा भी उन्हीं पदार्थों में से एक है इसलिए उक्त उभय नयों की दृष्टि से उभयरूप है यही स्वकालास्तित्व नाम का भङ्ग है ॥६३॥

(अथ परकाले नास्तित्वमाविर्भूते) अब परकाल में आत्मा के नास्तित्व का समर्थन करते हैं—

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि–
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन–
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(**पशु**) अज्ञानी (**अर्थालम्बनकाले**) अर्थ-पदार्थ के आलम्बन काल में (**एव**) ही (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सत्त्वम्**) अस्तित्व को (**कलयन्**) जानता या मानता हुआ (**बहिर्ज्ञेयालम्बन लालसेन**) बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की लालसा वाले (**मनसा**) मन से (**भ्राम्यन्**) बाह्य पदार्थों में अनुरक्तता के वश से घूमता हुआ (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**पुनः**) किन्तु (**स्याद्वादवेदी**) स्यद्वाद के स्वरूप का वेत्ता (**अस्य**) ज्ञान का (**परकालतः**) परपदार्थ के काल से (**नास्तित्वम्**) नास्तित्व को-अभाव को (**कलयन्**) जानता हुआ (**आत्मनिखातनित्य सहजज्ञानैक पुञ्जीभवन्**) आत्मा में अवस्थित नित्य स्वाभाविक ज्ञान का अद्वितीय पुञ्ज होता हुआ (**तिष्ठति**) स्थित रहता है।

सं० टीका—(**पशुः-कश्चिदज्ञानी**) कोई अज्ञानी (**परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी**) परद्रव्य के काल में वस्तु की अस्तित्वता को कहने वाला अविवेकी (**नश्यति-स्वपक्षक्षयेणस्वयं क्षयं याति**) अपने पक्ष के विनाश से स्वयं ही विनाश को प्राप्त होता है (**कीदृक्षः सन् ?**) कैसा होता हुआ (**मनसा-चित्तेन**) चित्त से (**कृत्वा भ्राम्यन्-अन्यथार्थस्यान्यथार्थकल्पनया भ्रमं गच्छन्**) पदार्थ के असली स्वरूप से विपरीत स्वरूप कल्पना करके भ्रम को प्राप्त होता हुआ (**कीदृशेन तेन ?**) कैसे चित्त से (**बहिरित्यादिः-बहिर्ज्ञेयं-बाह्याचेतनादिद्रव्यं तदेवालम्बनं-अवलम्बनं तत्र लालसं यत्तेन**) बाहिरी अचेतन आदि द्रव्यरूप आलम्बन में लालसा रखने वाले (**पुनः कीदृक्षः सः**) फिर भी वह अज्ञानी कैसा (**अर्थेत्यादिः-अर्थस्य ज्ञेयस्य आलम्बनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलम्बनं तस्य काले-समये-एव**) ज्ञेय-ज्ञान के द्वारा जानने योग्य-पदार्थ के आलम्बन अर्थात् उस पदार्थ की उत्पत्ति आदि के वश से अवलम्बन काल में ही (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सत्त्वं-अस्तित्वम्**) अस्तित्व-सत्त्व को (**कलयन्-अङ्गीकुर्वन्**) अङ्गीकार करता हुआ (**तदुक्तं तन्मते**) यही बात उसके मत में कही गई है—

अर्थस्यासम्भवे भावात् प्रत्यक्षे च प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ॥१॥

(**अर्थालंबन लक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गात् स्याद्वादवेदी पुनः**) और स्याद्वादवेदी (**अस्य ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**परकालतः-परकालेन**) परपदार्थ के काल से (**नास्तित्वम्-असत्त्वम्**) नास्तित्व-असत्त्व को (**कलयन्-अङ्गीकुर्वन्**) अङ्गीकार करता हुआ (**तिष्ठति-आस्ते**) स्थित रहता है (**ननु यथा परकालेन नास्तित्वं स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेत्**) शङ्काकार कहता है कि जैसे स्याद्वादियों के परद्रव्य के काल से ज्ञान का नास्तित्व है वैसे ही वह नास्तित्व अपने ज्ञान के काल से भी रहो यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो (**न**) वह कहना ठीक नहीं है (**यतः**) कारण कि (**आत्मेत्यादिः-आत्मनि-चिद्रूपे-निखातम्-आरोपितं तच्च तन्नित्यं-द्रव्यरूपतया शाश्वतम्-सहज ज्ञानं**

च चिद्रूपस्य शास्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्यैकपुञ्जीभवन्-अद्वितीय-समूहः सन्) चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थित द्रव्यरूप होने से नित्य स्वाभाविक क्योंकि चैतन्यमय आत्मा के नित्य होने से उसका ज्ञानगुण भी नित्य ही है अतएव आत्मा के अस्तित्व काल में ज्ञान का भी अस्तित्व रहता है ऐसे ज्ञान का अद्वितीय समूह होता हुआ।

भावार्थ—पराधीन बुद्धि अज्ञानी एक पक्षपाती पर के अस्तित्व काल में ही अपने ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला पर के विनाश काल में अपने विनाश को मानने वाला अपने अस्तित्व को ही खो बैठता है। किन्तु स्याद्वादी स्वाधीन बुद्धि अनेकान्ती-अनेक पक्षों को विविध अपेक्षाओं से स्वीकार करने वाला स्व के अस्तित्व से ही अपने अस्तित्व को मानता है पर के अस्तित्व से नहीं। अतएव जिस काल ज्ञान परद्रव्य को जानता है उस काल में वह अपने काल के अस्तित्व से ही अपने अस्तित्व को नियत करता है परज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व काल से नहीं। यदि कोई यह कहे कि जैसे स्याद्वादी परद्रव्य के काल से अपने नास्तित्व को अङ्गीकार करता है वैसे ही अपने काल से भी नास्तित्व स्वीकार करे तो उसका यह कहना सर्वथा अनुचित है कारण कि आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है अतएव उसका ज्ञान गुण भी उसके आधार से नित्य ही है। क्योंकि आधार आधेय में यहां तादात्म्य सम्बन्ध है और जिनका तादात्म्य सम्बन्ध होता है वे गुण और गुणी नित्य ही होते हैं। उनका स्वकाल में भी नास्तित्व कथमपि सम्भव नहीं है। अतएव परकाल के नास्तित्व के समान स्वकाल में नास्तित्व नहीं है। स्वकाल में नास्तित्व स्वीकार करने पर द्रव्य का ही मूलोच्छेद होगा।

(अथ स्वभावास्तित्वमनुभूयते) अब स्वभाव की अपेक्षा से अस्तित्व का अनुभव करते हैं—

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु—
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्—
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृत प्रत्ययः ॥६५॥

अन्वयार्थ—**(पशुः)** अज्ञानी एकान्तवादी हठाग्रही **(नित्यम्)** निरन्तर **(परभावभाव कलनात्)** परभावों में आत्मभाव की कल्पना से **(बहिर्वस्तुषु)** बाह्य पदार्थों में **(विश्रान्तः)** विश्रान्ति को प्राप्त हुआ **(स्वभाव महिमनि)** निज चैतन्य स्वरूप की महिमा में **(एकान्तनिश्चेतनः)** अत्यन्त निश्चेतन "जड़" वर्तता हुआ **(एव)** ही **(नश्यति)** नाश को प्राप्त करता है। **(तु)** किन्तु **(स्याद्वादी)** स्याद्वाद का परिवेत्ता अनेकान्ती निराग्रही **(सर्वस्मिन्)** सभी पदार्थों में **(नियतस्वभावभवन-ज्ञानात्)** निश्चित स्वभावभाव के परिज्ञान से **(विभक्तः)** उन समस्त परपदार्थों से पृथक् **(भवन्)** होता हुआ **(सहज स्पष्टीकृत प्रत्ययः)** स्वभाव से स्पष्ट प्रत्यक्ष—अनुभव रूप किया है जिसने अर्थात् स्वभाव से स्फुट विश्वास वाला **(नश्यति-नाशम्)** नाश को **(न)** नहीं **(एति)** प्राप्त करता है अर्थात् आत्म श्रद्धावान होने से अविनश्वर बना रहता है।

सं० टीका—(**पशुः-परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिदज्ञाता**) परपदार्थ रूप से आत्मा को मानने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यत्येव**) नाश को ही प्राप्त करता है (**कीदृशः**) कैसा (**नित्यम्-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**बहिर्वस्तुषु-नीलादिज्ञेयक्षणेषु**) नील आदि पदार्थों के समय में (**विश्रान्तः-स्थितः**) स्थित (**कुतः**) कैसे (**परेत्यादिः-परे च ते भावाश्चनीलपीतादयस्तेषां भावः-स्वभावः तस्य कलना-ग्रहणम्-आत्मसात्करणम्-तस्मात्**) नील पीतादि परपदार्थों के स्वभाव को ही आत्मा का स्वभाव स्वीकार करने से (**स्याद्वादवेदी तु न नाशमेति-विनाशं न प्राप्नोति**) किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप का संवेत्ता विनाश को नहीं प्राप्त होता (**कीदृशः**) कैसा स्याद्वादी (**सहजेत्यादिः-सहजः स्वभाविकः स्पष्टीकृतः प्रत्ययः ज्ञानं येन सः**) जिसने आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान को सर्वथा स्पष्ट कर लिया है (**स्वस्वभावनियतत्वात्**) क्योंकि आत्मा का स्वभाव नियत-निश्चित है (**सर्वस्मात्-ज्ञेयात्-विभक्तः भिन्नः**) सभी ज्ञेय-पदार्थों से भिन्न (**भवन्-सन्**) होता हुआ (**परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात्**) क्योंकि आत्मा अपने से भिन्न किसी भी पदार्थ के स्वभाव का ग्राहक-ग्रहण करने वाला नहीं है। (**कुतः**) कैसे (**नियतेत्यादिः-नियतः निश्चितः स्वभावः चैतन्यादि स्वरूपम्-तेन भवनं यस्य तच्च तज्ज्ञानंच तस्मात्**) जिसका चैतन्यादि स्वरूप रूप परिणमन निश्चित है उसके ज्ञान से (**कीदृशः सः**) वह कैसा (**स्वेत्यादिः-स्वस्यभावः पर्यायः, ज्ञानादिलक्षणः तस्यमहिमा-माहात्म्यं-यत्र तस्मिन्नात्मनि**) जिस आत्मा में ज्ञानादि स्वरूप महिमा विद्यमान है उसमें (**एकान्तेत्यादिः-एकान्तात्-सर्वथास्तित्वनास्तित्वादेः निर्गतं चेतनं ज्ञानं यस्य सः**) जिसका ज्ञान सर्वथा अस्तित्व एवं सर्वथा नास्तित्वादि रूप एकान्तवाद से शून्य है (**आत्मनि एकान्तज्ञानाभावात्-अनेकान्त ज्ञानम्**) आत्मा में एकान्त ज्ञान का अभाव होने से अनेकान्त रूप ज्ञान होता है।

भावार्थ—एकान्ती अपनी आत्मा को परपदार्थ स्वरूप ही मानता है अतएव वह बाह्य पदार्थों में आसक्त रहता है इसलिए वह अपनी आत्मा का विनाश करने वाला है अपनी आत्मा से बेखबर है। किन्तु स्याद्वादी आत्मज्ञानी प्रत्येक पदार्थ को अपने-अपने निश्चित-नियत स्वरूप में ही परिणमनशील स्वीकार करता है अतएव अपने आत्मपदार्थ को भी समस्त चेतन एवं अचेतन पदार्थों से स्वभावतः पृथक् जानता है अतएव वह अपने ज्ञानादि गुणों के पुञ्जभूत आत्मा का कदापि नाश नहीं होने देता है ज्ञानी की दृष्टि में कूटस्थ नित्य कोई वस्तु है ही नहीं ॥६५॥

(**अथापरपर्यायपरं ब्रह्मनिषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति**) अब परपदार्थ रूप से आत्मा का निषेध करते हुए स्वरूप से आत्मा के अस्तित्व का उद्घाटन-निरूपण करते हैं—अर्थात् आत्मा पररूप से नास्तिरूप है और निजरूप से अस्तिरूप है, यह प्रकट करते है—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः-क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एवलसति स्वस्य स्वभावं भरा—
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी एकान्ती (**आत्मनि**) आत्मा में—अपने चैतन्य स्वरूप में (**सर्वभावभवनम्**) समस्त पदार्थों के अस्तित्व को (**अध्यास्य**) आरोपित-कल्पित करके— (**शुद्धस्वभावच्युतः**) अपने शुद्ध स्वभाव से स्खलित-रहित अतएव (**सर्वत्र**) सभी अकर्तव्यों में (**अपि**) भी (**अनिवारितः**) बेरुकावट प्रवृत्ति करने वाला (**गतभयः**) निर्भयरूप होता हुआ (**स्वैरम्**) स्वच्छन्द मनचाही (**क्रीडति**) क्रीड़ा करने लगता है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) स्वाद्वाद से वस्तु स्वरूप की व्यवस्था को जानने वाला अनेकान्ती (**भरात्**) अतिशयरूप से (**स्वस्य**) अपने (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**आरूढः**) प्राप्त हुआ अतएव (**परभावभावविरह व्यालोक निष्कम्पितः**) परपदार्थों तथा परपर्यायों के अभाव के विशिष्ट दर्शन से निश्चल अतः (**विशुद्धः**) परिपूर्ण निर्मल रूप से—(**एव**) ही (**लसति**) शोभित होता है।

सं० टीका—(**सर्वभावमयं पुरुषम्-कल्पयन् पशुः-कश्चिदज्ञानी**) सर्व पदार्थ स्वरूप आत्मा को स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**स्वैरम्-स्वेच्छया**) अपनी इच्छानुसार (**यमनियमासनाद्यभावात्**) यम, नियम, आसन आदि का अभाव होने से (**क्रीडति विहरति-इतस्ततः**) इधर-उधर सब जगह क्रीड़ा करता रहता है (**कीदृक्षः**) कैसा (**गतभयः-गतः नष्टः भयः-इहपरलोकादि लक्षणोयस्य सः**) जिसका इस लोक तथा परलोक आदि का भय नष्ट हो चुका है (**सर्वस्य ब्रह्ममयत्वाविहपरलोकाद्यभावः**) समस्त पदार्थों के ब्रह्म स्वरूप होने से ही इस लोक तथा परलोक आदि का अभाव सिद्ध होता है (**पुनः सर्वत्रापि-निषिद्धानुष्ठानेऽपि**) और शास्त्र से निषिद्ध—नहीं करने योग्य क्रियाओंके करनेमें (**अनिवारितः**) बे रोक टोक होता है (**अलाबूनिमज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धोमणिमविन्दवत् तमनङ्गुलिरावतत् उत्ताना वै देवगावो वहन्तीत्यादीनां वेदवाक्यानां पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादि प्ररूपकाणां च सद्भावान्न तेषां कश्चिन्निवारकः**) अर्थात् तूम्बड़ियां पानी में डूबती हैं, पाषाण-पत्थर पानी में तैरते हैं अन्धा आदमी मणि को पाया, उसको बिना अंगुलि की ध्वनि व्याप्त करती है, ऊपर मुख किये हुए देवों की गायें तैरती हैं इत्यादि वेद वाक्य जो पूर्वापर विरुद्ध हैं उनके और माता के साथ काम सेवन आदि के निरूपण करने वाले बचनों के सद्भाव से उनका कोई निवारण करने वाला नहीं है। (**पुनः**) और (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभ पर्यायमयत्वात्**) शुभ और अशुभ पर्यायस्वरूप होने से शुद्ध स्वभाव से शून्य (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा में (**सर्वेत्यादिः-सर्वभावानां-समस्तस्वभावानां भवनं-अस्तित्वम्-**) सभी स्वभावों के अस्तित्व को (**अध्यास्य-अध्यारोप्य**) आरोपण करके। (**स्याद्वादी तु**) किन्तु स्याद्वादी तो (**विशुद्ध एव-निर्मलस्वज्ञाननियत एव**) पूर्णरूप से परिशुद्ध अपने ज्ञान में निश्चित होकर ही (**लसति-विलासं करोति**) विलास को करता है (**दृष्टेष्टविरोधाभावात्**) क्योंकि इस निर्मल ज्ञान में नियत रहना प्रत्यक्ष तथा परोक्ष किसी भी प्रमाण से विरुद्ध नहीं है (**कीदृक्षः-**) कैसा (**भरात्-अतिशयेन**) अतिशय रूप से (**स्वस्य-आत्मनः**) आत्मा के (**स्वभावं-स्वरूपम्**) स्वरूप को (**आरूढः-विश्रान्तः**) प्राप्त हुआ (**स्वभावेन सत्त्वात्**) क्योंकि आत्मा स्वभाव से सत् रूप है (**तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु**) यदि स्वभाव से आत्मा सत् स्वरूप है तो परस्वभाव से भी वह सत् रहो ऐसा वादी का कहना है (**तन्निवारणार्थमाह**) उसका निवा-

रण करने के हेतु कहते हैं अर्थात् आत्मा स्वभाव से तो सत् है परस्वभाव से सत् नहीं है यह दिखाते हैं— (**परेत्यादि:-परे च ते भावश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषां भावाः पर्यायाः राग-द्वेष नीलपीतादयः तेषां विरहेणं-अभावेन व्यालोकः-स्वतत्त्वावलोकनं तेन निष्कम्पितः-निश्चलः**) आत्मा से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों के राग-द्वेष आदि तथा नीलपीतादि पर्यायों के अभाव से आत्मतत्त्व के अवलोकन द्वारा निश्चल है (**प्रमाणप्रसिद्धत्वात्**) क्योंकि आत्मा का पूर्वोक्त स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध है ।।६६।।

भावार्थ—एकान्ती दुराग्रही ज्ञान में ज्ञेयरूप से प्रतिभासित समस्त पदार्थों को सदाकाल अपने में ही स्थित मानकर तद्रूप हुआ अपने शुद्ध स्वभाव से शून्य हो स्वयं के अस्तित्व को नष्ट कर परपदार्थों में ही स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता रहता है और उन्हीं में अपनी अनुभूति को स्वीकार करता है। किन्तु अनेकान्ती स्याद्वादी अपेक्षा से वस्तुस्वरूप को देखने और जानने वाला—सभी परद्रव्यों से अपने ज्ञान स्वभाव को पृथक् मानता हुआ उन्हें जानता है क्योंकि ज्ञान का कार्य ही ज्ञेयों को जानने का है पर ज्ञेयरूप होने का नहीं । अतएव अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता हुआ सदा काल अपने अस्तित्व को उन समस्त ज्ञेयों से भिन्न ही स्वीकार करता है । यही परभाव की अपेक्षा से निज भाव का नास्तित्व है ।।६६।।

(**अथ सर्वस्य क्षणभङ्गाभोगभङ्गिसङ्गतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते**) सभी तत्त्वों की क्षणभंगुरता का निरसन पूर्वक नित्यता की प्रतिज्ञा करते हैं—

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना—
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं—
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ।।६७।।

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी-एकान्ती (**प्रादुर्भाव विराम मुद्रितवहद् ज्ञानांश नानात्मना**) उत्पत्ति तथा विनाश से चिह्नित वस्तु को जानने वाले ज्ञान के अंशों से ज्ञान के भी नाना रूप होने से (**निर्ज्ञानात्**) और अपने सिद्धान्त के निश्चयात्मक निर्णय से (**क्षणभङ्ग संगपतितः**) क्षणनश्वरता की संगति में पतित-पड़ा हुआ अर्थात् क्षणनश्वरता को स्वीकार करने वाला (**प्रायः**) बहुधा (**नश्यति**) नाश को प्राप्त करता है। (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था को अपेक्षावाद से जानने वाला कथञ्चिद वादी- (**चिद्वस्तु**) चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ को (**चिदात्मना**) चैतन्य स्वरूप से (**परिमृशन्**) निश्चय करता हुआ (**नित्योदितम्**) निरन्तर उदित करने वाले (**टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमज्ञानम्**) निरन्तर देदीप्यमान महिमाशाली ज्ञानस्वरूप (**भवन्**) होता हुआ (**जीवति**) सदा काल जीवित रहता है अर्थात् कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता है।

सं० टीका—(**प्रायः बाहुल्येन**) बहुलता से (**पशुः-सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी**) समस्त पदार्थसमूह को क्षणनश्वर स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यति-सीदति**) नाश को प्राप्त होता है (**कीदृशः**)

कैसा (**क्षणत्यादिः-क्षणे पदार्थानां भङ्गः-विनाशः तस्य सङ्गः सङ्गतिः-तत्र पतितः-तदङ्गीकार परवशीभूतः**) प्रत्येक क्षण में पदार्थों के विनाश के सङ्ग में पड़ा हुआ अर्थात् पदार्थों की क्षणनश्वरता के आधीन हुआ (**कुतः**) कैसे (**निर्ज्ञानात्-स्वपक्षसिद्ध दृष्टेष्ट प्रमाणनिर्णयात्**) अपने पक्ष-क्षणनश्वरता में साधकरूप से प्रसिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के निर्णय से (**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं स्वलक्षमनिर्देश्यमित्यादि लक्षणसद्भावात्**) क्योंकि जो काल्पनिक न हो तथा भ्रान्त न हो और जिसके लक्षण का निर्देश करना आवश्यक नहीं वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा गया है। (**ज्ञानांशेत्यादिः –ज्ञानानमांशाः-पर्यायाः सुख-दुःखहङ्कारादयः तेषां नानात्मना-परस्परं सर्वथाभिन्नस्वभावेन**) ज्ञानों के सुख-दुःख अहङ्कार आदि रूप पर्यायों के परस्पर में सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले होने से (**प्रादुरित्यादिः-पीतादिज्ञान क्षणानां प्रादुर्भावः उत्पत्तिः, नीलादिज्ञान क्षणानां विरामः विनाशः तेन मुद्रितं लाञ्छितं वस्तु वहतीति**) पीतादि को विषय करने वाले ज्ञानों के क्षणों की उत्पत्ति से तथा नीलादि को विषय करने वाले ज्ञानों के क्षणों के विनाशसे सहित वस्तुको जानने वाला होने से(**ननु स्याद्वादिनां प्रतिक्षणं क्षणिकानां पर्यायाणां सद्भावात्सुगत गतिगमनमारमणमेव विभावपर्यायाणां तु नारकादीनांतुस्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तेषामसत्वात्**) शंकाकार कहता है कि स्याद्वादियों को भी यावज्जीवन सुगतों की गति पर चलना ही होगा क्योंकि उन्होंने भी प्रति समय क्षणनश्वर पर्यायों को अङ्गीकार किया है और जिन नारकादि विभाव पर्यायों को उन्होंने स्थायी स्वीकार किया है वे हैं ही नहीं (**इति चेत्**) यदि ऐसा शङ्काकार का कहना है तो (**न**) वह ठीक नहीं है— (**यतः**) क्योंकि (**स्याद्वादी तु जीवति-समस्त मतमण्डनखण्डनेन विलासित्वात् उज्जीवति**) स्याद्वादी तो मतों के मण्डन तथा खण्डन से सुशोभित होने के कारण सर्वोपरि जीवित रहता है--सदा विद्यमान रहता है (**कीदृशः**) कैसा स्याद्वादी (**चिदात्मना-चेतना स्वरूपेण सर्वत्रावग्रहेहादौ चैतन्यस्वभावेन**) चेतना स्वरूप से अर्थात् सब जगह अवग्रह ईहा आदि में चैतन्य स्वभाव के होने से (**नित्योदितं-नित्यस्वरूपेणोदितम्**) सर्वदा चैतन्यरूप से प्रकाशित (**चिद्वस्तु-चैतन्यद्रव्यम्**) चैतन्यद्रव्य-यानी आत्मारूप पदार्थ को (**परिमृशन्-कलयन्**) जानता हुआ (**प्रमाणबलादनुभवन्नित्यर्थः**) अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बल से—अनुभव करता हुआ (**पुनः**) और (**टङ्कोत्कीर्णेत्यादिः-टङ्के न-उत्कीर्णः घनस्वभावः निरन्तरप्रकाशमानस्वरूपं स एव महिमा माहात्म्यं यस्य तत्-टङ्कोत्कीर्णं च घनस्वभावमहिमा च तच्च तज्ज्ञानं च**) जिसकी महिमा निरन्तर प्रकाशमान रहना ही है ऐसे ज्ञान स्वरूप (**भवन्-जायमानः सन्**) होता हुआ।

भावार्थ—एकान्तवादी तो समस्त जगत् को क्षण विनाशी मानता है। अतएव पदार्थ की उत्पत्ति के समय में ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश के समय में ज्ञान के विनाश को स्वीकार करता है अर्थात् ज्ञान को परपदार्थों के अधीन मानता है उसकी दृष्टि में ज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतएव वह ज्ञान का सर्वथा विनाशक है। किन्तु स्याद्वादी ज्ञान के परिणमनों को परपदार्थों के निमित्त से स्वीकार करता हुआ भी ज्ञान के अस्तित्व को अपने आत्मिक चैतन्य के रूप में ही स्वीकार करता है। अतएव ज्ञान पर्याय दृष्टि से क्षणनश्वर होते हुए भी द्रव्यदृष्टि से नित्य है अविनाशी है सदा काल विद्यमान-देदीप्यमान रहता

है। यह स्वापेक्ष नित्यता का भङ्ग है।

(अथ सर्वथा सत्यनित्यविलशातनमनित्यत्वमात्मनो ज्ञानस्य-विज्ञापयति) अब सब तरह से सत्य-नित्य आत्मा में भी प्रति समय परिणमन होता रहता है अतएव आत्मा का ज्ञान भी प्रति समय परिणमन करता रहता है इसलिए अनित्य है यह बताते हैं—

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं—
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥६८॥

अन्वयार्थ—**(पशुः)** अज्ञानी-एकान्ती **(टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया)** कूटस्थ नित्य-परिणमनशून्य अतएव विशुद्ध निर्विकार ज्ञान के समूहरूप आत्मतत्त्व की आशा से **(उच्छलदच्छचित्परिणतेः)** उछलने वाली निर्मल चैतन्य की परिणति से **(भिन्नम्)** भिन्न-पृथक्-जुदा **(किञ्चन)** किसी ज्ञान को **(वाञ्छति)** चाहता है। **(स्याद्वादी)** स्याद्वाद से अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था को जानने वाला ज्ञानी **(अनित्यतापरिगमेऽपि)** अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी **(चिद्वस्तु वृत्तिक्रमात्)** चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ के परिवर्तन के क्रम से **(अनित्यताम्)** अनित्यता का **(परिमृशन्)** अनुभव करता हुआ **(तद्)** उस **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(नित्यम्)** नित्य **(उज्ज्वलम्)** उज्ज्वल **(आसादयति)** प्राप्त करता है—जानता है।

सं० टीका—**(पशुः-कश्चिन्नित्यैकान्तवादीशठः)** कोई नित्यैकान्तवादी अज्ञानी **(किञ्चनापि-किमपि ज्ञानम्)** किसी अनिर्वचनीय ज्ञान को **(भिन्नम्-पृथक्)** जुदा **(वाञ्छति-ईहते)** चाहता है **(कुतः)** किससे **(उच्छलदित्यादिः-उद्-ऊर्ध्वमुच्छलन्ती-अच्छा-निर्मला सा चासौ चित्परिणतिश्चिचित्पर्यायः तस्याः)** प्रति समय अपने में उछलने वाली निर्मल चैतन्यरूप परिणति से **(पर्यायपर्यायिणोः परस्परं भेदात्)** क्योंकि पर्याय-परिणाम तथा पर्यायी-परिणामी में भेद होता ही है इस लिए **(ज्ञानस्य नित्यत्वम्)** ज्ञान की नित्यता **(कया)** किससे **(टङ्कोदित्यादिः-टङ्कनोत्कीर्णाः पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात् स चासौ बोधश्च तस्य विसरः निवहः स एवाकारः तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं तस्य वाञ्छा-नित्यत्वात्मज्ञानाकाङ्क्षा तया)** टङ्कोत्कीर्ण यानी पर्याय का अभाव होने से नित्य अतएव विशुद्ध—यानी पूर्वापर पर्यायरूप कालिमा से शून्य ज्ञान के समूह रूप आकार से सहित नित्य आत्मतत्त्व की आकांक्षा से **(स्याद्वादी-स्यात्कथञ्चिच्छब्देनोपलक्षितोवादः-जल्पनम्, विद्यते यस्य सः)** जिसके कथञ्चित् शब्द से सहित जल्पन-सम्भाषण है **(वस्तुनः तथात्वात्)** क्योंकि वस्तु कथञ्चित् अर्थ वाले स्यात् शब्द का वाच्य है **(तथाकाङ्क्षायाः समुत्पत्तेः)** क्योंकि कथंचित् रूप इच्छा उत्पन्न होती है **(तथा विवक्षायाः सद्भावात्)** क्योंकि बोलने की इच्छा कथञ्चित् रूप होती है **(अनेकान्तात्मकं**

सर्वं एकान्तस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकान्तवादी) समस्त वस्तु समूह अनेकान्त-अनेक धर्म-स्वरूप है क्योंकि एकान्तस्वरूप-एक धर्मात्मकता की उपलब्धि-प्राप्ति नहीं है अतएव अनेकान्तवादी-अनेक धर्मात्मक वस्तु का विवेचक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**नित्यम्-पूर्वापरावग्रहेहाविषुव्याप्त ज्ञानत्व सामान्येन स्यान्नित्यम्**) पूर्वा-पर अवग्रह आदि ज्ञानों में व्यापकरूप से रहने वाले—ज्ञानत्वरूप सामान्य से कथञ्चित् नित्य (**आसाद-यति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**कीदृशम्**) कैसे ज्ञान को (**उज्ज्वलम्-अवदातम्**) परिपूर्ण स्वच्छ-अति निर्मल (**अनित्यतापरिगमेऽपि-वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने, अपिशब्दान्नकेवलं नित्यमेव अनित्यता परिज्ञाने सत्यपि**) वस्तु की अनित्यता का परिज्ञान होने पर 'अपि' शब्द से सिर्फ नित्य ही नहीं किन्तु अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी (**नन्वनित्यता परिज्ञान मात्रवस्तु शुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्नपुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति**) शंकाकार कहता है कि अनित्यता के परिज्ञान स्वरूप वस्तु को मानने पर तो शुक्तिका-सीप में रजत-चांदी के परिज्ञान के होने पर भी चांदी रूप से वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है (**तदपि स्वमनो-रथ मात्रम्**) उत्तर में अनेकान्ती का कहना है कि यह तुम्हारा मनोविचार ही है मानसिक कल्पना मात्र ही है (**यतः**) क्योंकि (**अनित्यताम्-वस्तुगतानित्यत्वम्**) वस्तु स्वरूप में उपलब्ध अनित्यता को (**परिमृशन्-अर्थक्रिययोपलभमानः**) अर्थ क्रिया के द्वारा प्राप्त करता है (**कुतः**) किससे (**चिद्वित्यादिः-चिद्वस्तुनः चेतनारूपवस्तु पर्यायस्य वृत्तिः-वर्तना तस्याः क्रमात्-अनुक्रमात्**) चेतनारूप वस्तु की पर्याय के अनुक्रम से।

भावार्थ—एकान्तवादी की यह हार्दिक बलवती इच्छा है कि जिस ज्ञान में जो तरह-तरह के अन्य ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न कूटस्थ नित्य ज्ञान हमें चाहिए सो ऐसा ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं है। अतएव उसकी उक्त चाह के अनुकूल ज्ञान की उपलब्धि ही जब नहीं है तब उसकी दृष्टि में ज्ञान ही का अभाव है क्योंकि वह ज्ञान ही क्या जो परिणमनशील न हो। परन्तु स्याद्वादी अनेकान्ती ज्ञान को परिणमनशील ज्ञेयाकार रूप मानता हुआ भी उसे चैतन्य से भिन्न नहीं मानता है किन्तु चैतन्यमय ही अङ्गीकार करता है। अतएव ज्ञान प्रति समय ज्ञेयाकार रूप होने से तो अनित्य है तथा चैतन्य सामान्य रूप होने से नित्य है इस तरह से ज्ञान नित्यानित्यात्मक है यह मात्र कल्पना नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है जो सहज सिद्ध है अकृत्रिम है अनादि अनन्त है ।।६८।।

(**अथानेकान्तमतव्यवस्था सुघटेति समुज्ञाघटीति इति पद्यद्वयेन**) अब अनेकान्त सिद्धान्त की व्यवस्था सरलता से घटित होती है इसलिए दो पद्यों द्वारा उसे अतिशय रूप से घटित करते हैं—

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ।।६९।।

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**अनेकान्तः**) अनेकान्त सिद्धान्त (**अज्ञानविमूढानाम्**) अज्ञान से व्यामोहित प्राणियों के (**आत्मतत्त्वम्**) आत्मतत्त्व—आत्मा के असली स्वरूप को (**ज्ञानमात्रम्**) ज्ञान स्वरूप (**प्रसाधयन्**) प्रसाधता हुआ (**स्वयमेव**) स्वतः ही, (**अनुभूयते**) अनेकान्तरूप से—अनेक धर्मों के अखण्ड पिण्डरूप से अनुभव में आता है।

सं० टीका—(**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**स्वयमेव-स्वयं-प्रकाशमानत्वादिस्वरूपेण-आलोकाद्युपायेन च**) स्वयमेव-स्वयं प्रकाशमान रूप से तथा आलोक आदि उपाय से (**आत्मतत्त्वं-आत्मस्वरूपम्**) आत्मा के स्वरूप को (**अनेकान्तःस्याद्भिन्नाभिन्नत्व सत्त्वासत्त्वैकानेकनित्यत्वानित्यत्वादयः**) कथञ्चित्-किसी अपेक्षा से भिन्न, अभिन्न, सत्त्व, असत्त्व, एक, अनेक, नित्य तथा अनित्य आदि रूप अनेकान्त (**अनुभूयते-स्वानुभव प्रत्यक्षीक्रियते**) अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष किया जाता है (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**अज्ञानेत्यादिः-अज्ञानेन-अनादिकाल विजृम्भितमोहाज्ञानेन विमूढानां-विमोहितानाम्**) अनादि काल से वृद्धि को प्राप्त मोहरूप अज्ञान से विमोहित जीवों को (**ज्ञानमात्रम्-ज्ञानसाकल्यम्**) ज्ञानमात्र-ज्ञान से परिपूर्ण(**प्रसाधयन्-स्वरूप प्रकाशनादिभिर्दर्शयन्**) आत्मा के असली स्वरूप के प्रकाशन आदि से दिखाता हुआ।

भावार्थ—अनादि अज्ञान के कारण प्राणीमात्र आत्मस्वरूप से विमुख हैं साथ ही अज्ञानियों के उपदेश से भी आत्मा को एक धर्मात्मक मानकर आत्मा के खास स्वरूप से सर्वदा वञ्चित रहते हैं। उन्हें अनेकान्तस्वरूप आत्मा है यह समझाने के लिए सर्वप्रथम अनेकान्त सिद्धान्त आत्मा को ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध करता है और जब आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध हो जाता है तब उसमें अपने आप अनेक धर्म सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि वे धर्म आत्मा में अनादितः स्वभाव सिद्ध हैं इतना ही नहीं प्रत्युत् वे अनेक धर्म अनुभव करता के अनुभव में स्वयमेव आते रहते हैं अतएव स्वानुभव सिद्ध हैं ॥६६॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलङ्घ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**तत्त्वव्यवस्थित्या**) वस्तु स्वरूपकी व्यवस्था द्वारा (**स्वयम्**) स्वतः-अपने आप (**स्वम्**) अपने को (**व्यवस्थापन्**) व्यवस्थित करता हुआ (**अनेकान्तः**) अनेकान्त सिद्धान्त (**जैनम्**) जिनेद्रदेव द्वारा प्रणीत (**अलंघ्यशासनम्**) एकान्तवादियों द्वारा अलङ्घनीय मत को (**व्यवस्थापयन्**) प्रतिष्ठित करता हुआ (**व्यवस्थितः**) व्यवस्थित-प्रतिष्ठित हुआ।

सं० टीका—(**अनेकान्तः-कथञ्चिद्धर्मः**) विवक्षित विषय को विवक्षा के वश से निरूपण करने रूप धर्म (**व्यवस्थितः-प्रमाणनयोपन्यासैः-सुप्रतिष्ठः**) प्रमाणों और नयों के समुद्धरणों द्वारा भले प्रकार प्रतिष्ठित-प्रसिद्ध हुआ (**कया**) किससे- (**एवमित्यादिः-एवमुक्तप्रकारेण-पूर्वं स्याद्वाद समर्थनेन**) पूर्व में कहे अनुसार अर्थात् स्याद्वाद के समर्थन से (**तत्त्वस्य-वस्तुयाथात्म्यस्य-आत्मतत्त्वस्य वा**) वस्तु की यथार्थता का अथवा आत्मा के असली स्वरूप का (**व्यवस्थितिः-व्यवस्थापनम् तया**) व्यवस्थापन विविध अपेक्षाओं से सिद्ध करने से (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**स्वयम्-आत्मना कृत्वा**) अपने द्वारा ही (**स्वम्-आत्मानम्**) आत्मा को (**व्यवस्थापयन्-सुस्थिरीकुर्वन्-**) अच्छी तरह से स्थिर करता हुआ (**पुनः**) फिर-और (**जैनम्-सर्वज्ञभट्टारक प्रणीतम्**) सर्वज्ञ अरहन्तदेव द्वारा प्ररूपित (**शासनम्-मतम्**) शासन-मत को (**व्यवस्थापयन्**) अतिशयरूप से व्यवस्थित-स्थिर करता हुआ(**अथवा**)अथवा(**यतोऽनेकान्तादित्यध्याहार्यम्**)अथवा यहां "अने-

कान्तात्" ऐसा पञ्चम्यन्त पद का अध्याहार करना चाहिए जिससे (**जैनं-शासनम् अलङ्घ्यं-एकान्तमतमति विजृम्भितमिथ्यादृष्टिकोटिभिर्नलङ्घितुं शक्यम्**) जैनशासन-अर्हन्त भट्टारक सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत वस्तु व्यवस्थापक सिद्धान्त, एकान्त-एकधर्मस्वरूप वस्तु को प्रतिपादन करने वाला जो मत-सिद्धान्त ऐसे सिद्धान्त में स्थित बुद्धि से जिनका मिथ्यात्व वृद्धिगत हुआ है ऐसे करोड़ों मिथ्यादृष्टियों द्वारा नहीं लांघा जा सकता ।।७०।।

भावार्थ—जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्त प्रभु ने किया है वह अनेकान्त स्वरूप होने से एकान्तियों के द्वारा त्रिकाल में भी खण्डित नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुगत अनेक धर्मों को अपने निरावरण अनन्त ज्ञान द्वारा जानकर ही अनेकान्त के सिद्धान्त की व्यवस्था सर्वदर्शी भगवान जिनेन्द्र ने की है ।।७०।।

(**अथानन्त शक्तियुक्ततां संवक्ति**) अब प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्तियों से युक्त हैं यह निरूपण करते हैं—

इत्याद्यनेक निजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रम विवर्तिविवर्त चित्रं—
तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्तु वस्तु ।।७१।।

अन्वयार्थ—(**इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु**) पूर्वोक्त भिन्नत्व अभिन्नत्व एकत्व-अनेकत्व आदि अनेक आत्मिक शक्तियों में (**निर्भरः**) अतिशयरूप से भरा हुआ-व्यापक होता हुआ (**अपि**) भी (**यः**) जो (**भावः**) आत्मारूप पदार्थ (**ज्ञानमात्रमयताम्**) ज्ञानरूप स्वरूप को (**न**) नहीं (**जहाति**) छोड़ता है (**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रम्**) क्रम और अक्रम से विवर्तनशील पर्यायों से विचित्र-विविधरूप (**द्रव्यपर्ययमयम्**) द्रव्य-सामान्य तथा पर्यय-विशेष स्वरूप (**तद्**) वह (**चिद्**) चैतन्यमय (**वस्तु**) पदार्थ (**इह**) इस जगत् में (**अस्तु**) विद्यमान है ।

सं० टीका—(**यः-भावः पदार्थः**) जो पदार्थ (**ज्ञानेत्यादिः ज्ञानमात्रकल्परूपताम्-न जहाति न त्यजति**) ज्ञान को कल्पान्त काल तक भी अपने स्वरूप से नहीं त्यागता है। अपने स्वरूपरूप ज्ञान को कल्पान्त काल-पर्यन्त नहीं छोड़ता है। (**ननु क्रमाक्रमवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वमितिचेत्**)क्रम तथा अक्रम-रूप अनन्त धर्म स्वरूप आत्मा को मात्र ज्ञान स्वरूप आप कैसे कहते हैं यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो (**उच्यते**) उत्तर में कहते हैं (**परस्पर व्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्-ज्ञानमात्रत्वम्**) आपस में एक दूसरे से स्वरूपतः पृथक् रहने वाले अनन्त धर्मों के समूह रूप से परिणत एक ज्ञप्तिरूप क्रिया स्वरूप स्वयमेव होने से ही आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है (**कीदृशोऽपि**) कैसा पदार्थ (**इत्यादीत्यादीः-गत्याद्याः-भिन्नाभिन्नत्वाद्याः ताश्च ता अनेकनिजशक्तयः-अनन्तस्वशक्तयः तासु**

सतीषु) भिन्नत्व अभिन्नत्व आदि अनन्त निज शक्तियों के रहते हुए **(निर्भरोऽपि-अतिशयं गतोऽपि ज्ञान-मात्र एव)** अतिशयता को प्राप्त होता हुआ भी ज्ञानमात्र ही **(इह-जगति)** इस जगत् में **(तत्-चित्-चेतना-वस्तु द्रव्यम्)** वह चैतन्य द्रव्य **(अस्ति-विद्यते)** है **(कीदृक्षम्)** कैसा **(द्रव्यपर्ययमयम्-द्रव्यपर्यायात्मकम्)** द्रव्यपर्याय स्वरूप **(एवं-पूर्वोक्त प्रकारेण)** पूर्वोक्त प्रकार से **(क्रमेत्यादिः-क्रमः-कालकृतः, अक्रमः-युगपत्, क्रमश्चाक्रमश्च क्रमाक्रमौ ताभ्यां विवर्तिनः वर्तनशीलाः विवर्ताः पर्यायाः तैः चित्रं-चित्रतां नीतम्)** क्रम-कालकृत तथा अक्रम-युगपत् दोनों रूप से स्वभावतः होने वाली पर्यायों से विचित्रता-नानारूपता को प्राप्त **(यथा दीपः क्रमेण अक्रमेण तमोनाशपदार्थ प्रकाशादि पर्यायात्मकः तैलशोषणवृत्तिमुखदाहको ज्वालोत्पाद-नादि पर्यायात्मकस्तथात्मादिः)** जैसे दीपक क्रम से तथा युगपत्—एक साथ अन्धकार का नाश तथा पदार्थों का प्रकाशन आदि पर्याय स्वरूप तथा तेल का शोषण करना, मुख का जलाना, ज्वालाओं को उत्पन्न करना आदि नाना पर्यायों का स्वरूप होता है वैसे ही आत्मा आदि समस्त द्रव्यें भी नाना पर्यायस्वरूप हैं।

भावार्थ—अभी इससे पूर्व दो पद्यों में आत्मा को ज्ञानमात्र प्रसिद्ध किया था इससे कोई यह निष्कर्ष न निकाल ले कि आत्मा मात्र ज्ञान गुण वाला ही है अन्य कोई भी गुण इसमें नहीं है। आत्मा में जैसे ज्ञानगुण है वैसे ही अन्य अनेक-अनन्त गुण भी आत्मा में विद्यमान हैं क्योंकि आत्मा भी एक वस्तु है और जो वस्तु होती है वह नियम से अनन्त गुणों का भण्डार होती है। उसमें प्रति समय नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता है इस उत्पाद तथा विनाशरूप विशेष से सहित चैतन्य सामान्य सदा काल ही विद्यमान रहता है। चैतन्य का परिणमन अनन्त प्रकार का होता है क्योंकि वह अनन्त गुणों का पिण्ड है लेकिन परिणमन काल में भी वह अपने चैतन्य स्वभाव को अबाध ही रखता है कारण कि स्वभाव नित्य निर्विनाशी होता है।

(अथ स्याद्वादतः शुद्धि दीप्यति) अब स्याद्वाद से शुद्धि को प्रकट करते हैं—

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो-
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः ॥७२॥

अन्वयार्थ—**(सन्तः)** सत्पुरुष-ज्ञानीजन **(इति)** पूर्व में कहे अनुसार **(स्वयम्)** स्वतः **(एव)** ही **(वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिम्)** वस्तु-पदार्थ के असली स्वरूप की व्यवस्था को **(नैकान्तसङ्गतदृशा)** अनेकान्त से प्राप्त हुई समीचीन दृष्टि द्वारा **(स्वयमेव)** स्वतः ही **(प्रविलोकयन्तः)** सम्यक् प्रकार से देखते हुए **(इति)** पूर्वोक्त प्रकार से **(अधिकाम्)** अतिशय-अत्यधिक **(स्याद्वादशुद्धिम्)** स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद की शुद्धि को **(अधिगम्य)** जान कर **(जिननीतिम्)** जिन भगवान की नीति—वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन करने की पद्धति को **(अलङ्घयन्तः)** उल्लंघन नहीं करते हुए **(ज्ञानीभवन्ति)** मिथ्या ज्ञान के परिहार पूर्वक सम्यग्ज्ञानी बनते हैं।

सं० टीका—(**सन्तः-सत्पुरुषाः**) सत्पुरुष (**ज्ञानीभवन्ति-संसारवर्ति-अज्ञानं ज्ञानं भवन्तीति ज्ञानी भवन्ति**) संसार के कारणभूत अज्ञान को छोड़ कर मोक्ष के साधनभूत ज्ञान को प्राप्त कर ज्ञानी हो जाते हैं (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्व में कहे अनुसार (**स्याद्वादशुद्धिम्-अनेकान्त शुद्धिम्**) अनेकान्त के प्रतिपादक स्याद्वाद की शुद्धि—निर्मलता के (**अधिकां-विचारतः प्रकर्षं प्राप्ताम्**) विचार से श्रेष्ठता को प्राप्त हुई है (**अधिगम्य-ज्ञात्वा-निश्चित्य वा**) जानकर अथवा निश्चय करके (**कीदृक्षास्ते**) वे ज्ञानी सत्पुरुष कैसे हैं (**स्वयमेव-स्वात्मनकृत्वा**) अपने द्वारा ही (**वस्त्वित्यादिः—वस्तुनः तत्त्वं स्वरूपं-अनेकान्तात्मकम्-तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था ताम्**) वस्तु के स्वरूप रूप अनेकान्त की व्यवस्था को (**प्रविलोकयन्तः-ईक्षमाणाः**) देखते हुए (**कया**) किससे (**नैकान्तेत्यादिः—न एकान्तो नैकान्तः स्याद्वादः-क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोपः तत्र सङ्गता-सम्यक् प्राप्ता दृक् दृष्टिः तया**) नैकान्त—यानी स्याद्वाद में सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट हुई दृष्टि से "यहां नैकान्त शब्द का नाकादि के मध्य में पाठ होने के कारण नकार का लोप नहीं हुआ है" (**पुनः कीदृक्षाः**) फिर कैसे (**जिन नीतिम्—सर्वज्ञ प्रकाशितमार्गम्**) सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा दिव्य ध्वनि से प्रकाशित मार्ग को (**अलङ्घयन्तः-अनुल्लङ्घयन्तः**) नहीं उल्लंघन करने वाले ॥७२॥

भावार्थ—स्याद्वाद की तीक्ष्ण-पैनी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का अवलोकन करने वाले अनेकान्ती-सम्यग्ज्ञानी पुरुष-भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेन्द्र प्रभु की अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली स्याद्वाद की पद्धति को वस्तुस्वरूप के समझने में कसौटी मानते हैं। क्योंकि स्याद्वाद-अपेक्षावाद के बिना किसी भी वस्तु का यथार्थ स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता। उसके न समझ सकने के कारण ही प्राणी अज्ञानी बना रहता है। अपने और पर के स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाता है। अतएव एकान्ती हठाग्रही हो संसार में ही भ्रमण करता रहता है ॥७२॥

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां स्याद्वाद अधिकार समाप्तः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यों की व्याख्या में जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरंगिणी है
यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

अथास्योपायोपेय भाव: सम्भाव्यते) अब इस ज्ञान के उपाय तथा उपेय भाव का विचार करते हैं—

> **ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां–**
> **भूमि श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।**
> **ते साधकत्वमधिगम्य भवन्तिसिद्धा–**
> **मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥७३॥**

अन्वयार्थ—(**कथमपि**) किसी भी प्रकार से अर्थात् महान् कष्ट से (**अपनीतमोहाः**) दूर कर दिया है मोह को जिन्होंने अर्थात् मिथ्यात्व रहित (**ये**) जो भव्य जीव (**अकम्पाम्**) कम्पन रहित अर्थात् निश्चल (**ज्ञानमात्रनिजभावमयीम्**) ज्ञानमात्र निज भावरूप (**भूमिम्**) भूमि को (**श्रयन्ति**) आश्रय करते हैं (**ते**) वे भव्य जीव (**साधकत्वम्**) साधकता को (**अधिगम्य**) प्राप्त करके (**सिद्धाः**) सिद्ध (**भवन्ति**) होते हैं (**तु**) किन्तु (**मूढाः**) अज्ञानी मिथ्यादृष्टि (**अमूम्**) इस भूमि को (**अनुपलभ्य**) बिना प्राप्त किये (**परिभ्रमन्ति**) संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।

सं० टीका—(**ये साधवः**) जो साधु पुरुष (**कथमपि-केनापिप्रकारेण महता कष्टेन वा**) किसी भी तरह से महान् कष्ट सह करके भी (**ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानमात्रः-ज्ञानेन साकल्यः, स चासौ निजभावश्च स्वात्म-परिणामः तेन निर्वृत्ताम्**) ज्ञानस्वरूप आत्मपरिणाम से निर्मित (**भूमिं-शुद्धोपयोगभूमिम्**) शुद्धोपयोग रूप भूमि का (**श्रयन्ति भजन्ते**) सेवन करते हैं (**कीदृशाम्-ताम्**) कैसी भूमि को (**अकम्पां-निश्चलाम्**) निश्चल (**अपनीतमोहाः-अपनीतः-निराकृतः मोहः-रागद्वेषाज्ञानादिर्यैस्ते योगिनः**) राग-द्वेष अज्ञान आदि रूप मोह का निराकरण करने वाले योगी जन (**साधकत्वं-रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्वम्**) रत्नत्रयादि लक्षणरूप उपाय-साधन को (**अधिगम्य-आश्रित्य**) आश्रय करके (**सिद्धाः-उपेयाः-साध्याः**) सिद्ध अर्थात् उपेय-साध्यरूप मोक्षको प्राप्त करने वाले (**भवन्ति-जायन्ते**) हो जाते हैं। (**आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेय भावोविद्यत एव तस्यैक-स्यापिस्वयं साधक सिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्**) आत्मा के ज्ञान स्वरूप में उपाय साधन तथा उपेय-साध्य भाव विद्यमान है ही क्योंकि वह ज्ञानमात्र आत्मा स्वयं ही साधक तथा सिद्धरूप परिणाम वाला है (**मूढाः-अज्ञानिनस्तु**) मोही अज्ञानी तो (**अमूम्-अन्तर्नीतानेकान्तज्ञानमात्रैकभाव रूपाम्-भूमिम्**) जिसमें अनेकान्त समाया हुआ है ऐसी ज्ञानस्वरूप भूमि को (**अनुपलभ्य-अप्राप्य**) प्राप्त नहीं करने से (**परिभ्रमन्ति-संसारापारभूमिमण्डलीमाक्रमन्ते**) अपार-अनन्त संसाररूप भूमण्डल पर आक्रमण करते रहते हैं अर्थात् अनन्त संसारी बने रहते हैं।

भावार्थ—यहां उपाय उपेय भाव का सारांश प्रकट करते हुए आचार्य ने आत्मज्ञान को उपाय तथा उससे प्राप्य सिद्ध अवस्था को उपेय कहा है। यह तो भेदपरक वर्णन है अर्थात् आत्मज्ञान को साधक और सिद्ध दशा को साध्य भेद बुद्धि से ही कहा गया है। अभेद बुद्धि से आत्मज्ञान स्वयं ही साधक तथा स्वयं ही साध्य है क्योंकि उक्त दोनों प्रकार की दशाएं आत्मा की हैं अन्य की नहीं। आत्मा स्वयं ही उन दोनों रूप परिणमन करने वाला परिणामी द्रव्य है। अतएव आत्मा खुद-ब-खुद उपाय उपेयरूप है इसे ज्ञानीजन स्वमेव अनुभव करते हैं ।।७३।।

(अथ शुद्धोपयोग भूमि प्राप्त्युपायं लक्षयति) अब शुद्धोपयोगरूप भूमिका की प्राप्ति के उपाय को दिखाते हैं—

स्याद्वादकौशल सुनिश्चलसंयमाभ्यां—
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री—
पात्रीकृतः श्रयतिभूमिमिमां स एकः ।।७४।।

अन्वयार्थ—**(यः)** जो साधु पुरुष **(स्याद्वादकौशल सुनिश्चल संयमाभ्याम्)** स्याद्वादवाणी की कुशलता तथा निर्मल चारित्र से **(इह)** आत्मस्वरूप में **(उपयुक्तः)** उपयुक्त-संलग्न **(सन्)** होता हुआ **(स्वम्)** अपनी आत्मा को **(अहरहः)** प्रति दिन **(भावयति)** भाता-ध्याता है **(सः)** वह **(एकः)** एक अद्वितीय-असाधारण साधु पुरुष **(एव)** ही **(ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः)** ज्ञाननय तथा क्रियानय की पारस्परिक प्रगाढ़ मित्रता का पात्र हुआ **(इमाम्)** इस **(भूमिम्)** शुद्धोपयोगरूप भूमिका **(श्रयति)** आश्रय-सेवन करता है।

सं० टीका—**(स एव एकः अद्वितीयो मुनिः)** वही एक असाधारण साधु **(इमां-प्रत्यक्षां)** इस प्रत्यक्ष **(भूमिं-शुद्धोपयोग स्थानम्)** शुद्धोपयोगरूप भूमि को **(श्रयति-भजति)** सेता है-भजता है। **(कीदृक्षः)** कैसा साधु **(ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानं स्वात्मज्ञाम्-क्रियास्वात्माचरणं लक्षणं चारित्रम् त्रयोदशप्रकार लक्षणं वा नयः-नयति-प्राप्नोति स्वात्मस्वरूपमिति नयः प्रमाणैक देशो नैगमादिः दर्शनं वा ज्ञानं च क्रिया च नयश्च तेषां परस्परं अन्योऽन्यं तीव्रमैत्री-अत्यन्त सखित्वं तया अपात्रं पात्रं कृत इतिपात्रीकृतः)** आत्मज्ञानरूप ज्ञान तथा आत्म आचरणरूप चारित्रात्मक क्रिया अथवा तेरह प्रकार के स्वरूप वाला बाह्य चारित्ररूप क्रिया, आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कराने वाला नय जो प्रमाण का एक देशरूप है अथवा नैगमादि नय, दर्शन ज्ञान तथा क्रियारूप नयों की परस्पर की तीव्र मित्रता की पात्रता को प्राप्त कर **(सः कः)** वह कौन **(यः योगी)** जो मुनि **(भावयति ध्यानविषयी करोति)** भाता है अर्थात् ध्यान का विषय करता है—ध्याता है **(कथम्)** कैसे **(अहरहः-दिने दिने तत्सामर्थ्यात्प्रतिक्षणम्)** प्रति दिन अपनी शक्ति प्रमाण प्रति समय **(कम्-)** किसको **(स्वम्-आत्मानम्)** आत्माको **(क्व)** कहां **(इह-आत्मनि-स्वस्वरूपे)** अपने आत्मस्वरूपमें **(काभ्याम्-)**

किनसे (**स्यादित्यादि:-स्याद्वादः श्रुतज्ञानम्**) स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान (**तथाचोक्तं देवागमे**) ऐसा ही देवागम स्तोत्र में कहा गया है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च वस्तु ह्यन्यतमं भवेत् ॥१॥

(**सर्वतत्त्वप्रकाशने**) समस्त वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले (**स्याद्वाद केवलज्ञाने**) स्याद्वाद और केवलज्ञान में (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष (**च**) और (**असाक्षात्**) परोक्ष रूप (**भेदः**) भेद (**अस्ति**) है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से वस्तुमात्र के स्वरूप को जानता है तथा स्याद्वाद शास्त्र के साहाय्य रूप परोक्ष से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अवगत करता है (**हि**) निश्चय से (**अन्यतमम्**) अन्यतम (**वस्तु**) वस्तु (**भवेत्**) उन दोनों का विषय होती है ।

(**इति तत्र कौशलं-निपुणता सुनिश्चलः-सुष्ठु-अक्षोभ्यः स चासौ संयमः चारित्रं च द्वन्द्वः ताभ्याम्**) में निपुणता तथा निर्बाध चारित्र से (**कीदृक्षः सः**) कैसा वह साधु (**उपयुक्तः-शुद्धोपयोगे सावधानः**) शुद्धोपयोग में सावधान निरत ।

भावार्थ—इस कलश में पहला उपाय स्याद्वाद न्याय का प्रवीणपना बताया है । उसका विचार करना है—वस्तु-सामान्य+विशेष = वस्तु है सामान्य द्रव्यदृष्टि का विषय है और विशेष पर्यायदृष्टि का । दोनों का अविरोधरूप से श्रद्धान करना जरूरी है अन्यथा प्रमाण ज्ञान नहीं है और सम्यक्ज्ञान है वही प्रमाण है । जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप का श्रद्धान होना चाहिए । संयोग का संयोगरूप का—अभेद का अभेदरूप का, विकार का विकाररूप का, अनित्य का अनित्यरूप का, पर्याय का पर्यायरूप का, द्रव्यस्वभाव का द्रव्यस्वभावरूप का । द्रव्यदृष्टि के ज्ञान बिना पर्यायदृष्टि का ज्ञान अधूरा है और पर्यायदृष्टि के ज्ञान बिना द्रव्यदृष्टि का ज्ञान अधूरा है । अतः द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु की श्रद्धा ही सही श्रद्धा है । आचार्यों ने कहीं द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से कथन किया है और कहीं पर्यायदृष्टि की मुख्यता परन्तु दोनों कथन सापेक्ष है ।

इस कलश की टीका में ज्ञाननय और क्रियानय की तीव्र मित्रता का कथन किया है । ज्ञाननय से अपने चैतन्य स्वभाव का अनुभव और उसका बार-बार अवलंब लेना—उसमें ठहरना है । क्रियानय का अर्थ आचार्य शुभचंद्र जी ने आत्म आचरणरूप चारित्रात्मक क्रिया अथवा तेरह प्रकार के स्वरूप वाला बाह्य चारित्ररूप क्रिया किया है । आचार्य को क्रियानय का अर्थ दोनों ही इष्ट है अर्थात् निश्चयरूप भी और व्यवहाररूप भी । अब यहां पर यह विचार करना है कि बाह्यचारित्र रूप क्रियामात्र बंध का ही कारण है अथवा किसी रूप में आत्म-दर्शन में, एवं आत्मानुभव में आत्मरमणता में कुछ सहयोगी भी है अगर है तो किस रूप में ।

सच्चे देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा भी करी—देव के माध्यम से यह भी समझा कि शरीर आत्मा दो है । ऐसा ही शास्त्रोंके अध्ययनसे तर्क युक्तियोंके द्वारा जाना कि शरीर आत्मा दो हैं—सच्चे गुरुओं ने भी

यह बताया कि हमने शरीर और आत्मा को अलग-अलग प्रत्यक्ष में अनुभव किया है। इस प्रकार देवशास्त्र गुरू की श्रद्धा की, उनके अलावा अन्य कुदेवादि को कभी नहीं माना। मांस-मदिरा और मधु आदि के त्यागरूप मूल गुणों का पालन किया, सप्त व्यसन का त्याग भी किया। सात तत्त्वों के बारे में अच्छी तरह समझ लिया फिर भी आत्मानुभव नहीं होता इसका क्या कारण है-इस पर विचार करनाहै।

ऐसा लगता है कि हमने यह माना है कि इतना कार्य करते-करते सम्यक्त्व हो जायेगा इसलिए इन कार्यों को किये जा रहे हैं। अब यह सवाल उठता है कि हमने शास्त्रों से जाना, गुरुओं से जाना कि शरीर आत्मा दो है क्या हमने अपने में दो देखनेकी चेष्टा भी की। क्या दोपने की भावना-चिंतन-मनन निरन्तर किया, क्या यह निर्णय किया कि दो को दो देखे बिना मोक्षमार्ग चालू नहीं होगा—धर्म की शुरुआत नहीं होगी। पहले तो जिनदर्शन में दोपने का दर्शन करें फिर अपने को दो देखें यह दो काम अलग-अलग है। ऐसा लगता है कि हमारे तो पहले काम में ही कमी रह गयी क्योंकि सच्चे देवशास्त्र गुरू को तो पूजा परन्तु उस ढंग से नहीं दर्शन किये, उस ढंग से नहीं शास्त्र अध्ययन किया जिससे शरीर और आत्मा दो दिखाई दे। हमने उनको पुण्य का, मान बढ़ाने का— भोगों का तो साधन बनाया परन्तु शरीर और आत्मा को दो देखने का साधन नहीं बनाया। दो देखने का भी अगर साधन बनाया तो भी अपने में अपने को शरीर से भिन्न देखना था, वह पुरुषार्थ-वह चेष्टा नहीं करी तब आत्मदर्शन कैसे हो।

साधन तो उसको कहते हैं—जो कार्य करता नहीं, जिसके अवलम्बन से कार्य होता नहीं परन्तु जिसका अवलम्बन लेकर हम अपना कार्य करें तो हो। जैसे लकड़ी चलती नहीं, लकड़ी के अवलम्बन से चलना होता नहीं परन्तु लकड़ी का चलने के लिए जिस प्रकार से सहयोगी हो उस प्रकार से अवलम्बन लेकर हम चलें तो कार्य हो तब उपचार से कहा जाता है कि लकड़ी ने चला दिया या लकड़ी के अवलम्बन से घर आ गये। सही बात है कि लकड़ी का हमने उस प्रकार से अवलम्बन लिया और अवलम्बन लेकर हम ही चले तब कार्य हुआ। जैसे-जैसे अपना पुरुषार्थ-बल बढ़ने लगा लकड़ी का अवलम्बन ढीला होने लगा और एक रोज जहां हमारा बल बढ़ गया लकड़ी का अवलम्बन छूट गया। यह एक सरल उदाहरण निमित्त की निमित्तता समझने के लिए है अवलम्बन लेना भी है और छोड़ना भी है।

ऐसा ही निमित्तपना सच्चे देवशास्त्र गुरू का अथवा व्रत-उपवासादि का है। उनका अवलम्बन लेना है उस प्रकार से लेना है जिस ढंग से शरीर आत्मा को दो देखने में वे सहकारी हो सकें। यहां तक उनका सहकारीपना है। फिर अपने को अपने में दो देखना है यहां पर आप ही अपना सहकारी है। जब तक सम्यक्त्व न हो तब तक उसी भावना का चिंतवन-मनन करके अपने को दो देखने की चेष्टा करनी है। सम्यक्त्व होने के बाद भी व्रत-उपवासादि और तपश्चरण के द्वारा बाहर से हटना है यह एक काम हुआ और अन्तरंग में लगना है यह दूसरा काम हुआ। बाहर से तो हटे उससे अपने में लग जावेंगे ऐसा नहीं है परन्तु बाहर से हटकर अन्तरंग में लगने का पुरुषार्थ हम ही करें तो लग

सकते हैं अत: यहां पर भी यह समझना होगा कि बाहरी व्रतादि से अंतरंग में लग जावेंगे यह उपचार कथन है परन्तु बाहर से हटकर अंतरंग में लगने का पुरुषार्थ करें तो लग सकते हैं अत: इनको इस प्रकार से सहयोगी कहा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो स्वभाव में लगेगा उसके बाहर में व्रतादि तपस्चरणादि की भूमिका होगी ही। बाहर से हटना है और स्वभाव में लगना है इन दोनों कार्यों में तीव्र मित्रता होनी चाहिए। धर्म-संवर-निर्जरा बाहर से हटने से नहीं स्वआत्मा में लगने से होता है। परन्तु दोनों साथ-साथ चलते हैं। अगर स्वरूप में सातवें गुणस्थान के योग्य रमणता है तो बाहर में पंच महाव्रत—२८ मूलगुण नग्न दिगम्बरपना जरूर होगा अगर ऐसा बाहर में नहीं है तो भीतर में ऐसी रमणता भी नहीं है। अगर बाहर में बेईमानी, अन्याय अभक्ष-मायाचारी है तो भीतर आत्मामें श्रावकके जैसा होना चाहिए वैसा स्वरूप का अनुभव व ठहराव नहीं है। अगर किसी भी रूप में कुदेवादि—शासनदेवों को पूजता है सच्चे देव-शास्त्र गुरू को भी पुण्यके लिए-मान बड़ाई के लिए भोगों की लालसा से पूजता है तो अंतरंग में भेदविज्ञान नहीं है यह निश्चित है यह ज्ञाननय और क्रियानय की एकता है और यह एकता भीतर से बाहर की तरफ है। बाहर से भीतर की तरफ नहीं है अर्थात् बाहर में ऐसी क्रिया और व्रतादि है तो भीतर में स्वरूप रमणता होगी ही ऐसा नहीं है। परन्तु अन्तर में ठहराव है तो बाहरी आचरण भी उसी रूप जरूर है। शुभ राग बंधरूप है यह बात सही है क्योंकि जितना राग होगा उतना बंध जरूरी है परन्तु हम उनको पुण्य का साधन न बनाकर आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता का भी साधन बना सकते हैं और साधन बना कर हमें ही आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता करनी होगी। वे करवा दे अथवा उनसे हो जावे, उनके करते-करते हो जावे, ऐसा तत्त्व नहीं है।

मैले कपड़ेके साबुन लगानेसे रंग नहीं चढ़ेगा परन्तु रंगमें डालेंगे तो रंग चढ़ेगा अगर रंगमें न डालें तो अनंतकाल तक भी साबुन लगाता रहे तो रंग नहीं चढ़ेगा। यह गलती हमारी है कि हम उन्हें पुण्यबंध का या भोगों का साधन बनाते हैं। पुण्य बंध का साधन नहीं बनाने पर भी पुण्य बंध तो होगा परन्तु वह हमारे अभिप्राय बिना होगा। अत: ज्ञानी उसका कर्ता नहीं है ज्ञानी तो उनको शरीर और आत्मा को भिन्न देखने का ही साधन बनता है जो आत्मदर्शन करने में सहकारी है। इसलिए इनको व्यवहारदृष्टि से मोक्ष मार्ग कहा है। ऐसा ही पं० जयचन्द जी ने अर्थ किया है—"जे पक्षपात का अभिप्राय छोडि निरंतर ज्ञान रूप होते कर्मकांड कूं छोडे है अर निरंतर ज्ञानस्वरूप विषै "जेतै न थव्या जाय तेतै" अशुभ कर्म कूं छोड़ि स्वरूप का साधनरूप शुभ कर्मकांड विषै प्रवर्तें है ते कर्म का नाश करि संसार ते निवृत होय है।"

इसी कलश का भावार्थ—जो ज्ञाननय ही कूं ग्रहण करि क्रियानय कूं छोड़े है सो प्रमादी स्वच्छन्द भया इस भूमि कूं न पावै है। बहुरि जो क्रिया नय ही कूं ग्रहण करि ज्ञाननय कूं नाहीं जाने है सो भी शुभकर्म मैं संतुष्ट भया इस निष्कर्म भूमिका कूं नाहीं पावे है। बहुरि ज्ञान पाय निश्चल संयम कूं अंगीकार करे हैं तिनिकै ज्ञाननय के अर क्रियानय के परस्पर अत्यंत मित्रता होय है ते इस भूमिका कूं पावे है।

गाथा १२ का भावार्थ—तहां जैसे यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्तीरूप सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति न भई

होय, तेतैं तो यथार्थ उपदेश जिनितै पायीये ऐसे जिनवचन का सुनना-धारना तथा जिनवचन के कहने वाले श्री जिनगुरू तिनि की भक्ति जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवर्तना प्रयोजनवान है। बहुरि जिनि कै श्रद्धान, ज्ञान तौ भया अर साक्षात्प्राप्ति न भई तेतैं पूर्वोक्त कार्य भी अर परद्रव्य का आलंबन छोड़ने रूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण तथा समिति गुप्ति पंचपरमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तना तथा तैसे प्रवर्तने वालेकी संगति करना, विशेष ज्ञान करने कूं शास्त्रनि का अभ्यास करना……प्रयोजनवान है।

प्रवचनसार में चरणानुयोग चूलिका में गाथा २०१ की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द स्वामी ने लिखा है जिसकाअर्थ है कि अहो—आठ प्रकार ज्ञानाचार—आठ अंगरूप दर्शनाचार—तेरह प्रकार चारित्राचार और बारह प्रकार तपाचार मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है तथापि तुम्हें तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूं। यहां पर—"तू शुद्धात्मा का का नहीं है" इसके द्वारा बंध का कारण बताया और "तेरे प्रसाद से" इसके द्वारा साधनपना स्वीकार किया है। "प्राप्त करलू" इसके द्वारा जीव का अपना वैसा करने का पुरुषार्थ बताया है।

क्या तत्त्वविचार, व्रत-उपवासादि अथवा जिनदर्शनादि मात्र संसार बंध का ही कारण है अथवा इनके द्वारा हम अपने स्वभाव की, भेदविज्ञान की, वीतरागता की भी पुष्टि कर सकते हैं। अगर इनके द्वारा इनकी पुष्टि नहीं हो सकती तब तो ज्ञानी को इन कार्यों में जाना ही नहीं चाहिए। ज्ञानी पुण्य बंध के लिए इन कार्यों को नहीं करता परन्तु इनके माध्यम से आत्मस्वभाव की रुचि को, भेदविज्ञान की, वीतरागता की, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पुष्टि करके तदरूप होने का उपाय करता है अतः उतने रूप में यथापदवी प्रयोजनवान भी है परन्तु उपादेय तो मात्र निज स्वभाव में रमण करना ही है ॥७४॥

(**अथात्मोदयमाविष्पति**) अब आत्मा के उदय को प्रकट करते हैं—

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थित सदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥७५॥

अन्वयार्थ—(**तस्य**) उक्त प्रकार के शुद्धोपयोगी साधु के (**एव**) ही (**चित्पिण्ड चण्डिम विलासि विकास हासः**) चैतन्य के पिण्ड की प्रचण्डता से विलासरूप जिसका खिलना है (**शुद्धप्रकाशभरनिर्भर सुप्रभातः**) कर्ममल से शून्य ज्ञानरूप प्रकाश के समूहरूप सातिशय प्रातःकाल वाला (**आनन्दसुस्थित सदास्खलितैकरूपः**) आत्मिक आनन्द में सम्यक् प्रकार से स्थित नित्य स्खलन रहित अद्वितीय रूप वाला (**च**) और (**अचिलार्चिः**) निश्चल ज्योतिः स्वरूप (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**उदयति**) उदय को प्राप्त होता है।

सं० टीका—(**तस्यैवमुनेः शुद्धोपयोग भूमिगतस्य न पुनरन्यस्य**) शुद्धोपयोग की भूमि को प्राप्त हुए

साधु के ही अन्य के नहीं (अयम्) यह (आत्मा-चिद्रूपः) चैतन्य स्वरूप आत्मा (उदयति-उदयं प्राप्नोति-साक्षाद्भवति-इत्यर्थः) उदय को प्राप्त होता है अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (कीदृशः सः) वह आत्मा कैसा (चिदित्यादिः-चित्पिण्डः-ज्ञानपिण्डः, तस्यचण्डिमा प्रौढत्वं तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः स एव हासः शरीरं यस्य सः) ज्ञान पिण्ड की प्रौढ़ता से विलास स्वभावरूप विकासात्मक हास वाला (अन्योऽप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः) उत्कर्ष के समय साधारण मनुष्य भी आनन्दोल्लसरूप हास्य को प्राप्त होता है यह इसका तात्पर्यार्थ है (पुनः कीदृशः) फिर कैसा (शुद्धेत्यादिः-शुद्धः-कर्ममलकलङ्करहितः स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः तस्य भरः समूहः स एव निर्भरप्रभातः-सातिशय प्रातःकालो यस्य सः) कर्ममलरूप कलङ्क से रहित ज्ञान का समुज्वल प्रकाश का समूहरूप सातिशय प्रातःकाल वाला (अन्यस्यापि-उदये प्रातःकालोभवति) अर्थात् लोक में भी पुण्य का उदय होने पर मनुष्य के प्रातःकाल-सुखदायक समय प्राप्त होता है (पुनः कीदृशः) फिर कैसा (आनन्देत्यादिः-आनन्दे-अकर्मशर्मणि सुस्थितं सुप्रतिष्ठं -सदा-नित्यं-अस्खलितैकरूपं-स्खलितरहितं एकमद्वितीयस्वरूपं यस्य सः) कर्मोपाधिशून्य सुखमें स्थित हमेशा स्खलन रहित अद्वितीय स्वरूप वाला (अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः) अर्थात् व्यवहार में भी किसी के पुण्य का उदय दीर्घकाल स्थायी देखा जाता है ॥७५॥

भावार्थ—जैसे लोक में इष्ट-प्रिय-पदार्थ के दर्शन से मनुष्य खुशी से हँसने लगता है वैसे ही आत्मा आत्मदर्शन से आनन्दविभोर हो जाता है। जैसे व्यवहार में पापोदय के दूर होने और प्रबल पुण्य के उदय होने पर जीव को अपनी दुखद अवस्था के पश्चात् सुखद ज्ञान होने से सुप्रभात प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को आत्मज्ञान की प्राप्तिकाल में हर्षोन्मग्नता प्राप्त होती है। जैसे लोक में आकुलता के कारण के हटने पर बहुकाल स्थायी निराकुलता रूप सुख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को कर्मोपाधि के हटने पर अनन्त अविनाशी शाश्वतिक अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। जैसे व्यवहार में दुर्बल आदमी को योग्योपचार से बल की प्राप्ति होती है वैसे ही ज्ञानी को अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से अनन्त बल की प्राप्ति होती है जो आत्मिक अनंत बल अनंत काल तक स्थित रहता है ॥७५॥

(अथ स्वस्वभावविस्फुरणं काम्यति) अब अपने स्वभाव के पूर्ण विकास की इच्छा प्रकट करते हैं—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्ष पथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(इति) पूर्वोक्त-प्रकार के (स्याद्वाद दीपित लसन्महसि) स्याद्वाद से प्रकाशित अतएव परितः शोभमान तेज वाले (शुद्धस्वभाव महिमनि) शुद्ध स्वभाव की महत्ता वाले (प्रकाशे) ज्ञानरूप प्रकाश के (मयि) मेरे में (उदिते) उदित को प्राप्त होने पर (बन्धमोक्षपथपातिभिः) बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्ग में

पड़ने वाले (**अन्यभावैः**) अन्य भावों से (**मम**) मेरा (**किम्**) क्या (**प्रयोजनम्**) प्रयोजन (**अस्ति**) है ? अर्थात् (**किमपि न**) कुछ भी नहीं (**मम**) मेरे तो (**परम्**) केवल-सिर्फ (**अयम्**) यह (**नित्योदयः**) निरन्तर उदयशील (**स्वभावः**) आत्म स्वभाव (**स्फुरतु**) प्रकाशमान हो।

सं० टीका—(**इति हेतोः**) इसलिए (**अयं-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**स्वभावः-आत्मस्वरूपम्**) आत्मा का स्वरूप (**स्फुरतु-प्रकाशं यातु**) स्फुरायमान हो अर्थात् प्रकाश को प्राप्त हो (**परं-केवलम्**) केवल-सिर्फ (**कीदृशः सः**) वह आत्म स्वभाव कैसा (**नित्योदयः-नित्यं सदा उदयो यस्य सः**) जिसका उदत-प्रकाश निरंतर विद्यमान रहता है (**इति किम्**) ऐसा कैसा (**मयि-शुद्धभावे-आत्मनि**) शुद्ध स्वभाव स्वरूप आत्मा के (**उदिते-उदयं प्राप्ते**) उदय को प्राप्त (**सति**) होने पर (**अन्यभावैः-शुभाशुभोपयोगैः**) शुभ तथा अशुभरूप उपयोगों से (**किम्**) क्या (**न किमपि**) कुछ भी नहीं (**स्यात्**) हो सकता है ? (**कीदृशैस्तैः**) कैसे शुभाशुभ उपयोगों से — (**बन्धेत्यादिः-कर्मणां बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तयोः पन्थाः, मार्गः, तत्रपातिभिः-पतनशीलैः, अयं बन्धहेतुः, अयं मोक्षहेतुः इत्यादीनां भावानां प्रयोजनाभावात्**) क्योंकि कर्मों का बन्ध तथा उनका मोक्ष इन दोनों का जो मार्ग उसमें ले जाना ही जिनका स्वभाव है अर्थात् यह बंध का कारण है तथा यह मोक्ष का कारण है इत्यादि भावों से आत्मा का कोई प्रयोजन नहीं है। (**कीदृशे तस्मिन्**) कैसे आत्मस्वभाव में (**स्यादित्यादिः-स्याद्वादः-श्रुतं-भावश्रुतं तेन दीपितं, लसन्महः-उल्लसत्तेजो यस्य तस्मिन्**) स्याद्वाद-भावश्रुतज्ञान से प्रकाशित महान् तेज जिसमें प्रकाशमान है (**प्रकाशे-स्वपरप्रकाशात्मके**) ऐसे स्वपर के प्रकाश स्वरूप अर्थात् अपने स्वरूप को तथा अपने से भिन्न समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करना ही जिसका मुख्य स्वभाव है ऐसे (**पुनः**) फिर कैसे (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धस्वभावे महिमा-माहात्म्यं यस्य तस्मिन्**) आत्मा के परिपूर्ण शुद्ध-कर्ममलरहित-स्वरूप में ही जिसकी महत्ता विद्यमान रहती है ऐसे।

भावार्थ—भावना प्रधान मुमुक्षु यह भावना व्यक्त कर रहा है कि स्याद्वाद के यथार्थ ज्ञान से मुझे मेरी सच्ची आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जिससे मैं स्वयं ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख तथा अनंत वीर्यरूप अनंत चतुष्टय का धारी बनूं। यही मेरा खास स्वरूप है अतएव इसीसे मेरा मुख्य प्रयोजन है इससे भिन्न बंध के मार्ग तथा मोक्ष के मार्गभूत शुभाशुभ भावों से मेरा कोई खास प्रयोजन नहीं है ॥७६॥

(**अथ चिन्महो रोचते**) अब मुझे तो चैतन्यमय तेज ही रुचिकर है यह प्रकट करते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा—
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृत खण्डमेक—
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥७७॥

अन्वयार्थ—(**चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः**) नाना शक्तियों के समूहरूप (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा

(**नयेक्षणखण्ड्यमानः**) नयों की दृष्टियों से खण्डित किया गया (**सद्यः**) शीघ्र (**प्रणश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**तस्मात्**) इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि (**अखण्डम्**) अखण्ड (**अनिराकृत खण्डम्**) खंडों के निषेध से शून्य अर्थात् विवक्षा के वश से खण्ड सहित भी (**एकम्**) एक है (**एकान्त शान्तम्**) एक रूप से अत्यन्त ही शान्त अर्थात् कर्मजनित अशान्ति से भी शून्य होने से अत्यधिक शान्त (**अचलम्**) चञ्चलता रहित (**चित्**) चैतन्यमात्र (**महः**) तेज (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ।

सं० टीका—(**अयमात्मा-चिद्रूपः**) यह चैतन्य स्वरूप आत्मा (**नयेत्यादिः-नयानां द्रव्यपर्यायाणां ईक्षणं अवलोकनं तेन खण्डयमानः भिद्यमानः**) द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के दर्शन से खण्ड-भेद को प्राप्त हुआ (**प्रणश्यति-द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खण्डयते, इत्यर्थः**) अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से खण्ड को प्राप्त होता है। (**कीदृक्षः**) कैसा (**चित्रेत्यादिः-चित्राः नाना प्रकाराः ताश्च ताः आत्मशक्तयश्च जीवशक्ति चितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्ति प्रभुत्वशक्ति विभुत्वशक्ति सर्वदर्शित्वशक्ति सर्वज्ञत्वशक्ति स्वच्छत्वशक्ति प्रकाशशक्ति संकुचितविकासत्वशक्ति कार्यकारणशक्ति परिणाम्यपरिणामिकत्वशक्ति त्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पादव्ययध्रुवत्वपरिणाममूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्व निष्क्रियत्व नियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्व साधारणासाधारणधर्मत्वानन्तधर्मत्वविरुद्धधर्मत्व तत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्वभावाभावाभावाभावाभावभावाभावाभावाभावभावक्रिया कर्म कर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणत्व सम्बन्धादयः शक्तयः तासां समुदायेननिर्वृत्तः**) जीवशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति, प्रभुत्वशक्ति, विभुत्व शक्ति, सर्वदर्शित्वशक्ति, सर्वज्ञत्वशक्ति, स्वच्छत्वशक्ति, प्रकाशशक्ति, संकुचितशक्ति, विकासत्वशक्ति, कार्य कारण शक्ति, परिणाम्यपरिणामिकत्व शक्ति, त्यागोपादान शक्ति, शून्यत्वशक्ति, अगुरुलघुत्वशक्ति, उत्पादत्वशक्ति, व्ययत्वशक्ति, ध्रुवत्वशक्ति, परिणामत्वशक्ति, मूर्तत्वशक्ति, अकर्तृत्वभक्ति, अभोक्तृत्वशक्ति, निष्क्रियत्वशक्ति, नियतप्रदेशत्वशक्ति, स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति, साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति, अनन्तधर्मत्वशक्ति, विरुद्धधर्मत्वशक्ति, तत्त्वशक्ति, अतत्त्वशक्ति, एकत्वशक्ति, अनेकत्वशक्ति, भावत्वशक्ति, अभावत्वशक्ति, भावाभावत्व शक्ति, भावभावत्व शक्ति, अभावभावत्वशक्ति, अभावाभावत्व शक्ति, क्रियात्वशक्ति, कर्मत्वशक्ति, कर्तृत्वशक्ति, करणत्वशक्ति, सम्प्रदानत्व शक्ति, अपादानत्व शक्ति, अधिकरणत्व शक्ति तथा सम्बन्धत्व आदि नाना शक्तियों के समुदाय से निर्मित-सम्पन्न (**अस्मात्-कारणात्**) इस कारण से (**अहम्**) मैं (**चित्-चेतना**) चैतन्य रूप (**महः-धाम**) तेज (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**कीदृक्षम्-महः**) कैसा तेज (**अखण्डम्-न खण्ड्यते केनापीत्यखण्डम्**) अखण्ड–जिसका किसी के द्वारा भी खण्डन न हो सके अर्थात् अछेद्य (**अनिरित्यादिः-अनिराकृता-न दूरीकृता व्यवहार नयापेक्षया खण्डाः पर्याया यस्य तत्**) व्यवहारनय की अपेक्षा जिसके खण्ड दूर नहीं किये गये हैं अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से जिसके खण्ड यथायोग्य रीति से सम्भव हैं (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय (**कर्मव्यतिरिक्तत्वात्**) कर्मों से सर्वथा भिन्न स्वरूप होने के कारण (**एकान्तशान्तम्-एकान्तेन अद्वितीयेन स्वभावेन शान्तं समारूढम्**) अद्वितीय स्वभाव से शान्त भावमय (**पुनः**) फिर कैसा (**अचलम्-स्वस्वभावत्वादविनश्वरत्वान्निश्चलम्**)

स्वकीय स्वभाव से अविनाशी होने के कारण निश्चल ।

भावार्थ—आत्मा अनन्त शक्तियों का एक अखण्ड पिण्ड है तथापि उन भिन्न-भिन्न शक्तियों को ग्रहण करने वाले नयों की दृष्टि से आत्मा खण्ड-खण्ड सा प्रतीत होता है जिससे एकान्ती खण्ड-खण्डरूप ही आत्मा को मान बैठते हैं। अतः स्याद्वादी उन विभिन्न नयों की दृष्टि को गौणकर-अनन्त शक्तिस्वरूप सामान्य विशेषात्मक सर्वगुण पर्यायमय एक अखण्ड द्रव्यरूप से ही आत्मा का अनुभव करता है जो यथार्थ है निर्विरोध है और है वस्तुस्थिति मूलक ।

(अथ ज्ञानम मात्रत्वं मन्यते आत्मनः) अब आत्मा ज्ञानमात्र है यह विचार प्रस्तुत करते हैं—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**अयम्**) यह (**ज्ञानमात्रः**) ज्ञान स्वरूप (**भावः**) पदार्थ (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ (**सः**) वह मैं (**ज्ञेयज्ञानमात्रः**) ज्ञेय के ज्ञानमात्र (**ज्ञेयः**) जानने योग्य (**नैव**) नहीं (**अस्मि**) हूँ किन्तु (**ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्**) ज्ञेयों-पदार्थों के आकार जो ज्ञान के कल्लोल-परिणमन उनको बलात् प्राप्त करता हुआ (**अहम्**) मैं (**ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः**) स्वयं ही ज्ञान ज्ञेय और ज्ञातास्वरूप एकमात्र वस्तु हूँ। (**ज्ञेयः**) ऐसा जानना चाहिए।

सं० टीका—(**योऽयं प्रसिद्धः**) जो यह प्रसिद्ध (**ज्ञानमात्रः-ज्ञानस्यमात्रं-कात्स्न्र्यं यत्र स**) ज्ञानमात्र-परिपूर्ण ज्ञानशाली (**भावः-पदार्थः**) पदार्थ है (**स एवाहम्**) वही मैं (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**यः**) जो (**ज्ञेयज्ञान-मात्रः-ज्ञेयानां-पदार्थानां ज्ञानमात्रः-तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्रः**) पदार्थों की उत्पत्ति आदि शब्द से व्यय एवं ध्रौव्य आदि पदार्थाकार मात्रज्ञान (**अस्ति**) है (**सोऽहं नैव ज्ञेयः ज्ञातव्यः**) तन्मात्र ही मुझे नहीं मानना चाहिए (**तर्हि कीदृशोऽहम्**) तो मैं कैसा हूँ ? (**ज्ञेयेत्यादिः-ज्ञेयश्च ज्ञानञ्च तत्परिच्छेदकम्-ज्ञेयज्ञाने तयोः कल्लोलाः-वीचयः-अर्थाद्विवर्तास्तत्रवल्गत्-वल्गनं कुर्वंत्-तद्ग्रहणं कुर्वन्नित्यर्थः तच्च तज्ज्ञानं च तदेवज्ञेयं परि-च्छेद्यं तस्य यो ज्ञातृमत् ज्ञायकं-परिच्छेदकं तच्च तद्वस्तु च तदेव मात्रं प्रमाणं यस्य सः**) ज्ञेय-पदार्थ तथा ज्ञान-पदार्थ का परिच्छेदक-ज्ञायक इन दोनों के कल्लोल अर्थात् पर्यायों को ग्रहण करने वाला ज्ञान स्वयं ही ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञातारूप वस्तु है (**एवम्**) ऐसा (**ज्ञेयः-ज्ञातव्यः**) जानना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानी विचार करता है कि मैं ज्ञान मात्र एक पदार्थ हूँ सो मुझे केवल ज्ञेय के जाननेमात्र नहीं समझना चाहिए किन्तु मैं तो स्वयं ही ज्ञान हूँ ज्ञेय हूँ और ज्ञाता हूँ यह त्रिविधरूपता मेरे में स्वभावतः विद्यमान है। क्योंकि ज्ञान में जो ज्ञेय परपदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वे मेरे ही ज्ञान के परिणमन हैं। मैं उन्हें स्वयं ही अनुभवन करता हूँ। यह भेद दृष्टि है। अभेद दृष्टि में तो मैं ज्ञानमात्र सामाग्य विशेषात्मक एक तत्त्व हूँ ऐसा जानना चाहिए वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है ॥७८॥

(अथात्मनः प्रतिभासभेदं संपूरयति) अब आत्मा के प्रतिभासात्मक भेद का निरूपण करते हैं—

क्वचिल्लसतिमेचकं क्वचिन्मेचकामेचकम्-
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः-
परस्पर सुसंहतप्रकट शक्तिचक्रं स्फुरत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(**मम**) मेरा (**तत्त्वम्**) स्वरूप (**क्वचित्**) किसी समय (**मेचकम्**) अनेकाकार, अशुद्ध (**लसति**) प्रतिभासित होता है। (**क्वचित्**) किसी काल में (**सहजम्**) स्वभाव से (**एव**) ही (**अमेचकम्**) एकाकार-शुद्ध (**लसति**) प्रतीत होता है (**पुनः**) और (**क्वचित्**) किसी समय (**मेचकामेचकम्**) अनेकाकार तथा एकाकार (**लसति**) मालूम पड़ता है (**तथापि**) तो भी (**परस्पर सुसंहृत प्रकटशक्ति चक्रम्**) आपस में सम्यक् प्रकार से सम्मिलित स्पष्ट शक्तियों का समूहरूप (**स्फुरत्**) देदीप्यमान (**तत्**) वह आत्मस्वरूप (**अमलमेधसाम्**) निर्मल बुद्धि वालों अर्थात् सम्यग्ज्ञानियों के (**मनः**) मन को (**न**) नहीं (**विमोहयति**) विमोहित करता है अर्थात् संशित एवं विपर्यस्त नहीं होने देता है।

सं० टीका—(**ममात्मनः**) मेरी आत्मा का (**तत्त्वं-ज्ञानस्वरूपम्**) ज्ञानस्वभाव (**क्वचित्-कस्मिन् क्षणे**) किसी समय (**बहिः पदार्थ ग्रहणसमये**) अर्थात् बाह्य पदार्थों के ग्रहण-जानने के समय में (**मेचकं-चित्रस्वरूपम्**) चित्र-विचित्र स्वरूप वाला (**पक्षान्तरे-रागद्वेष कलुषीकृतं वा**) पक्षान्तर में राग-द्वेष से कलुषित किया गया (**लसति-विलासं करोति**) प्रतिभासित होता है (**पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यमिति वचनात्**) पांच वर्णों वाला रत्न मेचक कहलाता है इस वचन से (**तद्वत्**) वैसे ही (**ज्ञानमपि चित्राकारं मेचकं भण्यते**) चित्र–नाना आकार वाला ज्ञान भी मेचक कहलाता है (**पुनः-भूयः**) फिर (**क्वचित्-सहज-शुद्धटङ्कोत्कीर्णस्वरस स्वभावालम्बन समये**) सहज-शुद्ध स्वभाव से कर्ममल शून्य टांकी से खोदे हुए के समान आत्मिक आनन्दरूप रसरूप स्वभाव के आलम्बन के समय (**अमेचकम्-बहिश्चित्राकार रहितम्**) बाह्य में नाना आकारों से रहित (**रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा**) अथवा अन्तरंग में राग-द्वेष तथा मोहरूप मल से शून्य (**विलसति**) विराजमान रहता है। (**कीदृक्षम्**) फिर भी कैसा ? (**सहजम्-यदमेचक स्वरूपंतत्स्वरसजम्**) जो नाना आकारों से शून्यता है वह आत्मिक रस से उत्पन्न हुई है अतएव स्वाभाविक है (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात्**) क्योंकि रागादि परभाव आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों के निमित्त की अपेक्षा रखते हैं (**पुनः**) फिर (**कीदृक्षम्**) कैसा (**क्वचित्-स्वपरग्रहणोन्मुखसमयेः**) स्व-आत्मा तथा पर पुद्गलादि द्रव्यों के ग्रहण करने की उन्मुखता के काल में (**मेचकामेचकम्-परस्वरूप-ग्रहणेन मेचकम्-स्वरूपग्रहणेनामेचकम्**) पर पदार्थ के स्वरूप के ग्रहण-जानने के समय में मेचक-नाना आकाररूप तथा स्व-अपने स्वरूप के ग्रहण-जानने के समय में अमेचक-एकाकाररूप (**प्रतिभासते**) प्रतीत होता है (**तथापि-मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासेऽपि**) तो भी अर्थात् मेचक नाना आकार तथा अमेचक-एका-काररूप स्वरूप के प्रतिभासित होने पर भी (**तत्-आत्मतत्त्वम् कर्तृ**) वह आत्मतत्त्वरूप कर्ता (**अमलमे-**

धसां-निर्मलज्ञानिनाम्) निर्मल ज्ञानियों सम्यग्ज्ञानियों के **(मनः-चित्तम्)** चित्त को **(कर्मतापन्नम्)** जो कर्मत्व अवस्था को प्राप्त है **(न विमोहयति-मोहम्-न प्रापयति)** मोह को नहीं प्राप्त कराता है अर्थात् विपरीत ज्ञानी नहीं होने देता है **(सहेतुविशेषण माह)** इसी अर्थ को समर्थित करने के हेतु-सहेतुक हेतु के साथ विशेषण कहते हैं--वह कैसा है **(परस्परेत्यादिः-परस्परमन्योऽन्यं सुसंहता-सम्यगमिलिता सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं तेषां चक्रं समूहोयत्र तत्)** जिसमें आपस में भले प्रकार से स्पष्ट शक्तियों का समुदाय मिलजुल रहा है **(पुनः)** फिर **(कीदृक्षम्)** कैसा **(स्फुरत्-देदीप्यमानम्)** सर्वतः प्रकाशमान है।

भावार्थ—यह आत्मतत्त्व जो अनन्त शक्तियों का स्वाभाविक पुञ्ज है। कभी तो अनेकाकार रूप से अनुभव में आता है और कभी एकाकार रूप से। तथा कभी एकाकार एवं अनेकाकार रूप से ज्ञान का विषय होता है। इसका कारण कभी तो परपदार्थों के जानने की उन्मुखता होती है और कभी परनिरपेक्ष स्व को जानने की उन्मुखता होती है और कभी दोनों को जानने की तत्परता होती है। इतना सब कुछ होते हुए भी यह पूर्वोक्त आत्मतत्त्व की विविधरूपता आत्मज्ञानी महापुरुषों को कदापि विमुग्ध नहीं करती है। क्योंकि वे ज्ञानी जन स्याद्वाद की कसौटी पर कस कर ही तत्त्व की मीमांसा करते हैं। अतएव संशयालु नहीं होते प्रत्युत परम निश्चल निष्कर्ष पर पहुंचकर तत्त्व जिज्ञासा की परिपूर्ति में पूर्णतया सफल सिद्ध होते हैं ॥७९॥

(अथैकत्वानेकत्वादि प्रतिभासनं दाभायते) अब एकत्व तथा अनेकत्व आदि के प्रतिभास को प्रकट करते हैं—

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥८०॥

अन्वयार्थ—**(इतः)** इधर-एक तरफ पर्याय दृष्टि से **(अनेकताम्)** अनेकता को **(गतम्)** प्राप्त **(अपि)** और **(इतः)** एक ओर द्रव्य दृष्टि से **(सदा)** निरन्तर **(एकताम्)** एकता को **(दधत्)** धारण करता **(इतः)** इधर-एक तरफ **(क्षणभङ्गुरम्)** क्रमवर्ती पर्याय की अपेक्षा से क्षणनश्वर **(इतः)** इधर-एक ओर **(सदा)** सर्वदा-हमेशा **(एव)** ही **(उदयात्)** उदय होने से **(-ध्रुवम्)** अर्थात् सहभावी गुण की अपेक्षा से ध्रुव-नित्य **(इतः)** इधर एक तरफ **(परमविस्तृतम्)** अतिशय विस्तार स्वरूप अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से सर्व व्यपक **(इतः)** इधर-एक ओर **(निजैः)** अपने **(प्रदेशैः)** प्रदेशों से जो संख्यातीत है **(धृतम्)** धारण किया हुआ **(अहो)** आश्चर्य है कि—**(तत्)** वह **(आत्मनः)** आत्मा का **(इदम्)** यह **(सहजम्)** स्वाभाविक **(अद्भुतम्)** अद्भुत आश्चर्य कारक **(वैभवम्)** वैभव-ऐश्वर्य **(अस्ति)** है।

सं० टीका—**(अहो-आश्चर्ये)** अहो-यह अव्यय आश्चर्य अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् आश्चर्य है

(**तदिदम्**) वह यह (**आत्मनः-चिद्रूपस्य**) चैतन्यमय आत्मा का (**सहजं-स्वाभाविकम्**) नैसर्गिक (**वैभवं माहात्म्यम्**) महत्त्व (**अद्भुतम्-आश्चर्यकारि**) आश्चर्य को करने वाला है (**तत् किम्**) वह क्या (**यदिदम्**) जो यह (**इत-अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्**) शुद्ध पर्याय की विवक्षा से (**अनेकतां-ज्ञानदर्शन स्ववीर्याद्यनेकस्व-रूपम्**) ज्ञान, दर्शन, आत्मशक्ति आदि अनेक स्वरूपता को (**गतं-प्राप्तम्**) प्राप्त हुआ (**अपि-पुनः**) और (**यत्**) जो (**इतः-अस्मात् संग्रहनयात्**) संग्रहनय से (**सदापि-सर्वदापि**) निरन्तर ही (**एकतां-आत्मद्रव्येणै-कत्वम्**) आत्मद्रव्य की दृष्टि से एकता को (**गतं-प्राप्तम्**) प्राप्त हुआ (**ननु यदनेकं तदेकं कथम् स्यात्**) जो एक अनेक है वह एक कैसे हो सकता है (**अन्यथा**) यदि अनेक एक हो सकता हो तो (**घटपटादीनाम-नेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेत्**) घट-पट आदि की अनेकता में भी एकता होगी यदि ऐसी तुम्हारी आशङ्का हो तो वह ठीक (**न**) नहीं है (**नयार्पणादेकत्वानेकत्व घटनात्**) क्योंकि नय की विवक्षा से एकता तथा अनेकता की व्यवस्था होती है (**सदात्मना घटादीनामनेकत्वेऽपि, एकत्व घटनाच्च**) कारण कि जो घट आदि अनेक कहे जाते हैं वे ही सत् की अपेक्षा से एक कहे जाते हैं (**अन्यथाऽभाव प्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न माना जायगा तो उनके अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**यत्**) जो (**इतः-ऋजुसूत्रनयात्**) ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा से जो मात्र वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है—जानता है (**क्षणविभङ्गुरम्-प्रतिक्षणं विनश्वरम्**) प्रति समय विनशनशील (**पुनः**) और (**यत्**) जो (**इतः द्रव्यार्थिकनयात्**) द्रव्यार्थिक-सामान्या-र्थिक-नय की अपेक्षा से (**सदैव-नित्यमेव**) सर्वदा ही-हमेशा ही (**ध्रुवम्-नित्यम्**) नित्य-अविनाशी (**सदैवो-दयात् उत्पादाद्यभावे सदाप्रकाशमानत्वात्**) उत्पाद व्ययके अविवक्षित होनेसे ही निरन्तर प्रकाशमान (**ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योऽन्यं विरोधात्**) कोई आशङ्का करता है कि जो क्षणनश्वर है वह ध्रुव-नित्य कैसे हो सकता है क्योंकि उक्त दोनों में शीत तथा उष्ण की तरह परस्पर में सर्वथा विरोध लक्षित होता है (**इतिचेन्न**) ऐसी तुम्हारी आशङ्का ठीक नहीं है क्योंकि (**नयविवक्षासद्भावात्**) नय की विवक्षा के वश से उक्त प्रकार का कथन सुसङ्गत ही है (**मृद्द्रव्यवत्**) मृत्तिकारूप द्रव्य के समान (**यथा मृद्द्रव्यं-मृत्पिण्डाकारेणविनष्टं तद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वञ्च**) जैसे मृत्तिकारूप द्रव्य मृत्तिका के पिण्डाकार रूप से विनष्ट होता हुआ भी घट के आकार से उत्पन्न होता है और मृत्तिका के रूप से ध्रुव नित्य बना रहता है (**तथात्मद्रव्यस्यापि**) वैसे ही आत्मद्रव्य के विषय में भी ध्रुवता कायम रहती है अर्थात् पूर्व पर्याय का विनाश तथा उत्तर पर्याय के उत्पाद में भी आत्मद्रव्य बराबर बना ही रहता है उसका विनाश कथमपि और कदापि सम्भव नहीं है। (**यत्**) जो (**पुनः**) फिर (**इतः-द्रव्यार्पणात्**) द्रव्या-र्थिक नय की विवक्षा से (**परं-केवलम्**) सिर्फ (**अविस्तृतम्-विस्ताराभावविशिष्टम्**) विस्तार से रहित है (**इतः-पर्यायविवक्षातः**) पर्याय की विवक्षा से (**निजैः-आत्मीयैः**) अपने (**प्रदेशैः-असंख्यसंख्यावच्छिन्नैः**) असंख्यातरूप संख्या से युक्त अर्थात् संख्यातीत प्रदेशों से (**धृतम्-भृतम्**) भरपूर (**विस्तारिद्रव्यमित्यर्थः**) अर्थात् विस्तारवान् द्रव्य है।

भावार्थ—आत्मा का वह नैसर्गिक आश्चर्यकारक ऐश्वर्य है जो आत्मा एक ओर अनेकरूप धारण

करता है तो एक तरफ एक ही रूप वाला मालूम पड़ता है। एक तरफ क्षण विनाशी है तो एक ओर नित्य अविनाशी है एक तरफ व्यापक है तो एक ओर अपने ही असंख्यात प्रदेशों के बराबर है। यह सब विविध अपेक्षाओं से सुसङ्गत ही है क्योंकि आत्मा में अनेकता का विधान पर्यायदृष्टि है एकता का निरूपण द्रव्य दृष्टि है। क्षणनश्वरता क्रमवर्ती पर्याय के आश्रित है अविनश्वरता सहवर्ती गुणों की दृष्टि से है सर्व व्यापकता ज्ञान गुण की अपेक्षा पर आधारित है क्योंकि ज्ञान का ज्ञेयमात्र के साथ ज्ञायकता का सम्बन्ध स्वाभाविक है। संकुचितता अपने ही असंख्यात प्रदेशों की ओर देखने से सिद्ध होती है, यह सब सापेक्षवाद पर निर्भर है।

(अथात्मनः स्वभावो विजयते) अब आत्मा का स्वभाव विजयशील है यह प्रकट करते हैं—

कषायकलिरेकतः स्खलतिशान्तिरस्त्येकतो—
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥८१॥

अन्वयार्थ—(एकतः) एक तरफ अर्थात् अशुद्ध नय की अपेक्षा से **(कषायकलिः)** कषायों का कलह अर्थात् राग-द्वेष आदि का क्लेश **(स्खलति)** खलबली मचाता है कष्ट देता है तो **(एकतः)** एक ओर अर्थात् शुद्ध नय की विवक्षा से **(शान्तिः)** क्रोधादि का उपशम **(अस्ति)** है **(एकतः)** एक तरफ—व्यवहार नय की अपेक्षा से **(भवोपहतिः)** पञ्चपरावर्तनरूप संसार का कष्ट **(स्पृशति)** आश्रय करता है तो **(एकतः)** एक ओर— **(मुक्तिः)** कर्मबन्धन से छुटकारा **(अपि)** भी **(स्पृशति)** आत्मा को स्पर्श करता है **(एकतः)** एक तरफ अर्थात् केवल ज्ञान की दृष्टि से **(जगत्त्रितयम्)** तीनों जगत् **(स्फुरति)** स्फुरायमान हैं—प्रकाशमान हैं **(एकतः-)** एक ओर **(चित्)** चैतन्य **(चकास्ति)** सुशोभित है **(एवम्)** इस प्रकार से **(आत्मनः)** आत्मा की **(स्वभावमहिमा)** स्वभाव महिमा **(अद्भुतात्)** आश्चर्य से **(अद्भुतः)** आश्चर्यकारक **(विजयते)** विजयशील है अर्थात् सर्वोपरिरूप से विराजमान है किसी से भी कदापि कथमपि बाधित नहीं है।

सं० टीका—(विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते) सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान है **(कः)** कौन **(स्वभावमहिमा-ज्ञानस्वरूपमाहात्म्यम्)** ज्ञान स्वभाव का महत्त्व **(कस्य)** किसका **(आत्मनः-चिद्रूपस्य)** चैतन्य स्वरूप आत्मा का **(अद्भुतः-आश्चर्योद्रेककारी)** अद्भुत—आश्चर्य के उद्रेक को करने वाला **(कुतः)** किससे **(अद्भुतात्-आश्चर्यकारि जगत्पदार्थात्)** विस्मयकारक जगत के पदार्थों से **(तत्कथमित्याह)** वह कैसे ? यह बताते हैं **(एकतः-एकस्मिन्नंशे)** एक अंश में **(कषायकलिः-रागद्वेषमोहकलहः)** राग-द्वेष मोहरूप कषाय का कलह **(स्खलति)** सञ्चार को प्राप्त करता है **(एकतः-शुद्धनिश्चय नयावलम्बनांशे)** शुद्ध निश्चय नय के आलम्बन के समय में **(शान्तिः-परम साम्यम्)** सर्वोपरि शान्ति **(अस्ति-विद्यते)** रहती है **(एकतः-व्यवहार नयावलम्बनांशे)** व्यवहार नय के अवलम्बन के काल में **(भवोपहतिः-भवस्य-द्रव्यादिपञ्चधा-**

संसारस्य उपहृतिः-प्राप्तिरस्ति) द्रव्य क्षेत्र काल भव तथा भावरूप पांच प्रकार के संसार की उपलब्धि है। (**एकतः-शुद्धनयांशे**) शुद्ध नय के आश्रय के समय में (**मुक्तिरपि-कर्ममलमोचनमपि**) कर्ममल का मोक्ष भी (**स्पृशति-आश्रयति-आत्मानम्**) आत्मा को स्पर्श करता है—सेवन करता है (**एकतः-एकस्मिन्नंशे**) एक अंशमें (**जगत्त्रयं-गच्छन्तीति जगन्ति-गम्लृगतौ, इत्यस्यधातोः "द्युति गमोर्द्वेचेति" क्विप् प्रत्ययेनोति-सिद्धं जगतां त्रयं-अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिकम्**) अधोमध्य तथा ऊर्ध्व के भेद से तीन जगत् (**स्फुरति-चकास्ति**) शोभमान रहता है (**एकतः-एकांशे**) एक अंश में (**चित्-ज्ञानम्**) ज्ञान (**चकास्ति-द्योतते**) शोभित होता है।

भावार्थ—आत्मा की पूर्वोक्त प्रकार की स्वाभाविक महिमा को—जो अपने आप में लोकोत्तर वैचित्र्य को स्थापित किये हुए है—सुनकर सर्वथा एकान्तवादियों को तो विरोधात्मक आश्चर्य को उत्पन्न करती है पर वही महिमा अनेकान्ती स्याद्वादी को स्वभाव गत होने से थोड़ा-सा भी विस्मय नहीं पैदा करती। क्योंकि वह वस्तु स्वरूप का पारखी है किसी का कथन किसी अपेक्षाविशेष से सम्बन्धित होता ही है वह उसी अपेक्षा की ओर दृष्टि कर उसका भले प्रकार से समन्वय कर लेता है। अतएव वह मिथ्या आश्चर्य में नहीं पड़ता है उसे सभी निर्विरोध ही प्रतीत होते हैं। इसलिए विस्मय को उसके हृदय में स्थान ही नहीं मिलता है यही इसका फलितार्थ है।

यहाँ बताया है कि जब हम अपने आपको पर्यायदृष्टि से देखते हैं तब राग-द्वेषरूप परिणमन करते हुए, शरीर से युक्त, कर्मों से बंधे हुए दुःखी पाते हैं। परन्तु उसी समय जब अपने को द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तब एक अकेला अभेद अखण्ड ज्ञान का कंदरूप, आनन्दरूप अनुभव में आता है। द्रव्यदृष्टि का विषय-भूत वस्तु त्रिकाल है उसके अभाव में तो वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। ऐसा नहीं है कि शुद्ध होने पर शुद्ध का अनुभव होगा। आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल पर से भिन्न शुद्ध है उसी का अपनेरूप अनुभव करने पर शरीरादि के प्रति ममतबुद्धि का अभाव होकर पर्याय में शुद्ध सिद्ध होगा। यह आप ही अनुभव करने वाला अपने को पर्यायरूप-संयोग में एकत्वरूप तो अनुभव कर रहा है परन्तु अपने निज स्वभावरूप जैसा त्रिकाल है वैसा अनुभव नहीं करता यह अचंभा है। यह तो इसी का चुनाव है अपने को पर्यायरूप अनुभव करता है, अपने को द्रव्य स्वभावरूप भी अनुभव कर सकता है। अनंतानंत तीर्थंकरों ने-केवलियों ने यह कहा है कि तू घर में रहते हुए अपने को अपने द्रव्य स्वभावरूप अनुभव कर सकता है ज्ञानियों ने अनुभव किया है। इस अनुभव का निषेध करने से मोक्षमार्ग का, सम्यक्‌दर्शन का ही निषेध हो जायेगा। एक व्यक्ति स्त्री का पार्ट करते हुए स्त्रीरूप तो अपने को अनुभव कर ले और अपने को पुरुष रूप अनुभव न करे जैसा वह है यह आश्चर्य की बात है। परन्तु उसके स्त्री के पार्ट में अपनापना अथवा स्त्रीपना तभी छूटेगा जब अपने को पुरुषरूप अनुभव करेगा। स्त्री का पार्ट करते हुए भी वह पुरुष है पुरुष ही रहेगा वह स्त्री नहीं हो सकता। ऐसे ही यह आत्मा ८४ लाख योनियों में पार्ट करते हुए भी चैतन्य है चैतन्य ही रहेगा अन्यरूप नहीं हो सकता। अगर तू अनुभव कर लेगा तो तू ८४ लाख योनियों से रहित हो जावेगा। तू अनुभव कर सकता है। पर्यायरूप अवस्था होती तो है निमित्त-नैमैत्तिक सम्बन्ध से

उसको तू अपने रूप माना—उसका कर्त्ता बनता है जिससे अहंकार पैदा होता है। अपने स्वभाव का ज्ञान कर ले तो पर्याय तो होगी परन्तु उसमें अपनापना नहीं रहेगा, अतः मिथ्यात्व तो नहीं रहा। परन्तु अभी तक उस परिणमन में, कार्यों में—विकल्प उठता है यह चारित्रमोह है। परन्तु जब उन परिणमनों का मात्र ज्ञाता दृष्टा ही रहे, मात्र जानने-देखने वाला ही रहे जैसा तेरा स्वभाव है अथवा स्वभाव में लीन हो जावे तब राग-द्वेष से रहित होता है। पर वस्तु का परिणमन तो उनके निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्धरूप से होता है तेरे करने से नहीं होता। तेरे हेर-फेर करने के विकल्प से हेर-फेर नहीं होता है जैसे होने का है वैसा होता है। तू अज्ञानता से कर्त्ता बनता है अहम् को प्राप्त होता है और उनमें विकल्प उठाकर आकुलता को प्राप्त होता है जिससे कर्मबंध होता है। आचार्य कहते हैं कि ज्ञाता दृष्टा रूप अपने स्वभाव का निर्णय कर और ज्ञाता दृष्टा ही रह जा वही तेरा कार्य है जिससे अचिर काल में राग-द्वेष का अभाव हो परमात्मा हो जायेगा। जो ऐसे निज स्वभाव की श्रद्धा करे और उस रूप रहे उसी के सम्यक्दर्शन-ज्ञानचारित्र की एकता है। पर को निज मानने से राग-द्वेष हुए हैं जिसका अभाव अपने को अपनेरूप अनुभव करने से ही होगा। राग-द्वेष का अभाव ही परमात्मा होना है ॥८१॥

(**अथैकत्वं तस्य जेगीयते**) अब उस आत्मा के एकत्व का अतिशयरूप से यशोगान करते हैं—

जयति सहज तेजः पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरस विसरपूर्णाच्छिन्न तत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥८२॥

अन्वयार्थ—(**सहज तेजः पुञ्ज मज्जत् त्रिलोकी स्खलदखिलविकल्पः**) स्वभावरूप ज्ञानात्मक प्रकाश के समूह में प्रतिविम्बित तीन लोक के स्फुरायमान समस्त विकल्पों वाला (**अपि**) भी (**एकः**) एक (**एव**) ही (**स्वरूपः**) स्वरूप वाला (**स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्न तत्त्वोपलम्भः**) आत्मरस के समूह से परिपूर्ण अखण्ड आत्मस्वरूप की समुपलब्धि वाला (**प्रसभनियमितार्चिः**) आत्मिक बल की प्रबलता से निश्चित ज्ञान ज्योति वाला (**एषः**) यह (**चिच्चमत्कारः**) चैतन्य का चमत्काररूप आत्मा (**जयति**) सर्वोपरि विराजमान है।

सं० टीका—(**एषः-प्रत्यक्षः**) यह प्रत्यक्ष (**चिच्चमत्कारः-चैतन्याश्चर्योद्रेकः**) आत्मा का आश्चर्यकारक अतिशय (**जयति-सर्वोत्कर्षेणवर्तते**) सबसे श्रेष्ठ है जयवान् है (**कीदृशः**) कैसा अतिशय (**सहजेत्यादिः-सहजं स्वभाविकं-तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः तस्य पुञ्जः द्विकवारानन्तशक्तिसमूहः तत्र मज्जन्ती मज्जनं कुर्वन्ती प्रतिभासमानेत्यर्थः सा चासौ त्रिलोकी च-त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तया स्खलन्तः चलन्तः अखिलविकल्पाः स्तद्विषयरूपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः**) स्वाभाविक ज्ञान ज्योति के अनन्तानन्त समूह में

प्रतिविम्बित जगत्त्रय के प्रवर्तमान समस्त विकल्पों को जानने वाला (ईदृशोऽपि) ऐसा होता हुआ भी (**एक एव-अद्वितीय एव**) अद्वितीय ही (**स्वरूप: स्वस्य-आत्मनः रूपं स्वरूपं यत्र सः**) जिसमें अपना निज का रूप विद्यमान है (पुनः) फिर कैसा (**स्वेत्यादिः-स्वरसः स्वभावः तस्य विसरः समूहः तेन पूर्ण सम्पूर्णं तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखण्डात्मतत्त्वं तस्योपलम्भः प्राप्तिर्यत्र सः**) स्वकीय स्वभाव के समूह से परिपूर्ण अखण्ड आत्मतत्त्वसे समुपलक्षित (पुनः) फिर कैसा (**प्रसभेत्यादिः-प्रसभेन बलात्कारेण नियमितं लोकालोक प्रकाशकत्वेन निश्चयीकृतं—अपर प्रकाश्यस्याभावार्वाचस्तेजोयस्य सः**) जिसका तेज स्वभाव से लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला होने से सुनिश्चित है क्योंकि लोक और अलोक के अतिरिक्त प्रकाशनीय पदार्थ हैं ही नहीं जिन्हें कि वह प्रकाश में ला सके।

भावार्थ—त्रिलोकवर्ती पदार्थों में एक मात्र आत्म पदार्थ ही सर्वोपरि है। क्योंकि आत्मा ही अपने को तथा अपने से जुदे सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों को अपने ही स्वभावभूत अनन्त ज्ञानात्मक अखण्ड एवं प्रचण्ड तेज से निरन्तर प्रकाशित करता रहता है इसी आत्मा में अनन्त ज्ञान की भांति अनन्तदर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति भी अविनाभाव रूप से विराजमान रहती है। ऐसा अनन्त चतुष्टय परि-मण्डित आत्मा सर्वदा जयशील हो ऐसी अन्तिम मङ्गलकामना ग्रन्थकार ने परिव्यक्त की है जो भावभीनी है और है भावनीय।

(**अथ कर्तृतागर्भितमात्म ज्योतिर्जाज्वल्पते**) अब कर्ता के कर्तृत्व से संयुक्त आत्मज्योति का उद्योत अतिशय रूप से उद्योतित करते हैं—

अविचलित चिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरत निमग्नं धारयद्ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्र ज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावम्॥८३॥

अन्वयार्थ—(**अविचलितचिदात्मनि**) निश्चल चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा में (**अनवरतनिम-ग्नम्**) निरन्तर ओतप्रोत (**आत्मानम्**) आत्मा को (**आत्मना**) अपने द्वारा (**धारयत्**) धारण कराता हुआ (**ध्वस्तमोहम्**) मोह रहित (**विमल पूर्णम्**) कर्ममल से रहित होने के कारण परिपूर्ण (**निस्सपत्नस्वभावम्**) कर्मरूप वैरियों से शून्य स्वभाव वाला (**उदितम्**) उदय को प्राप्त (**एतत्**) यह (**अमृतचन्द्र ज्योतिः**) मोक्ष रूप चन्द्रमा का प्रकाश (**समन्तात्**) सब ओर (**ज्वलतु**) देदीप्यमान-प्रकाशमान रहे। "अमृतचन्द्र आचार्य के पक्ष में" (**अविचलित चिदात्मनि**) अविनश्वर चेतनात्मक स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मतत्त्व में (**अनवरत-निमग्नम्**) निरन्तर सदा स्थिर रहने वाले (**आत्मानम्**) अपने आत्मतत्त्व को (**आत्मना**) अपने ही आत्म-तत्त्व द्वारा (**आत्मनि**) अपने ही आत्मा में (**धारयत्**) धारण कराता हुआ-स्थिर कराता हुआ (**ध्वस्त-मोहम्**) जिससे मोह नाश को प्राप्त होता है ऐसा (**विमलपूर्णम्**) अज्ञान अथवा असत्य आदि मल से रहित

अतएव ज्ञान एवं सत्यादि से भरपूर अथवा निर्दोष वाच्यार्थ से भरपूर (**निःसपत्नस्वभावम्**) एकान्तवाद रूप वैरियों से रहित स्वभाव वाला (**उदितम्**) उदय में-प्रकाश में आया हुआ अर्थात् तत्त्व जिज्ञासुओं को यथार्थ बोध कराने में सक्षम (**एतत्**) यह (**अमृतचन्द्रज्योतिः**) अमृतचन्द्र आचार्य का वचनरूप महान् तेज-अनेकान्त सिद्धान्तरूप अविचल प्रकाश (**समन्तात्**) सब तरफ (**ज्वलतु**) प्रकाशमान रहे।

सं० टीका—(**समन्तात्-सामस्त्येन**) समस्त रूप से (**ज्वलतु-द्योतताम्**) जाज्वल्यमान-उद्योतमान रहे (**किम्**) क्या (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**अमृतेत्यादिः-न म्रियते यत्र-इत्यमृतं-मोक्षः तदेवचन्द्रः-चन्दयति-आह्लादयति-इति चन्द्रः तस्य ज्योतिः-ज्ञानतेजः इत्यर्थः अथवा अमृतचन्द्रसूरेर्वाग्ज्योतिः**) जिसमें मरण नहीं होता है वह अमृत है अर्थात् मोक्ष, जो आत्मा को आनन्दित करता है वह चन्द्र है अर्थात् मोक्षरूप चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् ज्ञानरूप तेज-प्रकाश अथवा अमृतचन्द्र सूरि के वचनों का तेज-प्रकाश (**कीदृक्षं-मोक्षज्ञानम्**) कैसा मोक्षज्ञान (**आत्मना ज्ञानेन कृत्वा**) ज्ञानसे (**आत्मनि-स्वस्वरूपे**) निजरूप में (**आत्मानम्-स्वस्वरूपम्**) अपनी आत्मा के निजरूप को (**धारयत्-दधत्**) धारण करता हुआ (**कीदृक्षे**) कैसे आत्मस्वरूप में (**अविचलितेत्यादिः-अविचलितः-शाश्वतः स चासौ चित् चेतना च स एवात्मा-स्वरूपं यस्य तस्मिन् तद्वाग्ज्योतिरपि स्वस्वरूपे स्वरूपं धारयितुं क्षमम्**) जिसका स्वरूप नित्य चेतना है और वह वचनात्मक तेज भी आत्मा के स्वरूप में आत्मा को प्राप्त कराने में पूर्णतया सक्षम है (**कीदृक्षं पुनः**) और वह कैसा (**आत्मनि**) आत्मा में (**अनवरत निमग्नम्-निरन्तरं-तदन्तः पातितम्**) निरन्तर आत्मस्वरूप में निरत (**पुनः**) फिर कैसा (**ध्वस्तमोहम्-ध्वस्तः-विनष्टोमोहो यत्र**) जिसमें मोह का समूलोच्छेद है (**यस्मात्प्राणिनां वा-तत्**) अथवा जिस अमृतचन्द्रसूरि के वचनों के उद्योत से प्राणियों के मोह का सर्वनाश होता है वह (**उदितं-उदयं प्राप्तम्**) वह उदय को प्राप्त हुआ (**वाग्ज्योतिरपि भव्यप्रतिबोधनायोदयं गतम्**) अनेकान्त-स्वरूप वचनों का तेज भी भव्य प्राणियों के प्रति बोध के हेतु उदय को प्राप्त हुआ (**पुनः**) फिर कैसा (**विमलपूर्णम्-विगतोमलोऽज्ञानादिरसत्यादिर्वा यस्मात्तत् पूर्णं ज्ञानादिगुणसम्पूर्णं विविधार्थ सम्पूर्णं च विमलं च तत् पूर्णं च तत्**) जिससे अज्ञान अथवा असत्य आदि विनष्ट हो चुके हैं ऐसा ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण और नाना प्रकार के अर्थों से भरपूर (**निरित्यादिः-निर्गताः-सपत्नाः-कर्मवैरिणः-एकान्तमतवादवैरिणश्च यस्मात्तत् तदेव स्वभावो यस्य तत्**) जिससे कर्मरूप वैरी निकल चुके हैं ऐसा ज्ञानप्रकाश जिसका है वह अथवा एकान्तमतवादी रूप शत्रु जिससे निकल चुके हैं ऐसा वचनों का प्रकाश जिसमें विद्यमान है वह।

भावार्थ—यहां अमृतचन्द्र ज्योति से आत्मज्ञान तथा अमृतचन्द्र आचार्य का वचनरूप प्रकाश में दो अर्थ ग्रहण किये गये हैं। आत्मज्ञानरूप चन्द्रमा का प्रकाश मोहरूप अन्धकार का नाश करने वाला है। कर्मरूप मल से रहित है एवं कर्मरूप वैरी से शून्य स्वभाव वाला है और निरन्तर निश्चल चिद्रूप आत्म-स्वभाव में अपने ही द्वारा अपने को अत्यन्तरूप निमग्न करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ ऐसा अमृतचन्द्र ज्योति सदा सर्वत्र देदीप्यमान रहे। अमृतचन्द्र आचार्य के वचनों का प्रकाश भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार का विनाश करता है और सम्यग्ज्ञान के प्रसार को उत्पन्न करता है। पूर्वापर विरोध को दूर करता हुआ

समीचीन वस्तु स्वभाव को प्रकट करने के कारण विमल है तथा एकान्तमतवादियों की कल्पित अतएव निस्सार युक्तियों से सर्वथा अबाधित है एवं यथार्थ आत्मस्वरूप में आत्मा को निमग्न करता है ऐसा अनेकान्त का उद्योत करने वाला स्याद्वादात्मक वचनरूप उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र एवं सर्वदा प्रकाशमान रहे ॥८३॥

(अथात्मकर्मणोर्द्वैतेऽपि ज्ञानोद्योतं नरीनृत्यते) अब आत्मा और कर्म के द्वैत में भी ज्ञान का उद्योत ही अतिशयरूप में प्रकाशमान रहता है यह प्रकट करते हैं—

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरम्—
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रिया कारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नाक्रियायाःफलम्—
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥८४॥

अन्वयार्थ – **(यस्मात्)** जिस अज्ञान के कारण **(पुरा)** पूर्व में **(द्वैतम्)** आत्मा और कर्म में द्वैत **(अभूत)** हुआ **(यतः)** और जिस से **(अत्र)** इस लोक में **(स्वपरयोः)** आत्मा और कर्म में **(अन्तरम्)** भेद **(भूतम्)** हुआ **(यतः)** और जिस से **(रागद्वेषपरिग्रहे)** राग और द्वेष के स्वीकार करने **(सति)** पर **(क्रियाकारकैः)** क्रिया और कारक **(जातम्)** उत्पन्न हुए **(यतः)** और जिससे **(क्रियायाः)** क्रिया के **(अखिलम्)** समस्त **(फलम्)** फल को **(भुञ्जाना)** भोगने वाली **(अनुभूति)** अनुभूति **(खिन्ना)** खेद को प्राप्त हुई **(तत्)** वह अज्ञान **(विज्ञानघनौघमग्नम्)** विज्ञान के नित्य समूह में निमग्न हुआ **(अधुना)** इस समय ज्ञानानुभूति के अवसर में **(किल)** निश्चय से **(किञ्चित्)** कोई भी कर्म **(किञ्चित्)** कुछ भी **(न)** नही **(अस्ति)** है ।

सं० टीका—**(तत्-कर्म)** वह कर्म **(विज्ञानघनौघमग्नम्-ज्ञाननिरन्तरसमूहान्तः पतितम्)** ज्ञान के नित्य समुदाय के मध्य में अन्तर्हित **(सत्)** होता हुआ **(अधुना-इदानीम्-ग्रन्थोक्त स्वार्थानुभावे जाते सति)** इस समय अर्थात् इसी ग्रन्थ में कहे हुये आत्मा के असली अनुभव के होने पर **(किञ्चित्-किमपि कर्म)** कोई भी कर्म **(किलेति-निश्चितम्)** किल— यह अव्यय निश्चित अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् निश्चय से **(न किञ्चित् न किमप्यर्थ क्रियाकारि)** किसी भी अर्थ क्रिया को करने वाला नहीं है **(अकिञ्चित्करत्वात्)** क्योंकि वह कर्म कुछ भी कार्य करने वाला नहीं है **(तत्-किम्)** वह कर्म कैसा **(यस्मात्-कर्मणः)** जिस कर्म से **(पुरा-पूर्वम्)** पहले-पुराने समय में **(द्वैतं-आत्मकर्मेतिद्वैविध्यं जातम्)** आत्मा और कर्म ये दुविधता हुई थी **(पुनः)** फिर **(अत्र-जगति)** इस जगत् में **(यतः-यस्मात्कर्मणः)** जिस कर्म से **(स्वपरयोः आत्मकर्मणोः)** आत्मा और कर्म को **(सिद्धस्वात्मनोर्वा)** अथवा सिद्ध और स्वात्मा का **(अन्तरं-भेदः)** अन्तर-भेद **(भूतः-समुत्पन्नः)** उत्पन्न हुआ **(क्व सति)** किसके होने पर **(रागेत्यादिः-रागद्वेषयोः परिग्रहे-अङ्गीकारे जातेसति)** राग और द्वेष के स्वीकार किये जाने पर **(पुनः)** फिर **(यतः-कर्मणः सकाशात्)** जिस कर्म के सम्बन्ध से

(**क्रियाकारकैः-आत्मनः-क्रियाः कर्म फलानुभवन रूपगमनागमनरूपाश्च कारकाणि-आत्मनः कर्तृत्व कर्मत्व करणत्वादीनि तैः**) आत्मा की कर्मफलों के अनुभवन-भोगनेरूप क्रिया तथा गमन और आगमनरूप क्रियाओं तथा आत्मा के कर्तृत्व, कर्मत्व, कारणत्व आदि कारकों का (**जातम्-उत्पन्नम्**) उद्भूत होना है (**कर्मान्तरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्**) क्योंकि कर्मों के बिना आत्मा का कर्ता कर्म एवं क्रियारूप होना सम्भव नहीं है। (**च-पुनः**) और (**यतः यस्मात्कर्मणः**) जिस कर्म से (**अनुभूतिः-कर्मफलानुभवनम्**) कर्मों के फलों सुखदुःखादिकों का अनुभवन-वेदनरूप अनुभूति (**खिन्ना-खेदं गता**) खेद को प्राप्त हुई (**कीदृशा-सा**) वह अनुभूति कैसी (**क्रियायाः-गमनागमनरूपायाः, जुहोति-पचतीत्यादि रूपायाश्च**) गमन-आगमनरूप तथा जुहोति पचति इत्यादि रूप क्रिया के (**अखिलं-समस्तम्**) समस्त (**फलम्**) फल को (**भुञ्जाना—मयागतम्-मयाऽऽगतम्-मयाहुतम्-मयापक्वम्-ममेदं कृतमित्यादिरूपफलं भुञ्जाना**) मैं गया, मैं आया, मैंने हवन किया, मैंने पकाया, मैंने यह किया इत्यादि रूप फल को भोगने वाली है ॥८४॥

भावार्थ—आत्मा का वास्तविक स्वरूप रूप ज्ञान, दर्शन मोहनीय के सम्बन्ध से विपरीत परिणमन को प्राप्त कर अज्ञान मिथ्या ज्ञान हो जाता है। इस मिथ्याज्ञान के निमित्त से ही आत्मा अनात्मा में आत्मत्व बुद्धि कर बैठता है जिससे अनन्त संसार परिभ्रमण का भागी हो अनन्त काल तक सतत स्वरूप से बहिर्भूत पदार्थों में ही राग-द्वेष रूप इष्ट-अनिष्ट कल्पना कर सुख-दु ख का अनुभोक्ता बना रहता है। किन्तु जब इसे स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से अथवा गुरू आदि के सदुपदेश से मिथ्यात्व का विरोधी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तब वही अज्ञान भाव स्वाभाविक ज्ञान भाव बन जाता है इस ज्ञान भाव के उदित होते ही कर्म कर्तृत्व एवं तत्फल भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में कर्म अकिञ्चित्कर हो आत्मस्वरूप पर अपना जरा-सा भी प्रभाव नहीं डाल सकता है। यही तो ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य है। ज्ञानी मात्र ज्ञाता द्रष्टा होता है कर्ता एवं भोक्ता तहीं। कर्ता भोक्ता तो अज्ञानी ही होता है ॥८४॥

(**अथात्मगुप्तस्य स्वतत्त्वसंसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृतविशुद्धबुद्धचित्स्वरूपभूरेरमृतचन्द्रसूरेः कृतकृत्यत्वं कीर्त्यंते**) अब आत्मा में एकता को प्राप्त हुए एवं आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समयसाररूप पद्य रचना के कर्ता अतिशय निर्मल ज्ञान स्वरूप चैतन्यमय आत्मस्वरूप की अधिकता को प्राप्त श्री अमृतचन्द्र आचार्य की कृतकृत्यता का कीर्तन करते हैं—

स्वशक्ति संसूचित वस्तुतत्त्वैर्व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्तिकर्तव्यमेवामृतचन्द्र सूरेः ॥८५॥

अन्वयार्थ—स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः) अपनी वाचकता रूप शक्ति से सम्यक् प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाले (**शब्दैः**) शब्दों-वाच्यार्थ प्रतिपादक पदों से (**समयस्य**) गुणपर्यायस्वरूप पदार्थ की (**इयम्**) यह (**व्याख्या**) व्याख्या (**कृता**) की किन्तु (**अत्र**) इस व्याख्या में (**एव**) निश्चय से (**स्वरूपगुप्तस्य**) आत्मस्वरूप में निमग्न (**मम**) मुझ (**अमृतचन्द्रसूरेः**) अमृतचन्द्र सूरि का (**किञ्चित्**) कुछ (**कर्तव्यम्**) कर्तव्य (**न**) नहीं (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**येन-अमृतचन्द्रसूरिणा, इत्यध्याहार्यम्**) यहां जिस अमृतचन्द्रसूरि ने "ऐसा अध्याहार करना चाहिए" (**इयम्**) यह (**व्याख्या-व्याख्यानम्**) व्याख्यान (**कृता-निर्मापिता**) किया-रचा है (**कस्य**) किसका (**समयस्य-सम्-सम्यग् अयति-गच्छति-प्राप्नोति स्वगुणपर्यायानिति समयः पदार्थः तस्य**) भले प्रकार से अपने गुणपर्यायों को प्राप्त करने वाले समय अर्थात् पदार्थ को (**कैः**) किनसे (**शब्दैः-अर्थप्रकाशक-शब्दैः**) वाच्यार्थ को प्रकाशित करने वाले शब्दों से (**कीदृशैस्तैः**) कैसे शब्दों से (**स्वेत्यादिः-स्वस्यशक्तिः-अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तयासं-सम्यक्-सूचितं-प्रकाशितं वस्तूनां पदार्थानां तत्त्वं स्वरूपं यैस्तैः**) स्वकीय अर्थ प्रकाशनरूप सामर्थ्य से पदार्थों के असली स्वरूप को प्रकाशित करने वाले (**तस्य-अमृतचन्द्रसूरेः-अमृतचन्द्राख्याचार्यस्य**) उन अमृतचन्द्र नामक आचार्य का (**किञ्चित्-किमपि**) कुछ भी-या कोई भी (**कर्तव्यं-करणीयम्**) कर्तव्य (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**नास्ति**) नहीं है (**समस्तवस्तु कृत्स्नेन पूर्णस्य**) समस्त वस्तुओं के कार्य से भरपूर (**कीदृशस्य तस्य**) कैसे अमृतचन्द्राचार्यके (**स्वरूपेत्यादिः-स्वस्य-शुद्धचिद्रूपस्य रूपं स्वरूपं तत्र गुप्तस्य-एकतां प्राप्तस्य**) अपने शुद्ध चैतन्य के स्वरूप में एकता-निमग्नता को प्राप्त हुए।

भावार्थ—यहाँ श्री अमृतचन्द्र सूरि निश्चय दृष्टि का आलम्बन करके कहते हैं कि यह समयसार प्राभृत की जो संस्कृत पद्यमय रचना हुई है वह पुद्गल रूप भाषा वर्गणाओं से ही हुई है। उसमें मेरा कुछ कर्तृत्व नहीं है क्योंकि मेरा स्वरूप उन समस्त भाषा वर्गणाओं से सर्वथा विपरीत है वे जड़ हैं तो मैं चेतन हूँ वे अपने आप में बनते और बिगड़ते रहते हैं और मैं स्वयं स्वकीय चैतन्य स्वरूप में तन्मय रहने वाला हूँ। इस तरह से उनमें और मुझमें महान वैषम्य परिलक्षित है जो कर्तृत्व के अहङ्कार का संहारक है अतः यह व्याख्या शब्दकृत है चेतनकृत नहीं यह तो रही सही निश्चय चर्चा जो यथार्थ है वास्तविक है और है परमार्थभूत। हां जब हम व्यवहार दृष्टि से इस ओर देखते हैं तब यह कहना भी असङ्गत नहीं है कि व्याख्या जो भाषा वर्गणा के परमाणुओं के शब्दात्मक परिणमन द्वारा की गई है वह मात्र तज्जन्य नहीं है किन्तु उनके शब्दरूप परिणमन में मेरा योग और उपयोग भी निमित्त है क्योंकि उपादान के कार्यात्मक परिणमन में बाह्य द्रव्य की निमित्तता आर्ष परम्परा में स्वीकृत है अतः व्यवहार से श्री अमृतचन्द आचार्य इसके व्याख्याता हैं यह कहना युक्ति एवं आगम से समर्थित है ॥८५॥

(इति श्रीमन्नाटक समयसारस्यपद्यस्याध्यात्मतरङ्गिण्य परनामधेयस्य व्याख्यायां उपायउपेयऽङ्कः समाप्तः)

इस प्रकार से श्रीमान् नाटक समयसार के पद्यों—जिसका दूसरा नाम परमअध्यात्मतरङ्गिणी है—की ढूंढारी भाषा में पं० जयचन्दजीकृत टीका में यह उपायउपेय अङ्क पूर्ण हुआ।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

अद्य कार्तिक शुक्ल दशम्यां बुधवासरे वीर निर्वाण संवत् २४८९ नवाशीत्यधिक चतुर्विंशति शततमे शुभतरलग्ने परम मङ्गलमय वेलायां प्रातर्दर्शनावन काले समाप्तिम्नीतोऽयं पं० जयचन्दकृता ढूंढारी भाषाटीकायां ग्रन्थो हिन्दीभाषानुवादेन प्रमुदितमनसा मयाकमलकुमारेण शुभम्भूयात् सर्वदा।

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचिता

बारस अणुवेक्खा

[द्वादशानुप्रेक्षा]

—:०:—

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥१॥

नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान् ।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वौ अनुप्रेक्षणानि वक्ष्ये ॥१॥

अर्थ—अपने परमशुक्ल ध्यान से अनादि अनंत संसार को क्षय करने वाले सम्पूर्ण सिद्धों को तथा चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार करके मैं बारह भावनाओं का स्वरूप कहता हूँ।

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥२॥

अद्ध्रुवमशरणमेकत्वमन्यसंसारौ लोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्ज्जरधर्म्मं बोधिं च चिन्तनीयम् ॥२॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अनित्यभावना

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

वरभवनयानवाहनशयनाऽऽसनं देवमनुजराज्ञाम् ।
मातृपितृस्वजनभृत्यसम्बन्धिनश्च पितृव्योऽनित्याः ॥३॥

अर्थ—देवताओं के मनुष्यों के और राजाओं के सुन्दर महल, यान, वाहन, सेज, आसन, माता, पिता, कुटुम्बीजन, सेवक, सम्बन्धी (रिश्तेदार) और काका आदि सब अनित्य हैं अर्थात् ये कोई सदा रहने वाले नहीं हैं। अवधि बीतने पर सब अलग हो जावेंगे।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

समग्रेन्द्रियरूपं आरोग्यं यौवनं बलं तेजः।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ॥४॥

अर्थ—जिस तरह से आकाश में प्रगट होने वाला इन्द्रधनुष थोड़ी ही देर दिखलाई देकर फिर नहीं रहता है, उसी प्रकार से पांचों इन्द्रियों का स्वरूप, आरोग्य (निरोगता) जोबन, बल, तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य (सुन्दरता) सदा शाश्वत नहीं रहता है। अर्थात् ये सब बातें निरन्तर एक-सी नहीं रहती हैं—क्षणभंगुर हैं।

जलबुब्बुदसक्कधणूखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥५॥

जलबुद्बुदशक्रधनुः क्षणरुचिघनशोभेव स्थिरं न भवेत्।
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृतिपर्यायाः ॥५॥

अर्थ—अहमिन्द्रों की पदवियां और बलदेव नारायण चक्रवर्ती आदि की पर्यायें पानी के बुलबुले के समान, इन्द्रधनुष की शोभा के समान, बिजली की चमक के समान और बादलों की रंगबिरंगो शोभा के समान स्थिर नहीं हैं। अर्थात् थोड़े ही समय में नष्ट हो जाने वाली हैं।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥

जीवनिबद्धं देहं क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारणद्रव्यं नित्यं कथं भवति ॥६॥

अर्थ—जब जीव से अत्यन्त संबंध रखने वाला शरीर ही दूध में मिले हुए पानी की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब भोग और उपभोग के कारण दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि, पानी में दूध की तरह जीव और शरीर इस तरह मिलकर एकमेक हो रहे हैं कि, जुदे नहीं मालूम पड़ते हैं। परन्तु इतनी सघनता से मिले हुए भी ये दोनों पदार्थ जब मृत्यु होने पर अलग-अलग हो जाते हैं, तब संसार के भोग और उपभोग के पदार्थ जो शरीर से प्रत्यक्ष ही जुदे तथा दूर हैं सदाकाल कैसे रह सकते हैं?

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतये णिच्चं ॥७॥

परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुजराजविविधैः।
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेत् नित्यं ॥७॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनयसे (यथार्थ में) आत्माका स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिए कि, यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है। अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं—ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहने वाला है।

अथ अशरणभावना

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

मणिमन्त्रौषधरक्षाः हयगजरथाश्च सकलविद्याः ।
जीवानां नहि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये ॥८॥

अर्थ—मरते समय प्राणियों को तीनों लोकों में मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ और जितनी विद्याएँ हैं, वे कोई भी शरण नहीं हैं। अर्थात् ये सब उन्हें मरने से नहीं बचा सकते हैं।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं ।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जवे सरणं ॥९॥

स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरणं वज्रं ।
ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥९॥

अर्थ—जिस इन्द्र के स्वर्ग तो किला है, देव नौकर-चाकर हैं, वज्र हथियार है और ऐरावत हाथी है, उनको भी कोई शरण नहीं है। अर्थात् रक्षा करने की ऐसी श्रेष्ठ सामग्रियों के होते हुए भी उसे कोई नहीं बचा सकता है। फिर हे दीन पुरुषो! तुम्हें कौन बचावेगा ?

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं ।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले ॥१०॥

नवनिधिः चतुर्दशरत्नं हयमत्तगजेन्द्रचतुरङ्गबलम् ।
चक्रेशस्य न शरणं पश्यत कर्दिते कालेन ॥१०॥

अर्थ—हे भव्यजनो! देखो, इसी तरह काल के आ दबाने पर नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़ा, मतवाले हाथी और चतुरंगिनी सेना आदि रक्षा करने वाली सामग्री चक्रवर्ती को भी शरण नहीं होती है। अर्थात् जब मौत आती है, तब चक्रवर्ती को भी जाना पड़ता है। उसका अपार वैभव उसे नहीं बचा सकता है।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

जातिजरामरणरोगभयतः रक्षति आत्मनः आत्मा ।
तस्मादात्मा शरणं बन्धोदयसत्त्वकर्मव्यतिरिक्तः ॥११॥

अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है; इसलिए वास्तव में (निश्चयनय से) जो कर्मों की बंध, उदय और सत्ता अवस्था से जुदा है, वह आत्मा ही इस संसार में शरण है। अर्थात् इस संसार में अपने आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करने वाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मों को खिपाकर जन्म-जरा मरणादि के कष्टों से बच सकता है।

अरहा सिद्धा आइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चेट्ठवि अम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

अर्हन्तः सिद्धाः आचार्या उपाध्यायाः साधवः पञ्चपरमेष्ठिनः ।
ते पि हि चेष्टन्ते यस्मात् तस्मात् आत्मा हि मे शरणम् ॥१२॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी इस आत्मा के ही परिणाम हैं। अर्थात् अरहंतादि अवस्थाएँ आत्मा ही की हैं। आत्मा ही तपश्चरण आदि करके इन पदों को पाता है। इसलिए आत्मा ही मुझको शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चेट्ठवि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम् ॥१३॥

सम्यक्त्वं सद्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव ।
चत्वारि चेष्टन्ते आत्मनि तस्माद् आत्मा हि मे शरणम् ॥१३॥

अर्थ—इसी तरह से आत्मा में सम्नग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और उत्तम तप ये चार अवस्थाएँ भी होती हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शनादि आत्मा ही के परिणाम हैं, इसलिए मुझे आत्मा ही शरण है।

अथ एकत्वभावना

एक्कोकरेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

एकः करोति कर्म एकः हिण्डति च दीर्घसंसारे ।
एकः जायते म्रियते च तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥१४॥

अर्थ—यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बांधता है, अकेला ही अनादि संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है। इसका कोई दूसरा साथी नहीं है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

एकः करोति पापं विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन ।
निरयतिर्यक्षु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥१५॥

अर्थ—यह जीव पांचइन्द्रिय के विषयों के वश तीव्रलोभ से अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंच गति में अकेला ही उनका फल भोगता है। अर्थात् उसके दुःखों का बटवारा कोई भी नहीं करता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

एकः करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन ।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥१६॥

अर्थ—और यह जीव धर्म के कारणरूप पात्रदान से अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवगति में अकेला ही उसका फल भोगता है ।

[1]उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्माविट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ॥१७॥

उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रो हि विज्ञेयः ॥१७॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वगुणसहित मुनि हैं, उन्हें उत्तम पात्र कहा है और जो सम्यग्दृष्टी श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिए ।

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्र इति ।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्यः ॥१८॥

अर्थ—जिनभगवान के मत में व्रतरहित सम्यग्दृष्टी को जघन्यपात्र कहा है और सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित जीव को अपात्र माना है । इस तरह पात्र अपात्रों की परीक्षा करनी चाहिए ।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥१९॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरितभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥१९॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे ही यथार्थ में भ्रष्ट हैं । क्योंकि दर्शनभ्रष्ट पुरुषों को मोक्ष नहीं होता है । जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सीझ जाते हैं, परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे कभी नहीं सीझते हैं । अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्र से रहित हैं, वे तो अपने सम्यक्त्व के प्रभाव से कभी न कभी उत्तम चारित्र धारण करके मुक्त हो जावेंगे । परन्तु जो सम्यक्त्व से रहित हैं अर्थात् जिन्हें न कभी सम्यक्त्व हुआ और न होगा वे चाहे कैसा ही चारित्र पालें; परन्तु कभी सिद्ध नहीं होंगे—संसार में रुलते ही रहेंगे ।

१, १७–१८ और १९वीं गाथाएँ क्षेपक मालूम पड़ती हैं । इनमें से पहली दो तो मालूम नहीं किस ग्रन्थ की हैं, परन्तु तीसरी "दंसणभट्ठा" आदि गाथा दर्शनपाहुड़ की है, जो कि इन्हीं ग्रंथकर्त्ता का बनाया हुआ है ।

अनुष्टुप् श्लोक

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिन्तयेत् सर्वदा ॥२०॥

अर्थ—मैं अकेला हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अन्यत्वभावना

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥२१॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः ।
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते ॥२१॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश (मतलब से) सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई संबंध नहीं है। अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति ममणाहगोत्ति मण्णंतो ।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्ढं ॥२२॥

अन्यः अन्यं शोचति मदीयोस्ति ममनाथकः इति मन्यमानः ।
आत्मानं न हि शोचति संसारमहार्णवे पतितम् ॥२२॥

अर्थ—ये जीव इस संसाररूपी महासमुद्र में पड़े हुए अपने आत्मा की चिन्ता तो नहीं करते हैं, किन्तु यह मेरा है और यह मेरे स्वामी का है, इस प्रकार मानते हुए एक दूसरे की चिन्ता करते हैं।

अण्णं इमं सरीरादिगंपि जं होइ बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥

अन्यदिदं शरीरादिकं अपि यत् भवति बाह्यं द्रव्यम् ।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तय अन्यत्वम् ॥२३॥

अर्थ—शरीरादिक जो ये बाहिरी द्रव्य हैं, सो भी सब अपने से जुदे हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन-स्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का तुमको चिन्तवन करना चाहिए।

अथ संसारभावना

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे ।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम् ॥२४॥

अर्थ—यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता है, इसलिए जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भय से भरे हुए पांच प्रकार के संसार में अनादिकाल से भटक रहा है ।

[1]सव्वेपि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे ॥२५॥

सर्वेऽपि पुद्गलाः खलु एकेन भुक्त्वा उज्झिताः हि जीवेन ।
असकृदनंतकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे ॥२५॥

अर्थ—इस पुद्गलपरिवर्तनरूप संसार में एक ही जीव सम्पूर्ण पुद्गलवर्गणाओं को अनेक बार—अनन्त बार भोगता है, और छोड़ देता है । भावार्थ—कोई जीव जब अनंतानंत पुद्गलोंको अनंतबार ग्रहण करके छोड़ता है, तब उसका एक द्रव्यपरावर्तन होता है । इस जीवने ऐसे-ऐसे अनेक द्रव्यपरावर्तन किये हैं ।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं ।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तन्नास्ति यत्र न उत्पन्नम् ।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रमितः क्षेत्रसंसारे ॥२६॥

अर्थ—क्षेत्रपरावर्तनरूप संसार में अनेक बार भ्रमण करता हुआ जीव तीनों लोकों के सम्पूर्ण क्षेत्र में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहां पर क्रम से अपनी अवगाहना वा परिमाण को लेकर उत्पन्न न हुआ हो । **भावार्थ**—लोककाश के जितने प्रदेश हैं, उन सब प्रदेशों में क्रम से उत्पन्न होने को तथा छोटे-से-छोटे शरीर के प्रदेशों से लेकर बड़े-से-बड़े शरीर तक के प्रदेशों को क्रम से पूरा करने को "क्षेत्रपरावर्तन" कहते हैं ।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जातः मृतः च बहुशः परिभ्रमन् कालसंसारे ॥२७॥

अर्थ—कालपरिवर्तनरूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के सम्पूर्ण समयों और आवलियों में अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है । **भावार्थ**—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, उन सारे समयों में क्रम से जन्म लेने और मरने को कालपरावर्तन कहते हैं ।

---

१ सव्वेपि इत्यादि ५ गाथाएँ पूज्यपादस्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में उद्धृत की हैं और इन्हीं की आनुपूर्वी छाया गोम्मटसार संस्कृतटीका की भव्यमार्गणा में केशववर्णी ने उद्धृत की है ।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा ॥२८॥

निरयायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितना तु ग्रैवेयिकाः ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितिः भ्रमिता ॥२८॥

अर्थ—इस मिथ्यात्वसंयुक्त जीव ने नरक की छोटी-से-छोटी आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयिक विमान तक की आयु क्रम से अनेक बार पाकर भ्रमण किया है। भावार्थ—नरक की कम-से-कम आयु से लेकर ग्रैवेयिक विमान की अधिक से अधिक आयु तक के जितने भेद हैं, उन सबका क्रम से भोगना भव-परावर्तन कहलाता है।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो भावसंसारे ॥२९॥

सर्वाणि प्रकृतिस्थिती अनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीवः मिथ्यात्ववशात् भ्रमितः पुनः भाव संसारे ॥२९॥

अर्थ—इस जीव ने मिथ्यात्व के वश में पड़कर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध के कारण-भूत जितने प्रकार के परिणाम वा भाव है, उन सबको अनुभव करते हुए भावपरावर्तनरूप संसार में अनेक बार भ्रमण किया है। भावार्थ—कर्मबंधो के करने वाले जितने प्रकार के भाव होते हैं, उन सबको क्रम से अनुभव करने को भावपरावर्तन कहते हैं।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

पुत्रकलत्रनिमित्तं अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दया दानं सः जीवः भ्रमति संसारे ॥३०॥

अर्थ—जो जीव स्त्री-पुत्रों के लिए नाना प्रकार की पापबुद्धियों से धन कमाता है, और दया करना वा दान देना छोड़ देता है, वह संसार में भटकता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकांक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥३१॥

अर्थ—"यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, और यह मेरा धन-धान्य है।" इस प्रकार की गाढ़ी लालसा से जीव धर्मबुद्धि को छोड़ देता है और इसी कारण फिर सब ओर से अनादि संसार में पड़ता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं ।

कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

मिथ्यात्वोदयेन जीवः निन्दन् जैनभाषितं धर्मम् ।

कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमानः भ्रमति संसारे ॥३२॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव जिनभगवान के कहे हुए धर्म की निन्दा करता है और बुरे धर्मों, पाखण्डी गुरुओं और मिथ्याशास्त्रों को पूज्य मानता हुआ संसार में भटकता फिरता है ।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

हत्वा जीवराशिं मधुमांसं सेवित्वा सुरापानम् ।
परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे ॥३३॥

अर्थ—यह प्राणी जीवों के समूह को मार करके, शहद (मधु) और मांस का सेवन करके, शराब पीके, पराया धन और पराई स्त्री को छीन करके संसार में भटकता है ।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तं च अहर्निशं जीवः ।
मोहान्धकारसहितः तेन तु परिपतति संसारे ॥३४॥

अर्थ—यह जीव मोहरूपी अंधकार से अंधा होकर रात-दिन विषयों के निमित्त से जो पाप होते हैं, उन्हें यत्नपूर्वक करता रहता है और इसी से संसार में पतन करता है ।

[1]णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा ॥३५॥

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव ।
सुरनिरयतिर्यक्चत्वारः चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः ॥३५॥

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद और धातु अर्थात् पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय की सात-सात लाख (४२ लाख), वनस्पतिकाय की दश लाख, विकलेन्द्रिय की (द्वीन्द्रिय, तेइन्द्री, चौइन्द्री की) छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचों की चार-चार लाख, और मनुष्यों की चौदह लाख, इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनियां होती हैं ।

संजोयविप्पजोयं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
[2]संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥३६॥

---

१ गोम्मटसार के जीवकांड की ८९ नम्बर की गाथा भी यही है । यहां क्षेपक मालूम पड़ती है ।

२ 'संसारे अभूवमाणं च' ऐसा शंकित पाठ हमको मिला था; उसे हमने इस तरह लिखना ठीक समझा है ।

संयोगविप्रयोगं लाभालाभं सुखं च दुःखं च ।
संसारे भूतानां भवति हि मानं तथावमानं च ॥३६॥

अर्थ—संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबको मिलना, बिछुरना, नफा, टोटा, सुख, दुःख और मान तथा अपमान (तिरस्कार) निरन्तर हुआ ही करते हैं ।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे ।
जीवस्सण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

कर्मनिमित्तं जीवः हिंडति संसारघोरकांतरे ।
जीवस्य न संसारः निश्चयनयकर्मनिर्मुक्तः ॥३७॥

अर्थ—यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से संसाररूपी बड़े भारी वन में भटकता रहता है परन्तु निश्चयनय से (यथार्थ में) यह कर्म से रहित है, और इसीलिए इसका भ्रमणरूप संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥

संसारमतिक्रान्तः जीव उपादेयमिति विचिन्तनीयम् ।
संसारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेयमिति विचिन्तनीयम् ॥३८॥

अर्थ—जो जीव संसार से पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिए और जो संसाररूपी दुःखों से घिरा हुआ है, वह हेय अर्थात् ध्यान योग्य नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना चाहिए । **भावार्थ**—परमात्मा ही ध्यान करने के योग्य है, बहिरात्मा नहीं है ।

अथ लोकभावना

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेयेण ॥३९॥

जीवादिपदार्थानां समवायः स निरुच्यते लोकः ।
त्रिविधः भवेत् लोकः अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ॥३९॥

अर्थ—जीवादि छह पदार्थों का जो समूह है, उसे लोक कहते हैं और वह अधोलोक, मध्यलोक, और ऊर्ध्वलोक के भेदों से तीन प्रकार का है ।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठि भेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥

निरया भवंति अधस्तनाः मध्ये द्वीपाम्बुराशयः असंख्याः ।
स्वर्गः त्रिषष्ठिभेदः एतस्मात् ऊर्ध्वं भवेत् मोक्षः ॥४०॥

अर्थ—नरक अधोलोक में हैं, असंख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्यलोक में हैं, और त्रेसठ प्रकार के स्वर्ग तथा मोक्ष ऊर्ध्वलोक में हैं।

[1]इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
ति त्तिय एक्केक्कें दियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥४१॥

एकत्रिंशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्कं चतुःकल्पे।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादित्रिषष्टिः ॥४१॥

अर्थ— स्वर्गलोक में ऋतु, चंद्र, विमल, वल्गु, वीर आदि ६३ विमान इन्द्रक संज्ञा के धारण करने वाले हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—सौधर्म ईशान स्वर्ग के ३१, सनत्कुमार महेन्द्र के ७, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर ४, लांतव कापिष्ट के २, शुक्र महाशुक्र का १, शतार सहस्रार का १, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चारकल्पों के ६ अधोमध्य और ऊर्ध्व ग्रैवेयिक के तीन-तीन के हिसाब से ९, अनुदिश का १, और अनुत्तर का १ सब मिलाकर ६३।

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवओगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

अशुभेन निरयतिर्यञ्चं शुभोपयोगेन दिविज-नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिं एवं लोकः विचिन्तनीयः ॥४२॥

अर्थ—यह जीव अशुभ विचारों से नरक तथा तिर्यंचगति पाता है, शुभ विचारों से देवों तथा मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध विचारों से मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावना का चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अशुचिभावना

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं ॥४३॥

अस्थिभिः प्रतिबद्धं मांसविलिप्तं त्वचया अवच्छन्नम्।
क्रिमिसंकुलैः भरितं अप्रशस्तं देहं सदाकालम् ॥४३॥

अर्थ—हड्डियों से जकड़ी हुई है, मांस से लिपी हुई है, चमड़े से ढकी हुई है, और छोटे-छोटे कीड़ों के समूह से भरी हुई है, इस तरह से यह देह सदा ही मलीन है।

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल(?) भरिदं अचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥४४॥

---

१ त्रैलोक्यसारकी ४६३वीं गाथा भी यही है। इससे यहां क्षेपक जान पड़ती है।

दुर्गंधं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनो मूर्त्तम् ।
स्खलनपतनं स्वभावं देहं इति चिन्तयेत् नित्यम् ॥४४

अर्थ—यह देह दुर्गंधमय है डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्तीक (रूप रस गंध स्पर्श वाली) है और क्षीण होने वाली तथा विनाशीक स्वभाव वाली है; इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए।

[1]रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणम् ॥४५॥

रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयक्रिमिबहुलम् ।
दुर्गंधं अशुचि चर्ममयं अनित्यं अचेतनं पतनम् ॥४५॥

अर्थ—वह देह रस, रक्त, मांस, मेदा और मज्जा (चर्बी) से भरी हुई है, मूत्र, पीव और कीड़ों की इसमें अधिकता है, दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, चमड़े से ढकी हुई है, स्थिर नहीं है, अचेतन है और अन्त में नष्ट हो जाने वाली है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो ।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥४६॥

देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः ।
प्रशस्तः भवेत् आत्मा इति नित्यं भावनां कुर्यात् ॥४६॥

अर्थ—वास्तव में आत्मा देह से जुदा है, कर्मों से रहित है, अनन्त सुखों का घर है, और इसलिए शुद्ध है; इस प्रकार निरन्तर ही भावना करते रहना चाहिए।

अथ आस्रवभावना

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥४७॥

मिथ्यात्वं अविरतणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चपञ्चचतुः त्रिकभेदाः सम्यक् प्रकीर्तिताः समये ॥४७॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह), कषाय और योग (मन वचन काय की प्रवृत्ति) रूप परिणाम आस्रव अर्थात् कर्मों के आने के द्वार हैं, और उनके क्रम से पांच, पांच, चार और तीन भेद जिनशासन में भले प्रकार कहे हैं। **भावार्थ**—आत्मा के मिथ्यात्वादिरूप परिणामों का नाम आस्रव है।

---

१ यह गाथा हमको क्षेपक मालूम पड़ती है। क्योंकि इसमें कही हुई सब बातें ऊपर की दो गाथाओं में आ चुकी हैं। इसके सिवाय इसमें विशेष्य का निर्देश भी कहीं नहीं किया है। ऊपर की गाथाओं से मिलते-जुलते आशय वाली देखकर इसे किसी लेखक वा पाठक ने प्रक्षिप्त कर दी होगी, ऐसा अनुमान होता है।

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥४८॥

एकान्तविनयविपरीतसंशयं अज्ञानं इति भवेत् पञ्च ।
अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं तत् भवति नियमेन ॥४८॥

अर्थ—मिथ्यात्व के एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पांच भेद हैं, तथा अविरति के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच भेद होते हैं। इनसे कम-बढ़ नहीं होते हैं।

कोहो माणो माया लोहोवि य चउविहं कसायंखु ।
मणवचिकायेण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधं कषायं खलु ।
मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्प इति जानीहिः ॥४९॥

अर्थ—ऐसा जानना चाहिए कि, क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय के भेद हैं और मन, वचन तथा काय ये तीन योग के भेद हैं।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ॥५०॥

अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम् ।
आहारादिसंज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि ॥५०॥

अर्थ—मन वचन और काय ये अशुभ और शुभ के भेद से दो दो प्रकार हैं। इनमें से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार प्रकार की संज्ञाओं (वांछाओं) को **अशुभमन** जानना चाहिए। **भावार्थ**—जिस मन में आहार आदि की अत्यन्त लोलुपता हो, उसे अशुभमन कहते हैं।

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसाविसादभावो असुहमणंत्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

कृष्णादित्रिः लेश्याः करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः ।
ईर्षाविषादभावः अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति ॥५१॥

अर्थ—जिसमें कृष्ण, नील कापोत ये तीन लेश्या हों, इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों में जिसके लोलुपतारूप परिणाम हों, और ईर्षा (डाह) तथा विषाद (खेद) रूप जिसके भाव रहते हों, उसे भी श्री जिनेन्द्रदेव **अशुभ मन** कहते हैं।

रागो दोसो मोहो हास्सादी-णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

रागः द्वेषः मोहः हास्यादि-नोकषायपरिणामः ।

स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमन इति च जिनाः ब्रुवन्ति ॥५२॥

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद-रूप परिणाम भी चाहे वे तीव्र हों, चाहे मन्द हों, **अशुभमन** है, ऐसा जिनदेव कहते हैं ।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि ।

बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भक्तस्त्रीराजचोरकथाः वचनं विजानीहि अशुभमिति ।

बन्धनछेदनमारणक्रिया सा अशुभकाय इति ॥५३॥

अर्थ—भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा करने को **अशुभवचन** जानना चाहिए । और बाँधने, छेदने और मारने की क्रियाओं को **अशुभकाय** कहते हैं ।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥

मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्तं निरवशेषतः द्रव्यम् ।

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामं शुभमनः जानीहि ॥५४॥

अर्थ—पहले कहे हुए रागद्वेषादि परिणामों को और सम्पूर्ण धनधान्यादि परिग्रहों को छोड़कर जो व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम होते हैं, उन्हें **शुभमन** जानना चाहिए ।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।

जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

संसारछेदकारणवचनं शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम् ।

जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवेत् चेष्टा ॥५५॥

अर्थ—जन्ममरणरूप संसार के नष्ट करने वाले वचनों को जिनभगवान ने **शुभवचन** कहा है और जिनदेव, जिनगुरु तथा जिनशास्त्रों की पूजारूप काय की चेष्टा को **शुभकाय** कहते हैं ।

जम्मसमुद्दे बहुदो (स-वीचिये) दुक्खजलचराकिण्णे ।

जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥५६॥

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे ।

जीवस्य परिभ्रमणं कर्मास्रवकारणं भवति ॥५६॥

अर्थ—जिसमें क्षुधा तृषादि दोषरूपी तरंगें उठती हैं, और जो दुःखरूपी अनेक मच्छकच्छादि जल-चरों से भरा हुआ है, ऐसे संसारसमुद्र में कर्मों के आस्रव के कारण ही जीव गोते खाता है । संसार में भटकता फिरता है ।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे ।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥५७॥

कर्मास्रवेण जीवः बुडति संसारसागरे घोरे ।
या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्तं परम्परया ॥५७॥

अर्थ—जीव इस संसाररूपी महासमुद्र में अज्ञान के वश कर्मों का आस्रव करके डूबता है। क्योंकि जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है, वही परम्परा से मोक्ष का कारण होती है। (अज्ञानवश की हुई क्रिया नहीं)।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चितेज्जो ॥५८॥

आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम् ।
आस्रवक्रिया तस्मात् मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया ॥५८॥

अर्थ—जीव आस्रव के कारण संसारसमुद्र में शीघ्र ही गोते खाता है। इसलिए जिन क्रियाओं से कर्मों का आगमन होता है, वे मोक्ष को ले जाने वाली नहीं हैं। ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥५९॥

पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम् ।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यं आस्रवो जानीहि ॥५९॥

अर्थ—कर्मों का आस्रव करने वाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिए संसार में भटकाने वाले आस्रव को बुरा समझना चाहिए।

पुव्वुत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चितए णिच्चं ॥६०॥

पूर्वोक्तास्रवभेदः निश्चयनयेन नास्ति जीवस्य ।
उभयास्रवनिर्मुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥६०॥

अर्थ—पहले जो मिथ्यात्व अव्रत आदि आस्रव के भेद कह आये हैं, वे निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं। इसलिए निरन्तर ही आत्मा को [1]द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित चिंतवन करना चाहिए।

अथ संवरभावना

चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६१॥

---

१ आत्मा की रागादि भावरूप प्रवृत्ति को भावास्रव कहते हैं। और उस प्रवृत्ति से कार्माण वर्गणारूप पुद्गल-स्कंधों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधः भवति इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥६१॥

अर्थ—जो [1]चल, [2]मलिन और [3]अगाढ़ इन तीन दोषों से रहित है ऐसे सम्यक्त्वरूपी सघन किवाड़ों से मिथ्यात्वरूप आस्रव का द्वार बन्द होता है, ऐसा जिनभगवान ने कहा है। **भावार्थ**—आत्मा के सम्यक्त्वरूप परिणामों से मिथ्यात्व का आस्रव रुककर मिथ्यात्व—संवर होता है।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा ।
कोहादिआसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं(?) ॥६२॥

पंचमहाव्रतमनसा अविरमणनिरोधनं भवेत् नियमात् ।
क्रोधादि आस्रवाणं द्वाराणि कसायरहितपरिणामैः ॥६२॥

अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतरूप परिणामों से नियमपूर्वक हिंसादि पांचों अव्रतों का आगमन रुक जाता है और क्रोधादि कषायरहित परिणामों से क्रोधादि आस्रवों के द्वार बन्द हो जाते हैं। **भावार्थ**—पांच महाव्रतों से पांच पापों का संवर होता है और कषायों के रोकने से कषाय-संवर होता है।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥

शुभयोगेषु प्रवृत्तिः संवरणं करोति अशुभयोगस्य ।
शुभयोगस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन सम्भवति ॥६३॥

अर्थ—मन वचन काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभयोग का संवर होता है और केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का संवर होता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥६४॥

शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य ।
तस्मात् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम् ॥६४॥

अर्थ—इसके पश्चात् शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं। इसलिए संवर का कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए। **भावार्थ**—उत्तम क्षमादिरूप दश धर्मों के चिन्तवन करने को धर्मध्यान कहते हैं और बाह्य परद्रव्यों के मिलाप से रहित केवल शुद्धात्मा के ध्यान को

---

१ देव गुरु शास्त्रों में अपनी बुद्धि रखने को चल दोष कहते हैं, जैसे यह देव मेरा है, यह मन्दिर मेरा है, यह दूसरे का देव है, यह दूसरे का मन्दिर है। इस प्रकार के परिणामों से सम्यग्दर्शन में चल दोष आता है। २ सम्यक्त्वरूप परिणामों में सम्यक्त्वरूप मोह की प्रकृति के उदय से जो मलीनता होती है, उसे मल दोष कहते हैं। यह सोने में कुछ एक मैलेपन के समान होता है। ३ श्रद्धान में शिथिलता होने को अगाढ़ कहते हैं। जैसे सब तीर्थंकरों के अनंत शक्ति के धारक होने पर भी शान्तिनाथ को शान्ति के करने वाले और पार्श्वनाथ को रक्षा के करने वाले मानना।

शुक्लध्यान कहते हैं। इन दोनों ध्यानों से ही संवर होता है।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।

संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चितये णिच्चं ॥६५॥

जीवस्य न संवरणं परमार्थनयेन शुद्धभावात्।

संवरभावविमुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥६५॥

अर्थ—परन्तु शुद्ध निश्चयनय से (वास्तव में) जीव के संवर ही नहीं है। इसलिए संवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरन्तर शुद्धभाव से चिन्तवन करना चाहिए। **भावार्थ** आस्रव संवर आदि अवस्थाएँ कर्म के सम्बन्ध से होती हैं, परन्तु वास्तव में आत्मा कर्मजाल से रहित शुद्धस्वरूप है।

अथ निर्जराभावना

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि हि जि(णवरोप)त्तम्।

जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणो ॥६६॥

बन्धप्रदेशगलनं निर्ज्जरणं इति हि जिनवरोपात्तम्।

येन भवेत्संवरणं तेन तु निर्ज्जरणमिति जानीहि ॥६६॥

अर्थ—कर्मबन्ध के पुद्‌गलवर्गणारूप प्रदेशों का जिनका कि आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है, झड़ जाना ही निर्जरा है ऐसा जिनदेव ने कहा है। और जिन परिणामों से संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। **भावार्थ**—ऊपर कहे हुए जिन सम्यक्त्व महाव्रतादि परिणामों से संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। 'भी' कहने का अभिप्राय यह है कि, निर्जरा का मुख्य कारण तप है।

[1]सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।

चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्वा तपसा क्रियमाणा।

चातुर्गतीनां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेत् द्वितीया ॥६७॥

अर्थ—ऊपर कही हुई निर्जरा दो प्रकार की है, एक वह जो अपना काल पूर्ण करके पकती है अर्थात् जिसमें कार्माणवर्गणा अपनी स्थिति को पूरी करके झड़ जाती हैं, और दूसरी वह जो तप करने से होती है अर्थात् जिसमें कार्माणवर्गणा अपनी बंध की स्थिति तप के द्वारा बीच में ही पूरी करके—पक करके खिर जाती हैं। इनमें से पहली स्वकालपक्व वा सविपाक निर्जरा चारों गति वाले जीवों के होती है और दूसरी तपकृता वा अविपाक निर्जरा केवल व्रतधारी श्रावक तथा मुनियों के होती है।

अथ धर्मभावना

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।

---

१ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी यह गाथा आई है। वहाँ या तो यह क्षेपक होगी या कार्तिकेय स्वामी ने उसे इसी पर से उद्धृत करके संग्रह कर ली होगी।

सागारणगारणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥

एकादशदशभेदं धर्मं सम्यक्त्वपूर्वकं भणितम्।

सागारानगाराणां उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः ॥६८॥

अर्थ—उत्तम सुख अर्थात् आत्मीक सुख में लीन हुए जिनदेव ने कहा है कि, श्रावकों और मुनियों का धर्म जो कि सम्यक्त्व सहित होता है, क्रम से ग्यारह प्रकार का और दश प्रकार का है। अर्थात् श्रावकों का धर्म ग्यारह प्रकार का है और मुनियों का दश प्रकार का है।

[1]दंसणवय सामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।

बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ते च।

ब्रह्मारंभपरिग्रहअनुमतमुद्दिष्टं देशविरतैते ॥६९॥

अर्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद देशव्रत अथवा श्रावकधर्म के हैं। ये भेद श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।

तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमः चैव।

तपस्त्यागं आकिञ्चन्यं ब्रह्म इति दशविधं भवति ॥७०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश भेद मुनिधर्म के हैं।

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।

ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥७१॥

क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात्।

न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्मः इति ॥७१॥

अर्थ—क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहिरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके उत्तमक्षमा धर्म होता है।

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।

जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥७२॥

---

१ गोमटसार के जीवकांड की ४७७ नम्बर की गाथा और वसुनंदि श्रावकाचार की चौथी गाथा भी यही है। यहां पर क्षेपक मालूम पड़ती है।

कुलरूपजातिबुद्धिषु तपश्रुतशीलेषु गर्वं किंचित् ।
यः नैव करोति समनाः मार्दवधर्मं भवेत् तस्य ।।७२।।

अर्थ—जो मनस्वी पुरुष [1]कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा-सा भी घमण्ड नहीं करता है, उसी के मार्दव धर्म होता है।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ।।७३।।

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः समनाः ।
आर्जवधर्मः तृतीयः तस्य तु संभवति नियमेन ।।७३।।

अर्थ—जो मनस्वी (शुभविचार वाला) प्राणी कुटिलभाव वा मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है। **भावार्थ**—छल-कपट को छोड़कर मन वचन काय की सरल प्रवृत्ति को आर्जव धर्म कहते हैं।

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुइयो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ।।७४।।

परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
यः वदति भिक्षुः तुरीयः तस्य तु धर्मः भवेत् सत्यम् ।।७४।।

अर्थ—जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुंचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है। जिस वचन के कहने से अपना और पराया हित होता है, तथा दूसरे को कष्ट नहीं पहुंचता है, उसे सत्यधर्म कहते हैं।

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे शौचं ।।७५।।

कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ।।७५।।

अर्थ—जो परममुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्यरूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसके शौचधर्म होता है। **भावार्थ**—लोभकषाय का त्याग करके उदासीनरूप परिणाम रखने को शौचधर्म कहते हैं।

[2]वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।

---

१ कुल और जाति में इतना अन्तर है कि, कुल पिता के सम्बन्ध से होता है, और जाति माता के सम्बन्ध से होती है। किसी सूर्यवंशी राजा का एक पुत्र शूद्र नारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो, तो उसका कुल सूर्यवंशी कहलायगा और जाति शूद्र कहलायगी। २ इसी आशय की गाथा गोम्मटसार के जीवकांड में भी कही है :—

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं । धारण पालण णिग्गह चाग जओ संजमो भणिओ ।।४६५।।

परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥७६॥

व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन ।

परिणममानस्य पुनः संयमधर्मःभवेत् नियमात् ॥७६॥

अर्थ—व्रतों ओर समितियों के पालनरूप, दंडत्याग अर्थात् मन वचन काय की प्रवृत्ति के रोकनेरूप, पांचों इन्द्रियों के जीतनेरूप परिणाम जिस जीव के होते हैं, उसके संयमधर्म नियम से होता है। सामान्य-रूप से पांचों इन्द्रियों और मन के रोकने से संयमधर्म होता है। व्रत समिति गुप्ति इसी के भेद हैं।

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसिज्झीए।

जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥७७॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानसिद्ध्यै ।

यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥७७॥

अर्थ-पांचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है, उसके नियम से तप होता है।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।

जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

निर्वेगत्रिकं भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।

यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥७८॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि, जो जीव सारे परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्यागधर्म होता है।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।

णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्साकिंचण्हं ॥७९॥

भूत्वा च निस्सङ्गः निजभावं निग्रहीत्वा सुखदुःखदम् ।

निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥७९॥

अर्थ—जो मुनि सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दुःख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोकर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है। **भावार्थ**—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह को छोड़ने को आकिंचन्य कहते हैं।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम् ।

सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥८०॥

सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।

स ब्रह्मचर्य्यभावं सुकृती: खलु दुर्द्धरं धरति ॥८०॥

अर्थ—जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सारे सुन्दर अंगों को देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है, वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्यधर्म को धारण करता है।

[1]सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥८१॥

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे यः हि वर्त्तते जीवः।
स न च वर्ज्जति मोक्षं धर्म्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥८१॥

अर्थ—जो जीव श्रावकधर्म को छोड़कर मुनियों के धर्मों का आचरण करता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है। अर्थात् मोक्ष को पा लेता है; इस प्रकार धर्मभावना का सदा ही चिन्तवन करते रहना चाहिए। **भावार्थ**—यद्यपि परंपरा से श्रावकधर्म भी मोक्ष का कारण है, परन्तु वास्तव में मुनिधर्म से ही साक्षात् मोक्ष होता है, इसलिए इसे ही धारण करने का उपदेश दिया है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥८२॥

निश्चयनयेन जीवः सागारानागारधर्मतः भिन्नः।
मध्यस्थभावनया शुद्धात्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥८२॥

अर्थ—जीव निश्चयनय से श्रावक और मुनिधर्म से बिलकुल जुदा है, इसलिए रागद्वेष रहित परिणामों से शुद्धस्वरूप आत्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिए।

अथ बोधिदुर्लभभावना

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥८३॥

उत्पद्यते सद्ज्ञानं येन उपायेन तस्योपायस्य।
चिन्ताभवेत् बोधिः अत्यन्तं दुर्लभं भवति ॥८३॥

अर्थ—जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय की चिन्ता करने को अत्यन्त **दुर्लभ बोधिभावना** कहते हैं। क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का पाना बहुत ही कठिन है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं ॥८४॥

---

१ पहले कही हुई ६८ नम्बर की गाथा का और इसका सम्बन्ध मिलाने से ऐसा मालूम होता है, कि ६८वीं गाथा के पश्चात् की गाथा यही है, बीच में जो गाथायें हैं, वे प्रतिमा और दश धर्मों के प्रकरण को देखकर किसी ने क्षेपक के तौर पर शामिल कर दी हैं। और प्रतिमाओं के तो केवल नाममात्र गिना दिये हैं, परन्तु धर्मों का स्वरूप पूरा कह दिया गया है; इससे भी ये गाथायें क्षेपक मालूम होती हैं। ग्रन्थकर्ता तो दश धर्मों के समान ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप भी जुदा-जुदा कहते।

कर्मोदयजपर्याय हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु ।

स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चयतः भवति सद्ज्ञानम् ॥८४॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिकज्ञान कर्मों के उदय से जो कि परद्रव्य हैं उत्पन्न होता है, इसलिए हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वकद्रव्य है अर्थात् आत्मा का निजस्वभाव है, इसलिए उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा ।

परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥८५॥

मूलोत्तरप्रकृतयः मिथ्यात्वादयः असंख्यलोकपरिमाणाः ।

परद्रव्यं स्वकद्रव्यं आत्मा इति निश्चयनयेन ॥८५॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनय से कर्मों की जो मिथ्यात्व आदि मूलप्रकृतियां वा उत्तर प्रकृतियां गिनती में असंख्यात लोक के बराबर हैं, वे परद्रव्य हैं अर्थात् आत्मा से जुदी हैं और आत्मा निजद्रव्य है।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।

चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥८६॥

एवं जायते ज्ञानं हेयोपादेयं निश्चयेन नास्ति ।

चिन्तयेत् मुनिः बोधिं संसारविरमणार्थं च ॥८६॥

अर्थ—इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से ज्ञान हेय उपादेयरूप होता है, परन्तु पीछे उसमें (ज्ञान में) शुद्ध निश्चयनय से हेय और उपादेयरूप विकल्प भी नहीं रहता है। मुनि को संसार से विरक्त होने के लिए सम्यक्ज्ञान का (बोधि भावना का) इसी रूप में चिन्तवन करना चाहिए।

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।

आलोयणं समाही तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥८७॥

द्वादशानुप्रेक्षाः प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम् ।

आलोचनं समाधिः तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥८७॥

अर्थ—ये बारह भावना ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि (ध्यान) स्वरूप हैं, इसलिए निरन्तर इन्हीं का चितवन करना चाहिए।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं ।

आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥८८॥

रात्रिदिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामायिकम् ।

आलोचनां प्रकुर्यात् यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः ॥८८॥

अर्थ—यदि अपनी शक्ति हो, तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना रात-दिन, करते रहो।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥

मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम्।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुनः तेभ्यः ॥८९॥

अर्थ—जो पुरुष इन बारह भावनाओं का चिंतवन करके अनादिकाल से आज तक मोक्ष को गये हैं, उनको मैं मन वचन कायपूर्वक बारंबार नमस्कार करता हूँ।

किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सेझंति य जे (भ)विया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥

किं प्रलपितेन बहुना ये सिद्धा नरवरा गते काले।
सेत्स्यन्ति च ये भविकाः तद् जानीहि तस्याः माहात्म्यम् ॥९०॥

अर्थ—इस विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं है। इतना ही बहुत है कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो आगे होंगे वे सब इन्हीं भावनाओं का चिंतवन करके ही हुए हैं। इसे भावनाओं का ही माहात्म्य समझना चाहिए।

इदि बारसअणुवेक्खा

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं "कुंदकुंदमुणिणाहें"।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथैः।
यः भावयति शुद्धमनाः स प्राप्नोति परम निर्वाणम् ॥९१॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नय से यह बारह भावनाओं का स्वरूप जो मुनियों के स्वामी श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है, उसे जो पुरुष शुद्धचित्त से चिंतवन करेगा, वह मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जिसे पण्डित मनोहरलाल गुप्त और नाथूराम प्रेमी ने संस्कृतछाया और भाषाटीका से विभूषित की।